

भूमंडलीकरण और समकालीन हिंदी कविता BHUMANDALIKARAN AUR SAMKALEEN HINDI KAVITA

हिंदी विषय में पीएच.डी. उपाधि हेतु आंशिक पूर्ती के रूप में नागालैंड
विश्वविद्यालय के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध
(Thesis submitted to Nagaland University in partial fulfillment
of requirements for award of Ph.D. Degree in Hindi)

द्वारा / By
आशीष कुमार / Ashish Kumar
पंजीकरण संख्या : Ph.D./HIN/00199 (30/08/2018)
Registration No. - Ph.D./HIN/00199 (30/08/2018)

शोध निर्देशक / Under the Supervision of
डॉ. अनुज कुमार / Dr. Anuj Kumar



हिंदी विभाग
मानविकी एवं शिक्षा संकाय
नागालैंड विश्वविद्यालय, कोहिमा परिसर, मेरिएमा
Department of Hindi
School of Humanities and Education
Nagaland University, Kohima Campus, Meriema

आभार

सर्वप्रथम मैं ईश्वर को प्रणाम करता हूँ, जिनकी असीम अनुकम्पा से मुझे इस महत्वपूर्ण कार्य को पूर्ण करने में सफलता मिली। पूर्वोत्तर भारत में स्थित नागालैंड जैसे पर्यावरण समृद्ध राज्य में आकर अपने शोध-कार्य को करना मेरे लिए एक सुखद अनुभव रहा है, मैं इस राज्य के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध सरल, सहज एवं स्नेहमय आदरणीय शोध-निर्देशक गुरुवर डॉ. अनुज कुमार की प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सजग निरीक्षण और निर्देशन का परिणाम है, जिनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सजग निरीक्षण और निर्देशन का परिणाम है, जिनकी प्रेरणा व स्नेह पूर्ण छाया मुझे सहज ही प्राप्त रही वैसे गुरु के प्रति आभार व्यक्त करने में मैं स्वयं को असमर्थ पाता हूँ क्योंकि कई बार शब्दों द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

हिंदी विभाग के अध्यक्ष डॉ. मुन्नी चौधरी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करना चाहता हूँ। विभागाध्यक्ष महोदय ने मुझे समय-समय पर प्रोत्साहित किया तथा सुझावों द्वारा चिंतन की दिशा प्रदान की। विभाग के सदस्य डॉ. बृजेश कुमार के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनका मार्गदर्शन मुझे शोध-कार्य के दौरान प्राप्त हुआ है।

आभारी हूँ मैं प्रो. जगदीश कुमार पटनायक (कुलपति), प्रो. मिथिलेश कुमार सिन्हा, प्रो. संतोष कुमार सिंह, प्रो. आशुतोष त्रिपाठी, प्रो. अम्बरीश सिंह, प्रो. ज्ञानेंद्र नाथ तिवारी, डॉ. कुंदन (कृषि विज्ञान केंद्र), डॉ. हरीश तिवारी, डॉ. राजेंद्रनाथ बाबू, डॉ. प्रणय पुंज पंकज, श्री यरिंथुंग एजुंग, श्री एन. अल्बर्ट खिज्हो, श्रीमती अन्गुनुओ खिएया, श्री थियाम सुदीप, डॉ. दीपक भास्कर, डॉ. सूरज बेरी, डॉ. विजेथ, डॉ. रुपेश कुमार सिंह (महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा), श्रीमती लिली, श्रीमती अकला जी के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अपने बहुमूल्य सुझाव सहयोग व मार्गदर्शन से मेरा मनोबल बनाए रखा। इन सभी अध्यापकों के सलाह एवं सहयोग के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

मैं अंग्रेजी विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. निगमानन्दा दास सर के प्रति भी आभारी हूँ जिनका मार्गदर्शन व सुझाव मुझे प्रारम्भ से ही प्राप्त होता रहा है। इसके साथ ही विभाग के सभी

सदस्यों और हिंदी प्रकोष्ठ के सभी कर्मचारियों के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ जिनका इस शोध कार्य की पूर्णता में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष योगदान रहा है।

विशेष आदर के साथ विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय एवं कोहिमा परिसर के पुस्तकालय से जुड़े सभी सदस्यों का मैं आभार व्यक्त करता हूँ जहाँ से मुझे शोध कार्य में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। उन समस्त विद्वानों के प्रति भी आभारी हूँ, जिनकी पुस्तकों से मुझे सहयोग मिला।

मैं अपने परम पूजनीय आदरणीय नाना स्वर्गीय श्री दीनानाथ सिंह, नानी स्वर्गीय चिंतामणि देवी साथ ही बाबा स्वर्गीय श्री ज्वाला प्रसाद सिंह एवं दादी श्रीमती जया देवी के समक्ष नतमस्तक हूँ। जिनके आशीर्वाद से उच्च शिक्षा प्राप्त करने की मेरी अभिलाषा पूर्ण हुई।

अपने परम पूजनीय स्नेहमयी माता स्वर्गीय श्रीमती अनीता सिंह एवं पिता श्री दिनेश कुमार सिंह के मेरे कार्य में विशेष रूचि दिखाने और हृदय से मेरी सफलता की कामना करने, लाड़-प्यार से सदैव मेरा हौसला बनाए रखने के लिए हृदय से आभारी हूँ। विशेष रूप से आभारी मैं अपनी छोटी बहन सुश्री प्रियंका सिंह के प्रति हूँ क्योंकि यह शोध-कार्य करने की मूल प्रेरणा मुझे उसी से प्राप्त हुई है।

मैं अपने शोध परिवार में प्रो. अम्बरीश सिंह, प्रो. आशुतोष त्रिपाठी, प्रो. जोगिन्दर सिंह, डॉ. हरीश तिवारी, डॉ. आशुतोष त्रिपाठी, डॉ. रजनी झा, डॉ. मनीष कुमार, श्रीमती आराधना द्विवेदी, डॉ. थुन्बुई, श्री अजय सुब्बा के अपेक्षित सहयोग व सद्भाव के प्रति आभारी हूँ।

साथ ही मैं उन सभी अग्रज व अनुज के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ, जिनका इस शोध कार्य के पूर्णता में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष योगदान रहा।

अंत में सर्वोपरि मैं उस सर्वेश्वर के प्रति भी आभारी हूँ जिनकी कृपा से यह काम सही वक्त पर पूरा हुआ।

आशीष कुमार

शोधार्थी, हिंदी विभाग
नागालैंड विश्वविद्यालय

भूमिका

प्रस्तुत शोध विषय को चुनने का प्रमुख कारण यह है कि, समकालीन कविताओं में **भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, आतंकवाद, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, विकास की राजनीति व क्षेत्रवाद, व्यवस्था जनित विस्थापन और भेदवादी राजनीति** जैसे मुद्दे कहीं-न-कहीं मौजूद हैं। समकालीन कवि हाशिये पर खड़े लोगों के लिए अपने शब्दों को अंकित करता है। भूमण्डलीकरण ने संसार के प्रत्येक व्यक्ति, समाज, संस्कृति, प्रकृति आदि सभी को प्रभावित किया है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से उन तमाम स्थितियों-परिस्थितियों को इंगित किया है, जो भूमण्डलीकरण के आगमन के बाद उत्पन्न हुए हैं। इन कविताओं के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया गया है कि भूमण्डलीकरण व समकालीन समस्याओं व परिस्थितियों को समकालीन कवियों ने किस प्रकार पाठकों के समाख प्रस्तुत किया है।

भूमण्डलीकरण का यह अर्थ सामान्य रूप में स्वीकृत है कि आज पूरी धरती **‘विश्वग्राम’** है। मुक्त बाज़ार बनाने के पक्ष में जो तर्क दिए गए हैं, उनमें प्रमुख ये हैं कि भूमण्डलीकरण से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा पैदा होती है, रोजगार बढ़ते हैं, उपभोक्ता सामग्री के दाम घटते हैं। पिछड़े हुए और गरीब देश के लोग इस कथित विश्वग्राम के नागरिक नहीं बन सकते हैं। इन देशों के प्राकृतिक संसाधनों और मानवीय श्रम का दोहन करते हुए मोटा मुनाफा कमाना भूमण्डलीकरण का भयावह चेहरा है। **समकालीन हिंदी रचनाकार** इस खतरे को और मनुष्य तथा साहित्य के सामने उपस्थित बाजारवाद, मीडिया की चुनौतियों को गंभीरतापूर्वक देख-परख रहे हैं।

आज मनुष्य की संवेदनाएं चूक रही हैं, मानवीय रिश्तों की ऊष्मा ठंडी पड़ने लगी है तथा पूँजीवाद-उदारीकरण के दो पाटों के बीच आमजन पिस रहा है। एक ओर तो वह उत्तर-आधुनिक होते संसार की चकाचौंध से हतप्रभ है वहीं दूसरी ओर इस तेज़ रौशनी में चौंधियाकर गिर जाने की हालत में है। ऐसे में समकालीन हिंदी कविता समाज में एक नयी जिजीविषा, नयी उम्मीद, नयी आस्था तथा नए विश्वास के साथ ज़िन्दगी की, मनुष्यता की, तथा मनुष्य के भीतर बचे प्यार की मुकम्मल तस्वीर पेश करती है और इन्हें बचा लेने की उत्कट कोशिश करती है।

डॉ. बाबू जोसफ के अनुसार, “भूमण्डलीकरण ने इतिहास के अंत के साथ साहित्य एवं कला के निषेध को भी अपने साथ शामिल कर दिया है। आज हमारी भाषा, संस्कृति

और परम्परा को भी फ़ालतू एवं महत्वहीन बनाकर उदारीकरण, बाजारीकरण, उपभोक्तावाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और उत्तर-आधुनिकता आदि ने हमारे तमाम जीवंत मानव मूल्यों को निरर्थक एवं बेबुनियाद स्थापित कर दिया है।”¹

समकालीन कविता किसी खेमे या दरबे में न बंधकर व्यक्ति की जिजीविषा और सामाजिक चेतना दोनों को समग्रता में समेट कर चलती है। वास्तव में, व्यक्ति जब समाज को आत्मसात कर के चलता है, तो वह खंडित नहीं, अखंडित ही रहता है। व्यक्ति और समाज को जब कहीं से अलगाने का प्रयास किया जाता है, तो सामन्ती व्यक्तिवादी व्यवस्था को बरकरार रखने की प्रक्रिया को ही पोषित किया जाता है। तब ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति टूटता है और समाज भी खंडित होता है तब व्यक्ति और समाज दोनों का समवेत विखंडन मनुष्य के समुचित विकास के लिए खतरा बन जाता है। हमारी पूर्ववर्ती रचनाधर्मिता में अब तक यही प्रवृत्ति प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से विद्यमान रही है। समकालीन कविता में आते-आते रचनाकार जीवन के साथ सामाजिक यथार्थ से लगातार जुड़ने लगा- अपने निजी प्रेम,

सुख-दुःख के साथ वह अपने पारिवारिक एवं सामाजिक यथार्थ के जीवंत ब्यौरों के आकलनों के साथ राजनीतिक सरोकारों से भी बड़ी संजीदगी से रूबरू होने लगा।

समकालीन कविता की मूल प्रवृत्ति जहां ‘जनात्मपदी’ मानी जा सकती है, वहां वह ‘अभिजात्य’ या ‘कुलीन’ न होकर जनजीवन की सहज एवं यथार्थ अभिव्यक्ति भी है। उसमें छद्म कलावादी ऊहापोह के लिए कतई कोई स्थान नहीं! समकालीन कविता ‘रूप’ की जगह ‘कथ्य’ या वस्तु को अधिक महत्व देती है, इसलिए आज का कवि किसी ‘रहस्य’ या ‘स्वप्न-लोक’ में विचरण नहीं करता है। वह भाषा के नए शिल्प और मुहावरे को नए ढंग से गढ़ता है, जिसमें जीवन के यथार्थ के तीखेपन और दंश के साथ, रचनाकार की मानवीय संवेदना अधिक गहराई से व्यक्त होती है। यह एक अपरिहार्य सी स्थिति बन गयी है।

मौजूदा हालातों ने आज के रचनाकारों को एक तरह से बाध्य कर दिया है कि वे कविकर्म को अपने नैतिक-धर्म के रूप में ग्रहण करें। ‘समकालीन हिंदी कविता’ शब्दावली से इतना तो स्पष्ट ही है कि, यह आधुनिक युग की वह विशिष्ट काव्य-धारा है, जिसके आरम्भ को लेकर हमेशा से ही संशय की स्थिति बनी रही है। जहाँ डॉ. गोविन्द रजनीश समकालीन कविता का वास्तविक प्रारंभ ‘सन् 62 के चीनी आक्रमण’² के पश्चात् से मानते हैं; वहीं डॉ. परमानन्द

¹डॉ. जोसफ़, बाबू. 2013. भूमण्डलीकरण और हिंदी कविता. पृष्ठ सं. 3

²डॉ. गोविन्द रजनीश समकालीन कविता पर विचार करते हुए कहते हैं, “समकालीन कविता जिसका वास्तविक प्रारंभ सन 62 के चीनी आक्रमण के पश्चात हुआ, एक ऐसी रेखा है, जहाँ से हिंदी कविता ने नया मोड़ लिया, वह मोड़ कथ्य के नवीनतम रुझान तथा समय की भाषा

श्रीवास्तव समकालीन कविता की प्रवृत्तियों का प्रस्थान बिंदु **‘निराला की परवर्ती कविताओं’**¹ से मानते हैं।

भूमण्डलीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव केवल निम्नवर्ग पर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवीय समाज पर पड़ा है। धर्म की अमानवीय व्याख्या, स्वार्थपरकता, अर्थलोलुपता, विज्ञान के द्वारा विकसित विनाश के विभिन्न साधन आदि के कारण सम्पूर्ण मनुष्यता के लिए ही संकट पैदा हो गया है। अतः मनुष्य को बचाना सबके लिए प्राथमिक दायित्व है। अभी भी मनुष्य जीवन और मृत्यु के अनेक प्रश्नों से टकरा रहा है। परिवर्तन की गति इतनी तेज है कि यह आशंका होने लगती है कि मनुष्य को मनुष्य की पहचान कराने वाले लक्षण ही न लुप्त हो जाएँ।

आधुनिकता की तरह समकालीनता भी एक व्यापक परिकल्पना है जिसे किसी सीमा में बाँधना हमेशा से दुष्कर प्रतीत होता है। बावजूद इसके अध्यायों की सुविधा हेतु यह जोखिम लेना लाज़िमी बन पड़ता है। **‘समकालीनता’** शब्द की व्यापक प्रवृत्ति पर न जाते हुए जब हम समकालीन कविता को कालबद्ध करने का प्रयत्न करेंगे तो पायेंगे कि, चीनी आक्रमण के बाद से ही कविता ने अपना स्वरूप बदला और वह आम जनमानस के दुःख-दर्द की आवाज बन के उभरी। प्रत्येक दशकों में कविता समकालीनता की अवधारणा को साथ लेकर चली है। सन् साठ के बाद लगभग कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से समकालीन समस्याओं को न केवल उजागर किया बल्कि उन समस्याओं के पीछे निहित कारणों पर करारा व्यंग्य तथा कटाक्ष भी किया।

सन् साठ के बाद की **‘समकालीन कविता’** के प्रमुख कवियों में एक ओर **दुष्यंत कुमार, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रामदरश मिश्र, भारत भूषण अग्रवाल, गिरजा कुमार माथुर, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, केदार नाथ सिंह**, आदि वे कवि आते हैं जिन्होंने अपने काव्य जीवन का प्रारम्भ तो नयी कविता से किया पर धीरे-धीरे उस यथार्थ बोध के निकट आते गए, जो समकालीन कविता की मूलभूत चारित्रिक विशेषता है।

दूसरी अंतर्धारा उन कवियों की है जो किसी न किसी रूप में प्रतिश्रुत कवि कहे जा सकते हैं। **केदारनाथ सिंह, शलभ, रमेश कुंतल मेघ, रणजीत, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह**,

और मुहावरे से संपुक्त था। युवा विद्रोही पीढ़ी ने न तो मोह पाला था और न उसके टूटने की प्रक्रिया का अहसास किया था। इस विद्रोह के कुछ कारण भारतीय परिवेश में जन्मे थे और कुछ समसामयिक अंतर्राष्ट्रीय चेतना से जुड़े हुए थे।”..(डॉ. रजनीश, गोविन्द . 1973 . समसामयिक हिंदी कविता: विविध परिदृश्य . पृष्ठ सं. 33)

¹डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव, “समकालीन कविता की जो मुख्य विशेषताएँ हैं, उनका हिंदी कविता में वास्तविक प्रारंभ निराला ने अपनी परवर्ती कविताओं के द्वारा कर दिया था।”..(डॉ. रणजीत(सं.) . 1998 . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . पृष्ठ सं. 7)

धूमिल की अंतर्धारा जो मुख्यतः अपने आपको मुक्तिबोध की नयी प्रगतिशील कविता की धारा से जोड़ती है, और जिसमें समसामयिक यथार्थ का एक व्यापक और सुविचारित चित्र उभरता है।

डॉ. रामदरश मिश्र कहते हैं कि, “इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि सन् 60 के आस-पास नयी कविता की धारा अपने से कुछ अलग होती दिखाई देती है। सन् 60 के बाद की कविताओं ने जीवन की टूटती मूर्तियों के बहुत करीब जा कर उनकी टूटने की तल्लीन, व्यथा और उसमें से फूटती अस्वीकृत की उग्रता को पहचाना है”¹

तीसरी व महत्वपूर्ण धारा उन रचनाकारों की रही है, जो भूमण्डलीकरण के विरुद्ध वैचारिक सघनता ग्रहण किये हुए खड़े रहे हैं, यथा: **विष्णु खरे, नरेश सक्सेना, भागवत रावत, चंद्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, अशोक वाजपेयी, राजेश जोशी, मंगरेश डबराल, अरुण कमल, आलोक धन्वा, कुमार विकल, उदय प्रकाश, ज्ञानेन्द्रपति, अंशु मालवीय, देवी प्रसाद मिश्र, अनामिका, कात्यायनी, निर्मला पुतुल, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय तथा जय प्रकाश कर्दम** इत्यादि तमाम कवि अपनी रचनाओं के साथ इस रूप में अवतरित हुए हैं कि सारा समकालीन काव्य परिदृश्य एक गंभीर उत्साह आत्म गौरव और संघर्ष-परायणता से दमक उठा।

उत्तरोत्तर आधुनिक होते जीवन और उससे उपजे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक-सांस्कृतिक परिदृश्य, कहीं न कहीं अपने पूर्वापर अवस्था में ही मौजूद है। इसलिए हिंदी की समकालीन कविता जो एक महत्वपूर्ण काव्य आन्दोलन है, इसके प्रारंभ, सीमा, प्रवर्तक कवि, प्रमुख प्रवृत्तियों और मानवीय मूल्यों के प्रतिपादन को ले कर गत कुछ समय में विवाद की स्थिति रही है। आधुनिकता, समसामयिकता, आधुनिक भाव बोध आदि के सन्दर्भ में भी आलोचकों के बीच मतभेद है। **लक्ष्मीकांत वर्मा** आधुनिकता को ‘युग विशेष’² का गुण मानते हैं।

समकालीन हिंदी कविता मूलतः उस युग की कविता है, जिसे जन साधारण की आकांक्षाओं से जूझना पड़ रहा है, जिसके बिना आज के मनुष्य का जीवन निरर्थक-सा हो जाता

¹डॉ. मिश्र, रामदरश . 1969 . हिंदी कविता: तीन दशक . पृष्ठ सं. 16

²**लक्ष्मीकांत वर्मा** के अनुसार, “आधुनिकता युग विशेष का गुण है, समसामयिकता स्थिति विशेष का आयाम है। आधुनिकता के ऐतिहासिक विश्लेषण जो देश काल के बोध के साथ सक्रियता की पुष्टि करती है। आधुनिकता कालबोध, युग बोध की द्योतक है। विचार में आधुनिक होते हुए भी इनमें समसामयिक नहीं हो सकते क्योंकि समसामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता।” ..(डॉ. मैथ्यू, मरियाम्मा वी. . 2013 . समकालीन कविता में भूमण्डलीकरण का प्रभाव . पृष्ठ सं. 211)

है। समकालीन कविता जहाँ आम-आदमी के लिए वरदान है, उसकी मुसीबत के विरुद्ध एक हथियार है, वहीं आदमी के हर विरोधी तत्व के लिए यह प्रतिपक्ष की कविता है।

वर्तमान समाज, ऐसे में भूमण्डलीकरण के चलते एक कठिन दौर से गुज़र रहा है। वैश्वीकरण ने एक ओर लोक संस्कृति को अपदस्थ किया है तो दूसरी ओर जातीय पहचान के सवाल को गौण बना दिया है। समकालीन कविता को भूमण्डलीकरण से लड़ने के लिए लोक संस्कृति और जातीय पहचान को विशेष महत्व देना होगा। **मदन कश्यप, नीली उपाध्याय, उदय प्रकाश**, जैसे समकालीन कवि इससे जुड़े हुए दिखाई देते हैं। **मदन कश्यप** द्वारा लिखित 'कुआँ' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ भी इस ओर ही दृष्टिपात करती हैं कि, यदि हम अभी सचेत व जागरूक नहीं हुए तो वैश्वीकरण की चकाचौंध हमारी संस्कृति और सभ्यता को भविष्य में पूरी तरह से नष्ट कर देगी।

भूमण्डलीकरण को एक साथ **विश्वग्राम, ग्लोबल विलेज, वैश्वीकरण** आदि अनेक नामों से अलंकृत किया जा रहा है। भूमण्डलीकरण की चमक-दमक में व्यक्ति अपने ग्राम-परिवेश एवं संस्कृति से विमुखित हो रहा है। वैश्वीकरण ने व्यक्ति को एक वस्तु बना दिया है। सब जगह बाजारीकरण व्याप्त हो रहा है। जहाँ देखें वहाँ देश, समाज, संस्कृति सबका क्रय-विक्रय हो रहा है। पिछले दो दशकों पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि लोक जीवन पर इसका कितना प्रभाव पड़ा है। इसके पीछे आधुनिकता की बीमारी एवं मीडिया का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

समकालीन हिन्दी कविता की शुरुआत कहाँ से मानी जाए, इस विषय पर मत भिन्नता है। कुछ विद्वान सन् 1960 के बाद इसका आरम्भ मानते हैं, तो कुछ सन् 1980 के बाद। वे सम्भवतः उस दौर की कविताओं में सन् 1975 में घोषित आपातकाल, देश में सम्पूर्ण क्रान्ति के गूँजते नारे, सन् 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस की करारी हार, नवगठित सरकार से जनता की असन्तुष्टि, मध्यावधि चुनाव, कांग्रेस के पुनरागमन, इन्दिरा गांधी की हत्या, नागरिक असन्तोष के नए-नए कारण...आदि से प्रभावित देश के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सन्तुलन की ध्वनि का चित्रण देखकर ऐसा कहते हैं और कहते हैं कि कविता की वापसी हुई है। पर इसका अर्थ होगा कि इससे पहले कविता कहीं चली गई थी, जो सच नहीं है। हाँ यह सच है कि जिस प्रगतिशील चेतना के साथ कविता सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है, कुछ वर्ष के लिए कविता अपने कला रूप की चिन्ता करने लगी थी।

समकालीनता से तात्पर्य अपने युगबोध व पूर्ववर्ती ऐतिहासिक संक्रमण कारकों से रु-रु होना है। **कविवर रघुवीर सहाय** के अनुसार, "समकालीनता मानव भविष्य के प्रति

पक्षधरता का दूसरा नाम है। कविता में समकालीनता की पहचान वही नहीं हो सकती जो उदाहरण के लिए राजनीति में हो सकती है। सही पहचान के लिए हमें कवि की भाषा और उसके भाव-बोध के परस्पर संबंध को जानना चाहिए।¹

स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ ही वर्ष के बाद उस दौर की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों ने जनमानस को चौंका दिया था। वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न प्रगतिशील समाज के गठन के आग्रही नेता जवाहरलाल नेहरू का मोहभंग हुआ; लालबहादुर शास्त्री को सदमा पहुँचा; दृष्टि-सम्पन्न इन दो-दो प्रधानमन्त्रियों का देहावसान, इन्दिरा गांधी के नेतृत्व की शुरुआत, भारत-पाक सीमा-संघर्ष में इन्दिरा गांधी की सूझ-बूझ से देश में जगी नई स्फूर्ति...ये सभी स्वर समकालीन कविता में अपनी तरह के विरोध, समर्थन के साथ प्रस्तुत हुए। जन-गण के सुख-दुख की उपेक्षा भी हुई, सारी स्थितियों से बाखबर समकालीन कविता ने अपना अग्राभिमुख संस्कार अगले दशक को थमाया। वस्तुतः सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता को समकालीन कविता के रूप में स्वीकार किया सकता है।

भूमंडलीकरण का अर्थ सर्वमान्य रूप में है कि आज पूरी धरती 'विश्वग्राम' है। सोवियत यूनियन के विघटन के पश्चात 'पूँजीवादी व्यवस्था' ही पूरे विश्व में एक मात्र आर्थिक समाधान के रूप में विकसित होने लगी। 'ग्लोबलाइज़ेशन' वस्तुतः इसी पूँजीवादी आर्थिक (भूमंडलीकरण) तंत्र का एक नया रूप था, जिसने आर्थिक विकास के रूप में संसार को प्रभावित किया। उदारवाद के नाम पर इस व्यवस्था ने विश्व के आर्थिक तंत्र को पहले तो अपने कब्जे में लिया, फिर बाजारवाद की एक नयी अवधारणा देकर संसार की अर्थव्यवस्था के सम्मुख एक भ्रमजाल का निर्माण किया।

सामाजिक पूँजीवाद के इस नए वैश्वीकृत रूप ने संसार की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ वहाँ की सांस्कृतिक व्यवस्था, नैतिक मान्यताओं व मूल्यों को गंभीरता से प्रभावित किया है। इसके प्रभाव से एक ऐसी आर्थिक संरचना विकसित हुई, जिसने पूरे विश्व को एक बाजार के रूप में स्थापित कर दिया है। भूमंडलीकरण के प्रभाव से हमारी भाषा, रीति-रिवाज़, खान-पान, वेशभूषा सभी की विशिष्टता में बदलाव आये हैं। आज यह बाजारवाद के घटक के रूप में पारिभाषित होने लगे हैं।

डॉ. बाबू जोसफ़ के अनुसार, 'भूमंडलीकरण ने इतिहास के अंत के साथ-साथ साहित्य एवं कला के निषेध को भी अपने साथ कर लिया है। आज हमारी भाषा, संस्कृति

¹ नवल, नंदकिशोर .समकालीन काव्य यात्रा .पृ. सं. -8

और परम्परा को भी फ़ालतू एवं महत्वहीन बनाकर उदारीकरण, बाज़ारीकरण, उपभोक्तावाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और उत्तर-आधुनिकतावाद आदि ने हमारे जीवंत मानव मूल्यों को निरर्थक एवं बेबुनियाद स्थापित कर दिया है।"

शंभु बादल जूझारू जनता एवं संघर्षधर्मी चेतना के साथ ही सामाजिक बदलाव के कवि हैं। सामाजिक परिवर्तन को क्रांति की आंख से देखते हैं। समकालीन कविता में विद्रोह के ये स्वर शंभु बादल की कविताओं में सर्वाधिक है। यहां बदलाव के न केवल प्रतिरोध के स्वर हैं बल्कि हथियार उठाने, हमला करने, तोड़फोड़ करने, गुरिल्ला नायक पैदा करने जैसे जनसंघर्ष के विविध रूप मिलते हैं। उनकी कविता शोषित-उत्पीड़ित-दलित जनता के प्रति न केवल सहानुभूति रखती है बल्कि उसे संगठित करने की प्रेरणा भी है। जिससे पूंजीवादी शक्तियों का मुकाबला किया जा सके। मार्क्सवादी चिंतन इनकी दृष्टि की ताकत है। 'मौसम को हांक चलो' कविता में जीवन विरोधी शक्तियों के विरुद्ध कवि का तेवर देखें :

**“दुनिया को जीतने की आकांक्षा
जगी है सम्राट में
धन पर लोटते हैवान में
प्रतिरोधी अस्त्रों से महाक्रमण को किल करो!
आवाज कौंधती है।”¹**

उदाहरणस्वरूप यदि हम देखें, भूमंडलीकरण की वजह से शहर महानगर का रूप धारण करते जा रहे हैं, वहीं गावों से उनकी दूरी भी निरंतर बढ़ती जा रही है। आम जनमानस पर पड़ रहे भूमंडलीकरण के इस प्रभाव को जगदीश चतुर्वेदी जी ने अपनी कवितायें, 'मृत्यु जैसी खामोशी', 'नगर यंत्रण', 'बीसवीं सदी के बाद' आदि में व्यक्त किया है:

**“मुझे दहशत नहीं होती, यह सुनकर कि
एक पूरा मुल्क आग में झुलस दिया गया
यह तो इस शताब्दी का सती है।”²**

¹ बादल, शम्भू . 2007 . मौसम को हांक चलो (कविता) . पृ. सं. 88

² चतुर्वेदी, अनुभूति . 2008 . जगदीश चतुर्वेदी की 25 कवितायें . पृ. सं 41 .

समाज से जुड़े विषयों को ले कर चलने वाली समकालीन हिन्दी कविता को किसी खेमे में बांधकर नहीं रखा जा सकता है। सन् 90 के पश्चात् भूमंडलीकरण के आगमन ने समाज व कविता दोनों को काफी हद तक प्रभावित किया है। इस विषय क्षेत्र को किस तरह समेटकर अभिव्यक्त किया जाये और वह भी सार्थक विमर्श के लिए ताकि कोई रास्ता खुल सके तथा कोई विकल्प ढूँढा जा सके यही चेतना इस शोध ग्रन्थ के विषय के चयन के पीछे प्रमुखता से रही है। समकालीन कविता नए विश्वास के साथ जिंदगी की, मनुष्यता की तथा मनुष्य के भीतर बचे प्यार की मुकम्मल तस्वीर पेश करते हुए इन्हें बचा लेने की उत्कट कोशिश करती है।

काफी अध्ययन व चिंतन तथा अपने शोध निर्देशक डॉ. अनुज कुमार जी के परामर्श के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मुझे 'समकालीन हिंदी कविता और भूमंडलीकरण' विषय पर शोध कार्य करना चाहिये। विषय चयन के बाद मैंने विस्तार से इसकी रूपरेखा तैयार की। प्रस्तुत शोध प्रबंध इसी रूप रेखा के आधार पर लिखी गयी है। मैंने शोध प्रबंध को अध्ययन की सुविधा हेतु छः अध्यायों में विभक्त किया है :

प्रथम अध्याय – 'समकालीन हिंदी कविता एवं भूमंडलीकरण का परिचयात्मक वर्णन' है। समकालीनता हमारे जीवन मूल्यों तथा विचारों की एक दृष्टि है, जिसमें अपने देश, काल और इतिहासबोध से तटस्थता अपनाकर प्रेम, आध्यात्म तथा प्रकृति की सुंदरता के शाश्वत बोध की कल्पना की जाती है। समकालीन कविता अपने परिवेशगत यथार्थ की व्यापक अभिव्यक्ति है। समकालीन कविता में नयी -पुरानी पीढ़ी के सभी कवि एक साथ, एक स्वर से सत्ता-विरोध की कविताएँ रचते हैं जिनमें राजनीतिक विकृतियों से उत्पन्न नरक का गहराई से अहसास कराने वाली चेतना प्रबल है। भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था को संसार की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत करना है। वस्तुओं, सेवाओं, व्यक्तियों और सूचनाओं का राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार स्वतंत्र रूप से संचरण ही वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण कहलाता है। उपरोक्त अध्याय में समकालीन हिंदी कविता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से लेकर वर्तमान परिदृश्य तक का परिचय दिया गया है। साथ ही भूमंडलीकरण की परिभाषा, इसके आगमन, समाज व संसार पर इसके प्रभाव सम्बन्धी विषयों को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में समकालीन कविता व भूमंडलीकरण के ऐतिहासिक आयाम और उसके प्रकार तथा तत्वों को भी समझने की कोशिश की गयी है।

द्वितीय अध्याय – 'समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर' है। रचनाकारों की दृष्टि से देखें तो समकालीन कविता के दौर में समकालीन युग-यथार्थ के अनुभवों के साथ तैयार हुई

पीढ़ी के कवि समेत वे सभी कविगण रचनाशील रहे, जो सन् साठ के पूर्व से ही रचनारत थे। इनमें एक तो वे थे, जो सप्तकों से बाहर रहकर हिन्दी कविता की जमीन मजबूत कर रहे थे; दूसरे वे जो सप्तक परम्परा से आने के बावजूद निरन्तर अपनी समझ विकसित करते रहे तथा समय के बदलते स्वरूप के साथ-साथ काव्य सम्बन्धी अपनी धारणाओं, मान्यताओं को भी परिवर्तित करते रहे। उपरोक्त अध्याय में विभिन्न दशकों (सत्तर, अस्सी, नब्बे तथा वर्तमान) के समकालीन कवियों के जीवन व साहित्यिक परिचय को प्रस्तुत किया गया है। किन् विषयों को लेकर उन्होंने अपनी काव्य रचनाएँ की हैं उसकी चर्चा भी प्रस्तुत अध्याय में की गयी है।

तृतीय अध्याय – **‘समकालीन हिंदी कविता : प्रवृत्तिगत विशेषताएं’** है। भूमंडलीकरण के आगमन के पश्चात् समाज व साहित्य दोनों पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा है। समकालीन कवियों ने इन प्रवृत्तियों के आधार पर अपनी रचनाएँ की हैं। बाज़ारवाद, लोक संस्कृति, अमीरी-गरीबी का यथार्थ, बदलती मानसिकता, प्रकृति व औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, धार्मिकता का ढोंग और अल्पसंख्यक वर्ग, भूमण्डलीकरण तथा वंचित वर्ग (स्त्री, दलित एवं आदिवासी) ये सभी समकालीन कविताओं के काव्य विषय रहे हैं। समकालीन कविताओं में भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, आतंकवाद, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, विकास की राजनीति व क्षेत्रवाद, व्यवस्था जनित विस्थापन और भेदवादी राजनीति जैसे मुद्दे कहीं-न-कहीं मौजूद हैं। समकालीन कवि हाशिये पर खड़े लोगों के लिए अपने शब्दों को अंकित करता है। प्रस्तुत अध्याय में इन सभी विशेषताओं व प्रवृत्तियों की चर्चा विस्तारपूर्वक की गयी है।

चतुर्थ अध्याय – **‘समकालीन हिंदी कविता : धार्मिक-सांस्कृतिक परिदृश्य’** है। भूमंडलीकरण ने संस्कृति को काफी गहरे रूप में प्रभावित किया है। इसके प्रभाव से भारत में वेश-भूषा, खान-पान, संगीत, भाषा, विचार आदि क्षेत्रों में कई परिवर्तन देखने को मिलते हैं। प्रस्तुत अध्याय में यह बताया गया है कि वैश्वीकरण के कारण दुनिया के कई हिस्सों में धर्म का पुनरुद्धार हुआ है, मुख्य रूप से धार्मिक कट्टरवाद के रूप में, लेकिन इससे आधुनिक समाज में संगठित धर्म का पतन भी हुआ है। विशिष्ट संस्कृतियों के बीच बाधाओं को कम करके, वैश्वीकरण धर्म को उन संघर्षों में डाल देता है जो सामाजिक पहचान का समर्थन करते हैं, क्योंकि कुछ लोग नई वास्तविकताओं की डिलीवरी नहीं लेते हैं और अपनी पहचान को फिर से खोजने के लिए विश्वास की ओर रुख करते हैं। समकालीन कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से धर्म व संस्कृति के स्वरूपों में आये बदलाव को इंगित किया है।

पंचम अध्याय – ‘समकालीन हिंदी कविता : आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य’ है। भारतीय स्वाधीनता के बाद आरम्भिक दो दशकों की हिन्दी कविताओं को लोगों ने अकविता, सहज कविता, विचार कविता, नक्सलवादी कविता, साठोत्तरी कविता आदि नाम समय-समय पर आग्रह अथवा दुराग्रह से दिए। प्रारम्भ में भूखी पीढ़ी, आहत पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, क्षुब्ध पीढ़ी के लोगों द्वारा लिखी गई कविता को नेतृत्व वर्ग द्वारा स्वेच्छाचारी और अराजक प्रयोग पद्धति से लिखी गई कविता कहा गया। असल में बिना किसी राजनीति के जो कवि खड़े हुए, उनका उद्देश्य किसी सिद्धान्त और वक्तव्य को क्रियारूप देना नहीं था, बल्कि वे जनता की पीड़ा को वाणी दे रहे थे। उपरोक्त अध्याय में वैश्वीकरण के आगमन से पूर्व के राजनीतिक माहौल एवं वैश्वीकरण के आगमन से पूर्व व वर्तमान में पड़ने वाले आर्थिक-राजनीतिक प्रभाव की चर्चा विस्तृत रूप से की गयी है।

छठा अध्याय – ‘समकालीन हिंदी कविता : सामाजिक परिदृश्य’ है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में समाज के प्रत्येक वर्ग चाहे वह दलित हों, आदिवासी हों, स्त्रियाँ हों, अल्पसंख्यक समाज हों सभी पर सकारात्मक व नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। वैश्वीकरण के आगमन से पूर्व व उसके पश्चात समाज के सभी तबकों के जीवन स्तर में आमूलचूल परिवर्तन आया है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से इन परिवर्तनों को प्रकट किया है। उपरोक्त अध्याय में सभी वर्गों पर पड़ने वाले प्रभावों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। इसमें यह बताया गया है कि, भूमण्डलीकरण के कारण मनुष्य की जीवन पद्धति, गुणवत्ता, रहन-सहन एवं जीवन स्तर पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विश्व व्यापार संगठन के द्वारा प्रतियोगिता बाजार को बढ़ावा मिला है। इसके साथ ही रोजगार के अवसरों में कमी आई है। औद्योगीकरण के द्वारा आधुनिक मशीनों का स्वचलित उपयोग एवं सूचना प्रौद्योगिकी विस्तार के तीव्रगामी होने कारण मानवीय शक्ति श्रम की गुणवत्ता में कमी आई है। भूमंडलीकरण ने रोजगार को सर्वाधिक प्रभावित किया है। क्योंकि, श्रमिकों को जहां पर अच्छा रोजगार मिलता है, वहीं पर काम करने चले जाते हैं।

उपसंहार में उपरोक्त छः अध्यायों में प्रस्तुत विचारों के परिप्रेक्ष्य में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है और शोध प्रबंध का निचोड़ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध के माध्यम से समग्रता में इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वैश्वीकरण आने से पूर्व से लेकर वर्तमान समय तक कविताओं पर विभिन्न अवयवों का सकारात्मक व नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। भूमंडलीकरण के आगमन से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक,

धार्मिक सभी महत्वपूर्ण घटक प्रभावित हुए हैं। इन परिस्थितियों को प्रत्येक दशक के कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

इस शोध प्रबंध के माध्यम से इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया गया है। भूमंडलीकरण ने हमारी प्रकृति, संस्कृति, भाषा, अस्मिता आदि को काफी हद तक प्रभावित किया है। यह हमारे जीवन के तमाम मूल्यों को निरर्थक साबित करने के लिए कुतर्क को स्थापित करती नजर आ रही है। हिन्दी की समकालीन कविता विषयायन भूमंडलीकरण के विरोध में लड़ाई कर रही है। जो मनुष्य को इस भूमंडलीय कुसंस्कृति से बचाना चाहती है। भूमंडलीकृत संसार में तीसरी दुनिया के देशों के पास कोई मौलिक विकल्प कहीं था ही नहीं। यह शोध कार्य समकालीन हिन्दी कविताओं के माध्यम से समाज पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को दर्शाने का एक प्रयास मात्र है। यदि इस प्रयास में शोधार्थी के द्वारा कोई त्रुटी की गयी हो तो वह क्षमा प्रार्थी है। इस बात का एक विश्वास भी है कि प्रस्तुत शोध कार्य भविष्य में समकालीन कविताओं और भूमंडलीकरण जैसे विषय पर रूचि रखने वाले शोधार्थियों व विद्यार्थियों के लिए सदुपयोगी साबित होगा।

शोध सार

भूमंडलीकरण एक महत्वपूर्ण और चुनौतीपूर्ण विषय है, और इस पर कविता लिखना भी एक अद्वितीय अनुभव हो सकता है। यहाँ एक समकालीन हिंदी कविता है जो भूमंडलीकरण के महत्व और परिणाम पर ध्यान केंद्रित करती है :

“भूमंडलीकरण का सच,
धरती रो रही है अब रात-दिन।
जीवन के रंग, सब हो रहे हैं विनाश,
प्रकृति का कहर, हम अब नहीं सह सकते हैं।

जंगलों की शांति टूट रही है,
नदियों का स्वर अब भीषण हो रहा है।
प्राकृतिक संतुलन की कल्पना,
हमारे दिलों में गुम हो रही है।”

यह कविता हमें ध्यान में रखती है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव से हमारी प्राकृतिक विरासत को कैसे खो रहे हैं और हमें अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए कैसे संघर्ष करना चाहिए। समकालीन हिंदी कविता वह कविता है जो आधुनिक युग में लिखी गई होती है, और उसमें आधुनिक समाज की समस्याओं, भावनाओं, और जीवन की विविधताओं को व्यक्त किया जाता है। इसमें आधुनिकता, तकनीकी प्रगति, भावनात्मक संघर्ष, समाजिक विविधता, प्रेम, विरह, और व्यक्तिगत अनुभव जैसे विषयों को समाविष्ट किया जाता है। इसका ध्यान रखते हुए इसमें सामाजिक या राजनीतिक विषयों को भी शामिल किया जा सकता है। समकालीन हिंदी कविता में आधुनिक भाषा, विचारधारा, और विविधता का प्रयोग किया जाता है। समकालीन हिंदी कविता के कई प्रमुख कवि हैं, जिन्होंने आधुनिक भारतीय समाज और मानवता की विभिन्न मुद्दों को अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। यहाँ कुछ प्रमुख समकालीन हिंदी कवियों का उल्लेख है- अटल बिहारी वाजपेयी, रामधारी सिंह 'दिनकर', हरिवंश राय बच्चन, महादेवी वर्मा, केदारनाथ सिंह, जयशंकर प्रसाद, काका हाथरसी, गजानन माधव मुक्तिबोध, अशोक चक्रवर्ती, जगदीश चंद्र माँथुर आदि ये कवि अपनी विशेषता और विचारधारा के आधार पर समकालीन विषयों पर कविताएं लिखी हैं और समाज को जागरूक करने का काम किया है।

भूमण्डलीकरण (Globalization) एक व्यापक प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न देशों और संस्थाओं के बीच व्यापार, वित्त, सांस्कृतिक विनिमय, तकनीकी सहयोग और सामाजिक संबंधों का विस्तार होता है। इस प्रक्रिया में, दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के लोग, व्यवसाय, और संस्थाएं एक-दूसरे के साथ अधिक संबंध बनाते हैं और अपनी सांस्कृतिक, आर्थिक, और तकनीकी अनुभवों को साझा करते हैं। साहित्य के सरोकारों को लेकर आज समाज में एक बहस छिड़ी हुई है। इस संक्रमण काल में कोई भी विधा मानवीय सरोकारों के बिना अधूरी है, साहित्य उससे अछूता कैसे रह सकता है। रीतिकालीन साहित्य से परे अब साहित्य में तमाम विचारधाराएँ सर उठाने लगी हैं या दूसरे शब्दों में समाज का हर वर्ग साहित्य में अपना स्थान सुनिश्चित करना चाहता है। यही कारण है कि नव-लेखन से लेकर दलित विमर्श, नारी विमर्श, बाल विमर्श जैसे तमाम आयाम साहित्य को प्रभावित करते रहे हैं। कभी साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता था, पर अब साहित्य की इस भूमिका पर ही प्रश्नचिह्न लगने लगे हैं। दर्पण का कार्य तो मात्र अपने सामने पड़ने वाली वस्तु का बिम्ब प्रदर्शित करना है, जबकि साहित्य इस मायने में अलग है। वह सिर्फ़ उन पहलुओं को नहीं देखता जो सामने से दिखती हैं बल्कि उनके पीछे की सच्चाइयों और अन्तर्विरोधों को भी उजागर करना उसका कर्तव्य है। ऐसे में आज साहित्य सिर्फ़ समाज का दर्पण मात्र नहीं, बल्कि उससे भी काफ़ी विस्तृत है। किसी भी साहित्यकार के लिए दो बातें महत्वपूर्ण होती हैं। प्रथमतः, उसका परिवेश और द्वितीय पहचाने जाने की इच्छा। साहित्यकार इन दोनों के अन्तर्द्वन्द्वों से जूझता है, क्योंकि वह स्वतः सुखाय नहीं रचता।

प्रस्तुत शोध विषय को चुनने का प्रमुख कारण यह है कि, समकालीन कविताओं में **भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, आतंकवाद, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, विकास की राजनीति व क्षेत्रवाद, व्यवस्था जनित विस्थापन और भेदवादी राजनीति** जैसे मुद्दे कहीं-न-कहीं मौजूद हैं। समकालीन कवि हाशिये पर खड़े लोगों के लिए अपने शब्दों को अंकित करता है। भूमण्डलीकरण ने संसार के प्रत्येक व्यक्ति, समाज, संस्कृति, प्रकृति आदि सभी को प्रभावित किया है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से उन तमाम स्थितियों-परिस्थितियों को इंगित किया है, जो भूमण्डलीकरण के आगमन के बाद उत्पन्न हुए हैं। इन कविताओं के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया गया है कि भूमण्डलीकरण व समकालीन समस्याओं व परिस्थितियों को समकालीन कवियों ने किस प्रकार पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

भूमण्डलीकरण का यह अर्थ सामान्य रूप में स्वीकृत है कि आज पूरी धरती 'विश्वग्राम' है। मुक्त बाज़ार बनाने के पक्ष में जो तर्क दिए गए हैं, उनमें प्रमुख ये हैं कि भूमण्डलीकरण से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा पैदा होती है, रोजगार बढ़ते हैं, उपभोक्ता सामग्री के दाम घटते हैं। पिछड़े हुए और गरीब देश के लोग इस कथित विश्वग्राम के नागरिक नहीं बन सकते हैं। इन देशों के प्राकृतिक संसाधनों और मानवीय श्रम का दोहन करते हुए मोटा मुनाफ़ा कमाना भूमण्डलीकरण का भयावह चेहरा है।

समकालीन हिंदी रचनाकार इस खतरे को और मनुष्य तथा साहित्य के सामने उपस्थित बाजारवाद, मीडिया की चुनौतियों को गंभीरतापूर्वक देख-परख रहे हैं।

आज मनुष्य की संवेदनाएं चूक रही हैं, मानवीय रिश्तों की ऊष्मा ठंडी पड़ने लगी है तथा पूँजीवाद-उदारीकरण के दो पाटों के बीच आमजन पिस रहा है। एक ओर तो वह उत्तर-आधुनिक होते संसार की चकाचौंध से हतप्रभ है वहीं दूसरी ओर इस तेज़ रौशनी में चौंधियाकर गिर जाने की हालत में है। ऐसे में समकालीन हिंदी कविता समाज में एक नयी जिजीविषा, नयी उम्मीद, नयी आस्था तथा नए विश्वास के साथ ज़िन्दगी की, मनुष्यता की, तथा मनुष्य के भीतर बचे प्यार की मुकम्मल तस्वीर पेश करती है और इन्हें बचा लेने की उत्कट कोशिश करती है।

डॉ. बाबू जोसफ के अनुसार, “भूमण्डलीकरण ने इतिहास के अंत के साथ साहित्य एवं कला के निषेध को भी अपने साथ शामिल कर दिया है। आज हमारी भाषा, संस्कृति और परम्परा को भी फ़ालतू एवं महत्वहीन बनाकर उदारीकरण, बाजारीकरण, उपभोक्तावाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और उत्तर-आधुनिकता आदि ने हमारे तमाम जीवंत मानव मूल्यों को निरर्थक एवं बेबुनियाद स्थापित कर दिया है।”¹

समकालीन कविता किसी खेमे या दरबे में न बंधकर व्यक्ति की जिजीविषा और सामाजिक चेतना दोनों को समग्रता में समेट कर चलती है। वास्तव में, व्यक्ति जब समाज को आत्मसात कर के चलता है, तो वह खंडित नहीं, अखंडित ही रहता है। व्यक्ति और समाज को जब कहीं से अलगाने का प्रयास किया जाता है, तो सामन्ती व्यक्तिवादी व्यवस्था को बरकरार रखने की प्रक्रिया को ही पोषित किया जाता है। तब ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति टूटता है और समाज भी खंडित होता है तब व्यक्ति और समाज दोनों का समवेत विखंडन मनुष्य के समुचित विकास के लिए खतरा बन जाता है। हमारी पूर्ववर्ती रचनाधर्मिता में अब तक यही प्रवृत्ति प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से विद्यमान रही है। समकालीन कविता में आते-आते रचनाकार जीवन के साथ सामाजिक यथार्थ से लगातार जुड़ने लगा- अपने निजी प्रेम, सुख-दुःख के साथ वह अपने पारिवारिक एवं सामाजिक यथार्थ के जीवंत ब्यौरों के आकलनों के साथ राजनीतिक सरोकारों से भी बड़ी संजीदगी से रूबरू होने लगा।

समकालीन कविता की मूल प्रवृत्ति जहां ‘**जनात्मपदी**’ मानी जा सकती है, वहां वह ‘**अभिजात्य**’ या ‘**कुलीन**’ न होकर जनजीवन की सहज एवं यथार्थ अभिव्यक्ति भी है। उसमें छद्म कलावादी ऊहापोह के लिए कतई कोई स्थान नहीं! समकालीन कविता ‘**रूप**’ की जगह ‘**कथ्य**’ या वस्तु को अधिक महत्व देती है, इसलिए आज का कवि किसी ‘**रहस्य**’ या ‘**स्वप्न-लोक**’ में विचरण नहीं करता है। वह भाषा के नए शिल्प और मुहावरे को नए ढंग से गढ़ता है, जिसमें जीवन के यथार्थ के तीखेपन और दंश के साथ,

¹ जोसफ़, बाबू. 2013. भूमण्डलीकरण और हिंदी कविता . पृष्ठ सं. 3

रचनाकार की मानवीय संवेदना अधिक गहराई से व्यक्त होती है। यह एक अपरिहार्य सी स्थिति बन गयी है।

मौजूदा हालातों ने आज के रचनाकारों को एक तरह से बाध्य कर दिया है कि वे कवि-कर्म को अपने नैतिक-धर्म के रूप में ग्रहण करें। **‘समकालीन हिंदी कविता’** शब्दावली से इतना तो स्पष्ट ही है कि, यह आधुनिक युग की वह विशिष्ट काव्य-धारा है, जिसके आरम्भ को लेकर हमेशा से ही संशय की स्थिति बनी रही है। जहाँ **डॉ. गोविन्द रजनीश** समकालीन कविता का वास्तविक प्रारंभ **‘सन् 62 के चीनी आक्रमण’¹** के पश्चात् से मानते हैं; वहीं **डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव** समकालीन कविता की प्रवृत्तियों का प्रस्थान बिंदु **‘निराला की परवर्ती कविताओं’²** से मानते हैं।

भूमण्डलीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव केवल निम्नवर्ग पर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवीय समाज पर पड़ा है। धर्म की अमानवीय व्याख्या, स्वार्थपरकता, अर्थलोलुपता, विज्ञान के द्वारा विकसित विनाश के विभिन्न साधन आदि के कारण सम्पूर्ण मनुष्यता के लिए ही संकट पैदा हो गया है। अतः मनुष्य को बचाना सबके लिए प्राथमिक दायित्व है। अभी भी मनुष्य जीवन और मृत्यु के अनेक प्रश्नों से टकरा रहा है। परिवर्तन की गति इतनी तेज है कि यह आशंका होने लगती है कि मनुष्य को मनुष्य की पहचान कराने वाले लक्षण ही न लुप्त हो जाएँ।

आधुनिकता की तरह समकालीनता भी एक व्यापक परिकल्पना है जिसे किसी सीमा में बाँधना हमेशा से दुष्कर प्रतीत होता है। बावजूद इसके अध्यायों की सुविधा हेतु यह जोखिम लेना लाज़िमी बन पड़ता है। **‘समकालीनता’** शब्द की व्यापक प्रवृत्ति पर न जाते हुए जब हम समकालीन कविता को कालबद्ध करने का प्रयत्न करेंगे तो पायेंगे कि, चीनी आक्रमण के बाद से ही कविता ने अपना स्वरूप बदला और वह आम जनमानस के दुःख-दर्द की आवाज बन के उभरी। प्रत्येक दशकों में कविता समकालीनता की अवधारणा को साथ लेकर चली है। सन् साठ के बाद लगभग कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से समकालीन समस्याओं को न केवल उजागर किया बल्कि उन समस्याओं के पीछे निहित कारणों पर करारा व्यंग्य तथा कटाक्ष भी किया।

सन् साठ के बाद की **‘समकालीन कविता’** के प्रमुख कवियों में एक ओर **दुष्यंत कुमार, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रामदरश मिश्र, भारत भूषण अग्रवाल, गिरजा कुमार माथुर, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, केदार नाथ सिंह**, आदि वे कवि आते हैं जिन्होंने अपने काव्य जीवन का प्रारम्भ तो नयी कविता से किया पर धीरे-धीरे उस यथार्थ बोध के निकट आते गए, जो समकालीन कविता की मूलभूत चारित्रिक विशेषता है।

¹डॉ. गोविन्द रजनीश समकालीन कविता पर विचार करते हुए कहते हैं, “समकालीन कविता जिसका वास्तविक प्रारंभ सन 62 के चीनी आक्रमण के पश्चात् हुआ, एक ऐसी रेखा है, जहाँ से हिंदी कविता ने नया मोड़ लिया, वह मोड़ कथ्य के नवीनतम रुझान तथा समय की भाषा और मुहावरे से संपृक्त था। युवा विद्रोही पीढ़ी ने न तो मोह पाला था और न उसके टूटने की प्रक्रिया का अहसास किया था। इस विद्रोह के कुछ कारण भारतीय परिवेश में जन्मे थे और कुछ समसामयिक अंतर्राष्ट्रीय चेतना से जुड़े हुए थे।” ..(डॉ. रजनीश, गोविन्द . 1973 . समसामयिक हिंदी कविता: विविध परिदृश्य . पृष्ठ सं. 33)

²डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव, “समकालीन कविता की जो मुख्य विशेषताएँ हैं, उनका हिंदी कविता में वास्तविक प्रारंभ निराला ने अपनी परवर्ती कविताओं के द्वारा कर दिया था।” ..(डॉ. रणजीत(सं.) . 1998 . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . पृष्ठ सं. 7)

दूसरी अंतर्धारा उन कवियों की है जो किसी न किसी रूप में प्रतिश्रुत कवि कहे जा सकते हैं। केदारनाथ सिंह, शलभ, रमेश कुंतल मेघ, रणजीत, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, धूमिल की अंतर्धारा जो मुख्यतः अपने आपको मुक्तिबोध की नयी प्रगतिशील कविता की धारा से जोड़ती है, और जिसमें समसामयिक यथार्थ का एक व्यापक और सुविचारित चित्र उभरता है।

डॉ. रामदरश मिश्र कहते हैं कि, “इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि सन् 60 के आस-पास नयी कविता की धारा अपने से कुछ अलग होती दिखाई देती है। सन् 60 के बाद की कविताओं ने जीवन की टूटती मूर्तियों के बहुत करीब जा कर उनकी टूटने की तल्खी, व्यथा और उसमें से फूटती अस्वीकृत की उग्रता को पहचाना है”¹

तीसरी व महत्वपूर्णधारा उन रचनाकारों की रही है, जो भूमण्डलीकरण के विरुद्ध वैचारिक सघनता ग्रहण किये हुए खड़े रहे हैं, यथा: विष्णु खरे, नरेश सक्सेना, भागवत रावत, चंद्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, अशोक वाजपेयी, राजेश जोशी, मंगरेश डबराल, अरुण कमल, आलोक धन्वा, कुमार विकल, उदय प्रकाश, ज्ञानेन्द्रपति, अंशु मालवीय, देवी प्रसाद मिश्र, अनामिका, कात्यायनी, निर्मला पुतुल, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय तथा जय प्रकाश कर्दम इत्यादि तमाम कवि अपनी रचनाओं के साथ इस रूप में अवतरित हुए हैं कि सारा समकालीन काव्य परिदृश्य एक गंभीर उत्साह आत्म गौरव और संघर्ष-परायणता से दमक उठा।

उत्तरोत्तर आधुनिक होते जीवन और उससे उपजे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक-सांस्कृतिक परिदृश्य, कहीं न कहीं अपने पूर्वापर अवस्था में ही मौजूद है। इसलिए हिंदी की समकालीन कविता जो एक महत्वपूर्ण काव्य आन्दोलन है, इसके प्रारंभ, सीमा, प्रवर्तक कवि, प्रमुख प्रवृत्तियों और मानवीय मूल्यों के प्रतिपादन को ले कर गत कुछ समय में विवाद की स्थिति रही है। आधुनिकता, समसामयिकता, आधुनिक भाव बोध आदि के सन्दर्भ में भी आलोचकों के बीच मतभेद है। लक्ष्मीकांत वर्मा आधुनिकता को ‘युग विशेष’² का गुण मानते हैं।

समकालीन हिंदी कविता मूलतः उस युग की कविता है, जिसे जन साधारण की आकांक्षाओं से जूझना पड़ रहा है, जिसके बिना आज के मनुष्य का जीवन निरर्थक-सा हो जाता है। समकालीन कविता जहाँ आम-आदमी के लिए वरदान है, उसकी मुसीबत के विरुद्ध एक हथियार है, वहीं आदमी के हर विरोधी तत्व के लिए यह प्रतिपक्ष की कविता है।

वर्तमान समाज, ऐसे में भूमण्डलीकरण के चलते एक कठिन दौर से गुजर रहा है। वैश्वीकरण ने एक ओर लोक संस्कृति को अपदस्थ किया है तो दूसरी ओर जातीय पहचान के सवाल को गौण बना

¹ मिश्र, रामदरश . 1969 . हिंदी कविता: तीन दशक . पृष्ठ सं. 16

² लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार, “आधुनिकता युग विशेष का गुण है, समसामयिकता स्थिति विशेष का आयाम है। आधुनिकता के ऐतिहासिक विश्लेषण जो देश काल के बोध के साथ सक्रियता की पुष्टि करती है। आधुनिकता कालबोध, युग बोध की द्योतक है। विचार में आधुनिक होते हुए भी इनमें समसामयिक नहीं हो सकते क्योंकि समसामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता।” ..(डॉ. मैथ्यू, मरियाम्मा वी. . 2013 . समकालीन कविता में भूमण्डलीकरण का प्रभाव . पृष्ठ सं. 211)

दिया है। समकालीन कविता को भूमण्डलीकरण से लड़ने के लिए लोक संस्कृति और जातीय पहचान को विशेष महत्व देना होगा। **मदन कश्यप, नीली उपाध्याय, उदय प्रकाश**, जैसे समकालीन कवि इससे जुड़े हुए दिखाई देते हैं। **मदन कश्यप** द्वारा लिखित '**कुआँ**' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ भी इस ओर ही दृष्टिपात करती है कि, यदि हम अभी सचेत व जागरूक नहीं हुए तो वैश्वीकरण की चकाचौंध हमारी संस्कृति और सभ्यता को भविष्य में पूरी तरह से नष्ट कर देगी।

भूमण्डलीकरण को एक साथ **विश्वग्राम, ग्लोबल विलेज, वैश्वीकरण** आदि अनेक नामों से अलंकृत किया जा रहा है। भूमण्डलीकरण की चमक-दमक में व्यक्ति अपने ग्राम-परिवेश एवं संस्कृति से विमुखित हो रहा है। वैश्वीकरण ने व्यक्ति को एक वस्तु बना दिया है। सब जगह बाजारीकरण व्याप्त हो रहा है। जहाँ देखें वहाँ देश, समाज, संस्कृति सबका क्रय-विक्रय हो रहा है। पिछले दो दशकों पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि लोक जीवन पर इसका कितना प्रभाव पड़ा है। इसके पीछे आधुनिकता की बीमारी एवं मीडिया का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

समकालीन हिन्दी कविता की शुरुआत कहाँ से मानी जाए, इस विषय पर मत भिन्नता है। कुछ विद्वान सन् 1960 के बाद इसका आरम्भ मानते हैं, तो कुछ सन् 1980 के बाद। वे सम्भवतः उस दौर की कविताओं में सन् 1975 में घोषित आपातकाल, देश में सम्पूर्ण क्रान्ति के गूँजते नारे, सन् 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस की करारी हार, नवगठित सरकार से जनता की असन्तुष्टि, मध्यावधि चुनाव, कांग्रेस के पुनरागमन, इन्दिरा गांधी की हत्या, नागरिक असन्तोष के नए-नए कारण...आदि से प्रभावित देश के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सन्तुलन की ध्वनि का चित्रण देखकर ऐसा कहते हैं और कहते हैं कि कविता की वापसी हुई है। पर इसका अर्थ होगा कि इससे पहले कविता कहीं चली गई थी, जो सच नहीं है। हाँ यह सच है कि जिस प्रगतिशील चेतना के साथ कविता सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है, कुछ वर्ष के लिए कविता अपने कला रूप की चिन्ता करने लगी थी।

समकालीनता से तात्पर्य अपने युगबोध व पूर्ववर्ती ऐतिहासिक संक्रमण कारकों से रु-ब-रु होना है। **कविवर रघुवीर सहाय** के अनुसार, "समकालीनता मानव भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है। कविता में समकालीनता की पहचान वही नहीं हो सकती जो उदाहरण के लिए राजनीति में हो सकती है। सही पहचान के लिए हमें कवि की भाषा और उसके भाव-बोध के परस्पर संबंध को जानना चाहिए।"¹

स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ ही वर्ष के बाद उस दौर की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों ने जनमानस को चौंका दिया था। वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न प्रगतिशील समाज के गठन के आग्रही नेता जवाहरलाल नेहरू का मोहभंग हुआ; लालबहादुर शास्त्री को सदमा पहुँचा; दृष्टि-सम्पन्न इन दो-दो प्रधानमन्त्रियों का देहावसान, इन्दिरा गांधी के नेतृत्व की शुरुआत, भारत-पाक सीमा-संघर्ष में

¹ नवल, नंदकिशोर .समकालीन काव्य यात्रा .पृ. सं. - 8

इन्दिरा गांधी की सूझ-बूझ से देश में जगी नई स्फूर्ति...ये सभी स्वर समकालीन कविता में अपनी तरह के विरोध, समर्थन के साथ प्रस्तुत हुए। जन-गण के सुख-दुख की उपेक्षा भी हुई, सारी स्थितियों से बाखबर समकालीन कविता ने अपना अग्राभिमुख संस्कार अगले दशक को थमाया। वस्तुतः सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता को समकालीन कविता के रूप में स्वीकार किया सकता है।

भूमंडलीकरण का अर्थ सर्वमान्य रूप में है कि आज पूरी धरती 'विश्वग्राम' है। सोवियत यूनियन के विघटन के पश्चात 'पूंजीवादी व्यवस्था' ही पूरे विश्व में एक मात्र आर्थिक समाधान के रूप में विकसित होने लगी। 'ग्लोबलाइज़ेशन' वस्तुतः इसी पूंजीवादी आर्थिक तंत्र का एक नया रूप था (भूमंडलीकरण), जिसने आर्थिक विकास के रूप में संसार को प्रभावित किया। उदारवाद के नाम पर इस व्यवस्था ने विश्व के आर्थिक तंत्र को पहले तो अपने कब्जे में लिया, फिर बाजारवाद की एक नयी अवधारणा देकर संसार की अर्थव्यवस्था के सम्मुख एक भ्रमजाल का निर्माण किया।

सामाजिक पूंजीवाद के इस नए वैश्वीकृत रूप ने संसार की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ वहां की सांस्कृतिक व्यवस्था, नैतिक मान्यताओं व मूल्यों को गंभीरता से प्रभावित किया है। इसके प्रभाव से एक ऐसी आर्थिक संरचना विकसित हुई, जिसने पूरे विश्व को एक बाजार के रूप में स्थापित कर दिया है। भूमंडलीकरण के प्रभाव से हमारी भाषा, रीति-रिवाज़, खान-पान, वेशभूषा सभी की विशिष्टता में बदलाव आये हैं। आज यह बाजारवाद के घटक के रूप में पारिभाषित होने लगे हैं।

डॉ. बाबू जोसफ़ के अनुसार, 'भूमंडलीकरण ने इतिहास के अंत के साथ-साथ साहित्य एवं कला के निषेध को भी अपने साथ कर लिया है। आज हमारी भाषा, संस्कृति और परम्परा को भी फ़ालतू एवं महत्वहीन बनाकर उदारीकरण, बाज़ारीकरण, उपभोक्तावाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और उत्तर-आधुनिकतावाद आदि ने हमारे जीवंत मानव मूल्यों को निरर्थक एवं बेबुनियाद स्थापित कर दिया है।'¹

शंभु बादल जूझारू जनता एवं संघर्षधर्मी चेतना के साथ ही सामाजिक बदलाव के कवि हैं। सामाजिक परिवर्तन को क्रांति की आंख से देखते हैं। समकालीन कविता में विद्रोह के ये स्वर शंभु बादल की कविताओं में सर्वाधिक है। यहां बदलाव के न केवल प्रतिरोध के स्वर हैं बल्कि हथियार उठाने, हमला करने, तोड़फोड़ करने, गुरिल्ला नायक पैदा करने जैसे जनसंघर्ष के विविध रूप मिलते हैं। उनकी कविता शोषित-उत्पीड़ित-दलित जनता के प्रति न केवल सहानुभूति रखती है बल्कि उसे संगठित करने की प्रेरणा भी है। जिससे पूंजीवादी शक्तियों का मुकाबला किया जा सके। मार्क्सवादी चिंतन इनकी दृष्टि की ताकत है। 'मौसम को हांक चलो' कविता में जीवन विरोधी शक्तियों के विरुद्ध कवि का तेवर देखें :

¹ जोसफ़, बाबू. 2013. भूमण्डलीकरण और हिंदी कविता. पृष्ठ सं. 5

“दुनिया को जीतने की आकांक्षा

जगी है सम्राट में

धन पर लोटते हैवान में

प्रतिरोधी अस्त्रों से महाक्रमण को किल करो!

आवाज कौंधती है।”¹

उदाहरणस्वरूप यदि हम देखें, भूमंडलीकरण की वजह से शहर महानगर का रूप धारण करते जा रहे हैं, वहीं गावों से उनकी दूरी भी निरंतर बढ़ती जा रही है। आम जनमानस पर पड़ रहे भूमंडलीकरण के इस प्रभाव को जगदीश चतुर्वेदी जी ने अपनी कवितायें, ‘मृत्यु जैसी खामोशी’, ‘नगर यंत्रण’, ‘बीसवीं सदी के बाद’ आदि में व्यक्त किया है:

“मुझे दहशत नहीं होती, यह सुनकर कि

एक पूरा मुल्क आग में झुलस दिया गया

यह तो इस शताब्दी का सती है।”²

समाज से जुड़े विषयों को ले कर चलने वाली समकालीन हिन्दी कविता को किसी खेमे में बांधकर नहीं रखा जा सकता है। सन् 90 के पश्चात् भूमंडलीकरण के आगमन ने समाज व कविता दोनों को काफी हद तक प्रभावित किया है। इस विषय क्षेत्र को किस तरह समेटकर अभिव्यक्त किया जाये और वह भी सार्थक विमर्श के लिए ताकि कोई रास्ता खुल सके तथा कोई विकल्प ढूँढा जा सके यही चेतना इस शोध ग्रन्थ के विषय के चयन के पीछे प्रमुखता से रही है। समकालीन कविता नए विश्वास के साथ जिंदगी की, मनुष्यता की तथा मनुष्य के भीतर बचे प्यार की मुकम्मल तस्वीर पेश करते हुए इन्हें बचा लेने की उत्कट कोशिश करती है।

काफी अध्ययन व चिंतन तथा अपने शोध निर्देशक डॉ. अनुज कुमार जी के परामर्श के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मुझे ‘समकालीन हिंदी कविता और भूमंडलीकरण’ विषय पर शोध कार्य करना चाहिये। विषय चयन के बाद मैंने विस्तार से इसकी रूपरेखा तैयार की। प्रस्तुत शोध प्रबंध इसी रूप रेखा के आधार पर लिखी गयी है। मैंने शोध प्रबंध को अध्ययन की सुविधा हेतु छः अध्यायों में विभक्त किया है :

प्रथम अध्याय – ‘समकालीन हिंदी कविता एवं भूमंडलीकरण का परिचयात्मक वर्णन’ है। समकालीनता हमारे जीवन मूल्यों तथा विचारों की एक दृष्टि है, जिसमें अपने देश, काल और

¹ बादल, शम्भू. 2007 . मौसम को हांक चलो (कविता) . पृ. सं. 88

² चतुर्वेदी, अनुभूति . 2008 .जगदीश चतुर्वेदी की 25 कवितायें .पृ.सं 41 .

इतिहासबोध से तटस्थता अपनाकर प्रेम, आध्यात्म तथा प्रकृति की सुंदरता के शाश्वत बोध की कल्पना की जाती है। समकालीन कविता अपने परिवेशगत यथार्थ की व्यापक अभिव्यक्ति है। समकालीन कविता में नयी-पुरानी पीढ़ी के सभी कवि एक साथ, एक स्वर से सत्ता-विरोध की कविताएँ रचते हैं जिनमें राजनीतिक विकृतियों से उत्पन्न नरक का गहराई से अहसास कराने वाली चेतना प्रबल है। भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था को संसार की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत करना है। वस्तुओं, सेवाओं, व्यक्तियों और सूचनाओं का राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार स्वतंत्र रूप से संचरण ही वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण कहलाता है। उपरोक्त अध्याय में समकालीन हिंदी कविता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से लेकर वर्तमान परिदृश्य तक का परिचय दिया गया है। साथ ही भूमंडलीकरण की परिभाषा, इसके आगमन, समाज व संसार पर इसके प्रभाव सम्बन्धी विषयों को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में समकालीन कविता व भूमंडलीकरण के ऐतिहासिक आयाम और उसके प्रकार तथा तत्वों को भी समझने की कोशिश की गयी है।

द्वितीय अध्याय – ‘समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर’ है। रचनाकारों की दृष्टि से देखें तो समकालीन कविता के दौर में समकालीन युग-यथार्थ के अनुभवों के साथ तैयार हुई पीढ़ी के कवि समेत वे सभी कविगण रचनाशील रहे, जो सन् साठ के पूर्व से ही रचनारत थे। इनमें एक तो वे थे, जो सप्तकों से बाहर रहकर हिन्दी कविता की जमीन मजबूत कर रहे थे; दूसरे वे जो सप्तक परम्परा से आने के बावजूद निरन्तर अपनी समझ विकसित करते रहे तथा समय के बदलते स्वरूप के साथ-साथ काव्य सम्बन्धी अपनी धारणाओं, मान्यताओं को भी परिवर्तित करते रहे। उपरोक्त अध्याय में विभिन्न दशकों (सत्तर, अस्सी, नब्बे तथा वर्तमान) के समकालीन कवियों के जीवन व साहित्यिक परिचय को प्रस्तुत किया गया है। किन् विषयों को लेकर उन्होंने अपनी काव्य रचनाएँ की हैं उसकी चर्चा भी प्रस्तुत अध्याय में की गयी है।

तृतीय अध्याय – ‘समकालीन हिंदी कविता : प्रवृत्तिगत विशेषताएं’ है। भूमंडलीकरण के आगमन के पश्चात् समाज व साहित्य दोनों पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा है। समकालीन कवियों ने इन प्रवृत्तियों के आधार पर अपनी रचनाएँ की हैं। बाज़ारवाद, लोक संस्कृति, अमीरी-गरीबी का यथार्थ, बदलती मानसिकता, प्रकृति व औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, धार्मिकता का ढोंग और अल्पसंख्यक वर्ग, भूमण्डलीकरण तथा वंचित वर्ग (स्त्री, दलित एवं आदिवासी) ये सभी समकालीन कविताओं के काव्य विषय रहे हैं। समकालीन कविताओं में भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, आतंकवाद, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, विकास की राजनीति व क्षेत्रवाद, व्यवस्था जनित विस्थापन और भेदवादी राजनीति जैसे मुद्दे कहीं-न-कहीं मौजूद हैं। समकालीन कवि हाशिये पर खड़े लोगों के लिए अपने शब्दों को अंकित करता है। प्रस्तुत अध्याय में इन सभी विशेषताओं व प्रवृत्तियों की चर्चा विस्तारपूर्वक की गयी है।

चतुर्थ अध्याय – ‘समकालीन हिंदी कविता : धार्मिक-सांस्कृतिक परिदृश्य’ है। भूमंडलीकरण ने संस्कृति को काफी गहरे रूप में प्रभावित किया है। इसके प्रभाव से भारत में वेश-भूषा, खान-पान, संगीत, भाषा, विचार आदि क्षेत्रों में कई परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में यह बताया गया है कि वैश्वीकरण के कारण दुनिया के कई हिस्सों में धर्म का पुनरुद्धार हुआ है, मुख्य रूप से धार्मिक कट्टरवाद के रूप में, लेकिन इससे आधुनिक समाज में संगठित धर्म का पतन भी हुआ है। विशिष्ट संस्कृतियों के बीच बाधाओं को कम करके, वैश्वीकरण धर्म को उन संघर्षों में डाल देता है जो सामाजिक पहचान का समर्थन करते हैं, क्योंकि कुछ लोग नई वास्तविकताओं की डिलीवरी नहीं लेते हैं और अपनी पहचान को फिर से खोजने के लिए विश्वास की ओर रुख करते हैं। समकालीन कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से धर्म व संस्कृति के स्वरूपों में आये बदलाव को इंगित किया है।

पंचम अध्याय – ‘समकालीन हिंदी कविता : आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य’ है। भारतीय स्वाधीनता के बाद आरम्भिक दो दशकों की हिन्दी कविताओं को लोगों ने अकविता, सहज कविता, विचार कविता, नक्सलवादी कविता, साठोत्तरी कविता आदि नाम समय-समय पर आग्रह अथवा दुराग्रह से दिए। प्रारम्भ में भूखी पीढ़ी, आहत पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, क्षुब्ध पीढ़ी के लोगों द्वारा लिखी गई कविता को नेतृत्व वर्ग द्वारा स्वेच्छाचारी और अराजक प्रयोग पद्धति से लिखी गई कविता कहा गया। असल में बिना किसी राजनीति के जो कवि खड़े हुए, उनका उद्देश्य किसी सिद्धान्त और वक्तव्य को क्रियारूप देना नहीं था, बल्कि वे जनता की पीड़ा को वाणी दे रहे थे। उपरोक्त अध्याय में वैश्वीकरण के आगमन से पूर्व के राजनीतिक माहौल एवं वैश्वीकरण के आगमन से पूर्व व वर्तमान में पड़ने वाले आर्थिक-राजनीतिक प्रभाव की चर्चा विस्तृत रूप से की गयी है।

छठा अध्याय – ‘समकालीन हिंदी कविता : सामाजिक परिदृश्य’ है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत में समाज के प्रत्येक वर्ग चाहे वह दलित हों, आदिवासी हों, स्त्रियाँ हों, अल्पसंख्यक समाज हों सभी पर सकारात्मक व नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। वैश्वीकरण के आगमन से पूर्व व उसके पश्चात समाज के सभी तबकों के जीवन स्तर में आमूलचूल परिवर्तन आया है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से इन परिवर्तनों को प्रकट किया है। उपरोक्त अध्याय में सभी वर्गों पर पड़ने वाले प्रभावों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। इसमें यह बताया गया है कि, भूमण्डलीकरण के कारण मनुष्य की जीवन पद्धति, गुणवत्ता, रहन-सहन एवं जीवन स्तर पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विश्व व्यापार संगठन के द्वारा प्रतियोगिता बाजार को बढ़ावा मिला है। इसके साथ ही रोजगार के अवसरों में कमी आई है। औद्योगीकरण के द्वारा आधुनिक मशीनों का स्वचलित उपयोग एवं सूचना प्रौद्योगिकी विस्तार के तीव्रगामी होने कारण मानवीय शक्ति श्रम की गुणवत्ता में कमी आई है। भूमंडलीकरण ने रोजगार को सर्वाधिक प्रभावित किया है। क्योंकि, श्रमिकों को जहाँ पर अच्छा रोजगार मिलता है, वहीं पर काम करने चले जाते हैं।

उपसंहार में उपरोक्त छः अध्यायों में प्रस्तुत विचारों के परिप्रेक्ष्य में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है और शोध प्रबंध का निचोड़ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध के माध्यम से समग्रता में इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वैश्वीकरण आने से पूर्व से लेकर वर्तमान समय तक कविताओं पर विभिन्न अवयवों का सकारात्मक व नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। भूमंडलीकरण के आगमन से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सभी महत्वपूर्ण घटक प्रभावित हुए हैं। इन परिस्थितियों को प्रत्येक दशक के कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

इस शोध प्रबंध के माध्यम से इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया गया है। भूमंडलीकरण ने हमारी प्रकृति, संस्कृति, भाषा, अस्मिता आदि को काफी हद तक प्रभावित किया है। यह हमारे जीवन के तमाम मूल्यों को निरर्थक साबित करने के लिए कुतर्क को स्थापित करती नजर आ रही है। हिन्दी की समकालीन कविता विधायन भूमंडलीकरण के विरोध में लड़ाई कर रही है। जो मनुष्य को इस भूमंडलीय कुसंस्कृति से बचाना चाहती है। भूमंडलीकृत संसार में तीसरी दुनिया के देशों के पास कोई मौलिक विकल्प कहीं था ही नहीं। यह शोध कार्य समकालीन हिंदी कविताओं के माध्यम से समाज पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को दर्शाने का एक प्रयास मात्र है। यदि इस प्रयास में शोधार्थी के द्वारा कोई त्रुटी की गयी हो तो वह क्षमा प्रार्थी है। इस बात का एक विश्वास भी है कि प्रस्तुत शोध कार्य भविष्य में समकालीन कविताओं और भूमंडलीकरण जैसे विषय पर रूचि रखने वाले शोधार्थियों व विद्यार्थियों के लिए सदुपयोगी साबित होगा।

अनुक्रमणिका

अध्याय	विवरण	पृष्ठ संख्या
	• आभार	i – ii
	• भूमिका	iii – xiii
	• शोध सार	1 – 11
प्रथम अध्याय	समकालीन कविता एवं भूमण्डलीकरण का परिचयात्मक वर्णन • समकालीन हिंदी कविता: सामान्य परिचय • भूमण्डलीकरण: सामान्य परिचय	12 – 42
द्वितीय अध्याय	समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर • सत्तर के दशक के कवि • अस्सी के दशक के कवि • नब्बे के दशक के कवि • वर्तमान परिदृश्य	43 – 152
तृतीय अध्याय	समकालीन हिंदी कविता : प्रवृत्तिगत विशेषताएं • जनवादी संघर्ष एवं राजनीतिक चेतना का उद्घाटन • वास्तविक स्वतंत्रता की समस्या एवं व्यंग्य की अभिव्यक्ति • स्त्रियों के स्वर एवं प्रतिरोध की अवधारणा • भूमण्डलीकरण का प्रभाव एवं पर्यावरणीय चेतना • यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक विभिन्नता • महामारी में समकालीन हिंदी कविता • समकालीन हिंदी कविता : भाषा शिल्प	153 – 262

चतुर्थ अध्याय	समकालीन हिंदी कविता : धार्मिक-सांस्कृतिक परिदृश्य • धार्मिक प्रभाव • सांस्कृतिक प्रभाव	263 – 303
पंचम अध्याय	समकालीन हिंदी कविता : आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य • आर्थिक प्रभाव • राजनीतिक प्रभाव	304 – 357
छठा अध्याय	समकालीन हिंदी कविता : सामाजिक परिदृश्य • स्त्रियों पर प्रभाव • दलितों पर प्रभाव • आदिवासियों पर प्रभाव • अल्पसंख्यकों पर प्रभाव	358 – 421
उपसंहार		422 – 431
प्रकाशित शोध-पत्र		
संगोष्ठी प्रमाण-पत्र		

1. समकालीन कविता एवं भूमंडलीकरण का परिचयात्मक वर्णन

वैसे तो हर युग अपने समय के साथ आगे या पीछे बढ़ता है और बदले हुए शब्दों में उस पूरे युग को कालीन ही माना जाता है। हर इतिहास का, हर संस्कृति और हर साहित्य का अपना एक निश्चित समय होता यह कालखण्डों में बंटा होता है। जब उसको समग्रतः एक साथ देखा जाता है तो वह अनवरत विकसित हो कर परम्परा व पद्धति स्वरूप बन जाता है। चूँकि भौतिक जगत में किसी चीज के अस्तित्व की पहचान समय पेक्ष ही हो सकती है, इसीलिए प्रत्येक क्षेत्र में तत्कालीन समय का अपना अनिवार्य महत्व है।

समकालीनता से तात्पर्य अपने युगबोध व पूर्ववर्ती ऐतिहासिक संक्रमण कारकों से रु-ब-रु होना है। कविवर रघुवीर सहाय के अनुसार, “समकालीनता शब्द मानव अस्तित्व के रूप में पक्षधरता का दूसरा नाम है। कविता में समकालीनता की पहचान वही नहीं हो सकती जो उदाहरण के लिए राजनीति में हो सकती है। सही पहचान के लिए हमें कवि की भाषा और उसके भाव-बोध के परस्पर संबंध को जानना चाहिए।”¹

समकालीन कविता पर विचार करने से पहले 'समकालीन' शब्द के वास्तविक अर्थ पर विचार करना महत्वपूर्ण है। जब हम समकालीनता के शाब्दिक अर्थ पर विचार करते हैं तो हम इसे साहित्य की विशेषता बताने के लिए प्रयोग करने वाले पक्ष पर विचार करते हैं ताकि साहित्य के पूर्व समकालीन लगाने पर उसका क्या अर्थ हो जाता है। डॉ. रवीन्द्र भ्रमर कहते हैं, “हिन्दी में 'समकालीन' शब्द अंग्रेजी के काण्टेम्परेरी शब्द के पर्याय के रूप में जाना जाता है। 'काण्टेम्परेरी' से अभिप्राय तीन अर्थों में समाहित होता है। (1) विशेष काल से सम्बन्ध (2) विशेष व्यक्ति के काल मापन से सम्बन्ध (3) साहित्य अथवा प्रवृत्ति विशेष से सम्बंधित बालखण्ड। समकालीनता को आंकने के लिए 'आधुनिक' और 'अत्याधुनिक' शब्द महत्वपूर्ण हैं। 'आधुनिक' अधिक व्यापक और मूल्यगर्भित शब्द है। अत्याधुनिक शब्द अपने आप में शामिल किए हुए आधुनिकता की पीठ पर स्थित कालखण्ड है।”²

स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ ही वर्ष के बाद उस दौर की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों ने जनमानस को चौंका दिया था। वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न प्रगतिशील समाज के गठन के आग्रही नेता जवाहरलाल नेहरू का मोहभंग हुआ; लालबहादुर शास्त्री को सदमा पहुँचा; दृष्टि-सम्पन्न इन दो-दो प्रधानमन्त्रियों का देहावसान, इन्दिरा गांधी के नेतृत्व की शुरुआत, भारत-पाक सीमा-संघर्ष में इन्दिरा गांधी की सूझ-बूझ से देश में जगी नई स्फूर्ति...ये सभी स्वर समकालीन कविता में अपनी तरह के विरोध, समर्थन के साथ प्रस्तुत हुए। जन-गण के सुख-दुख की उपेक्षा भी हुई, सारी स्थितियों से खबरदार

¹ नवल, नंदकिशोर .समकालीन काव्य यात्रा .पृ. सं. -8

² उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ . प्रथम संस्करण 1976 . समकालीन हिंदी कविता की भूमिका . पृ.सं- 10

समकालीन कविता ने अपना अग्राभिमुख संस्कार अगले दशक को थमाया। वस्तुतः सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता को समकालीन कविता की संज्ञा दी जा सकती है।

समकालीन कविता सच्चे अर्थों में वर्तमान कविता, आज की कविता, समसामयिक कविता, साम्प्रतिक कविता, तथा साठोत्तरी, सातवें, आठवें दशक की कविता का सम्मिलित रूप से प्रतिनिधित्व करती है। विद्वान स्टीफन स्पेंडर के कथनानुसार **"The contemporary belongs to the modern would represents its in his work and accepts. The histic forces moving through it."**¹

भूमंडलीकरण का अर्थ सर्वमान्य रूप में है कि आज पूरी धरती 'विश्वग्राम' है। सोवियत यूनियन के विघटन के पश्चात 'पूंजीवादी व्यवस्था' ही पूरे विश्व में एक मात्र आर्थिक समाधान के रूप में विकसित होने लगी। उदारवाद के नाम पर इस व्यवस्था ने विश्व के आर्थिक तंत्र को पहले तो अपने कब्जे में लिया, फिर बाजारवाद की एक नयी अवधारणा देकर संसार की अर्थव्यवस्था के सम्मुख एक भ्रमजाल का निर्माण किया।

सामाजिक पूंजीवाद के इस नए वैश्वीकृत रूप ने संसार की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ वहां की सांस्कृतिक व्यवस्था, नैतिक मान्यताओं व मूल्यों को गंभीरता से प्रभावित किया है। इसके प्रभाव से एक ऐसी आर्थिक संरचना विकसित हुई, जिसने पूरे विश्व को एक बाजार स्वरूप स्थापित किया है। भूमंडलीकरण के प्रभाव से हमारी भाषा, रीति-रिवाज़, खान-पान, वेशभूषा सभी की विशिष्टता में बदलाव आये हैं। आज यह बाजारवाद के घटक के रूप में पारिभाषित होने लगे हैं।

डॉ. बाबू जोसफ़ के अनुसार, 'भूमंडलीकरण ने इतिहास के अंत के साथ-साथ साहित्य एवं कला के निषेध को भी अपने साथ कर लिया है। आज हमारी भाषा, संस्कृति और परम्परा को भी फ़ालतू एवं महत्वहीन बनाकर उदारीकरण, बाज़ारीकरण, उपभोक्तावाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और उत्तर-आधुनिकतावाद आदि ने हमारे जीवंत मानव मूल्यों को निरर्थक एवं बेबुनियाद स्थापित कर दिया है।'²

भूमंडलीकरण का आशय विभिन्न देशों के बाजारों एवं उनमें बेची जाने वाली वस्तुओं में एकीकरण से है। जिसमें विदेशी व्यापार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, उन्नत प्रौद्योगिकी की निकटता आदि के कारण विश्व व्यापार को बढ़ावा मिलता है। भूमंडलीकरण से सम्पूर्ण विश्व में परस्पर सहयोग एवं समन्वय से एक बाजार के रूप में कार्य करने की शक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं को एक देश से दूसरे देश में आने एवं जाने से सम्बंधित अर्चनों को समाप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार पूरे विश्व में बाजार शक्तियां स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगती हैं।

¹ उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ . प्रथम संस्करण 1976 . समकालीन कविता की भूमिका . पृ.सं- 11

² डॉ. जोसफ़, बाबू(सं.) . 2013 . भूमंडलीकरण और हिंदी कविता . पृ. सं.- 33

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप संसार के सभी देशों में सामानों की कीमत कमोबेश समान होती है। सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था में सभी व्यापारिक क्रियाओं का अन्तर्राष्ट्रीयकरण ही भूमंडलीकरण के स्वरूप का निर्धारण करता है।

समकालीन कविता की मूल प्रवृत्ति जहां 'जनात्मपदी' मानी जा सकती है, वहां वह 'अभिजात्य' या 'कुलीन' न होकर जनजीवन की सहज एवं यथार्थ अभिव्यक्ति भी है। उसमें छद्म कलावादी ऊहापोह के लिए कतई कोई स्थान नहीं! समकालीन कविता 'रूप' की जगह 'कथ्य' या वस्तु को अधिक महत्व देती है, इसलिए आज का कवि किसी 'रहस्य' या 'स्वप्न-लोक' में विचरण नहीं करता है। वह भाषा के नए शिल्प और मुहावरे को नए ढंग से गढ़ता है, जिसमें जीवन के यथार्थ के तीखेपन और दंश के साथ, रचनाकार की मानवीय संवेदना अधिक गहराई से व्यक्त होती है। यह एक अपरिहार्य सी स्थिति बन गयी है।

मौजूदा हालातों ने आज के रचनाकारों को एक तरह से बाध्य कर दिया है कि वे कवि-कर्म को अपने नैतिक-धर्म के रूप में ग्रहण करें। 'समकालीन हिंदी कविता' शब्दावली से इतना तो स्पष्ट ही है कि, यह आधुनिक युग की वह विशिष्ट काव्य-धारा है, जिसके आरम्भ को लेकर हमेशा से ही संशय की स्थिति बनी रही है। जहाँ डॉ. गोविन्द रजनीश समकालीन कविता का वास्तविक प्रारंभ 'सन् 62 के चीनी आक्रमण'¹ के पश्चात् से मानते हैं; वहीं डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव समकालीन कविता की प्रवृत्तियों का प्रस्थान बिंदु 'निराला की परवर्ती कविताओं'² से मानते हैं।

भूमण्डलीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव केवल निम्नवर्ग पर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवीय समाज पर पड़ा है। धर्म की अमानवीय व्याख्या, स्वार्थपरकता, अर्थलोलुपता, विज्ञान के द्वारा विकसित विनाश के विभिन्न साधन आदि के कारण सम्पूर्ण मनुष्यता के लिए ही संकट पैदा हो गया है। अतः मनुष्य को बचाना सबके लिए प्राथमिक दायित्व है। अभी भी मनुष्य जीवन और मृत्यु के अनेक प्रश्नों से टकरा रहा है। परिवर्तन की गति इतनी तेज है कि यह आशंका होने लगती है कि मनुष्य को मनुष्य की पहचान कराने वाले लक्षण ही न लुप्त हो जाएँ।

समकालीन हिंदी कविता कभी भी किसी विशेष विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि यह प्रारम्भ से ही एक भाव-समुच्चयबोध की कविता रही है। छायावाद के विषयों से लेकर कान्तदर्शी चेतना की प्रवृत्तियाँ, किसी भी कविता के पाठक को आकर्षित कर सकती है। गद्यगीत, नवगीत, गजल, सॉनेट, सपाट बयानी, मुक्त छन्द, सभी रूप विधानों को आप समकालीन कविता में ढूँढ़ सकते हैं।

¹ डॉ. गोविन्द रजनीश समकालीन हिंदी कविता के विषय में कहते हैं, "समकालीन कविता जिसका वास्तविक प्रारंभ सन 62 के चीनी आक्रमण के पश्चात् हुआ, एक ऐसी रेखा है, जहाँ से हिंदी कविता ने नया मोड़ लिया, वह मोड़ कथ्य के नवीनतम रुझान तथा समय की भाषा और मुहावरे से संपृक्त था। युवा विद्रोही पीढ़ी ने न तो मोह पाला था और न उसके टूटने की प्रक्रिया का अहसास किया था। इस विद्रोह के कुछ कारण भारतीय परिवेश में जन्मे थे और कुछ समसामयिक अंतर्राष्ट्रीय चेतना से जुड़े हुए थे" ..(डॉ. रजनीश, गोविन्द . 1973 . समसामयिक हिंदी कविता: विविध परिदृश्य . पृष्ठ सं. 33)

² डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव, "समकालीन कविता की जो मुख्य विशेषताएँ हैं, उनका हिंदी कविता में वास्तविक प्रारंभ निराला ने अपनी परवर्ती कविताओं के द्वारा कर दिया था" ..(डॉ. रणजीत(सं.) . 1998 . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . पृष्ठ सं. 7)

समकालीन कविताओं में **भूमंडलीकरण, उदारीकरण, आतंकवाद, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, विकास की राजनीति व क्षेत्रवाद, व्यवस्था जनित विस्थापन और भेदवादी राजनीति** जैसे मुद्दे कहीं-न-कहीं मौजूद हैं। समकालीन कवि हाशिये पर खड़े लोगों के लिए अपने शब्दों को अंकित करता है। भूमंडलीकरण ने संसार के प्रत्येक व्यक्ति, समाज, संस्कृति, प्रकृति आदि सभी को प्रभावित किया है। समकालीन हिंदी कवियों ने अपनी काव्य रचनाओं के माध्यम से तमाम उन स्थितियों-परिस्थितियों को इंगित किया है, जो भूमंडलीकरण के आगमन के बाद उत्पन्न हुए हैं।

हिंदी कवि शंभु बादल संघर्षधर्मी चेतना के साथ ही सामाजिक बदलाव के प्रमुख कवि हैं। शंभु बादल सामाजिक परिवर्तन को क्रांति की नज़र से देखते हैं। समकालीन कविता में विद्रोह के स्वर शंभु बादल की कविताओं में प्रमुखता से हैं। उनकी कविताओं में बदलाव के न केवल प्रतिरोधी स्वर हैं बल्कि गुरिल्ला नायक पैदा करने, तोड़फोड़ करने, हथियार उठाने, हमला करने जैसे जनसंघर्ष के विविध रूप भी मिलते हैं। जिससे पूंजीवादी शक्तियों का मुकाबला किया जा सके। उनकी कविता शोषित-उत्पीड़ित-दलित जनता के प्रति न केवल सहानुभूति रखती है बल्कि उसे संगठित करने की प्रेरणा भी देती है। मार्क्सवादी चिंतन इनकी गंभीरता की ताकत है। 'मौसम को हांक चलो' कविता में जीवन विरोधी शक्तियों के विरुद्ध कवि का तेवर देखे सकते हैं :

**“दुनिया को जीतने की आकांक्षा
जगी है सम्राट में
धन पर गिरते हैवान में
प्रतिरोधी अस्त्रों से महाक्रमण को बंद करो!
आवाज आती है।”¹**

उदाहरणस्वरूप यदि हम देखें, भूमंडलीकरण की वजह से शहर महानगर का रूप धारण करते जा रहे हैं, वहीं गावों से उनकी दूरी भी लगातार बढ़ रही है। आम जनमानस पर पड़ रहे भूमंडलीकरण के इस प्रभाव को जगदीश चतुर्वेदी जी ने अपनी कवितायें, 'मृत्यु जैसी खामोशी', 'नगर यंत्रण', 'बीसवीं सदी के बाद' आदि में व्यक्त किया है:

**“मुझे दहशत नहीं होती, यह सुनकर कि
एक पूरा मुल्क आग में झुलस दिया गया
यह तो इस शताब्दी का सती है।”²**

¹ बादल, शम्भू. 2007 . मौसम को हांक चलो (कविता) . पृ. सं. 88

² चतुर्वेदी, अनुभूति . 2008 . जगदीश चतुर्वेदी की 25 कवितायें . पृ. सं. 41 .

समकालीन हिन्दी कविता को किसी खेमे में बांधकर नहीं रखा जा सकता है। यह व्यक्ति स्वातंत्र्य-मानवता और उदारवादी दृष्टिकोण की बात करती है। समकालीन कविता व्यक्ति की आशा , आकांक्षा, उसकी जिजीविषा, सामाजिकसांस्कृतिक चेतना सभी को समग्रता से समेट कर चलती है। - यह नयी उम्मीद, नए विश्वास के साथ जिंदगी की, मनुष्यता की तथा मनुष्य के भीतर बचे प्यार की मुकम्मल तस्वीर पेश करते हुए इन्हें बचा लेने की उत्कट कोशिश करती है।

1.1. समकालीन हिन्दी कविता : सामान्य परिचय

समकालीन हिन्दी कविता की शुरुआत कहाँ से मानी जाए, इस विषय पर मत भिन्नता है। कुछ विद्वान सन् 1960 के बाद इसका आरम्भ मानते हैं, तो कुछ सन् 1980 के बाद। वे सम्भवतः उस दौर की कविताओं में सन् 1975 में घोषित आपातकाल, देश में सम्पूर्ण क्रान्ति के गूँजते नारे, सन् 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस की करारी हार, नवगठित सरकार से जनता की असन्तुष्टि, मध्यावधि चुनाव, कांग्रेस के पुनरागमन, इन्दिरा गांधी की हत्या, नागरिक असन्तोष के नए-नए कारण...आदि से प्रभावित देश के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सन्तुलन की ध्वनि का चित्रण देखकर ऐसा कहते हैं और कहते हैं कि कविता की वापसी हुई है। पर इसका अर्थ होगा कि इससे पहले कविता कहीं चली गई थी, जो सच नहीं है। हाँ यह सच है कि जिस प्रगतिशील चेतना के साथ कविता सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है, कुछ वर्ष के लिए कविता अपने कला रूप की चिन्ता करने लगी थी।

समकालीन हिन्दी कविता का आविर्भाव किसी काव्यान्दोलन के माध्यम से नहीं हुआ है, बल्कि यह सामाजिक आन्दोलन एवं जीवन रूपी यथार्थ का काव्य है। समकालीन कविता व्यक्ति के आत्मसंघर्ष व उसके भीतर की छटपटाहट तथा आशा व निराशा की कविता है। सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे में उत्पन्न दरारों व टूट-फूट वाली प्रवृत्ति की कविता है। उसमें छद्म कलावादी विचारों का कोई स्थान नहीं है। समकालीन कवि अपनी कविताओं में 'रूप' की जगह 'कथ्य' व 'यथार्थ' को अधिक महत्व देते हैं, इसलिए उनकी रचनाओं में कतिपय किसी 'रहस्य' या 'स्वप्नलोक' का सर्वथा अभाव रहता है।

हिन्दी के साहित्यकार व कतिपय आलोचक 'समकालीन कविता' को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(1) डॉ. गोविन्द रजनीश समकालीन कविता पर विचार करते हुए कहते हैं कि, “सन् 1962 के चीनी आक्रमण के पश्चात् से हिन्दी कविता ने नया मोड़ लिया, वह मोड़ कथ्य के नवीनतम रुझान तथा समय की भाषा और मुहावरे से संपृक्त था। युवा विद्रोही पीढ़ी ने न तो मोह पाला था और न उसके टूटने की प्रक्रिया का एहसास किया था। इस विद्रोह के कुछ कारण भारतीय परिवेश में जन्मे थे और कुछ समसामयिक अंतर्राष्ट्रीय चेतना से जुड़े हुए थे।”¹

(2) डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार, समकालीन कविता की जो मुख्य विशेषताएं हैं, “उनका हिन्दी कविता में वास्तविक प्रारंभ निराला ने अपने परिवर्ती कविताओं के द्वारा कर दिया था।”²

(3) सरजू प्रसाद मिश्र के अनुसार, “समकालीन कविता प्रगतिशील रुझानों में जनवादी पक्षधरता के साथ मानवीय सौन्दर्यबोध में, सृजनात्मक चेतना के रूपान्तरण की कविता है। जो अपने दौर

¹ रजनीश, गोविंद . 1973 .समसामयिक हिन्दी कविता :विविध परिदृश्य . पृ. सं.- 33

² रणजीत (सं.) . 1998 . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . पृ. सं. 7

की काव्य सृजन में, विगत लगभग दो दशकों के ऐतिहासिक कालखण्ड में विकसित प्रगति-विरध, प्रतिक्रियावादी, अकवितावादियों का निषेध करती हुई मानवीय रागात्मकता की समग्रता एवं वर्गहीन समाज की आस्थाशील कविता हैं।”¹

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का आरम्भ फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से होता है। आधुनिकता का प्रमुख गुण है तर्क वैज्ञानिकता और भौतिकता। विगत दो सौ वर्षों का हिन्दी साहित्य प्रायः इन्हीं तीन गुणों से प्रभावित है और यह प्रभाव अचानक हो नहीं प्रकट हुआ, बल्कि समूचे विश्व में हो रहा ज्ञान-विज्ञान के प्रसार, नयी-नयी खोजों, प्रतिभाशाली दार्शनिकों के मौलिक विचारों और सदियों से चलो आ रही पारलौकिक मान्यताओं एवं आस्था में संदेह आने के फलस्वरूप प्रकट हुआ। पहले हम ऊपर के लिए सोचते थे. अब हम नीचे के लिए, नीचे के बारे में सोचने लगे। खुद के द्वारा देखे गये सच को दर्शन, विज्ञान और साहित्य के कन्द्र में लाना, यही है आधुनिकता। नवजागरण के दौर में ऐसा कोई साहित्यकार शायद हो बचा हो, जो अपने समाज में व्याप्त समस्याओं और संघर्षों से सीधे न जुड़ा हो। इस समय कर्म और कलम एक दूसरे से अभिन्नता जुड़े हुए थे। और यही जुड़ाव ही वह कारण है, जिसने तत्कालीन भारत को सचेत, प्रबुद्ध और सक्रिय बनाने में स्मरणीय योगदान दिया। अतः भारतेन्दु काल या नवजागरण काल बड़े गम्भीर दायित्व के साथ समकालीन बना रहा।

आगे फिर छायावाद की बात हो 'निराली' है। जिसमें 'निराला' 'जूही की कली' से होते हुए इलाहाबाद के निचाट पथ पर 'वह तोड़ती पत्थर' तक पहुँच आए। यही वह महाकवि है जो संस्कृत कवियों जैसे सनासयुक्त, संगीतमय कविता रचने के साथ-साथ 'कुकुरमुता' जैसी व्यंग्ययुक्त, जनवादी कविता लिख उठता है। छायावाद अपने विषय, शैली और उद्देश्य में विविधताओं से भरा हुआ ऐसा काल है जो प्राचीनता से मोह करता है, वर्तमान का साथ देता है और भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता है। अपनी विविधता में वह आदिकाल और भक्तिकाल दोनों से आगे है। इस युग के शेष श्रेष्ठ कवियों जैसे जयशंकर प्रसाद पंत या महादेवी पर नजर डालें, तो महादेवी को छोड़कर शेष दोनों कवि अपने समय के प्रति अनिवार्य दायित्व का अनुभव करते रहे। यह बात और है कि एक प्राचीनता के अतिरिक्त मोह से घिरा रहा और दूसरा प्रकृति के बाल-जाल में जरूरत से ज्यादा उलझा रहा। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इन कालों को मात्र समकालीनता को कसोटो पर हो परखा जा रहा है। यहां यह जानने की एक विनम्र कोशिश है कि ये साहित्यिक आन्दोलन कितने समकालीन रहे। ऐसा इसलिए भी जरूरी है ताकि समकालीन कविता से उनके अन्तर को स्पष्ट रेखांकित किया जा सके।

छायावाद समाप्त होता है और आता है प्रगतिशील आन्दोलन का दौर। इस आंदोलन ने तो बड़ी प्रतिबद्धता के साथ कमर कसकर और मुट्ठी बाँधकर अपने युग का सामना किया है। अर्थात् ललकारने

¹ मिश्र . सरजू प्रसाद . 2011 . समकालीन हिंदी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर . पृ. सं. 8

वाला समकालीन साहित्य, और इतना बंधकर समकालीन कि आगे-पीछे और कुछ कितना भी श्रेष्ठ हो, इसे देखने की जरूरत नहीं समझता। बस जनता से बात करता हुआ सरपट भागता चला जाता है। नागार्जुन जैसे राष्ट्रीय स्तर के जनवादी महाकवि इस आन्दोलन को उपज हैं, लेकिन कठोर प्रतिबद्धता का एक बुरा असर यह पड़ा कि उसमें विषयों की विविधता नहीं आ पायी और बाद की कविता साहित्यिक न होकर नारेबाजी बन गयी। वैसे सही तौर पर देखा जाय प्रगतिशील कविता ही समकालीन हिन्दी कविता की उर्वर पृष्ठभूमि है। यही आन्दोलन आज की कविता की मूल प्रेरणा है।

इसके और आगे प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता जैसे अच्छे और बुरे दौर आए, जिनमें से प्रत्येक आन्दोलन में व्यक्ति, समाज, संस्कृति और राजनीति से जुड़ी हुई समस्याएँ ही केन्द्र में रही हैं, और 'समकालीन' शब्द को छोड़ दिया जाए, तो सबको समकालीन कहने में कोई दिक्कत नहीं होगी, क्योंकि प्रगतिवाद और उसके बाद किसी भी आन्दोलन में रहस्य, अध्यात्म और आदर्शवादी उपदेश का रोग नहीं दिखाई देता। अर्थात् सही अर्थों में देखा जाय तो प्रगतिवादी, प्रयोगवादों और नयी कविता आन्दोलन के कवि समकालीन कवि कहलाएँगे, क्योंकि समकालीन कविता का सबसे प्रमुख लक्षण-हर गलत के खिलाफ विद्रोह इन तीनों कालों में स्पष्टता देखने को मिलता है। सर्जनात्मक विद्रोह के नये प्रतिमान मुक्तिबोध तो सबसे जरूरी समकालीन सिद्ध होंगे। लेकिन इन सारी बातों के बावजूद जैसे सुबह प्रकाश होते हुए भी दोपहर नहीं कहला सकती शाम अन्धकार होते हुए भी रात नहीं कहला सकती और आम ऊंचाई रखते हुए भी देवदार नहीं कहला सकता उसी तरह ये सारे आन्दोलन समकालीन होते हुए भी समकालीन नहीं कहला सकते। इसका पहला कारण तो उनके प्रचलित कर दिए गये नाम है और दूसरा कारण समकालीनता को पूरी तैयारी के साथ, निश्चयपूर्वक, योजनाबद्ध होकर काव्यविमर्श का केन्द्र न बनाना है। यही वह कारण है, जिसमें इन पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों से जुड़े हुए कवियों का सृजन समकालीन कविता के अन्तर्गत नहीं आएगा। उनकी पहचान उसी दौर से ही होगी, जैसे कोई शिक्षित गांव में भले हो न रहे लेकिन उसकी पहचान उसके गाँव से ही होगी, उसका स्थायी पता हमेशा गांव ही रहेगा।

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, अजय तिवारी तथा अन्य आलोचकों ने समकालीन कविता की प्रमुख विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है। इन विशेषताओं में खास है विरोध और विद्रोह। एक हद तक देखा जाय तो इस धारा से जुड़ा हुआ लगभग हर कवि अपनी तल्खी का इजहार करता नजर आएगा, जैसे सारो समस्याओं का समाधान विद्रोह ही हो। इसके बावजूद यह काव्य परस्पर विरोधी और भिन्न दृष्टिकोण वालो कविताओं का काल है। इसमें एक दूसरे की निरर्थकता सिद्ध करती कविताएं और कवि स्वयं को स्थापित करने को जी-तोड़ कोशिश करते नजर आएंगे। यह समय बदली हुए परिस्थितियों में उभर कर आयो नयो चेतना का भी संकेत करता है। इस आन्दोलन को 'समकालीन कविता' नाम देने वाले डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय कहते हैं, 'समकालीन कविता में, जो हो रहा है उसी का वह प्रतिबिम्ब

है। इसके अध्ययन से वर्तमान काल का ज्ञान हो सकता है क्योंकि इसमें बौखलाते, तड़पते, जीतते, संघर्ष करते, लड़ते, गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है।¹

इस कविता की प्रवृत्ति है असंतोष, परिणति है विद्रोह, और उद्देश्य है गलत सच्चाईयों को नग्न करना। यह कविता गुप्त वास्तविकताओं को परत-दर-परत उधेड़ती है और शक्तिशाली भ्रष्टाचार पर प्रहार करती है। अब यह उधेड़ना और यह प्रहार कितना असर करता है और कितना असरहीन होता है। इसका सविस्तार विश्लेषण तो बाद में किया जाएगा। यहाँ पर बस इतना ही जान लेना आवश्यक है कि चाहे फैशन में, चाहे मजबूरीवश या चाहे दिलो जान से हो सही अपने समय की समस्याओं से सोधा मुकाबला है। अर्थात् सारी बातें आदमी की हैं, उसकी दुनिया की हैं, उसको चिन्ताओं की हैं।

इस कविता में गाँव है, शहर और कस्बा है। महानगर भी व्याप्त है। इसमें खेती-बारी, फसल, तालाब, खलिहान की चिन्ता तो कम है, लेकिन उसे एकदम भुलाना भी ठीक नहीं समझा गया है। प्रसंगवश हो सही इनका जिक्र जरूर हुआ है। इस देश में भले ही 70 प्रतिशत लोग मिट्टी और उसकी सृजनात्मक शक्ति पर निर्भर हो, भले ही मिट्टी की संस्कृति का सबसे बड़ा प्रतिशत दिन दूनी, रात चौगुनी समस्याओं में उलझा पड़ा हो, लेकिन खेत खलिहान वालों की दुःख-दर्द भरी बातें इस कविता में कम आती हैं। इसमें आदमी तो है मगर वह कस्बे का है, वह शहर में फंसा है या महानगरों में पिस रहा है। एक तरफ विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ उच्च और मध्यवर्ग का आसमान छूता जीवन स्तर तो दूसरी ओर इस ऊँचाई के विशाल भार से दबकर पिसतो सामान्य जनता की चिल्लाहट। यह कविता इस चिल्लाहट की रचनात्मक प्रतिध्वनि है। इसने समय की नब्ज पर ठीक अंगुली रखी है और पहचान गयी है कि धनी लोग और धनी, किन्तु गरीब भाई और गरीब बल्कि अन्तिम गरीब होते चले जा रहे हैं, जिसकी परिणति खुद के द्वारा पाले-पोसे हुए परिवार को सामूहिक हत्या और फिर अपनी भी समाप्ति के रूप में होती है। आन्ध्रप्रदेश में कंगाल और ऋणग्रस्त किसानों की आत्महत्या के पीछे साइबर क्रान्ति की संवेदनाहीन चकाचौंध भी है। हम सूचना क्रान्ति के युग में जनता को सूचना खिलाकर, सूचना पिलाकर उसी की साँस देकर भूखे ही जिन्दा रखना चाहते हैं? कैसी अभूतपूर्व प्रगति है ऊपर से नीचे को ओर। खैर, यह तो एक उदाहरण है। ऐसे कई उदाहरण हैं, जिसमें जनता की बात शत-प्रतिशत निष्क्रिय भाषणबाज़ी के अलावा ज्यादा कुछ भी नहीं है।

समकालीन कविता की तारीफ इसमें है कि वह इन धूर्तताओं को पहचान रही है। उससे विमुख नहीं होती। 'समकालीन कविता की भूमिका' में ही **उपाध्याय जी** ने एक अच्छी तस्वीर पेश की है जरा देखें "प्रेस, सिनेमा, दूरदर्शन रात-दिन चीजों के स्वर्ग को पेश करते हैं, और उस स्वर्ग को लूटने के लिए लोग-बाग अपना धन व धर्म सभी कुछ गँवाने को तैयार हो जाते हैं। भोग-विलास की प्यास व्यक्ति को एक कुचक्र में पटकती है।"¹

¹ उपाध्याय, विश्वम्भर नाथ . समकालीन कविता की भूमिका . पृ. सं.- 61

यह सच है कि आज के समय में व्यक्ति के निजी जीवन में आमोद-प्रमोद के साधन बढ़े हैं, और हम अपने ठीक सामने की जिन्दा समस्याओं से मुँह मोड़कर भोग-विलास में दिन रात डूबे पड़े हैं। लापरवाही और गैर- जिम्मेदारी आज के मनुष्य को आनुवंशिक एवं संक्रामक बीमारियों बनती जा रही हैं। हम न तो देश के प्रति जिम्मेदार हैं, न समाज के प्रति और न परिवार के प्रति। असलियत तो ये है कि हम अपने प्रति भी जिम्मेदार नहीं रहना चाहते। हमें एक आदमी होने के नाते कम से कम किन-किन बातों पर, नियमों और कानूनों पर अमल करना चाहिए, इस की जिम्मेवारी अधिकांश लोगों में गायब है। और यही कारण है हम जवानी में ही बुजुर्ग की ढोली मानसिकता अपना लेते हैं, गलत ढंग से बहक जाते हैं, और नौच से नीच कुकर्म पर उतारू हो जाते हैं। आज आदमी सारे सामाजिक बन्धनों को तोड़ता हुआ, जिस तरह से अश्लील और भ्रष्ट बना है, उसके चलते मनुष्य को, जानवर से भी बदतर मानसिकता में कोई संदेह नहीं रह गया है। इस तरफ ध्यान खींचते हुए डॉ. उपाध्याय ने संकेत दिया है "वास्तविक जोवन स्थितियों में छिपी अश्लीलताओं को आज का लेखक 'एक्सपोज' करता है, नंगा करता है।"

यहाँ आलोचक ने तथ्यात्मक सच्चाई तो दिखाई है, मगर भाव की दृष्टि से लचर उदारता दिखा दी है। दरअसल ये कवि अश्लीलता दिखाने के प्रयास में ठण्डे विरोध का ऐसा राग अलापते हैं, जैसे अश्लीलता बहुत सामान्य सी स्वाभाविक समस्या हो। हालात कुछ ऐसी है जैसे बाढ़ के वेग में एक अनाड़ी नौजवान को तैरने के लिए भेज दिया जाय। अश्लीलता पर लिखना एक बात है, पर अश्लीलता को तार-तार करके दिखा देना बिल्कुल दूसरी बात है। इधर शायद ही कोई कवि ऐसा हो, जिसने अश्लीलता के खिलाफ लिखकर वाहवाही लूट ली हो। अता स्पष्ट है कि सशक्त नग्नता के खिलाफ लड़ने में हमारी कविता बेहद कमजोर है।

अपने इस दौर की सबसे भयावह सच्चाई है, देश के शोर्ष पर बैठे नेताओं का सर्वाधिक मोच बन जाना। इनको इसो अनन्त भ्रष्टता के चलते सम्पूर्ण तन्त्र के प्रायेक हिस्से में भ्रष्टाचार के दीमक फेने हुए हैं। सेना, पुलिस, शिक्षा, नौकरशाही, डाक्टरी, बैंक विभाग, रेल सेवा किस-किस को गिनाया जाय। चारों ओर कुएं में भोग पड़ी है। सच तो ये है कि यहां सार्वजनिक जीवन में उच्च व उत्तरदायी पदों पर बैठे हुए आला अफसर भ्रष्टाचार में चुपचाप, चोरी-चोरी डुबकी लगाए हुए हैं। पुरानी कहावत सामने सिद्ध हो रही है कि यथा राजा तथा प्रजा। जैसे नेता वैसी व्यवस्था। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि नेता जनता को साष्टांग प्रणाम करते हैं बोट के लिए। पद पाकर भ्रष्ट होते हुए सब कुछ भूल जाते हैं बादे, कर्तव्य, गरिमा और न्यूनतम आदमियता। इनके आगे-पोछे जो दिल को बेचकर और दिमाग से पैदल होकर दिन-रात खुशामदी का जाप करते हैं, यही इनके 'सत्कार्य' से सुखी रहते हैं। बाकी सब के सब दुखी, जिन्होंने नेताजी को बड़े स्तर तक पहुंचाया। चाहे उड़ीसा जैसी तुफानी त्रासदी हो, राजस्थान जैसा सूखा और अकाल या फिर गुजरात जैसी मानवता को कंपा देने वाली दुर्घटना, इन नेताओं के सख्त और मर चुकी संवेदना को जगा नहीं पाती।

इन दिनों न सिर्फ राजनीति बल्कि कई प्रतिष्ठित क्षेत्रों में दुर्भाग्य से साहित्य क्षेत्र में भी चाटुकारों और चमचों को तूती बोलतो है, बल्कि इनकी अहमियत को देखते हुए आने वाला युग चमचा युग न कहलाने लगे तो आश्चर्य हो होगा। बड़े-बड़े दार्शनिक विद्वान, साहित्यकार और नेता इनके मधुर वाणी पर फिदा होकर एक से बढ़कर एक गड़बड़ काम करते नजर आएँगे। आज देश में विशेषकर हिन्दी जगत में शायद ही कोई नामी लेखक बचा हो, जिसने अपने अयोग्य किन्तु वफादार शिष्य को कोई पद दिलाने के लिए जुगाड़ न लगाया हो। ऐसे मौके पर सारे नियम, कानून, सिद्धान्त, मूल्य, सुषुप्त हो जाते हैं। वैसे भी आज के आत्मकेन्द्रित समय में ये सब बातें सिर्फ कहने, लिखने या सोचने भर के लिए ही हैं।

असलियत तो ये है कि चमचे नेताओं की नाटकीय स्तुति कर प्रसाद पा रहे हैं। इनके बीच का ईमानदार, परिश्रमी अतः स्वाभिमानी व्यक्ति आत्मघाती निराशा का शिकार हो रहा है। नेता बाहर से जनता के लिए हैं, और भीतर से भ्रष्ट पूँजीपतियों के लिए। दंगा फसाद से लेकर मारकाट तक ये अपने स्वार्थी इशारे पर करवाते हैं। ये फलों जाति के हैं, अतः उन्हें अपने जाति के सारे लोगों का वोट चाहिए। चाहे वह माफिया हो या गुण्डा? इससे कोई मतलब नहीं। सवर्ण पूर्वजों के स्वाधर्मी दिमाग की उपज जहरीली जाति व्यवस्था को इन नेताओं द्वारा अपने मतलब के लिए 'ग्लैमराइज' किया जाता है। यद्यपि इन्हें पता है कि यह व्यवस्था सामाजिक प्रगति में कैसर जैसी घातक है, इसके बावजूद निरक्षर जनता के लचीले दिमाग को घुमा-फिराकर अपना जातीय समर्थक बनाया जाता है। जनता की रूढ़िवादी भावना से खेलना हर पार्टी का शाश्वत शौक है। और जब तक इसका एक भी हिस्सा रहेगा, सामाजिक समानता आज तो क्या आगामी सौ वर्षों में नहीं आ पाएगी। यहीं पर एक वक्तव्य देना जरूरी है, क्योंकि इसमें इन्हीं बातों का खुलासा **कुमार विकल** करते हैं **"नेता रिश्त ले रहे हैं, प्रमोशन करवा रहे हैं, आश्वसन दे रहे हैं। इस गरीब मुल्क के नेता सचमुच हो बड़े अमीर है। नेता आदर्श भूक रहे हैं। प्रजातन्त्र में काले अंग्रेज मजा लूट रहे हैं।"**¹ आज की इसी व्यापक भ्रष्टता का खुलासा करते हुए गोरख पाण्डेय ने लिखा है :

"यदि कुर्सी खतरे में है तब प्रजातन्त्र खतरे में है।

यदि कुर्सी खतरे में है तब देश खतरे में है।

कुर्सी खतरे में है तो दुनिया खतरे में है।

यदि कुर्सी न बचे तो भांड में जाए प्रजातन्त्र

देश एवं दुनिया

सचमुच सत्ता का मोह भयानक है।"²

¹ उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ . प्रथम संस्करण-1976 . समकालीन हिंदी कविता की भूमिका . पृ.सं- 13

² तिवारी, अजय . प्रथम संस्करण-1994 . समकालीन कविता और कुलीनतावाद . पृ.सं- 12

• काल-निर्धारण

सामान्यतः इसका समय 'अकविता' के बाद पड़ता है। अकविता का दौर है 1960 से 64 के बीच। इन पांच वर्षों के भीतर मूल्यों का निषेध करने वाले काव्यान्दोलन उठते हैं, और बुलबुले की तरह तुरन्त समाप्त हो जाते हैं। असल में नये कविता के बात हिन्दी कविता का एक विचित्र, रहस्यमय, बियावानी और तन्त्रजाल जैसा चमत्कारिक कविताओं का दौर आता है। अगर हम प्रचार पाए व्यर्थ कवियों को सार्थक सिद्ध करने को कमजोरी त्याग दें तो इस 'बौच काल को पार कर मुक्तिबोध और नागार्जुन, शमशेर और त्रिलोचन जैसा कोई कवि नहीं चमका। वैसे भी कोई चमकता कैसे? अधिकांश तो जानबूझकर बड़े मन से समाज की केवल विलासपरक नग्न सच्चाईयों को धुंध ओढ़े हुए थे।

1962 ई० में भारत पर चीनी आक्रमण, 1964 ई० में नेहरू की मृत्यु और इसी के आस-पास (1967- 68) जमीन के सन्तानों का नक्सलवाड़ी आन्दोलन। यही तीन ऐसी घटनाएँ हैं, जिसने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से हर क्षेत्र को प्रभावित किया। हम आजाद अभी-अभी हुए थे, लेकिन ये क्या? हमारी विकसित हो रही स्वतन्त्रता की भावना पर एक और साम्राज्यवादी प्रहार ? राष्ट्रीयता अपने नये रूप में मुखरित हो उठी। दरअसल उस समय हमारी सेना चीनी सेना के मुकाबले उन्नीस ही थी। इससे आक्रोश, क्षोभ और ग्लानि का जन्म हुआ। देश के हित में उस दशक के संवेदनशील युवाकवि नये विद्रोह को मुद्रा में कविताएँ लिखने लगे, जो शब्दों को कलाबाजी से पीछा छुड़ाकर इन विसंगतियों के पीछे पड़ गयी थी। इसमें बिना किसी लाग लपेट के कविताएँ सोधे समस्यापरक लिखी जाने लगी। इनमें रचना का अंदाज उसकी विषयवस्तु और उसको मूलभावना पूर्ववत् आधुनिक काव्यान्दोलनों से एकदम अलग नजर आती है। इस नये उभार का राग सबसे पहले छेड़ा धूमिल ने। इनकी सुप्रसिद्ध कविता '**पटकथा**' 1968 ई० में प्रकाशित हुई। स्वयं धूमिल के कवि-मन पर नक्सलवाड़ी आंदोलन का जबरदस्त प्रभाव था। वस्तुतः ये शुरु से अन्त तक संघर्ष नीची जनता के प्रति जवाबदेह बने रहे। अत्यन्त लोकप्रिय काव्य-संग्रह 'संसद से सड़क तक जो इन्हीं द्वारा लिखा गया, 1972 में प्रकाशित होता है। धूमिल को कविताओं में पोछे से चली आ रही कविताओं से हटकर एक नई, ईमानदार, विद्रोही दिशा की बेचैनी है। नेता, संसद, अफसरशाही, शासनव्यवस्था सबके सब संदिग्ध और मूलरूप से जनविरोधी हैं। इनसे जनता के आँसू नहीं रूकने वाले। और धूमिल की कलम से यह स्वर फूटा तो और कवियों की आवाज बनकर उनकी रचनाओं में विस्तार पूर्वक गूँजने लगा। अतः सामान्य तौर पर समकालीन कविता जिसका मूल सिद्धान्त है अपने खास समय में सीधा-सार्थक हस्तक्षेप, आठवें दशक से शुरु होता है। इसमें सामाजिक-आर्थिक विषमता, सूखा, बाढ़ और अकाल को विनाशक विभीषिका, दलितों का जिन्दा जलाया जाना, लोगों का असफल असंतोष, शासन की संवेदनहीनता, बुद्धिजीवियों का स्वार्थी स्वभाव, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, ये चन्द ऐसी समस्याएँ हैं, जिनसे समकालीन कविता 36 का आंकड़ा रखते हुए सामने तनकर खड़ी होती है। वैसे उसके इस तेवर और तनाव में प्रतिबद्ध ईमानदारी न रहने की कमजोरियों भी हैं।

समकालीन शब्द को आज के समय से जोड़ते हुए परमानन्द श्रीवास्तव जी उसे कटिबद्ध जीवन की दृष्टि मानते हैं। समकालीन अपने इतिहास बोध, युगबोध और समसामयिक चेतना से जुड़े होने का भावबोध है। यह वह जीवन-दृष्टि है जो अपने युग की नंगी व क्रूर वास्तविकताओं का हिम्मतपूर्वक सामना करती है और पारम्परिक मूल्यों की प्रासंगिकता की जांच-पड़ताल करती है और जरूरी होने पर मूल्य-निर्माण की दिशा में प्रयास भी करती है। समकालीन स्थितियों, परिवर्तनों और ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर कवि और रचयिता का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। वह अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति विशेष भाव अपनाता है। जो अपने पूर्ण रूप में भावनावादी व आध्यात्मवादी हो सकता है, धर्मवीर भारती, अशोक वाजपेयी, हीरानंद वात्सयायन अज्ञेय, नरेश महेता, आदि कवियों के कवि-कर्म की तरह या दुष्यंत कुमार, केदारनाथ सिंह, मुक्तिबोध, शमशेर, आदि की तरह यथार्थवादी एवं भौतिकवादी भी कहीं न कहीं हो सकता है।

आधुनिक और समकालीन कविता में गुणात्मक अंतर भी पाया जाता है। आधुनिक कविता मानवहित को ध्यान में रख कर अस्तित्ववाद, यथार्थवाद, परम्परा एवं अनुभव से वैज्ञानिक प्रगति के पक्ष को रखती है। समकालीन कविता सभी के हितों को ध्यान में रखते हुए विज्ञान व तार्किक भाषा को स्वीकार करते हुए वैज्ञानिकता के प्रयोग के साथ मानवीय संवेदना में विश्वास रखती है। जहाँ छायावादी कविता में स्वयं की अभिव्यक्ति पर बल दिया गया है वहीं प्रयोगवाद में आत्मान्वेषण और समकालीन कविता में विशेष रूप से सत्यान्वेषण पर जोर दिया गया है।

समकालीन कविता के कवियों में विशेषकर धूमिल, श्रीकांत वर्मा, कमलेश, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, राजकमल चौधरी, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना एवं लीलाधर जगूड़ी आदि के नाम आते हैं। श्री हुकुमचंद राजपाल जी ने अपनी पुस्तक 'समकालीन कविता के तीन पड़ाव' में समकालीन कविता के पहले पड़ाव के रूप में मुक्तिबोध को लिया है, दूसरा इस काव्यधारा के पड़ाव के रूप में राजकमल चौधरी हैं तथा तीसरा पड़ाव सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' हैं।

समकालीन कविता सौन्दर्यबोधी रूपान्तरण एवं वैविध्यमय जीवन संघर्ष में जहाँ एक तरफ अपनी पूर्ववर्ती प्रगतिवादी जनवादी कविता का परिष्कृत, विकसित तथा संशोधित व सामर्थ्यमूलक संस्करण है, वहीं दूसरी तरफ सन् 1962 के मोहभंग वाली स्थिति से गुणात्मक रूप में आगे बढ़कर वामपंथी जनचेतना की ओर प्रवृत्त होकर आगे बढ़ती है। यदि हम मोहभंग को समकालीन कविता का प्रस्थान बिन्दु मान लेते हैं तब समकालीन कविता काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है:

1. पूर्व समकालीन कविता काल (1936-62)
2. समकालीन कविता काल (1962 से वर्तमान समय तक)।

समकालीन कविता के प्रथम समय में छायावादोत्तर नयी कविता बनाम प्रयोग और प्रगति के सारे सन्दर्भ आज तक आलोचकों तथा पाठकों के सामने स्पष्ट है और वर्तमान समय में भी नव-

प्रगतिवादी जनवाद तथा नव-कलावादी पूर्वग्रही प्रयोग विस्तृत परिप्रेक्ष्य में मुखर है। किसी भी साहित्यिक आन्दोलन से जुड़ी धारा का जन्म अचानक नहीं होता है। श्री बालकृष्ण राव का वक्तव्य है, "छायावाद नयी कविता का उदयकाल है अथवा छायावाद कतिपय विशिष्ट काव्य धाराओं का सामूहिक नाम है।"¹ बालकृष्ण राव के कथन और अशोक वाजपेयी जी के निम्न विचारों में सादृश्य है, "नयी कविता जीवन की आत्मीय मुद्राएँ और प्रकृति साहचर्य की लोकधर्मी कविताएँ हैं और दूसरी ओर धार्मिक या आध्यात्मिक संवेदनाओं की कविताएँ हैं तथा तीसरी ओर आधुनिक नागरिक जीवन की विषम स्थितियों तथा उनसे उत्पन्न बेचारगी या संशय या यांत्रिकता आदि की कविताएँ हैं।"²

समकालीन हिंदी कविता में भारत-चीन सीमा संघर्ष, नेहरू युग के अन्त से जो विसंगति बोध तथा मोहभंग उत्पन्न हुआ उसके रूमानी आत्ममुग्धी सौन्दर्यबोध से, राजनैतिक-सांस्कृतिक बदलाव को, जीवन संघर्ष की प्रचंडता व मानवीय यथार्थ के सौंदर्यबोध को दरकिनार करना भी एक गलत साहित्यिक राजनीति का शिकार होने जैसा है। डॉ. राजीव सक्सेना का स्पष्ट मत है, "समकालीन हिंदी कविता के प्रथम पक्ष छायावादोत्तर काल तथा नयी कविता काल के प्रस्थान बिन्दु के सम्बन्ध में देखें तो नयी कविता उसी राष्ट्रीय आन्दोलन की अस्थायी असफलता की पृष्ठभूमि में जन्मी है जिसमें छायावादी धारा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। सन् 1960 के आसपास देखें तो राष्ट्रीय जीवन में एक नये मोड़ के पदचिह्न दिखाई पड़ते हैं। जहाँ जन-असंतोष तेजी से उठता है और परिवर्तन की मांग उग्र होती चली जाती है। समकालीन कविता एक संक्रमण के दौर से अवश्य गुजरी है, किन्तु उसके समक्ष कोई रचनात्मक संकट नहीं है। समकालीन हिंदी कविता सही अर्थों में राजनीति के धरातल पर टिकी हुई है। आज एक ऐसा रचनात्मक आवेग आया है जिसमें हिंदी कविता क्षेत्र के माहिर खिलाड़ियों के पैर उखड़ गये हैं।"³

• समकालीन कविता का ऐतिहासिक परिवेश व परिप्रेक्ष्य

समकालीन हिंदी कविता का ऐतिहासिक परिवेश सन् 1962 के भारत-चीन के मध्य सीमा संघर्ष के विसंगतिबोध तथा मोहभंग से प्रारम्भ होता है और बाद में प्रगतिशील शक्तियों के सृजनात्मक धरातल पर प्रतिक्रियावादी कविता आन्दोलनों एवं वामपंथी जनवादी चेतना में अभिव्यक्त होता है।

समकालीन कविता के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में यदि देखें तो नेताओं के भ्रष्टाचार एवं खोखले वादों की नाटकीयता को, भारतीय जीवन संघर्ष को, राजनैतिक अस्थिरता को, को ही उजागर नहीं किया गया है बल्कि तीसरी दुनिया के शासक-शोषक द्वन्द्वों के संघर्ष में मानवीय मुक्ति की पक्षधरता को संवेदनशीलता के साथ विचारा गया है। भारतीय जनमानस ने 1962 व 1964 की पराजय से विदेश नीति, विदेशी पूँजी, राजनैतिक असन्तुलन, सामाजिक-आर्थिक अवमूल्यन पर गंभीरता से विचारा है। बकौल

¹ उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ . प्रथम संस्करण 1976 . समकालीन कविता की भूमिका . पृ.सं 16

² उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ . प्रथम संस्करण 1976 . समकालीन कविता की भूमिका . पृ.सं 16

³ उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ . प्रथम संस्करण 1976 . समकालीन कविता की भूमिका . पृ.सं 18

इन्द्रनाथ चौधरी को भी "भारत-चीन सीमा संघर्ष ने ही वाम आन्दोलन तथा भारतीयों के नव प्रगतिशील मार्क्सवाद पर विचार हेतु प्रेरित किया है। आपातकाल का विरोध, प्रगतिशील जनवादी रचनात्मकता, जनता पार्टी का संगठन-विघटन, बुद्धिजीवियों द्वारा सत्ता का विरोध, चौथे आम चुनाव में कई स्थानों पर कांग्रेस की हार, नक्सलवादी आन्दोलन का समर्थन, तथा सृजनात्मक स्तर पर नये कलावाद का उत्थान व प्रतिक्रियावादी सृजकों के संघर्ष जैसे राष्ट्रीय परिवेश के अतिरिक्त तृतीय विश्व के मुक्ति संघर्ष के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैये एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वियतनाम, अलसल्वाडोर, निकारागुआ आदि सारी वस्तुस्थितियों का यथार्थपूर्वक प्रतिबिम्बन विस्तृत परिप्रेक्ष्य में समकालीन कविता में दृष्टिगत है।

- **समकालीन कविता के प्रेरक स्रोत**

भारतीय जनता ने जिन आदर्शों एवं सपनों की परिकल्पना की थी, उनके लिए उसे स्वतंत्रता पश्चात के परिवेश में नए सूर्य की तलाश थी जो विषमताओं व विद्रूपताओं के कुहरे की तह को खत्म कर सके। डॉ. वाष्णीय की दृष्टि में, "भारतीय स्वतंत्रता का अर्थ साम्राज्यवाद, आर्थिक, सामन्तवाद और सामाजिक बेरोजगारी से दुविधाग्रस्त हो चुके विनाशोन्मुखी कृत्यों से जुड़ा है या उचित सुझाव के अभाव में गुटबंदी और वैमनस्य में उलझी है। युवाओं के आक्रोश का एकमात्र कारण यह है कि युवा त्याग, सेवा, आस्था, प्रेम, विश्वास, आदर्श, धर्म, चारित्रिक पवित्रता से सम्बंधित अपना मूल्य खो चुके हैं और नई पीढ़ी को इनमें विश्वास नहीं रह गया है। सामाजिक क्षेत्र में भी मूल्य परिवर्तन के अन्तर्गत क्रान्तिकारी स्थापनाएँ प्रस्तुत हुई हैं।"¹ आज आत्मकेन्द्रित दृष्टिकोण, संयुक्त परिवार प्रणाली के टूटने एवं बिखराव, आपसी रिश्तों के विघटन और उपयोगितावादी अवधारणाओं की स्वीकृति के मूल में अर्थकेन्द्रित विचार ही हैं।

- **समकालीन कविता के तात्त्विक उपादान**

जिस प्रकार अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध में भारतीय जनमानस विक्षुब्ध एवं एकांगी राजनीति के दुखद रवैये से कतरा रहा था, उसी प्रकार रचनाधर्मी साहित्यकार भी जनजीवन के कठिन मोर्चे पर परदा डालने वाले काव्यात्मक तत्वों के प्रयोग से ही विचलित हो रहे थे। सन् 1960 से पूर्व नयी कविता में मूल्यों की अपेक्षा रचना-प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जा रहा था। जैसे- प्रतीक, कल्पना, मिथक तथा भाषा बिम्ब आदि के सन्निवेश में नये कवियों की कलात्मक दृष्टि जितनी अधिक सजग थी उतनी कथ्य के रूपायन में नहीं थी। नये कवियों की निजी संवेदनाएँ मानवीय विघटन एवं विघटनकारी मूल्यों को सुसंगठित शब्द शक्तियों में नहीं बाँध पा रही थी, लेकिन उसमें पूँजीपतियों एवं सर्वहारा वर्ग के जीवनबोध के साथ दोहरी धूर्तता अवश्य लक्षित हो रही थी। जनजीवन की प्रामाणिक संवेदना के अभाव में काव्यबोध के ग्राह्य उपकरण टूटने लगे थे। सन् 1960 ई. के आस-पास कविता शब्दजाल, विशेषण, अलंकारिक रूप से जीने की प्रक्रिया और व्यक्तित्व के तलाश को नकार चुकी थी। राजनीतिक दबाव ने

¹ उपाध्याय, विश्वम्भरनाथ . प्रथम संस्करण 1976 . समकालीन कविता की भूमिका . पृ.सं 18

सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को परिवर्तित किया और उसी परिवर्तन के फलस्वरूप समकालीन कविता में रूप एवं वस्तु दोनों में व्यापक बदलाव आये। मानव जीवन की ऊब और जड़ताबोध के कारण काव्यात्मक तत्व विघटित होने लगे और विखण्डित होने लगे। मानवीय तत्वों के विघटन ने काव्यात्मक तत्वों के विघटन के लिए रचनाधर्मी को लाचार कर दिया। अतः उस समय के कवियों की रचनाओं से इसका सहज ही अंदाज लगाया जा सकता है।

युगीन यथार्थबोध से प्रभावित होकर बौद्धिकता के धरातल पर साठोत्तरी कवियों ने जनता की तरफ देश से त्रस्त होकर कुछ करना चाहा। इसलिए युवा मानस समकालीन बोध के प्रस्तुतीकरण के लिए न तो अलंकार को ओढ़ना पसन्द करता है, बल्कि जीवन मूल्यों से साक्षात्कार करने के लिए कलावादिता को निरस्त एवं ध्वस्त करता है। समकालीन हिंदी कवियों ने जीवन के संघर्षधर्मी और कर्कशबोध को नजरअन्दाज किया। उसने रमणीयता को छोड़ परिवेश के बिखरे विघटित, आक्रोशी, विक्षुब्ध एवं विद्रोही ताने-बाने को स्वीकार किया। बौखलाये परिवेश की सारी विसंगतियों को सच्चाई और ईमानदारी के साथ बुनने का काम युवा कवियों ने किया। इसलिए समकालीन कवियों में पूर्वाग्रहों के बीच घृणा का भाव है। इन कवियों ने भाषा को नग्न कर समकालीन कशमकश और घटनाओं को सपाट, चालू, मुहावरे, चुस्त बयानी वक्तव्यवादिता आदि के जरिए हासिल करने का सार्थक प्रयास किया। समकालीन हिंदी कविता में अनुभव की आवश्यकता से अधिक बौद्धिकता को ज्यादाती दिखाई देती है। समकालीन कविता का उद्देश्य तनाव और जटिलता को संश्लिष्ट ढंग से व्यक्त करने हेतु शोषण मुक्त भारतीय मानव की प्रतिमा को स्थापित करना है। हमारे देश की संसद एक तरह से बुद्धिजीवियों की नाट्यशाला लगने लगी तथा जिसके नेपथ्य में भुखमरी का भयानक तांडव नृत्य था वहीं उसके मंच पर सम्भावनाओं के वक्तव्य उद्घोषित हो रहे थे। विश्वास और आस्था का गगन-मंडल अराजकता के धुँध से भर गया। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिवेश में प्राचीन जीवनमूल्य, नैतिक प्रतिमान एवं आदर्श विटस्थ हो गए।

समकालीन कविता के उद्भव, प्रवृत्त्यात्मक और विकासात्मक अध्ययन के लिए अपेक्षित होगा कि हम अस्तित्ववादी चिंतन से उपजे उस समकालीन बोध एवं तात्कालिक परिस्थितियों का अध्ययन करें जिसके परिणामस्वरूप समकालीन कविता प्रकाश में आई।

1.2. भूमंडलीकरण: सामान्य परिचय

जब कोई नया विचार, समाज के समक्ष प्रस्तुत होता है तो उसके दो परिणाम सर्वप्रमुख उभर कर आते हैं एक सकारात्मक और दूसरा नकारात्मक। भूमंडलीकरण ने जहाँ विभिन्न विचारों को, तर्कों को, संस्कृतियों को, एक दूसरे से जोड़ा तो वहीं दूसरी ओर समाज को कुछ नुकसान भी उठाना पड़ा। भारत एक प्राचीन सभ्यता, ऋषि-मुनियों का देश रहा है। भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में, भारत विश्व का सबसे तेजी से प्रगति करने वाला मुक्त बाजार का लोकतान्त्रिक देश है।

भूमंडलीकरण का यह अर्थ सामान्य रूप में स्वीकृत है कि आज पूरी धरती 'विश्वग्राम' है। मुक्त बाज़ार बनाने के पक्ष में जो तर्क दिए गए हैं, उनमें प्रमुख ये हैं कि भूमंडलीकरण से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा पैदा होती है, रोजगार बढ़ते हैं, उपभोक्ता सामग्री के दाम घटते हैं। पिछड़े हुए और गरीब देश के लोग इस कथित विश्वग्राम के नागरिक नहीं बन सकते हैं। इन देशों के प्राकृतिक संसाधनों और मानवीय श्रम का दोहन करते हुए मोटा मुनाफा कमाना भूमंडलीकरण का भयावह चेहरा है। **समकालीन हिंदी रचनाकार** इस खतरे को और मनुष्य तथा साहित्य के सामने उपस्थित बाजारवाद, मीडिया की चुनौतियों को गंभीरतापूर्वक देख-परख रहे हैं।

डॉ. बाबू जोसफ के अनुसार, “भूमंडलीकरण ने इतिहास के अंत के साथ साहित्य एवं कला के निषेध को भी अपने साथ शामिल कर दिया है। आज हमारी भाषा, संस्कृति और परम्परा को भी फ़ालतू एवं महत्वहीन बनाकर उदारीकरण, बाजारीकरण, उपभोक्तावाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और उत्तर-आधुनिकता आदि ने हमारे तमाम जीवंत मानव मूल्यों को निरर्थक एवं बेबुनियाद स्थापित कर दिया है।”¹

भूमंडलीकरण को आज के युग की विशेषता बताया जाता है। तमाम अच्छी बातों को भूमंडलीकरण से जोड़ा जाता है। कहा जाता है कि वैश्वीकरण के रथ की गति न थम सकती है, न ही इसका कोई विकल्प है। साथ ही, भूमंडलीकरण को इतना सकारात्मक, शुभ और वांछनीय माना जा रहा है कि राजनीतिक, समाजिक और आर्थिक नीतियों को भूमंडलीकरण के पक्ष में ढालने की जोरदार वकालत की जाती है। आजकल भूमंडलीकरण एक जादुई असर वाला शब्द है। उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि इसका जादुई असर उसके शिकार और शिकारी दोनों के सिर चढ़कर बोल रहा है। भारत में कुछ ऐसे आत्ममुग्ध बुद्धिजीवी हैं, जो कहते हैं कि हमारे यहाँ बहुत पहले से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में भूमंडलीकरण की धारणा मौजूद थी। भूमंडलीकरण के बारे में तरह-तरह के मिथक गढ़े जा रहे हैं। बहुत पहले रोलॉ बार्थ ने अपनी पुस्तक *माईथोलॉजीज* में लिखा था कि मिथक एक राजनीति-विरोधी भाषा है। मिथक में ऐतिहासिक आशयों को प्राकृतिक बनाया जाता है और आकस्मिक को शाश्वत। यह बुर्जुआ विचारधारा की प्रक्रिया है। मिथक असल में विचारधारा को उलट-पलटकर पेश

¹ जोसफ़, बाबू. 2013. भूमंडलीकरण और हिंदी कविता. पृष्ठ सं. 3

करते हैं। भूमंडलीकरण के बारे में जो मिथक गढ़े जा रहे हैं, उनमें से पहला यह है कि इसका कोई विकल्प नहीं है। दूसरा यह कि इसको रोका नहीं जा सकता। तीसरा यह कि यह मानव-समाज का भविष्य है और चौथा यह कि विकास का यही एक मात्र तरीका है।

- **भूमंडलीकरण का दौर तथा प्रक्रिया**

भूमंडलीकरण के दो दौर हैं। पहला दौर सोलहवीं सदी से बीसवीं सदी के मध्य तक चला, जिसका नेता यूरोप था और विशेष रूप से इंग्लैण्ड। दूसरा दौर बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से आज तक चल रहा है, इस दौर का नेता अमेरिका है। भूमंडलीकरण एक आर्थिक प्रक्रिया है, वह एक राजनीतिक प्रक्रिया है और सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। आर्थिक प्रक्रिया के रूप में भूमंडलीकरण पूँजीवाद के विश्वव्यापी प्रसार और प्रभुत्व का दूसरा नाम है। इसमें आवारा पूँजी और बाजारवाद की तानाशाही चल रही है। इसमें आर्थिक को सामाजिक से और सामाजिक को मानवीय से अलग कर दिया गया है। इस बीच उत्तर-आधुनिकतावादी सामाजिक और मानवीय चेतना की मौत की घोषणाएँ कर रहे हैं।

पहले दौर के भूमंडलीकरण के बारे में कार्ल मार्क्स ने कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र में लिखा था कि बुर्जुआ वर्ग सभी राष्ट्रों को विनाश के करीब लाकर पूँजीवादी उत्पादन पद्धति को अपनाने के लिए मजबूर करता है। वह जिसे सभ्यता समझता है, उनको अन्य देशों पर थोपता है और साथ ही दुनिया को अपनी आकांक्षा और छवि के अनुरूप बनाता है।

भूमंडलीकरण राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में संसार के अमेरिकीकरण का प्रयास है। सन् 1947 में अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कहा था कि अमेरिकी व्यवस्था अमेरिका में भी तभी जीवित रह सकती है जब वह विश्व-व्यवस्था बने। अब भूमंडलीकरण के रूप में उसी उद्देश्य को पूरा किया जा रहा है। अमेरिकी व्यवस्था को विश्व-व्यवस्था बनाने को ही नई विश्व-व्यवस्था भी कहा जा रहा है। सन् 1999 के एक भाषण में हेनरी किसिंजर ने कहा था कि भूमंडलीकरण अमेरिकी आधिपत्य का दूसरा नाम है।

- **भूमंडलीकरण और उत्तर-आधुनिकतावाद का सम्बन्ध**

उत्तर-आधुनिकतावाद का सम्बन्ध भूमंडलीकरण के साथ एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में है जो एक प्रकार से भूमंडलीकरण की ही समर्थक विचारधारा ही है। उत्तर-आधुनिकतावाद में अनेक विचारों, विचारधाराओं और वास्तविकताओं के उत्तर, अन्त और मौत की घोषणा की जा रही है। इसमें उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-धर्मनिरपेक्षता, उत्तर-यथार्थवाद और उत्तर-मार्क्सवाद की घोषणाएँ हो चुकी हैं। इसके साथ ही विचारधारा के अन्त, इतिहास के अन्त, सामाजिक के अन्त, चेतना के अन्त और विवेक के अन्त की भी घोषणाएँ हुई हैं। यही नहीं साहित्य, लेखक और कला के मौत की मुनादी भी की जा चुकी

है। इतने उत्तरो, अन्तों और मौतों से निर्मित वातावरण मानव-समाज को निराशा में डुबाने के लिए काफी हैं। इस सबके साथ ही उत्तर-आधुनिकतावाद ने मुक्ति के वृहद आख्यान के अन्त की भी घोषणा कर दी है, ताकि पूँजीवाद के भूमण्डलीकरण के विरोध की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाएँ।

सन् 1999 में फ्रांसीसी समाज-शास्त्री पीयरे बोर्दिए का लिखा निबन्ध 'ऑन दी कनिंग ऑफ इम्पेरियलिस्ट रीजन', एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसमें बोर्दिए ने लिखा कि साम्राज्यवादी बुद्धि अपनी विशेष ऐतिहासिक स्थितियों और जरूरतों से उपजे प्रश्नों और विचारों को सार्वभौम प्रश्नों और विचारों के रूप में प्रस्तुत करती है। यह काम अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में यूरोप में हो रहा था और बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से आज तक यह सब अमेरिका की ओर से हो रहा है। इस प्रक्रिया में वस्तुओं के साथ ही विचारों के बाजार पर भी कब्जे की कोशिश हो रही है। भूमण्डलीकरण भी उसी प्रक्रिया का हिस्सा है। आजकल अमेरिका में दुनिया के विचारों के बाजार पर कब्जे के लिए बड़े पैमाने पर भूमण्डलीकरण पर बहस चल रही है। पुस्तकों और पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य को भी भूमण्डलीकरण के विचार के दायरे में लाने की कोशिश हो रही है। सन् 2001 में अमेरिका से प्रकाशित होने वाली दो पत्रिकाओं पी.एम.एल.ए. और कम्परेटिव लिटरेचर के विशेषांक निकले। पी.एम.एल.ए. का विशेषांक जनवरी 2001 में निकला, जिसका शीर्षक था ग्लोबलाइजिंग लिटरेरी स्टडीज। कम्परेटिव लिटरेचर के विशेषांक का शीर्षक था, ग्लोबलाइजेशन एण्ड ह्यूमैनिटीज।

सन् 2008 में न्यू लिटरेरी हिस्ट्री का विशेषांक प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है, लिटरेरी हिस्ट्री इन दी ग्लोबल एज। पी.एम.एल.ए. के उल्लिखित अंक के सम्पादकीय में भूमण्डलीकरण के दौर में साहित्य के अध्ययन के सामने कुछ सवाल उठाए गए। कहा गया कि साहित्य के अध्ययन को उस प्रक्रिया से कैसे बचाया जाए, जो साहित्यिक पाठों को अन्तर्पाठीय उत्पादन, विनिमय और उपभोग में घटाकर सभी सांस्कृतिक विनिमयों को आर्थिक शोषण का बहाना बनाती है। क्या संस्कृति बाजार की वस्तु बन गई है? क्या पूँजी के प्रवाह में राष्ट्र का अस्तित्व बह जाएगा और साहित्य में व्यक्त राष्ट्रीय चेतना का भी अन्त हो जाएगा? क्या सभी बौद्धिक और सामाजिक व्यवहार बाजार के नियम से संचालित होंगे? क्या लोगों और व्यवहारों की तरह संस्कृतियाँ भी जड़हीन, बेघर और आवारा होंगी?

• भूमण्डलीकरण तथा विश्ववाद की चिन्ता

भूमण्डलीकरण के पहले दौर में भी विचारों की दुनिया में विश्ववाद की चिन्ता थी। उसके एक दार्शनिक थे जर्मनी के काण्ट, जिन्होंने सन् 1784 में विश्वव्यापी दृष्टि से सार्वभौम इतिहास लेखन की बात की थी। काण्ट के इस चिन्तन में सार्वभौम और विश्वव्यापी शब्दों के भीतर वैश्विक या भूमण्डल की चिन्ता है। हाल के वर्षों में कुछ लोगों ने भूमण्डलीय (प्लेनेटरी) बोध की भी चर्चा की है, जिसमें विश्वव्यापी का भी समाहार है। भूमण्डलीकरण के दूसरे दौर के नए उदारवादी विचारकों की मुक्त

व्यापार सम्बन्धी घोषणा के बहुत पहले ज्ञानोदय काल के काण्ट जैसे विचारकों ने सार्वभौम के बारे में सोचा था। पर साथ ही उन्होंने यूरोप के साम्राज्यवादी प्रभुत्व की भी आलोचना की थी। आज के भूमंडलीकरण के प्रवक्ता और समर्थक साम्राज्यवादी प्रभुत्व की चिन्ता और आलोचना नहीं करते। भूमंडलीय संस्कृति के बारे में सोचते हुए हमें यह भी सोचना चाहिए कि क्या संस्कृति की नई राजनीति भी सम्भव है, जरूरी है और विकसित भी हो रही है। एक विचारक केविन रॉबिन ने लिखा है कि यूरोप के बहुत से प्रवासी आत्मसातीकरण की प्रक्रिया को अस्वीकार कर रहे हैं। समकालीन प्रवासी जहाँ बस रहे हैं वहाँ की सभ्यता और संस्कृति को अंशतः स्वीकार करते हैं और अपने मूल को भी याद करते रहते हैं। इसीलिए यूरोप में और अमेरिका में भी बहुसंस्कृतिवाद की चर्चा हो रही है।

• भूमंडलीकरण और विश्व-साहित्य की अवधारणा

भूमंडलीकरण के पहले दौर में ही विश्व-साहित्य की धारणा सामने आई। इस धारणा की अभिव्यक्ति पहली बार जर्मनी के गेटे ने जनवरी, 1827 में की थी। इस धारणा के निर्माण के पहले गेटे ने संस्कृत के महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम के विलियम जोन्स द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद के जर्मन अनुवाद (सन् 1791) को पढ़ा था। उसके साथ ही गेटे ने चीनी उपन्यास और हाफिज़ की शायरी का भी अध्ययन किया था। इन सारे अनुवादों के अध्ययन से ही गेटे ने विश्व-साहित्य की धारणा का निर्माण किया था। गेटे ने विश्व-साहित्य की बात की थी, लेकिन उन्होंने साहित्य के राष्ट्रीय चरित्र की उपेक्षा नहीं की थी, बल्कि उनके अनुसार राष्ट्रीय साहित्य में जो विशिष्टता होती है और दूसरे साहित्यों से जो फर्क होता है उसको ध्यान में रखकर उन्होंने राष्ट्रीय साहित्य के महत्त्व को स्वीकार किया था।

गेटे के विश्व-साहित्य की धारणा के निर्माण में विलियम जोन्स द्वारा भारतीय साहित्य के अनुवादों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। विलियम जोन्स का शकुन्तला का अनुवाद पहली बार सन् 1789 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ और उसके बाद 1791 में जर्मन में। इन अनुवादों से यूरोप को भारतीय साहित्य, विशेष रूप से संस्कृत साहित्य की समृद्धि और सौन्दर्य का ज्ञान हुआ। साहित्य के साथ-साथ भारतीय दर्शन का भी अनुवाद यूरोप पहुँचा। सन् 1657 में शाहजहाँ के बड़े बेटे दाराशिकोह ने 52 उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया और उसका नाम रखा सिर्रे अकबर। एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी अनुवादक दुपरो को दाराशिकोह के उपनिषदों के फारसी अनुवाद की पाण्डुलिपि सन् 1775 में मिली और दुपरो ने उसका फ्रांसीसी तथा लैटिन में अनुवाद किया। वह लैटिन अनुवाद सन् 1801 में दो खण्डों में छपा। इस अनुवाद से ही सारे यूरोप के विद्वानों, दार्शनिकों और साहित्यकारों को उपनिषदों के दार्शनिक महत्त्व का ज्ञान हुआ। यह कहने में कोई अतिरंजना नहीं है कि विश्व-साहित्य की धारणा के निर्माण में उपनिषदों के लैटिन अनुवाद की भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

अमीर आर. मुफ्ती ने ठीक ही लिखा है कि विश्व-साहित्य को पूर्व की प्राचीन भाषाओं के ज्ञान और विश्व-भाषाओं के पारिवारिक स्वरूप के विवेचन से, पश्चिमी भाषाओं में प्रस्तुति से, प्रेरणा मिली है। अनुवाद के माध्यम से पूर्व की तीन भाषाएँ और उनका साहित्य यूरोप पहुँचा, वे भाषाएँ थीं – संस्कृत, फारसी और अरबी। इन भाषाओं के अनुवाद के यूरोप पहुँचने पर ही विश्व-साहित्य की धारणा की सम्भावना बनी। बाद के यूरोपीय साहित्य पर पूर्व की इन भाषाओं के साहित्य का प्रभाव पड़ा। जोन्स के अनुवाद का प्रभाव अंग्रेजी के कॉलरिज, शेली और थॉमस मूर आदि के काव्य पर पड़ा। इस तरह विश्व-साहित्य की धारणा के निर्माण में भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

विश्व-साहित्य की गेटे की धारणा की पुष्टि करते हुए कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने सन् 1848 में 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में लिखा था, "पूँजीवाद के विकास के कारण पुरानी स्थानीय और राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता और अकेलेपन के बदले सार्वभौम संवाद की स्थिति पैदा हुई और इस तरह राष्ट्रों के बीच परस्पर निर्भरता शुरू हुई। यह केवल भौतिक उत्पादन में ही नहीं, बौद्धिक उत्पादन में भी सम्भव हुआ। अब प्रत्येक देश का बौद्धिक उत्पादन सबकी सम्पत्ति बन गई। राष्ट्रीय अनन्यता और विशेषता लगभग असम्भव हो गई। विभिन्न राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्यों में से एक विश्व-साहित्य पैदा हुआ।" बाद के दिनों में विश्व-साहित्य की वास्तविकता अधिक सच होकर सामने आई।

बीसवीं सदी के अन्त में यूरोप में अनेक देशों में विश्व-साहित्य के निर्माण की कोशिश हुई। जर्मनी में पच्चीस खण्डों में विश्व-साहित्य का इतिहास आया, जिसका नाम है न्यू हैण्डबुक ऑफ लिटरेरी स्टडीज। रूस से आठ खण्डों में विश्व-साहित्य का इतिहास छपा। उसके बाद सात खण्डों में स्केण्डिनेविया से विश्व-साहित्य का इतिहास छपा, जिसका नाम है, दी हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर। इन सभी इतिहासों में अधिकांशतः यूरोपीय साहित्य का ही इतिहास है और उसी को विश्व-साहित्य का इतिहास भी कहा गया। हाल के वर्षों में विश्व-साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित कुछ और किताबें छपीं। उनमें एक है, डेविड डमरोस की किताब वॉट इज वर्ल्ड लिटरेचर? दूसरी है, पास्कल कासानोवा की किताब 'दी वर्ल्ड रिपब्लिक ऑफ लैटर्स'। तीसरी है, फ्रेंको मोरेती की किताब ग्राफ्स, मैप्स, ट्रीज : अबस्ट्रक्ट मॉडल्स फॉर ए लिटरेरी हिस्ट्री।

भूमण्डलीकरण के दौर में साहित्य के इतिहास पर केन्द्रित न्यू लिटरेरी हिस्ट्री के विशेषांक में लिखने वाले लोगों में एक ओर फ्रेडरिक जेमसन हैं, जो मानते हैं कि आज के दौर में नया साहित्य का इतिहास सम्भव ही नहीं है। उन्होंने लिखा कि हम आज साहित्य का इतिहास नहीं लिख सकते, उसे पुराने रूप में प्रस्तुत भी नहीं कर सकते। आजकल साहित्य के इतिहास का पुराने साहित्य के इतिहास के बदले कोई नया दृष्टिकोण सामने नहीं आया है। जो दृष्टिकोण सामने आए हैं वे केवल सैद्धान्तिक हैं। नए इतिहास लेखन में वे ज्यादा मदद नहीं करते। आज के साहित्येतिहास लेखकों को साहित्येतिहास लेखन का ऐसा नया दृष्टिकोण निर्मित करना है, जो पहले कभी सोचा नहीं गया। उन्हें यह भी सोचना है कि नए दृष्टिकोण से लिखे गए साहित्येतिहास को साहित्य का ही इतिहास लगाना चाहिए।

- **भूमण्डलीकरण और साहित्येतिहास की चुनौतियाँ**

दुनिया में ऐसे अनेक विचारक और आलोचक हैं, जो भूमण्डलीकरण के दौर में इतिहास लेखकों की समस्याओं और चुनौतियों पर विचार करते हैं। डेविड डमरोस ऐसे ही लेखकों में से एक हैं। उन्होंने अपने लेख के आरम्भ में लिखा कि साहित्य के वैश्विक इतिहास लेखन की चुनौतियाँ तीन प्रकार की हैं। पहली चुनौती परिभाषा की है, दूसरी ढाँचे की और तीसरी उद्देश्य की। उन्होंने कहा कि साहित्य के नए इतिहास पर इस तरह विचार किया जाना चाहिए कि एक सार्थक इतिहास का स्वरूप सामने आ सके। उनके अनुसार साहित्य का ऐसा इतिहास होना चाहिए, जिसे वस्तुतः कोई भी व्यक्ति पढ़ना चाहे।

डमरोस ने साहित्य के इतिहास की परिभाषा पर विचार किया और लिखा कि भूमण्डलीकरण का युग साहित्य के इतिहास के लिए आसान है तो मुश्किल भी। अब तक साहित्य का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि से लिखा जाता रहा है, जिसके अनुसार वैश्विक साहित्य का इतिहास या तो असम्भव है, या दिलचस्पी से शून्य। जब लोगों ने राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर देखने की कोशिश की तो वे केवल एक क्षेत्र तक सीमित थे। यही काम एरिक आवरबाख ने अपनी पुस्तक मिमिसिस में किया। उन्होंने पश्चिमी साहित्य के यथार्थ की प्रस्तुति का अध्ययन किया। सन् 1990 के बाद स्थिति बदल गई। अनेक जगहों से विश्व-साहित्य के संग्रह प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसे में आज के समय में विश्व-साहित्य के इतिहास लेखन की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं। पर समस्या है कि भूमण्डलीकरण, इतिहास की पुरानी धारणा और मान्यता का भी अन्त करता है और उसकी विचारधारा के रूप में उत्तर-आधुनिकतावाद ने इतिहास के अन्त की घोषणा कर रखी है। आज के समय में दुनिया भर में दुनिया का साहित्य उपलब्ध है। ऐसे में वैश्विक साहित्य के अध्ययन और इतिहास लेखन की सम्भावनाएँ भी बनी हैं। अगर विश्व-साहित्य के सभी लिखे हुए पाठों पर ध्यान दें तो उसका इतिहास लिखने के लिए स्थानीय इतिहासों और विभिन्न साहित्यिक संस्कृतियों पर भी ध्यान देना पड़ेगा। अगर वैश्विक साहित्य का इतिहास लिखना है तो ऐसी रचनाओं पर भी ध्यान देना होगा, जिसमें वैश्विक सन्दर्भ और चेतना मौजूद है।

- **भूमण्डलीकरण और साहित्येतिहास लेखन की पद्धति और चुनौती**

डमरोस ने भूमण्डलीकरण के दौर के साहित्य के इतिहास के ढाँचे पर भी विचार किया है। उन्होंने इसे दो तरह से लिखे जाने की बात की। एक तो संक्षिप्त रूप में एच.जी. वेल्स की पुस्तक आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री की तरह या फिर विस्तृत रूप में आर्नोल्ड ट्रायनबी की बारह खण्डों में लिखी पुस्तक स्टडी ऑफ हिस्ट्री की तरह। विश्व-साहित्य के इतिहास लेखन की एक और पद्धति हो सकती है, जिसे फ्रैंक मोरेती ने अपने उपन्यास के विश्व-इतिहास में अपनाया है। ऐसे इतिहास के लिए मोरेती की तरह ही सहयोगी प्रयास की जरूरत होगी। पाँच खण्डों के मोरेती के विश्व के उपन्यासों के इतिहास में पचासो लेखक हैं। उसकी पठनीयता की समस्या बनी हुई है, इसलिए उसका संक्षिप्त संस्करण भी

प्रकाशित हो रहा है। सहयोगी प्रयास से लिखे गए ऐसे साहित्य के इतिहासों की संख्या अनेक है। ऐसे सहयोगी प्रयासों से लिखे गए इतिहास लेखन के दृष्टिकोण में एकता की समस्या बराबर बनी रहेगी।

एक नए ढंग से इतिहास लिखने के लिए ढाँचागत चुनौतियों पर भी ध्यान केन्द्रित करना होगा। ऐसे इतिहासों में प्रायः सरसरी नजर से ही इतिहास को उपस्थित किया जा सकता है। कुछ लोग इलेक्ट्रॉनिक की मदद से विश्व-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसको इण्टरनेट के माध्यम से पढ़ा जा सकता है, लेकिन ऐसे इतिहास के साथ एक कठिनाई यह है कि जिसे इण्टरनेट की जानकारी नहीं है, या उसकी सुविधा नहीं है, उसके लिए इलेक्ट्रॉनिक की मदद से लिखे गए इतिहास का कोई अर्थ नहीं है। अन्त में डमरोस ने यह भी प्रश्न उठाया कि ऐसे साहित्य के इतिहास का उद्देश्य क्या है? इस प्रसंग में यह भी सवाल विचारणीय है कि इसका एक सीमित राष्ट्रीय उद्देश्य हो सकता है और दूसरा असीमित वैश्विक उद्देश्य भी हो सकता है। सभी जानते हैं कि राष्ट्रीय साहित्य का इतिहास लेखन अधिक आसान है। उसे वैश्विक साहित्य के इतिहास में फैलाने से बेहतर है कि ऐसे इतिहास में स्थानीय और वैश्विक की एकता स्थापित हो।

एक दूसरे विचारक **फ्रांसिस फर्ग्युसन** ने भूमण्डलीय इतिहास लेखन की समस्या पर विचार करते हुए लिखा कि, **“दुनिया में अनेक भाषाएँ हैं। वैश्विक इतिहास के सामने एक समस्या भाषाओं की अनेकता से उपजी कठिनाइयों को हल करने की भी है। सब जानते हैं कि साहित्य भाषा में ही लिखा जाता है, इसलिए चाहे एक राष्ट्र के साहित्य का इतिहास लिखा जाए, या पूरे विश्व के साहित्य का इतिहास लिखा जाए, भाषाओं की अनेकता से टकराना आवश्यक होगा।”**¹ कोई भी एक व्यक्ति दुनिया की सभी भाषाओं को बराबर क्षमता और कुशलता से शायद ही जान सके। अन्तर्भाषायी सम्बन्धों की समस्या के समाधान के लिए अनुवाद की मदद लेना आवश्यक होगा। इसके साथ ही निरन्तर संशोधनों पर भी ध्यान देना जरूरी होगा।

फर्ग्युसन ने यह भी लिखा है कि, **“पाठ के गहन अध्ययन और उसके बारे में सौन्दर्यबोधीय निर्णय आलोचना के लिए जितना आवश्यक है, क्या उतना ही आवश्यक इतिहास लेखन के लिए भी है। साहित्य के इतिहास लेखन के सामने एक चुनौती यह भी है कि वह पाठों को इस रूप में प्रस्तुत करे कि पाठक उनकी विशेषताओं को पहचान सके। यह गहन अध्ययन और सौन्दर्यबोधीय निर्णयों से ही सम्भव होगा।”**² एक आलोचक मार्क पॉस्टर ने आज के समय में संस्कृति के प्रश्न की जटिलता पर ध्यान दिया है। वह कहते हैं कि, भूमण्डलीकरण के कारण राष्ट्रीय, जातीय और विश्व में जो विनिमय की प्रक्रिया आजकल चल रही है उसके कारण क्या कोई वैश्विक संस्कृति पैदा हो रही है? प्रश्न यह है कि ऐसे विनिमयों के विश्लेषण की कौन-सी पद्धति होगी, क्या अनुवाद, मिश्रण और एकीकरण?

¹ भूमण्डलीकरण और साहित्य का इतिहास – साहित्य का इतिहास दर्शन (inflibnet.ac.in)

² भूमण्डलीकरण और साहित्य का इतिहास – साहित्य का इतिहास दर्शन (inflibnet.ac.in)

हैडेन व्हाइट ने यह भी लिखा है कि, “इसका यह अर्थ नहीं है कि आजकल कोई संस्कृति नहीं है और यह भी सच नहीं है कि राष्ट्र और भाषा पर आधारित साहित्य का निर्माण नहीं हो रहा। ऐसा साहित्य उस दूसरी दुनिया में रचित किया गया है जहाँ सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष है, जो साहित्यिक यथार्थवाद के प्रेरणास्रोत भी हैं। यही नहीं वास्तविक इतिहास भी गतिशील है इसलिए साहित्य का इतिहास अब भी सम्भव है और वह सामाजिक दृष्टि से सार्थक भी है।”¹ यह जरूर सच है कि भूमण्डलीकृत कोई इतिहास नहीं है। आज के समय में साहित्य के इतिहास लेखन का एक महत्वपूर्ण बिंदु है कि, उत्तर-आधुनिक दृष्टि से मध्यकालीन और आधुनिक युग का इतिहास कैसे लिखा जाए। हैडेन व्हाइट ने ज्यॉ-पॉल-सार्त्र का एक कथन उद्धृत करते हुए कहते हैं कि, किसी भी वस्तु का इतिहास किसी न किसी के लिए होता है। सार्त्र के इस प्रश्न से यह बात भी उत्पन्न होती है कि भूमण्डलीकरण के दौर में लिखा जाने वाला साहित्य का इतिहास किसके लिए होगा?

एन.एल.एच. के विशेषांक में दूसरी दुनिया के साहित्य, उसकी आलोचना और उसके इतिहास की कोई विशेष चिन्ता नहीं है। एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के साहित्य और उनके इतिहासों की उपेक्षा ही हुई है। इन देशों में साहित्य, समाज से उसकी वास्तविकताओं, जटिलताओं और आकांक्षाओं से जुड़ा हुआ है। वे सब देश अमेरिका और यूरोप से एकदम भिन्न हैं। विश्व-साहित्य की पुरानी अवधारणा में दूसरी दुनिया के साहित्यों की चिन्ता थी और भूमिका भी। लेकिन आज के भूमण्डलीकरण के दौर के सोच-विचार में वह नहीं है। दूसरी दुनिया के देशों में साहित्य के इतिहास और समाज के इतिहास उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन और संघर्ष के दौरान लिखे गए। उनका लक्ष्य था अपने राष्ट्र, समाज, भाषा और साहित्य के स्वत्व की पहचान और व्याख्या, उस स्वत्व में मौजूद पराधीनता के यथार्थ और स्वाधीनता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति भी है। इन राष्ट्रों के आज के साहित्य में अपने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की स्मृतियाँ मौजूद हैं जिनकी उपेक्षा करके विश्व-साहित्य का कोई भी इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

• भूमंडलीकरण के उद्देश्य

- क. भूमंडलीकरण के माध्यम से विश्व की अर्थव्यवस्था को एकीकृत करके स्वतंत्र एवं मुक्त व्यापार नीति को अपनाना है। सम्पूर्ण देशों को एक आर्थिक अर्थतंत्र के माध्यम से जोड़ना भूमंडलीकरण का प्रमुख उद्देश्य है।
- ख. भूमंडलीकरण के द्वारा विश्व-व्यापार का काफी तीव्र गति से विस्तार करना है। इसके विस्तार के उद्देश्य हैं। भूमंडलीकरण के कारण स्थानीकरण के मौद्रिक घाटा को कम करना।

¹ भूमण्डलीकरण और साहित्य का इतिहास – साहित्य का इतिहास दर्शन (inlibnet.ac.in)

- ग. भूमंडलीकरण के द्वारा विश्व-व्यापार का काफी तीव्र गति से विस्तार करना है। इसके विस्तार के उद्देश्य हैं। भूमंडलीकरण के कारण स्थानीकरण के मौद्रिक घाटा को कम करना।
- घ. बाह्य उदारीकरण के तहत विदेशी वस्तुओं, सेवाओं, प्रौद्योगिकी और पूँजी के आयात से प्रतिबंध हटाना। घरेलू उदारीकरण के तहत उत्पादन, निवेश और बाजार व्यवस्था का महत्व बढ़ाना।
- ङ. भूमंडलीकरण के माध्यम से विभिन्न देशों के बीच की अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन, उपभोक्ता की अभिरूचि, जीवन शैली, और मांग में बदलाव लाना भूमंडलीकरण का प्रमुख उद्देश्य रहा है।

- **भूमंडलीकरण के प्रभाव**

- (क) आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभाव
- (ख) औद्योगीकरण पर प्रभाव
- (ग) रोज़गार पर प्रभाव
- (घ) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों पर प्रभाव
- (ङ) गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों पर प्रभाव
- (च) कृषि पर प्रभाव
- (छ) पर्यावरण पर प्रभाव

- **भूमंडलीकरण से उत्पन्न समस्याएँ :**

- (क) लघु उद्योगों की समस्या
- (ख) रोजगार की अनिश्चितता
- (ग) विकसित देशों को बढ़ावा
- (घ) क्षेत्रीय विषमताएँ
- (ङ) भूमंडलीकरण एवं प्रदूषण की समस्या
- (च) भूमंडलीकरण से ग्लोबल वार्मिंग की समस्या

श्री कमल नयन खाबरा कहते हैं कि, “भूमंडलीकरण कोई परिस्थिति या परिघटना नहीं है। यह एक प्रक्रिया है जो काफी समय से चली आ रही है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद के वर्षों को वैश्वीकरण के प्रारंभिक वर्ष माना जा सकता है। मार्क्स पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि एक एकीकृत विश्व बाजार की ओर ले जाना पूंजीवाद के तर्क में शुरू से ही अंतर्निहित रहा था और उपनिवेशवाद ने ऐसे बाजार के निर्माण में मुख्य भूमिका निभाई है।”¹

वर्तमान समाज भूमंडलीकरण के चलते एक कठिन दौर से गुज़र रहा है। वैश्वीकरण ने एक ओर लोक संस्कृति को अपदस्थ किया है तो दूसरी ओर जातीय पहचान के सवाल को गौण बना दिया है। भूमंडलीकरण को एक साथ विश्वग्राम, ग्लोबल विलेज, वैश्वीकरण आदि अनेक नामों से अलंकृत किया जा रहा है। भूमंडलीकरण की चमक-दमक में व्यक्ति अपने ग्राम-परिवेश एवं संस्कृति से विमुखित हो रहा है। वैश्वीकरण ने व्यक्ति को एक वस्तु बना दिया है। सब जगह बाजारीकरण व्याप्त हो रहा है। जहाँ देखें वहाँ देश, समाज, संस्कृति सबका क्रय-विक्रय हो रहा है। पिछले दो दशकों पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि लोक जीवन पर इसका कितना प्रभाव पड़ा है। इसके पीछे आधुनिकता की बीमारी एवं मीडिया का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

लोक संस्कृति: आधुनिक संस्कृति जन संस्कृति की प्रकृतिवादी दृष्टि से नहीं चलती, बल्कि यह टेक्नोलॉजी पर आधारित रही है। खतरनाक एवं नाजुक कगार पर खड़ी यह संस्कृति आर्थिक साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा प्रायोजित आधुनिक विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी के थपेड़ों से तप रही हैं। उत्तर-आधुनिक होती दुनिया से संस्कृति का सर्वथा लोप हो रहा है।

बाज़ारवाद: वैश्वीकरण की नींव है। बाज़ारवाद और मल्टीनेशनल कंपनियों की ऊँची पगार ने आदमी को जाति, धर्म, सांस्कृतिक विशिष्टता, राष्ट्रीयता आदि से अलग कर दिया है। मनुष्य धीरे-धीरे अपनी पहचान खोता जा रहा है।

बाज़ारवाद ने मजदूर, व्यापारी, कलाकार आदि को हाशिये पर रख दिया है। बाज़ार के प्रभाव के कारण स्त्रियों का अस्तित्व शरीर तक सिमट कर रह गया है। आगे चलकर अपने शरीर और सौन्दर्य की प्रशंसा के कारण ही स्त्रियाँ अपनी ओर समाज के नज़रिए को बदलते देखेंगी।

अमीरी-गरीबी का यथार्थ: भूमंडलीकरण के आने के बाद अमीर और अमीर होते चले गए तथा गरीब और गरीब। समकालीन कविता इसकी पड़ताल करती है:

“खानों से कारखानों से, टूटी झोपड़ियों से निकलते

सूअर-जैसे नंगे, सूअर-जैसे गंदे

और सूअर-जैसे विकृत शरीर वाले

1 कमल नयन खाबरा, कमल नयन खाबरा, “भूमंडलीकरण: विचार, नीतियाँ और विकल्प”, पृ. सं.- 22

पांव घसीटते मेरे सूबे के लोग।”¹

बदलती मानसिकता: भूमंडलीकरण की आक्रंता के कारण रिश्तों में दरारे आयीं हैं, असली चेहरे मोहरों से ढँक गए हैं। चेहरों के साथ मानसिकता भी बदल रही है :

**“चेहरे पर चेहरे दिखते हैं
रुपयों में रिश्ते बिकते हैं।”²**

प्रकृति व औद्योगिकीकरण: बसंत जो किसानों के लिए उत्साह, उल्लास, उत्सवों को ले कर आती थी, वह आज औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था की भेंट चढ़ गयी है। प्रकृति का स्थान औद्योगिकीकरण ने ले लिया है। कारखानों की सायरनों और मशीनों की कोलाहल भरी चीखों में मनुष्य को कुछ इस तरह कवि ने प्रस्तुत किया है :

**“धुआँधार अग्नि बाणों की वर्षा से,
काल-सा बसंत दिशाओं को,
चिपड़ी-चिपड़ी किये दे रहा है।”³**

शहरीकरण: भूमंडलीकरण ने विश्वभर की लोक संस्कृति का बेतहाशा दोहन किया है। शहरीकरण भूमंडलीकरण की ही देन है। ऐसे में मनुष्य की भावनाएं एवं लोक संस्कृति पर हो रहे राजनीतिक असर को समकालीन कवियों ने प्रकाश में लाया है। महानगरों में पीड़ा की त्रासदी का अहसास होता है। जगदीश चतुर्वेदी जी ने अपनी कविताएं ‘मृत्यु जैसी खामोशी’, ‘नगर-यन्त्रण’, ‘बीसवीं सदी के बाद’ आदि में इस त्रासद स्थिति को अभिव्यक्त किया है।

धार्मिकता का ढोंग और अल्पसंख्यक वर्ग: भारत में अब तक के अध्ययन और विश्लेषण व चर्चा के केंद्र में अल्पसंख्यक(मुस्लिम) विमर्श कभी नहीं रहा। अल्पसंख्यक विमर्श वास्तव में - अल्पसंख्यकों को जानने, समझने, पारिभाषित करने की प्रक्रिया का नाम है। भूमंडलीकरण के आगमन के बाद अल्पसंख्यकों के जीवन में भी महत्वपूर्ण बदलाव(सकरात्मक-नकारात्मक) आये हैं। भूमंडलीकरण के कारण धर्म अपने मूल रूप में नहीं रहा, चाहे हिन्दू धर्म की बात करें या इस्लाम की, बौद्ध की, जैन की बात करें या फिर इसाई की। पूँजीवादी व्यवस्था में उनका रूप भी बदला है। किन्तु इसमें भी जो कम हैं अथवा अल्पसंख्यक हैं उनकी वस्तुस्थिति में भी कायांतरण हुआ है।

¹ अश्वघोष, जुलाई-अगस्त, 2009 . ‘महंगाई की मार’ . समकालीन भारतीय साहित्य . पृष्ठ सं. 131

² वही, पृष्ठ सं. 131

³ राग, पंकज . 2006 . असुर बसंत(कविता संग्रह) . भारतीय ज्ञानपीठ . पृष्ठ सं. - 32

वैश्वीकरण की स्थिति में हर चीज़ बिकाऊ है। ठेकेदारों की धुनी धख रही है, वह चाहे धर्म हो, युद्ध हो, विनाश हो या महाविनाश। मानवता ने आतंक, बाज़ार, शक्तियों के बढ़ते वर्चस्व के सामने घुटने टेक दिए हैं। **आशीष त्रिवेदी** अपनी कविता **‘गौरव यात्रा’** में आधुनिक धर्म के सन्दर्भ में बात करते हुए **‘रथ यात्राओं’**¹ पर कटाक्ष करते हैं। धर्म व आधुनिक संस्कृति का यह द्वंद्व **‘गणतंत्र’** कविता में उभर कर सामने आता है।

भूमण्डलीकरण के दौर की ऐसी भयावह परिस्थितियों के बीच भी आशा की उम्मीदें जगाने की कोशिश और मानवता को नया जीवनदान देने का अथाह प्रयास अभी जारी है। मनुष्य अभी इन विपरीत परिस्थिति के सामने समर्पित होने को तैयार नहीं है। मानवता का अन्तःस्रोत अभी तक सुखा नहीं है। हर कदम पर आहत आदमी वैश्वीकरण और बाजारवादी प्रवृत्ति के खिलाफ लड़ रहा है। बाज़ार की मार से आहत, विवश, पीड़ित, संघर्ष में डूबे हुए मानव को फिर भी आशा की किरण दिखती है। यही आशा और विश्वास कवि **राजेन्द्र निशेश** को भी है :

“एक हिरनी तुम्हारे वेग में भी है
एक निर्झर है तेरी शिलाओं में भी
एक मर्मर तुम्हारी फुनागियों में भी है।”²

भूमण्डलीकरण तथा वंचित वर्ग (स्त्री, दलित एवं आदिवासी): वर्तमान परिवेश में नारीवाद और नारी मुक्ति का आह्वान साफ़ झलकता है। आज लगभग सभी साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक गतिविधियों में स्त्री आवाज़ मुखरित होती है। भूमण्डलीकरण ने जिस निर्यातोन्मुख विकास नीति को पूरी दुनिया में लगभग अपरिहार्य और विकल्पहीन-सा बना दिया है, उसमें बड़े पैमाने पर औरतों का निर्यात हो रहा है। भारतीय सन्दर्भों में यदि देखें, 33 फीसदी महिला आरक्षण का दम्भ भरने वाले समाज में आज भी औरत **‘House hold lady’** के चस्पे से उबर नहीं पायी है। वह अपना तन-मन-धन, परिवार और समाज को समर्पित कर देती है तथापि जिल्लत उसका नसीब बनी हुई है। कवयित्री **अनामिका** की जुबां में कहें तो :

“जैसे की मजदूरनी
तोड़ती है पत्थर
मैंने तोड़ा खुद को
कूट-कूट कर !”¹

¹ **आशीष त्रिवेदी** कहते हैं कि, “रथ यात्रा निकालना एक कर्म बन गया है जिसमें हिंसक मूलतत्त्ववादियों और फील गुड तथा इंडिया शाइनिंग और राजनीतिक पहलुओं की मिलीभगत से कई बार गौरव यात्रा को शर्म यात्रा बना कर रख दिया जाता है।”..(राज, पंकज . जुलाई, 2009 . ‘यह भूमंडल की रात है’ की समीक्षा . तद्भव . पृष्ठ सं. 219)

² निशेश, राजेन्द्र . जुलाई-अगस्त, 2009 . ‘एक तिल तुम्हारी आवाज़ में भी’ . समकालीन भारतीय साहित्य . पृष्ठ सं. 139

पूँजीवादी व्यवस्था ने दलितों, आदिवासियों व वंचितों को वह परिवेश मुहैया नहीं कराया जिसकी अंबेडकर ने कल्पना की थी। विज्ञान-प्रौद्योगिकी की व्याप्ति के साथ जातीय संकीर्णता के नए समीकरण बने। दलितों व आदिवासियों के मन में इस व्यवस्था के प्रति तथा व्यवस्था-प्रभु के प्रति हिंसा और हिकारत के भाव अनायास ही नहीं जन्मे। इनके साथ धूर्तता, मक्कारी, छल-फरेब और मौलिक अधिकारों से वंचना के फलतः **ओमप्रकाश वाल्मीकि** अस्मिता, अस्तित्व के लिए जूझते सरोकारों को रेखांकित करते हैं :

**“शम्बूक की दर्दनाक हत्या
और एकलव्य के साथ
हुए छल को साथ लिए
मेरी पीढ़ी
जंगलों, नदियों, पहाड़ों और नालों में
खोज रही है
गत तथा विगत के बीच की मौन शिलाएँ।”²**

‘ग्लोबलाइजेशन’(भूमण्डलीकरण) वस्तुतः पूँजीवादी आर्थिक तंत्र का ही एक नया रूप था जिसने विश्व के आर्थिक विकास के रूप में पूरी दुनिया को प्रभावित किया। उदारवाद के नाम पर इस तंत्र ने पूरे विश्व की अर्थव्यवस्था को अपने कब्जे में लेना शुरू किया और बाजारवाद की एक नयी अवधारणा जिसके केंद्र में देश विशेष के आर्थिक विकास का झाँसा था, विकसित हुई।

डॉ. श्यामबाबू शर्मा के अनुसार, “आज साहित्य की विभिन्न धाराओं में भूमण्डलीकरण की अभिव्यक्ति प्रछन्न रूप में दिखाई देने लगी है। कहानी, उपन्यास एवं कविता इससे विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं।”³

समाज साहित्य से अभिन्न होता है और समाज में होने वाले परिवर्तनों की अनुगूँज उसमें सुनी जा सकती है। इस क्रम में हिंदी साहित्य भी इस नए आर्थिक बदलाव, पूँजी के एकीकृत रूप, उदारवादी खुली अर्थव्यवस्था, बाजारवाद, उपभोक्तावादी मनोवृत्ति से प्रभावित हुआ है। वैश्वीकरण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए **डॉ. दीपिका गुप्ता** ने कहा है कि “वैश्वीकरण विकास की वह अवस्था मानी जा सकती है जिसमें सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आदान-प्रदान राष्ट्र राज्यरूपी कृत्रिम सीमाओं एवं नियन्त्रण के रूप में विश्व स्तर पर होता है। वैश्वीकरण की भूमि पर खींची हुई राष्ट्र

¹ अनामिका . 2005 . खुरदरी हथेलियाँ . पृष्ठ सं. 42

² वाल्मीकि, ओमप्रकाश . (1989) . सदियों का संताप . पृष्ठ सं. 13

³ डॉ. शर्मा, श्यामबाबू . 2014 . भूमण्डलीकरण और समकालीन हिन्दी कविता . पृष्ठ सं. 8

राज्य रूपी कृत्रिम सीमाओं पर आधारित राजनीतिक इकाई से भिन्न उभरती हुई सांगठनिक इकाई के सम्बन्ध में देख सकते हैं और वैश्वीकरण उन सभी स्थितियों तथा परिस्थितियों की ओर दृष्टिगत करता है जिसमें विश्व के लोग 'एकल विश्व समाज' के रूप में संगठित हो रहे हैं।"¹

वर्तमान समय में जिस वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण का शोर सर्वाधिक हो रहा है उसका प्रवेश भारत में 1990-91 में हुआ और इसके पक्ष-विपक्ष में लोग खड़े होने लगे हैं। इसका सर्वाधिक खतरनाक प्रभाव हमारी शिक्षा पर पड़ा। इस सन्दर्भ में श्री रमेश अनुपम ने अपने एक आलेख में उन खतरों के विषय में बताते हुए लिखा है कि "भूमण्डलीकरण के नाम पर, विश्वग्राम के परवैविध्य या अनेकता की संस्कृति को नष्ट कर एक ही सांस्कृतिक प्रतिमान बनाये जाने की बात कही जा सकती है। हम वही गायें, वही नाचें, वही पहनें जो भूमण्डलीय के आकार चाहते हैं। अमेरिकन पाश्चात्य संस्कृति द्वारा हमारी संस्कृति का मूल्यांकन किया जा रहा है। हमारी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने का सुनियोजित प्रयास किया जा रहा है। इसे हम एक तरह से बौद्धिक सांस्कृतिक हमला ख सकते हैं। भूमण्डलीकरण के नव्य आधुनिक पैरोकार यह जानते हैं कि किसी देश को आर्थिक या राजनैतिक रूप से पराजित करने से पहले ऐसे बौद्धिक रूप से, सांस्कृतिक रूप से पराजित करने की जरूरत सबसे पहले पड़ती है।"

• शिक्षा पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव

शिक्षा सीखने-सिखाने की प्रक्रिया है, सीखने-सिखाने की यह प्रक्रिया शिक्षार्थियों के चारों ओर व्याप्त वातावरण में चलती है। यह वातावरण मुख्यतः पारिवारिक, सामुदायिक, राष्ट्रीय होता है। शिक्षा के प्रथम अध्याय का प्रारम्भ माता-पिता एवं परिवार से होता है, अगला अध्याय समुदाय में और शेष अध्याय प्रान्तीय, राष्ट्रीय वातावरण से सम्बन्धित अध्याय है और आज के परिप्रेक्ष्य में एक और प्रमुख अध्याय जुड़ गया है और यह है, विश्व अध्याय अन्तर्राष्ट्रीय अध्याय जिसने वैश्वीकरण के प्रभाव से पूर्व के सभी अध्यायों को गौण कर दिया है।

क्योंकि परिवार, समुदाय, राष्ट्र सभी को इसने अपने अन्दर समाहित कर लिया है। जैसे-इलेक्ट्रॉनिक प्रौद्योगिक-टीवी, कम्प्यूटर आदि के प्रभाव से यह अपना शैक्षिक प्रभाव बाल्यकाल से शिक्षार्थियों पर जमाने लगा है। यद्यपि यह निर्विवादित तथ्य है कि वैश्वीकरण का सर्वाधिक लाभ शिक्षा जगत को ही हुआ है और वह भी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में मुक्त विश्वविद्यालय दूरस्थ शिक्षा इन्टरनेट आदि माध्यम जो शिक्षा के प्रसार चलाये जा रहे हैं, वैश्वीकरण का ही प्रभाव है, इलेक्ट्रॉनिक संचार ने दुनिया को एक सूत्र में बाँध दिया है। सेटैलाइट क्रान्ति ने कम्प्यूटर क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। कम्प्यूटर ने दुनिया को एक ग्राम अथवा विश्व ग्राम में परिवर्तित कर दिया है। इण्टरनेट के चमत्कार से ई-कॉमर्स, ई-

¹ https://www.press.jhu.edu/journals/new_literary_history/

शिक्षा, ई-बैंकिंग, ई-लर्निंग का विकास वर्तमान समय में दुनिया की वास्तविकता बन गया है। इसने दूरी व समय को समाप्त कर दिया है। संसार के किसी भी क्षेत्र में बैठा व्यक्ति किसी दूसरे कोने में बैठे व्यक्ति को शिक्षण प्रशिक्षण प्रदान कर सकता है। माध्यम होता है, ई-शिक्षा, इससे अध्यापक एवं विद्यार्थी अपने ज्ञान को ताजा बनाये रखने के साथ-साथ ज्ञान क्षेत्र का विस्तार भी कर सकते हैं।

उक्त विचारों से यह स्पष्ट हो रहा है कि आज हर विषय-वस्तु को वाद-संवाद की कड़ी में आधुनिकता और भूमण्डलीकरण से जोड़ा जा रहा है। लेकिन भूमण्डलीकरण की यह अवधारणा इतनी भी पुरानी नहीं है कि इसे आत्ममुग्धता में यह कह कर गर्व किया जाए कि जनाब हमारे यहाँ वसुधैव कुटुम्बकम् के रूप में यह धारणा पहले से ही मौजूद है। यह एक तरह का मिथक है जो भूमण्डलीकरण के बारे में गढ़ा गया है। इसी तरह के कई और मिथक पुरातन बुद्धिजीवियों द्वारा गढ़े गए हैं।

सोलहवीं सदी से बीसवीं सदी के मध्य भूमण्डलीकरण का पहला दौर शुरू होता है, जिसका केन्द्र यूरोप था। यह एक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया है जो पूँजीवाद, अमेरिकीकरण और उत्तर-आधुनिकतावाद की विचारधारा से सम्बन्धित है। यह वस्तुओं के साथ विचारों के बाजार पर भी कब्जा करने की एक कोशिश का हिस्सा है। पुस्तकों और पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य को भूमण्डलीकरण के विचार के दायरे में लाने की कोशिश हो रही है। अमेरिका की पत्रिका पी.एम.एल.ए. के 2001 के विशेषांक के सम्पादकीय में भूमण्डलीकरण के दौर में साहित्य के अध्ययन के सामने कुछ सवाल उठाए गए। भूमण्डलीकरण के दौर में विचारों की दुनिया में विश्ववाद की चिन्ता को समाहित किया गया। जर्मनी के विचारक काण्ट ने इसी चिन्ता से सार्वभौम इतिहास लेखन की बात कही थी। इसके पहले दौर में ही विश्व साहित्य की धारणा के निर्माण की कोशिश शुरू हो गई थी। इसमें जर्मन विचारक गेटे और विलियम जोन्स की महत्वपूर्ण भूमिका रही। बीसवीं सदी के अन्त में यूरोप सहित अनेक देशों में विश्व-साहित्य के निर्माण की कोशिश की गई। इसी दौर में इतिहास लेखकों की समस्याओं और चुनौतियों पर भी विचार किया गया। ऐसे आलोचकों में डेविस डमरोस प्रमुख हैं। उन्होंने बताया कि यह युग साहित्य के लिए आसान है, तो मुश्किल भी है। उन्होंने साहित्य के इतिहास के ढाँचे पर भी विचार किया। इसके आगे कई आलोचकों ने साहित्य के इतिहास लेखन में राष्ट्रीय और वैश्विक एकता स्थापित करने के दौरान उपलब्ध चुनौतियों एवं समस्याओं पर भी विचार किया है।

2. समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर

छठे दशक से आज तक के तमाम उथल-पुथल को समकालीन हिन्दी कविता अपनी पैनी निगाह से देखती समझती आई है। इस यात्रा में अकविता, प्रगतिशील जनवादी कविता और नवगीत की सुसंगत परम्परा को भी समकालीन कविता का ही अंग माना गया। कई पीढ़ियों की सृजनधर्मिता से पोषित ये कविताएँ आमजन का पाथेय बनी हैं। शैक्षिक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक उन्नति के बावजूद आपराधिक राजनीति और राजनीतिक अपराध से कलंकित परिदृश्य की सच्ची तस्वीर पेश कर इसने सावधान समाज बनाने का सफल उद्यम किया है। ओछी हरकतों में लिप्त नेता, पुलिस, पत्रकार के आचरण; गैरमुनासिब हरकतों में मशरूफ़ सामाजिक कार्यकर्ता तमाम दुराचारों का डटकर सामना करती हुई समकालीन हिन्दी कविता सतत् मनुष्य को सही राह दिखाती रही है।

स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ ही वर्ष के बाद उस दौर की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों ने जनमानस को चौंका दिया था। वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न प्रगतिशील समाज के गठन के आग्रही नेता जवाहरलाल नेहरू का मोहभंग हुआ; लालबहादुर शास्त्री को सदमा पहुँचा; दृष्टि-सम्पन्न इन दो-दो प्रधानमन्त्रियों का देहावसान, इन्दिरा गांधी के नेतृत्व की शुरुआत, भारत-पाक सीमा-संघर्ष में इन्दिरा गांधी की सूझ-बूझ से देश में जगी नई स्फूर्ति ये सभी स्वर समकालीन कविता में अपनी तरह के विरोध, समर्थन के साथ प्रस्तुत हुए। जन-गण के सुख-दुख की उपेक्षा भी हुई, सारी स्थितियों से बाखबर समकालीन कविता ने अपना अग्राभिमुख संस्कार अगले दशक को थमाया। वस्तुतः सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता समकालीन हिंदी कविता के रूप में जानी जाती है।

डॉ. शोभनाथ यादव के कथनानुसार, “समकालीन हिन्दी कविता अपने नये कथ्य, फॉर्म और मुहावरे में आज के वैयक्तिक; सामाजिक तथा राजनीतिक सरोकारों को सार्थक ढंग से चित्रित कर रही है। आज की कविता इन सरोकारों से परे व्यक्ति के निजी जीवन के प्रेम, सौन्दर्य और विद्रोह की संवेदनशीलता को भी मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त कर रही है। रचनाकार की ये निजी कविताएँ समकालीन सामाजिक सरोकारों से अलग बिलकुल नहीं है और न ही ये विशुद्ध कलाधर्मी चेतना की संपोषक ही हैं”¹।

तारसप्तक से तीसरा तारसप्तक के बीच के सत्रह वर्षों में तत्परता से घटी घटनाओं ने भारत को घटनाओं का देश बना दिया। स्वाधीनता-संग्राम, आजादी, विभाजन, विस्थापन, मार-काट के बाद काबिज हुई व्यवस्था में मेहनतकश आमजन के सपने टूटे। गांधीजी की हत्या हुई। सत्ताधारी लोगों के नैतिक पतन परिलक्षित होने लगे। भारतीय जनमानस को भौतिक मुक्ति तो मिली, नैतिक और मानसिक मुक्ति नहीं मिली। देश में लोकतन्त्र की स्थापना बहाल होने के थोड़े ही दिनों बाद बुद्धिजीवियों का एक दल सत्ता का समर्थन करने लगा। पड़ोसी राष्ट्रों के साथ हुई मैत्री में धोखाधड़ी हुई, चीन ने सीमावर्ती क्षेत्र

¹ यादव, शोभनाथ . (2011) . समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षर . पृ. सं. 6

पर हमला कर दिया। लेखकों को देश का आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक माहौल चिन्ताजनक लगने लगा। इन तमाम परिस्थितियों में रचनाकारों की मनःस्थिति तरह-तरह से प्रभावित हुई।

बीसवीं सदी के छठे दशक का अन्त आते-आते मुक्तिबोध को भी लगने लगा कि नई कविता के स्वरूप के प्रति लोगों में असन्तोष दिखने लगा है, यह असन्तोष बहुत-से उन कवियों में भी था, जो स्वयं उस धारा के अंग थे। ऐसी स्थिति में उस धारा का विश्लेषण-विवेचन उन असन्तुष्ट सहयात्री द्वारा होना स्वाभाविक था। मुक्तिबोध की राय थी कि नई कविता में प्रगतिशील तत्त्व बढ़ते जाएँगे, तो वह मानवता के अधिक करीब आएगी। कुल परिदृश्य यह हुआ कि प्रयोगवादी कविता में जिस क्षणवाद, व्यक्तिवाद, अथवा कथन भंगिमा का नारा दिया गया, सन् 1960 आते-आते वे सब के सब विफल, प्रभावहीन, अस्पष्ट और पथ से भटके हुए दिखने लगे।

रचनाकारों की दृष्टि से यदि देखें तब समकालीन हिंदी कविता के समय में समकालीन युग-यथार्थ के अनुभवों के साथ तैयार हुई पीढ़ी के कवि समेत वे सभी कविगण रचनाशील रहे, जो सन् साठ के पूर्व से ही रचनारत थे। इनमें एक तो वे थे, जो सप्तकों से बाहर रहकर हिन्दी कविता की जमीन मजबूत कर रहे थे; दूसरे वे जो सप्तक परम्परा से आने के बावजूद निरन्तर अपनी समझ विकसित करते रहे तथा समय के बदलते स्वरूप के साथ-साथ काव्य सम्बन्धी अपनी धारणाओं, मान्यताओं को भी परिवर्तित करते रहे।

• सातवें दशक की कविता (नयी कविता)

इस दशक की कविता की दो धाराएँ हैं। पहली विशिष्ट धारा 'अकविता' है। यह काव्य धारा साठोत्तरी हिन्दी कविता का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। इस धारा का रूप प्रकृतिवाद था। इसका प्रवर्तक गिसवर्ग था।

इस काव्य धारा से जुड़े प्रमुख कवियों में श्याम परमार, कैलाश बाजपेयी, श्रीराम शुक्ल, मणिका मोहिनी, जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, राजकमल चौधरी, गंगा प्रसाद विमल, और लीलाधर जगूड़ी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इन कवियों में राजकमल चौधरी का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि उनकी काव्य चेतना यथार्थ परक रही है अतः राजकमल चौधरी इस काव्य चेतना के होकर भी उससे आगे की सोच रखने वाले कवि हैं और उनकी अकवितावादी कविताओं को यदि हम छोड़ दें, तो उनमें समकाल की विसंगतियों और सामायिक राजनीतिक विद्रूपताओं का तीखा एवं व्यंग्यमय चित्रण होता है। लीलाधर जगूड़ी अकविता से जुड़े कवियों में दूसरे ऐसे कवि हैं जिनमें वामपंथी तेवर मौजूद है। लीलाधर जगूड़ी की काव्य रचनाओं में यद्यपि शुरुआत में अकविता वाद मिलता है किन्तु बाद में जो रचनाएँ आयीं वे वामपंथ से प्रभावित हैं।

सातवें दशक में कविता का दूसरा दौर प्रगतिशील कवियों की वजह से चर्चित रहा जो प्रतिश्रुत पीढ़ी के रूप में पाठकों के मध्य जानी जाती है। इन कवियों में 8 प्रमुख कवि माने जाते हैं – मृत्युंजय उपाध्याय, जुगमन्दिर तायल, अजीत पुष्कल, निरंजन महावत, श्याम सुन्दर घोष, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, राजू सक्सेना और रणजीत इनके अतिरिक्त विजय (1976), विद्रोही पीढ़ी (1966) और प्रस्तुत ऐसे कुछ संकलन हैं, जिनके माध्यम से सातवें दशक की कवितायें प्रकाश में आयीं। समेकित रूप में सातवें दशक के प्रमुख कवियों में राजकमल चौधरी, केदारनाथ सिंह, चन्द्रकांत देवताले, नीलम श्रीवास्तव, राजी सक्सेना, रमेश कुन्तल मेघ, कैलाश बाजपेई, श्रीकान्त वर्मा, धूमिल आदि कवियों के नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं। इनमें एक मुक्तिबोध की परम्परा से जुड़ी कविता धारा है वहीं दूसरी ओर अकवितावादियों की धारा है।

• आठवें व नवें दशक की कविता

अस्सी का दशक हिन्दी कविता का ऐसा समय रहा है जब समकालीन कवियों ने कविता पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया था। इधर भारत-पाकिस्तान युद्ध (1971), आपातकाल (1975 - 77), केन्द्र की सत्ता से कांग्रेस का हटना (1977), विपक्ष का विखराव एवं जनता पार्टी का विघटन (1980) ऐसी महत्वपूर्ण घटनायें हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष को झकझोर कर रख दिया था। दूसरी तरफ नक्सलवादी आन्दोलन मुखर था। अकविता समाप्त हो चुकी थी। इस दौर में विशेष रूप से 1973 से कविता की वापसी का नारा सभी के सामने आया। सन् 1973 में विचार कविता की चर्चा प्रारम्भ हुई। डॉ. वीरेन्द्र, चन्द्रकांत देवताले, बलदेव वंशी, नरेन्द्र मोहन और ऋतुराज विचार कविता से जुड़कर सामने आये। वहीं दूसरी ओर एक अन्य काव्य धारा वामपंथी रूझान से जुड़कर सबके सामने आयी। इस काव्य काल में जो कविता संकलन प्रकाशित हुए, उनके प्रमुख रचनाकारों में नरेन्द्र मोहन, लीलाधर जगूड़ी, ऋतुराज, कुमार विकल, धूमिल, चंद्रकांत देवताले, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, डॉ. बलदेव वंशी, डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय एवं राजकुमार अम्बुज प्रमुख हैं।

नब्बे के दशक की कविता यात्रा को अगर दशकों के इतिहास में यदि हम विभाजन की सुविधा न मानें, तो अस्सी के दशक की रचना का उपवृंहण जरूर मान सकते हैं। समकालीन कविता की अपनी पहचान वास्तव में अस्सी के दशक से प्रारम्भ होती है और नब्बे के दशक तक 'समकालीन कविता' शब्द एक मुहावरे का रूप में सामने आती है। अस्सी और नब्बे के दशक में कवियों का अंतर भी कम रहा। प्रमुख अंतर नये प्रकाशित संकलनों का है। इसलिए इस युग में कुछ तो सत्तर के दशक के कवियों की नई रचनायें आयीं और कुछ नये कवि भी प्रमुख रूप से सामने आये।

विभिन्न दशकों में समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों में शामिल रहे हैं :

सत्तर के दशक के कवि : श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, सौमित्र मोहन, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', राजकमल चौधरी, चंद्रकांत देवताले, रघुवीर सहाय, गजानन माधव मुक्तिबोध, अशोक वाजपेयी, आलोक धन्वा, वेणुगोपाल।

अस्सी के दशक के कवि : बलदेव वंशी, हरिनारायण व्यास, कुमार विकल, शलभ श्रीराम सिंह, नरेन्द्र मोहन, गिरिजा कुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचंद्र जैन, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, नरेश मेहता, विनोद कुमार शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, शोभनाथ यादव, भगवत रावत, रमेशचंद्र शाह।

नब्बे के दशक के कवि : अरुण कमल, लीलाधर जगूड़ी, विजेंद्र, मंगलेश डबराल, मनमोहन, राजेश जोशी, उदय प्रकाश, विनय दुबे, वीरेन डंगवाल, विष्णु खरे, असद जैदी, ज्ञानेन्द्रपति, एकांत श्रीवास्तव, अग्निशेखर, विनोद दास, देवी प्रसाद मिश्र, अष्टभुजा शुक्ल, बद्रीनारायण।

वर्तमान परिदृश्य : कँवल भारती, निर्मला पुतुल, मदन कश्यप, कात्यायनी, अनामिका, सुशीला टांकभोरे, इब्बार रवि, जसिंता केरकेट्टा, अनुज लुगुन, अरुणाभ सौरभ, विहाग वैभव, नरेश दधीच, पवन करण, सूरजपाल चौहान, ओमप्रकाश वाल्मीकि, कुमार अम्बुज, मलखान सिंह, अनीता वर्मा, सविता सिंह, गगन गिल, नीलेश रघुवंशी, वीरा।

समकालीन हिन्दी कविता के ये वरिष्ठ हस्ताक्षर ऐसे हैं, जिनमें समकालीन कविता की दशा और दिशा की झांकी परिपुष्ट रूप में नज़र आती है और इस परिदृश्य की पृष्ठभूमि में समकालीन कविता के परवर्ती विकसित स्वरूप को समझा जा सकता है।

2.1. पृष्ठभूमि

सत्तर के दशक तक आते-आते आजादी से जनता का पूर्णतः मोहभंग हो गया था। गुटनिरपेक्षता, विश्वबन्धुत्व, विश्वशांति के नारे बेमानी हो गये थे। भारत की अपराजेय सैन्य शक्ति चीन के साथ युद्ध में पराजित हो गयी थी। उसके बाद देश भारी अर्थसंकट से गुजर रहा था। जनता में व्यवस्था के प्रति तीव्र रोष था, जिसने व्यवस्था की तीखी आलोचना करने वाली एक विद्रोही कवि पीढ़ी को जन्म दिया। विद्रोह की एक दृढ़ परम्परा हिन्दी कविता में भी रही है। वहीं साठ के दशक में अमेरिका इंग्लैण्ड में पैदा हुए एंग्री यंग मैन्स जनरेशन और बीट जनरेशन जैसे आन्दोलनों का प्रभाव भी इस कवि पीढ़ी पर पड़ा। मादक द्रव्यों, तंत्र-मंत्र साधना, स्त्रीदेह और आत्म प्रदर्शन को परम सत्य की प्राप्ति का मार्ग मानने वाले बीटनिकों के चलते कई क्षयी प्रवृत्तियाँ भी नयी कवि पीढ़ी पर हावी हुई, जिसके चलते अश्लीलता, जुगुप्सा, घृणा और मूल्यहीनता भी साठोत्तरी कविता में दिखाई देती है।

1962 में अमेरिकी बीट कवि गिन्सबर्ग कलकत्ता पहुँचे। बंगाल के कवि उनसे प्रभावित हुए, फलस्वरूप बांग्ला में भूखी पीढ़ी का उदय हुआ। ठीक इसी समय डॉ॰ श्याम परमार ने हिन्दी में अकविता आन्दोलन की शुरुआत की। तेलगू में दिगम्बर पीढ़ी नाम से आन्दोलन शुरू हुआ। इसके अतिरिक्त भी अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं में जैसे नए वादों की घोषणा करने की सनक सवार हो गयी। शमशानी पीढ़ी, अस्वीकृत कविता, युयुत्सावादी कविता, विचार कविता, वाम कविता, निषेध कविता जैसे न जाने कितने काव्यान्दोलन उठ खड़े हुए।

डॉ॰ जगदीश गुप्त ने नयी कविता स्वरूप व समस्यायें में 4 दर्जन नए काव्यान्दोलनों के नाम गिनाये थे। दरअसल नई कविता में दो परम्परायें थी, एक वह जो प्रगतिवादी यथार्थ चेतना का विकास कर रही थी, दूसरी उत्तरछायावादी सर्वनाश वाली। इनमें दूसरी परम्परा साठोत्तरी कविता में मुख्य रूप से फली फूली। इस दौर में नवपूँजीवाद ने सामंतवाद के पुराने संस्थागत ढाँचे को तोड़कर अपने अनुकूल बनाना आरम्भ किया था, जिसके चलते सामंतवर्ग में विद्रोह था। एक ओर महानगरों के विकास के बाद गाँव-कस्बों से टूटकर वहाँ पहुँची मध्यवर्गीय पीढ़ी थी जिसके लिए नैतिकता, आदर्श या मूल्यों का कोई बंधन नहीं था। विद्रोह के साथ जुड़ने या अवसरवादी बनकर सत्ता के साथ शामिल हो जाने में उसे कोई समस्या नहीं थी। दूसरी ओर निम्न मध्यवर्ग में अपने छूटे हुए गाँव-घर का नॉस्टॅल्जिया भी था और मानवीय मूल्यों के द्वास का विरोध भी और इन सबसे बढ़कर मूल्यहीनता को प्रश्रय देती राजनीति के प्रति गुस्सा था। धूमिल, राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन आदि अकविता आन्दोलन से जुड़े कवियों की चेतना देश की परिस्थितियों में निरपेक्ष ना थी, ना ही जवानी की अय्याशियों के चलते उनकी भाषा में नंगापन आ गया है। इसके विपरीत व्यवस्था की नंगी सच्चाईयों की अभिव्यक्ति और उसके प्रति गुस्से को भद्र भाषा के आवरण में छिपाने से परहेज करने के कारण एक तीखापन उनकी कविताओं में है।

नई कविता आधुनिक परिवेश की उपज है। इसलिए आधुनिक भावबोध नई कविता की आत्मा है। आधुनिक युग की जटिल परिस्थितियों में आज का मानव संघर्षरत है। अतः वह बाहरी और भीतरी तनावों से गुजरता है। इसप्रकार आधुनिक युग के मनुष्य की मानसिकता जटिल है, प्रश्नाकुल है। नई कविता इस प्रश्नाकुल मानसिकता की अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार आधुनिक युग ने जो बोध दिया है वह आधुनिक भावबोध और तनावपूर्ण मानसिकता है। गिरजाकुमार माथुर की कविता में जटिल रागवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है, जो कि आधुनिक युग की अपनी विशेषता है :

"आज जीत की रात

पहरूए, सावधान रहना

ऊँची हुई मशाल हमारी

आगे कठिन डगर है

शत्रु हट गया, लेकिन उसकी

छायाओं का डर है।"¹

भारत स्वतन्त्र हो गया। स्वतंत्रता प्राप्ति का उल्लास कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में देखने को मिलता है। किन्तु स्वतंत्रता के वातावरण में भी कवि का मन बेचैन है, क्योंकि कवि का कथन है कि शत्रु के चले जाने पर भी, उसकी छायाओं का डर है। अर्थात् अंग्रेजों के जाने के बाद भी उनकी छायाएँ इस देश में घूमती रहती है। इसलिए भारतीयों को उनसे सतर्क रहने की आवश्यकता है। अनेक प्रकार के आत्ममन्थनों और अन्तर्द्वन्दों से आज का मानव मन घिरा हुआ है। जीवन में वह बाहरी और भीतरी तनाव से त्रस्त है। 'ब्रह्मराक्षस' में मुक्तिबोध ने इस तनाव का चित्रण किया है :

"पिस गया वह भीतरी

और बाहरी दो कठिन पाठों बीच

ऐसी ट्रेजडी के नीच !!"²

¹ माथुर, गिरिजाकुमार . धूप के धान . पृ. सं.- 56

² मुक्तिबोध . नई कविता की उपलब्धियाँ . पृ. सं.- 63

सातवें दशक के प्रमुख कवियों में कैलाश बाजपेयी, श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी, केदार नाथ सिंह, राजीव सक्सेना, रमेश कुन्तल मेघ, शलभ श्रीराम सिंह, रणजीत, रमेश गौड़, धूमिल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, चन्द्रमौलि उपाध्याय, कमलेश, चन्द्रकान्त देवताले, नीलम श्रीवास्तव, अशोक बाजपेयी, विष्णु खरे, जुगमन्दिर तायल, मणि मधुकर, सौमित्र मोहन आदि कवियों के नाम आमतौर पर लिए जाते हैं। न्याय की दृष्टि से ओम प्रभाकर, उमाकान्त मालवीय, नईम, रमेश रजक, नरेश सक्सेना आदि नवगीतकार भी वास्तव में सातवें दशक के ही कवि हैं, पर सातवें दशक की कविता के सम्बन्ध में की गयी अधिकांश चर्चाओं में इन्हें इस दशक के मुख्य पृष्ठ पर नहीं, हाशिये पर ही स्थान दिया जाता है। इसके पीछे कहीं न कहीं यह दृष्टि या दृष्टि संकोच काम करता नजर आता है कि गीत की विधा, फिर चाहे वह नवगीत की ही क्यों न हो, समकालीन कविता की विधा नहीं है।

सातवें दशक की कविता में हम चार मुख्य अन्तर्धाराएं प्रवहमान पाते हैं। पहली अन्तर्धारा में कैलाश बाजपेयी, राजकमल चौधरी तथा अकविता के कवि जगदीश चतुर्वेदी, विमल, श्याम परमार, सौमित्र मोहन आदि आते हैं, जो मुख्यतः मृत्युबोध से पीड़ित या जुगुप्साजनक रुग्ण यौनवाद के कवि हैं। इस धारा के कैलाश बाजपेयी और शेष कवियों में यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है कि एक तो यद्यपि कैलाश बाजपेयी मृत्युवादी अवश्य हैं, पर यौन जीवन के वैसे भौंडे और जुगुप्साजनक चित्र उन्होंने नहीं खींचे हैं, जैसे राजकमल चौधरी या अकवितावादियों ने, और दूसरे इस वर्ग का कोई कवि काव्य-प्रतिभा और शिल्प-चेतना की दृष्टि से कैलाश बाजपेयी के आस-पास भी नहीं पहुँच पाता।

दूसरी अन्तर्धारा उन कवियों की है जो किसी न किसी रूप में प्रतिश्रुत कवि कहे जा सकते हैं। केदारनाथ सिंह, शलभ, रमेश कुन्तल मेघ, रणजीत, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, धूमिल आदि की अन्तर्धारा जो मुख्यतः अपने आपको मुक्तिबोध की नयी प्रगतिशील कविता की धारा से जोड़ती है, और जिसमें समसामयिक यथार्थ का एक व्यापक और सुविचारित चित्र उभरता है। श्री केदारनाथ सिंह और डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव इन्हीं दो धाराओं को सातवें दशक की कविता की मुख्य धाराएँ मानते हैं और इन्हें क्रमशः अकविता और प्रतिबद्ध कविता नाम देते हैं। किन्तु ध्यान से देखा जाय तो इन दोनों धाराओं के बीच प्रवाहमान एक तीसरी अन्तर्धारा भी साफ दिखाई देती है, जो इन दोनों के कगारों को छूती हुई और उनसे प्रभावित होती हुई बहती है। इस अन्तर्धारा में रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, चन्द्रकान्त देवताले, दूधनाथ सिंह, कमलेश, विष्णु खरे, ऋतुराज, मणि मधुकर आदि कवि आते हैं, जो मुख्यतः आज के दिन-दिन भयानक होते जाते परिवेश में अस्तित्व की बेहूदगियों के कवि हैं। इन कवियों ने अधिकतर न तो अकविता का फूहड़ नंगा मुहावरा अपनाया है और न प्रतिश्रुत कविता का स्पष्ट विद्रोही स्वर ही। दोनों का ही मिला जुला रूप इस धारा में दिखाई देता है। फिर भी पहली धारा की दृष्टि की एकांगिता और रुग्णता की जगह इन कवियों में यथार्थ की एक बेलौस पहचान और उसकी असंगतियों का निर्मम उद्घाटन मिलता है, जो इसे मूल्यवान बनाता है। दूसरे शब्दों में यह एक प्रकार की आलोचनात्मक

यथार्थवादी अन्तर्धारा है, जिसकी आलोचना यद्यपि किसी निश्चित प्रतिश्रुति तक तो नहीं पहुँचती, पर जहाँ तक पहुँचती है, वहाँ तक अच्छी-खासी मार करती है।

चौथी धारा नयी कविता की नव स्वच्छन्दतावासी धारा का ही समकालीन विकास कहा जा सकता है और उसमें जहाँ ओम प्रभाकर, नईम, नरेश सक्सेना जैसे नवगीतकारों को रखा जा सकता है, वहाँ अशोक बाजपेयी जैसे कवि को भी। स्वाभाविक है कि काल की दृष्टि से सातवें दशक में आने का प्रभाव इस धारा पर भी कम नहीं है आज के आदमी के सरोकारों से यह अछूती नहीं है।

2.1.1. सत्तर के दशक के कवि

श्रीकांत वर्मा :

श्रीकांत वर्मा का जन्म 12 सितम्बर 1931 को बिलासपुर (अब छत्तीसगढ़ राज्य) में हुआ। सन् 1956 में नागपुर विश्वविद्यालय से एम. ए. (हिन्दी) की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे दिल्ली आ गए। कुछ दिन राष्ट्रीय मजदूर काँग्रेस के प्रमुख पत्र 'भारतीय श्रमिक' में काम किया। 'भारतीय श्रमिक' बंद हो जाने के बाद सन् 1958 से दिल्ली में रहते हुए स्वतंत्र लेखन एवं 'कृति' का संपादन व प्रकाशन किया।

इनके प्रकाशित काव्य-संग्रहों की संख्या 7 है : - 1. भटका मेघ 2. सरहद पर 3. दिनारंभ 4. मायादर्पण 5. जलसाघर 6. मगध 7. गरुड़ किसने देखा है?

श्रीकांत वर्मा को ' **मोहभंग का कवि** ' कहा जाता है। इस मोहभंग की शुरुआत ' भटका मेघ ' और ' सरहद पार ' से ही हो गई थी। सन् 1967 में प्रकाशित काव्य - संग्रह ' माया दर्पण ' में मोहभंग की प्रक्रिया पूर्णता को प्राप्त करती है। वहीं सन् 1962 में चीनी आक्रमण और भारत की छवि धूमिल होने के कारण पूरे देश में निराशा और मोहभंग का वातावरण निर्मित हो गया था। सातवें दशक में नाराज कवियों की एक पूरी पीढ़ी सामने आ गई। श्रीकांत वर्मा को भी उसी पीढ़ी से समबद्ध करके देखा जा रहा था।

केदारनाथ सिंह :

बलिया जिले (उ. प्र.) के चकिया गाँव में उनका जन्म सन् 1934 में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा गाँव में पूरी करने के बाद हाईस्कूल से पीएच.डी की उपाधि(1964) तक का अध्ययन वाराणसी में संपन्न हुआ। अब तक इनके पाँच काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'अभी बिलकुल अभी' (1960), 'जमीन पक रही है' (1980), 'यहाँ से देखो'(1983), 'अकाल में सारस' (1988), 'उत्तर-कबीर' (1995)।

'**यहां से देखो**' संग्रह में यदि केदारनाथ जी सर्वहारा, जन-सामान्य की चिन्ता और उसकी विजय में आस्था व्यक्त करते हैं, तो 'अकाल में सारस' में कुछ समीक्षकों की दृष्टि में वे इस भूमिका से हटे हुए तथा ग्रामीण जीवन की पुरानी यादों में खोए हुए दिखाई देते हैं। परिवर्तन में विश्वास, क्रांति की आहट, उत्पादक श्रम के प्रति नमन भाव, मनुष्य के पसीने के प्रति लगाव- ये सारे तत्त्व उनकी कविता को श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचाते हैं। **डॉ. परमानंद श्रीवास्तव** की एक महत्वपूर्ण टिप्पणी है -

केदारनाथ की कविताओं की दुनिया एक ऐसी दुनिया है जिसमें रंग, रोशनी, रूप, गन्ध, दृश्य एक-दूसरे में खो जाते हैं।¹

सौमित्र मोहन:

सौमित्र मोहन व्यंग्य-विद्रूप और स्वप्न फंतासी की शैली में हमारे समय की जटिलताओं को खोलने वाले कवि हैं। कभी वे यथार्थ को अतिरंजना और नाटकीयता के साथ उधाड़ने का प्रयास करते हैं। कभी मनोवैज्ञानिक गुथियों के दबाव में आस-पास के वातावरण को बेहद रहस्यमय बनाकर प्रस्तुत करते हैं। उनके पास एक सीधा पंजाबी लहजा है, विशेषण मुक्त भाषा है। विद्रोह की कविताओं की गर्मी के विपरीत उनकी कविताओं में वितृष्णा तथा एक ठण्डापन है। डॉ० विशम्भरनाथ उपाध्याय लिखते हैं- "कवि का क्रोध उलटकर विद्रूप में परिणीत हो गया है। अपने क्रोध को मन ही मन रोककर कवि 'लुकमान अली' में व्यंग्य की धार को पैना करता है और अवांछनीय चीजों को तराशता चलता है। सामंती तथा बुर्जुआ समाज की ऊपरी भद्रता, शिष्टता, संस्कार, मर्यादा, श्लीलता और गरिमा के यहाँ चिथड़े चिथड़े कर दिये गये हैं। हर तरह के फ्राड और छल संस्कृति के विरुद्ध घृणा पैदा करना सौमित्र मोहन की कविता के अश्लीलीकरण का उद्देश्य है। स्त्रियों का चौकाऊ योनि प्रदर्शन उनकी कविता का लक्ष्य नहीं है।"²

सौमित्र मोहन की महत्वाकांक्षी लम्बी कविता 'लुकमान अली' है। लुकमान अली समकालीन जीवन का एक मिथक है जो अनंत फैली हुई अव्यवस्था के परिवेश का पोस्टमार्टम करता है। वरिष्ठ कवि-आलोचक चंद्रकान्त दैवताले इस कविता की विशेषता को रेखांकित करते हुए लिखा है, "यद्यपि सौमित्र ने तमाम करिश्मों को अख्तियार किया है और कुण्डली तथा शब्दावृत्ति शतक तक बना दी है, फिर भी ये विक्षेप भी कविता के प्रभाव, ताकत और संगठन को कम नहीं कर पाते हैं। विद्रूप, व्यंग्य, स्वप्न, फंतासी की नाटक शैली में यह कविता हमारे समय की जटिलताओं को धुनकती है और नैतिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक मुखौटे परत दर परत खुलते जाते हैं। सौमित्र की शक्ति और दृष्टि का प्रमाण यह कविता पूरी सामर्थ्य के साथ देती है। कवि के यथार्थ से रिश्ते का पता भी इसी कविता से चलता है, जहाँ वह यथार्थ को अतिरंजना के जरिए नानाविध उजागर करता है। यह कविता, कविता के स्रोतों के प्रति उनकी सजगता और उनकी छानबीन करने की क्षमता का भी परिचय देती है।"³

सौमित्र मोहन की कविताएं यद्यपि तुरन्त ध्यानाकर्षित नहीं करती, लेकिन एक बार उनसे टकराने पर रोजमर्रा के जीवन के छलों और उनसे टकराती मानवीय नियति के अनूठे दृश्य धीरे-धीरे

¹ मिश्र, सरजू प्रसाद . केदारनाथ सिंह: उत्कट जिजीविषा एवं जनपदीय चेतना से जुड़ाव के कवि! . पृष्ठ संख्या- 61

² उपाध्याय, विश्वम्भर . समकालीन कविता की भूमिका . पृ. सं.- 61

³ दस्तावेज़ . 13/14 अक्टूबर 1981 . पृ. सं.- 65

व्यवस्था के प्रति हमारे दृष्टिकोण को भिन्न प्रकार से बदलते हैं। लुकमान अली तथा अन्य कविताएं संग्रह 1978 में प्रकाशित हुआ था, जिसके पहले खण्ड 'सीधे चीजों का सामना' में 48 कविताएं हैं, जहाँ कवि वास्तविकताओं की पड़ताल करता है। लुकमान अली इन्हीं वास्तविकताओं को जोड़ते हुए एक समूचा परिदृश्य निर्मित करती है। हवा में पत्ते का हिलना खण्ड में हाइकू विन्यास की सोलह छोटी कविताएं हैं, जिसमें जीवन के मोहक चाक्षुष विम्ब है।

उनकी कविता में 'है' और 'नहीं' है कि असमंजस पूर्ण स्थिति मिलेगी, जो नव पूंजीवाद के द्वारा रचे भ्रमों के बीच चीजों की वास्तविकता के तेजी से गायब होते जाने से पैदा होती है। ऐसे में किसी भी जिम्मेदार और संवेदनशील व्यक्ति के लिए वस्तुओं एवं घटनाओं के बारे में सीधा-सीधा निश्चित वक्तव्य दे पाना कठिन हो जाता है। सौमित्र मोहन हाँ और नहीं के धुवों के बीच फैली वास्तविकता को कविता में लाते हैं, वे बाहर से भीतर और भीतर से बाहर जाते हुए हाँ और नहीं की युक्तियों का कौशलपूर्ण इस्तेमाल करते हैं:

"ठीक तभी मैं उससे मिला था

सीढ़ियों पर

नहीं वह एक गोल पत्थर पर बैठा था,

वह कुर्सी लाल नहीं, नीली थी,

अक्टूबर सिर्फ अक्टूबर नहीं था,

पर वह है से अलग नहीं था।"¹

सौमित्र मोहन की असंभोग, द्विस्तनी, बलात्कार, विष प्रतिलेख आदि कविताओं में असामान्य विसंगतियों की अभिव्यक्ति है, जो व्यग्र तो करते हैं पर राहत नहीं देते। आदिमसंवेग पूर्व दृष्टि, पश्चात संवेदन, जैसी कविताएं अपेक्षाकृत अनुभव को अधिक समृद्ध करती हैं। सौमित्र मोहन किसी आन्दोलन आदि से जुड़े बिना भी अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति के लिए याद किए जाते हैं। उनकी सामाजिक राजनीतिक सोच का घरातल और अभिव्यक्ति की उनकी ईमानदार कोशिश से इंकार नहीं किया जा सकता।

¹ दस्तावेज़ . 13/14 अक्टूबर 1981 . पृ. सं.- 68

राजकमल चौधरी :

राजकमल चौधरी अकविता और भूखी पीढ़ी के कवि हैं। अमेरिकी बीट कवियों में एलेन गिंसवर्ग की सोहबत का प्रभाव उनकी कविता पर आया। अस्तित्ववाद और मनोविश्लेषणवाद, मार्क्स से फ्रायड, कानू की कीर्कगार्द तक विभिन्न दार्शनिकों का प्रभाव उन पर पड़ा, जिससे उनकी अभिव्यक्ति में उलझाव आते गये। स्त्री देह और यथार्थ की भयावहता से आक्रांत होते हुए उनकी कविता एक चौंकाऊ स्वरूप अख्तियार कर लेती है। बीट कवियों की भांति वे मुखौटों को हटाकर जनता से साक्षात्कार करने की इच्छा रखते हैं। राजनैतिक व्यवस्था वास्तविकता पर पर्दा डालकर उसे भ्रमों से रिप्लेस कर देना चाहती है, वहीं बीट कवियों की तरह वे सत्य को निरावृत्त करके सबके सामने खड़ा कर देने की इच्छा रखते हैं। उनकी प्रतिबद्धता किसी भी जीवनदृष्टि के प्रति नहीं है। परिस्थितियों को खोलकर रख देने मात्र से उनमें सुधार नहीं हो जाता। जिस व्यवस्था द्वारा ये भ्रम खड़े किये गये हैं व्यक्ति अकेले उससे लड़कर जीत भी नहीं सकता, जबकि व्यवस्था की व्यक्ति को समूह में शामिल नहीं होने देने में ही सफलता टिकी है। राजकमल चौधरी के संबंध में परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है- **"राजकमल चौधरी में कोई अवसरवाद नहीं है पर एक उतावली या बेचैनी जरूर है। यहाँ उस संश्लिष्टता की कमी है, जो अर्थ को निश्चित परिणामों तक ले जाती है। 'मुक्ति प्रसंग' आत्मस्वीकृतियों की कविता है। दूसरे शब्दों में आत्मस्वीकृतियों भरा एक लंबा वक्तव्य है। उन तमाम कुटिल चालों को पहचानने की कोशिश है, जो सहज मानवीयता में बाधक हैं।"**¹

राजकमल चौधरी में वह साहस है, जिसके चलते वे अपनी कमजोरियों को खोलकर सामने रख देते हैं। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में किसी के साथ खड़े हो पाने के लिए जो भरोसा चाहिए, वो उन्हें नहीं है वे परिस्थितियों से विद्रोह करते हैं, लेकिन उनकी लड़ाई अकेले व्यक्ति का मानसिक संघर्ष है, जिसे जनता के संघर्ष के साथ जोड़ पाने के मार्ग बन्द हैं। किसी सकारात्मक दिशा में वह जुड़ नहीं पाता, स्थितियों के प्रति एक कड़वाहट उनमें है, जिसकी अभिव्यक्ति बहुधा अश्लील तरीके से होती है:

"जहरीले मवाद और रक्त मिश्रित पेशाब,

की गंध से अर्थात्

लोकतंत्र से

और राशन कार्डों से कैसे मुक्ति दे पाऊँ।"²

¹ लहर . दिसम्बर-जनवरी 1968

² कंकावती . एक अभिशप्त निराकार . पृ. सं.- 35

‘मुक्ति प्रसंग’ और ‘दास कविता’ उनकी बहुचर्चित कविताएं हैं। राजकमल चौधरी बदसूरत सच्चाईयों की अभिव्यक्ति का जोखिम भरा काम करते हैं, उनमें अनुभव संपन्नता है। जिसके चलते वे राजनैतिक व्यवस्था की मानवद्रोही भूमिका की पहचान कराते हैं। मुक्ति प्रसंग कविता के अंत में वे जो कहते हैं वो विचारणीय है। स्थितियों की पहचान तो वे बखूबी कर लेते हैं, लेकिन दुनिया से भागकर तो उसे बदला नहीं जा सकता। अपने लिए भले ही व्यक्ति अफीम गांजे की चिलम में आराम ढूंढ ले। लेकिन सबके दर्द की दवा तो ये नहीं है। खुद राजकमल चौधरी के मन में जनता की भीड़ में शामिल होने की इच्छा है ये लिखते हैं-

“लेखक जो कोई भी सच्चे अर्थों में आधुनिक है, बुद्धिजीवी है, उसे अपने जीवन और समाज के हर मोर्चे पर पूरी सच्चाई पूरी ईमानदारी के साथ पक्षधर होकर, क्रांतिकारी होकर, अपने वर्ग, अपने समूह, अपने जुलूस का मुख्य पात्र प्रवक्ता होकर सामने आना होगा। उसे आखिरी कतार में सिर झुकाए खड़े रहना नहीं होगा। आदमी के प्रति, खूबसूरती के प्रति, वास्तविक शांति-सुख और वास्तविक स्वाधीनता के प्रति अपनी प्यार को साबित करने के लिए लेखक को अपने इर्द-गिर्द फैली हुई भीड़ अपने साथ ले चलते हुए बुद्धि और बल और संगठन की राजनीति के हर मोर्चे पर रूके हुए जुलूसों में शामिल होना होगा। अगर मैं शामिल होना चाहता हूँ तो मैं अपने देशकाल पात्र के प्रति वाकई प्रतिबद्ध हूँ और अगर मैं शामिल नहीं होता हूँ कम से कम इस तरह भी नहीं जिस तरह पास्तरनाक और मायकोवस्की शामिल हुआ था तो मैं पूंजीपति और उसकी समाज व्यवस्था को सेवक, एजेंट और प्रवक्ता हूँ।”¹

मुक्ति प्रसंग में इसी विचार का काव्य में रूपान्तरण है। राजकमल चौधरी अपने लिए यातना का चुनाव करते हैं अपनी मुक्ति और आत्मा चेतना के लिए वे यथार्थ से दूर रहने की कोशिश करते हैं। अस्तित्ववादी चेतना ने उनको निराशा और अविश्वास से भर दिया था। मार्क्सवादी चेतना उन्हें संघर्ष को छोड़कर अवसरवादी नहीं बनने देती वे क्रांति चाहते हैं:

“हजार छोटे दंगे फसाद होते हैं,

इतिहास और आर्थिक सभ्यता को उजागर करने के लिए

एक बड़ी लड़ाई नहीं होती।”²

¹ चौधरी, राजकमल . अगस्त 1967 . समकालीन हिंदी लेखक जीवन बोध : प्रतिबद्धता . युयुत्सा . राजकमल चौधरी स्मृति अंक

² कंकावती . एक अभिशप्त निराकार . पृ. सं.- 26

राजकमल चौधरी की कविताओं में क्षयी बुर्जुवा प्रवृत्ति और प्रगतिशीलता के बीच द्वंद्व लगातार चलता है। अस्तित्ववाद के भाव में स्वयं को आत्मनिर्वासित पाकर और इसी कारण उसके भीतर के व्यक्ति और वर्ग के क्रियाकलाप में सामंजस्य नहीं हो पाता है। राजकमल चौधरी की ऐसी एब्सर्ड और चौकाऊँ पंक्तियों की भाषा उनके उलझे हुए व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने में कारगर हो सकती है। जहाँ व्यक्तिगत रोष, कुंठा और जनसंघर्ष, विचार और संप्रेषण की विधियों एक-दूसरे को निरस्त करने के कगार पर पहुँच जाती हैं और उन्हें अराजक कवि में तब्दील कर देती हैं।

चंद्रकांत देवताले :

चंद्रकांत देवताले का जन्म जौलखेड़ा (जिला- बैतूल, मध्यप्रदेश) में 6 नवम्बर, 1936 को हुआ। अब तक आपके निम्नलिखित काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- हड्डियों में छिपा स्वर (1973), दीवारों पर खून से (1975), लकड़बग्घा हंस रहा है (1980), रोशनी के मैदान की तरफ (1982), भूखंड तप रहा है (1982), आग हर चीज़ में बताई गई थी (1987), तथा पत्थर की बेंच (1996)। कविता में कोई अनुभव, कोई संवेदना, कोई अनुभूति, किसी न किसी तरह के बोध और चेतना को प्रकट ही करती है, जिसे कविता में अलग से नाम नहीं दिया जा सकता। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध पक्षधरता कविता में सर्वाधिक बेचैनी के साथ प्रकट होती है। इन उद्गारों के सन्दर्भ में यदि देवताले के काव्य का मूल्यांकन करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें इतिहास बोध से रिक्त कविताएं लिखने में कोई रूचि नहीं है। पूंजी के विद्रूप नए-नए रूपों का उदय तथा बजार और धार्मिक उन्माद का हड़कप पूरी तरह से कवि की चेतना पर हावी है।

इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर गए आदमी के लिए पूंजी, बाजार और व्यवस्था ने जो तिलस्म खड़ा कर रखा है, उसकी असलियत का पर्दाफाश देवताले बड़ी निर्भीकता से करते हैं। जो दिखाई दे रहा है, वह सच नहीं है। इसी अदृश्य सत्य का आभास करा कर मानवद्रोही लकड़बग्घों की शैतानी चालों को नाकामयाब करना उनकी कविता अपना पवित्र कर्म समझती है। तभी तो उन्होंने कहा है कि कविता हमें बचाती है और सावधान भी करती है :

अभी मैं सिर्फ इतना ही बताता हूँ
कि वह जो हंस रहा है
वह जो अदृश्य हो गया है
दूर जंगलों में बन्दूक साफ कर खुद सोच लो
कि वह कौन है ? रहा है।
और वह जो प्रकट हो रहा है

आत्मीय मुस्कान के साथ

तुम खुद सोच लो
कि वह कौन है¹

रघुवीर सहाय :

रघुवीर सहाय प्रगतिशील काव्यधारा 'नई कविता' के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविताओं का मूल स्वर यथार्थ का है, जो मूल रूप से आज़ादी के बाद के भारत का यथार्थ है। अज्ञेय के संपादन में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' के कवि के रूप में रघुवीर सहाय की साहित्यिक परिवेश में बहुत चर्चा हुई। आधुनिक सभ्य समाज के लिए न्याय, समता, स्वतंत्रता, और बंधुत्व जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों में उनकी गहरी आस्था थी। उन्होंने जहां भी इसका अभाव देखा, उसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई।

रघुवीर सहाय राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार की तह तक जाते हैं और इससे पीड़ित जनता के प्रति हमदर्दी व्यक्त करते हैं। 'आपकी हंसी' शीर्षक कविता इसी स्थिति का यथार्थ है :

“निर्धन जनता का शोषण है

कहकर आप हंसे

लोकतंत्र का अंतिम क्षण है

कहकर आप हंसे

सबके सब हैं भ्रष्टाचारी

कहकर आप हंसे”²

गजानन माधव 'मुक्तिबोध':

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' का जन्म 13 नवंबर, 1917 को तात्कालिक मध्य प्रदेश के ग्वालियर ज़िले में स्थित श्यौपुर कस्बे में हुआ था। स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिशील काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि मुक्तिबोध कहानीकार और समीक्षक भी थे। इन्होंने प्रगतिशील कविता और नई कविता के मध्य सेतु की भाँति कार्य किया। मुक्तिबोध के रचना संसार पर प्रकाश डालें तो इनकी कविता पहली बार वर्ष 1943 में सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन 'अज्ञेय' के संपादन में निकलने वाली पत्रिका तारसप्तक में छपी। मनुष्य की अस्मिता, आत्मसंघर्ष और प्रखर राजनैतिक चेतना से समृद्ध उनकी यह कविता उनकी राजनीतिक

¹ देवताले, चंद्रकांत . 1980 . लकड़बग्घा हँस रहा है . पृ. सं. 76

² सहाय, रघुवीर . 1985 . हँसो- हँसो जल्दी हँसो . पृ. सं. 16

विचारधारा को भी परिलक्षित करती है। उन पर मार्क्सवाद की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसलिये नई कविता आंदोलन के वे प्रमुख कवि भी हैं।

मुक्तिबोध की कविताएँ अपने युग की बड़ी बुराइयों पर भी तीखा वार करती है। 'अँधेरे में' नामक कविता में समाज के एक खास वर्ग का सत्ता के साथ गठजोड़ होने के परिणामस्वरूप आम लोगों पर किये जाने वाले अत्याचारों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति का रूप दिया गया है। इस कविता का एक अंश प्रस्तुत है :

"इस तरह, साँकल ही रह-रह बजती है द्वार पर
आधी रात, इतने अँधेरे में, कौन आया मिलने?
विमन प्रतीक्षातुर कुहरे में घिरा हुआ
द्युतिमय मुख - वह प्रेम भरा चेहरा --
भोला-भाला भाव--
पहचानता हूँ बाहर जो खड़ा है !!¹

अशोक वाजपेयी :

16 जनवरी 1941 को मध्य प्रदेश के दुर्ग में जन्मे अपनी पीढ़ी के संभवतः सबसे सक्रिय और बहुआयामी लेखक अशोक वाजपेयी एक ऐसे कवि हैं, जो जीवन के अनछुए अनुराग, अदेखे अंधकार और अधखिले फूलों के साथ-साथ उन मुरझाए फूलों से भी प्रेम करते हैं, जिन्हें एक आम व्यक्ति अक्सर नज़रअंदाज़ कर जाते हैं। उनकी काव्यानुभूति की बनावट में सच्ची, खरी और एक सजग आधुनिक भारतीय मनुष्य की संवेदना का योग है, जिसमें परंपरा का पुनरीक्षण और आधुनिकता की खोज साथ-साथ चलते हैं। आजादी के बाद की कविता का जब इतिहास लिखा जाएगा तो अशोक वाजपेयी उन हिंदी कवियों में से एक होंगे, जिनकी कविता की रूह में भारतीयता की एक गहरी छाप मौजूद होगी। उनकी कविताओं का बोध एकायामी नहीं बल्कि बहुआयामी है। समकालीन काव्य परिदृश्य पर यदि गौर किया जाए तो अशोक वाजपेयी वह महत्वपूर्ण और विरले कवि हैं, जिन्होंने अपनी कविता में नई जमीन की खोज जारी रखी है।

गौरतलब है कि उनकी कविता के मुख्य सरोकार प्रेम, जीवन और मृत्यु हैं। यही वह तीन विषय हैं, जो उनकी कविताओं में शामिल हैं। जब देश में कांग्रेस की सर्वहारा उपेक्षित दृष्टि की मुखर आलोचना के साथ समाजवादी कवियों का एक दल कविता में उभरा जहां लोकतंत्र की तीखी आलोचना की जा रही थी, रघुवीर सहाय, धूमिल, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी जैसे कवि आगे आ रहे थे, अशोक

¹ माधव 'मुक्तिबोध', गजानन . 1964 . अँधेरे में . पृ. सं. 11

वाजपेयी की कविता इस आलोचना से बचती हुई अपना अलग देश काल और मिजाज बुन रही थी। इसलिए उनके पहले संग्रह में जो ताजगी और शुचिता नजर आती है वह भीतर से निकली चेतना की अनिंद्य आवाज थी, जिसे सर्वत्र सराहा और स्वीकारा गया। लेकिन जैसे जैसे समय के साथ साथ अशोक वाजपेयी कविता की राह पर बढ़ते गए, उनका आत्म उन की कविता पर हावी होता गया। यद्यपि यही आत्मबोध उनकी कविता की ताकत भी बना कि जब नामवर सिंह ने चुहलवश उनकी कविता को देह और गेह की कविता कह कर पुकारा तो लगा कि यह केवल चुहल नहीं बल्कि अशोक वाजपेयी की कविता का वाक्वैशिष्ट्य है।

हिन्दी के वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी एक वरिष्ठ आलोचक और संस्कृतिचेता के रूप में भी पहचाने जाते हैं उन्होंने दर्जनों कविता संग्रह आलोचना की पुस्तकें और साहित्येतर कला विधाओं चित्रकला, संगीत आदि पर भी महत्वपूर्ण रचनाएँ लिखी हैं। अनेक महत्वपूर्ण रचनाकारों को बार-बार अवसर व मंच प्रदान कराने के अनेक प्रयास हों अथवा साहित्य व कलाओं के बीच अवरूद्ध संवादों को शुरू करने की उनकी कोशिशें वे सदैव चचाओं में रहते हैं उनके कलात्मक रूझानों के कारण उनकी रचनाओं पर विवाद भी काफी होते रहते हैं। एक प्रशासनिक अधिकारी होने के कारण वे कई महत्वपूर्ण संस्थानों से संबद्ध भी रहे जिसका लाभ हिन्दी साहित्य समाज को मिला वहीं उन पर कुलीनतावादी होने के आरोप भी लगते रहे। उनकी महत्वपूर्ण आलोचना कृतियों में फिलहाल पूर्वग्रह कविता का गल्प कविता का जनपद आदि रही है। उनके प्रमुख कविता संग्रह 'दुःख चिट्ठीरसा' है, 'विवक्षा', 'कुछ रफू कुछ थिंगडे', 'समय के पास समय', 'एक पतंग अनन्त में', 'तत्पुरुष, कहीं नहीं वहीं', 'आविन्यों', 'थोड़ी सी जगह' आदि नाम से प्रकाशित हुए हैं। साहित्य में विचारधारात्मक संघर्ष के लगातार तीखे होते जाने और जनवाद और कलावाद के रूप में इसके दो विरोधी पक्षों में बदल जाने की प्रक्रिया से भी वे परिचित रहे हैं।

कविता में राजनीतिक विचारों के आने के वे विरोधी नहीं हैं वे लिखते हैं, **"अगर कवि ने अपने को विचारों से खासकर राजनीतिक विचारों से जो आज की दुनिया में इतने प्रभावशाली हैं, अपने को काट लिया है या अलग रखा है तो नए कवि का ये दावा कि वह समकालीन सच्चाई का साक्षात्कार करने की कोशिश करता है व्यर्थ हो जाएगा। राजनीति को दरकिनार रखकर समकालीन सच्चाई का कोई साक्षात्कार सार्थक और प्रासंगिक नहीं हो सकता।"**¹

लेकिन कविता में विचार कहाँ से आता है इस संदर्भ में वे समकालीन कविता पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं, हिन्दी कविता पर जीवन ही हावी है कविता नहीं जबकि कविता निरे जीवनानुभव से नहीं कवितानुभव से भी लिखी जाती है :

¹ वाजपेयी, अशोक . फिलहाल . पृ. सं.- 108

“मैं शब्द को/शब्द में फंसाकर/बनाता हूँ नसैनी

अनन्त में / मैं शून्य शिखर पर चढ़कर / निर्भय निर्गुण गाता हूँ

अनन्त में नसैनी टूटती / शब्द बिखरते हैं / गान तिरोहित होता है

मैं लुप्त होता हूँ/अनन्त में”¹

उनकी कविताओं पर कलात्मक प्रभावों को आलोचक कलावाद की उस धारा से जोड़ते हैं जो कविता में विचार और जनवादी काव्य धारा की विरोधी प्रवृत्ति रही है और विकासशील और समाजवादी देशों के विरुद्ध जैसे शीतयुद्ध ने उन्हें नुकसान पहुंचाया, साहित्य में इस कलावाद की भी वही भूमिका रही है। इसी का नया संस्करण कुलीनतावाद है। ये कुलीनतावादी कलादृष्टि प्रभुत्वशाली शासक वर्ग के हितों से जुड़ती है और जनवादी प्रवृत्तियों की विरोधी है। आलोचक अजय तिवारी ने ‘समकालीन कविता और कुलीनतावाद’ नाम से अपनी पुस्तक में इस कुलीनतावाद पर काफी चर्चा की है और अशोक वाजपेयी के साहित्य को कुलीनतावाद का प्रचारक बताया है। यह कुलीनतावाद उपभोक्तावाद और उत्तरआधुनिकता से जुड़ा है। नई विश्व व्यवस्था में उपनिवेशवाद देशों को नहीं दिमागों को उपनिवेश बनाकर अपने हित सिद्ध करता है। इस बात को अशोक वाजपेयी भी समझते हैं वे कहते हैं, **“एक ऐसे समय में जब शब्द पर हर ओर से हमला है शब्द की रक्षा और उसकी पवित्रता और गरिमा की रक्षा करना कविता का बुनियादी धर्म है।”²**

अशोक वाजपेयी कविता में जिस बहुलता या विकेंद्रीयता के समर्थक हैं, अजय तिवारी उसे जनतांत्रिक आन्दोलनों की नहीं संचार क्रांति की देन मानते हैं। दूरदर्शन और विविध चैनलों ने अपनी माध्यमगत विशेषता बिम्ब बहुलता की सृष्टि से शब्द और अर्थ के संबंधों को शामिल किया है जिससे साम्राज्यवाद का एकाधिकार टूटने के बजाय प्रसार माध्यमों पर बड़ी पूंजी की निजी कम्पनियों का वर्चस्व स्थापित हुआ और दुनिया भर के दिमाग इस वर्चस्व के अधीन हुए। यह बहुलता उत्तर आधुनिक दर्शनों से जन्मी थी, जो दृश्य और सार के बीच खाई चौड़ी करती है और संसार अस्तित्व और शब्द की निरर्थकता को दिखाते हुए इतनी दार्शनिक हो जाती है कि स्वयं ही निरर्थक हो जाती है। भाषा को मनुष्य के व्यवहार और शब्द को अर्थ से विच्छिन्न करके इसी विच्छिन्नता को काव्य मूल्य चनाने के उत्तर आधुनिक प्रभावों से अशोक वाजपेयी की कविता को जोड़कर देखा जा सकता है।

¹ सोनी, मदन (सं.) . अनंत में, अशोक वाजपेयी: चुनी हुई रचनाएँ . पृ. सं.- 24

² वाजपेयी, अशोक . कविता का जनपद . पृ. सं.- 24

आलोक धन्वा :

2 जुलाई सन् 1948 में बिहार मुंगेर जिले में जन्मे आलोक धन्वा की पहली कविता 'जनता का आदमी' 1972 में 'वाम' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उसी वर्ष 'फ़िलहाल' में 'गोली दागो पोस्टर' कविता छपी। कविता में उनके विचार जितने सशक्त हैं, भाषा उतनी ही सरल है। कविता आसानी से लोगों के समझ में आ सकती है। उनके रचना संसार में इन्सानी सरोकार के साथ-साथ हवा, पानी, रेलवे, पशु-पक्षी, चांद-तारे तक शामिल हैं। उनका पहला संग्रह है- दुनिया रोज बनती है। 'जनता का आदमी', 'गोली दागो पोस्टर', 'कपड़े के जूते' और 'बूनों की बेटियाँ' हिन्दी की प्रसिद्ध कविताएँ हैं। अंग्रेज़ी और रूसी में कविताओं के अनुवाद हुए हैं। उन्हें पहल सम्मान, नागार्जुन सम्मान, फ़िराक गोरखपुरी सम्मान, गिरिजा कुमार माथुर सम्मान, भवानी प्रसाद मिश्र स्मृति सम्मान मिले हैं।

आलोक धन्वा की काव्य रचनाओं में सामाजिक चेतना के प्रति सरोकार है। आरंभ में तो वे समाज के शोषितों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। इनकी वर्तमान समाज के ढाँचे की विडम्बनाओं को उदघाटित करती हैं और मानवीय संबंधों पर भी प्रकाश डालती हैं। अपनी पहली ही कविता में वे अपनी जनपक्षधरता और काव्य संभावनाओं को साहस और ईमानदारी के साथ पाठकों के समक्ष रखते हैं। कविता की आरम्भिक पंक्तियों में ही उनका तेवर स्पष्ट दिखाई देता है :

"बर्फ काटने वाली मशीन से आदमी काटने वाली

मशीन तक/कौंधती हुई अमानवीय चमक के विरुद्ध

जलते हुए गाँवों के बीच से गुजरती है मेरी कविता

तेज आग और नुकीली चीखों के साथ

जली हुई औरत के पास/ सबसे पहले पहुँचती है

मेरी कविता;"

उनका एकमात्र कविता संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसका नाम है दुनिया रोज बनती है इस इकलौते संग्रह के बावजूद आलोक धन्वा समकालीन कविता में भी उतने ही सम्मान से याद किये जाते हैं, जितने चर्चित वे नक्सलबाड़ी के दौर में रहे थे। अगर ये संभव हुआ है इसलिए क्योंकि उनकी कविता की जमीन यथार्थ की है। वे लगातार, अपनी जमीन को तोड़कर उसे उर्वर बनाते हैं, उसके नये-नये आयाम हमारे सामने आते रहते हैं। इसी के साथ वे सर्वहारा वर्ग की असीम संभावनाओं को भी महसूस कर पाते हैं और कविता की संभावनाओं को भी। आलोक धन्वा का विद्रोह शोषित और पीड़ित

उस जनता का विद्रोह है, जिसे वावस्था में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती। शासन की बंदूक से उसे डर नहीं है अपने अस्तित्व के लिए सशस्त्र क्रान्ति उसे उपयुक्त मार्ग प्रतीत होती है। आलोक धन्या की बहुचर्चित कविता 'गोली दागो पोस्टर' में वे लिखते हैं -

"बहन के पैरों के आस-पास पीले रेंड के पौधों की तरह उगा था, जो मेरा बचपन

उसे दरोगा का भैंसा चर गया

आदमीयता को जीवित रखने के लिए अगर

एक दरोगा को गोली दागने का अधिकार है

तो मुझे क्यों नहीं?"¹

आलोक धन्या में वह साहसिकता है, जिसके कारण वे अभिव्यक्ति के तमाम खतरों को उठाते हुए बार-बार नये-नये रूप में हमारी चित-परिचित दुनिया की अमानवीयताओं को सामने लाते हैं। प्रख्यात कवि-आलोचक **विष्णु खरे** उनके कविता संग्रह की भूमिका में लिखते हैं :

"उनकी शुरूआती विस्फोटक कविता के केन्द्र में जो इंसानी कदरें थी, वे ही परिष्कृत और सम्पृक्त होती हुई उनकी 'किसने बचाया मेरी आत्मा को, एक जमाने की कविता, 'कपड़े के जूते तथा 'भूखा बच्चा' जैसी मार्मिक रचनाओं में प्रवेश कर गीं। यों तो आलोक धन्या हिन्दी के उन कुछ कवियों में से हैं, जिनकी काव्य दृष्टि तथा अभिव्यक्ति हमेशा युवा रहती हैं (और इसलिए वे युवतर कवियों के आदर तथा आदर्श बने रहते हैं) किन्तु लगभग अलक्षित ढंग से उन्होंने क्रमशः ऐसी प्रौढ़ता प्राप्त की है जो सायास और ओढ़ी हुई नहीं है और बुजुर्गियत की मुद्रा से अलग है। विषयवस्तु, शिल्प, शैली तथा रुझानों में एक साथ सातत्य तथा विकास, सरलता और जटिलता, ताजगी और परिपक्वता देखनी हो, तो छतों पर लड़कियां, भागी हुई लड़कियां और बूनों की बेटियां को इसी क्रम में पढ़ना दिलचस्प होगा, जिसमें भारतीय किशोरियों/स्त्रियों के स्निग्ध और त्रासद जीवन सोपान तो है ही, आलोक धन्या के कवि जीवन तथा काव्य चेतना के अग्रसर चरण भी साफ नजर आते हैं।"²

आलोक धन्या की कविताएं हिन्दी से बाहर दूसरी भाषाओं में भी व्यापक चर्चा का विषय बनीं। अंग्रेजी और सभी भारतीय भाषाओं में उनकी कविताएं अनुदित हुई हैं। अमेरिकी पत्रिका क्रिटिकल

¹ धन्या, आलोक . गोली दागो पोस्टर . पृ. सं.- 29

² ब्लर्ब पर विष्णु खरे . दुनिया रोज बनती है (भूमिका) . पृ. सं.- iv

इनकायरी में उनकी कविताओं के अनुवाद छपे हैं। अनेक पुरस्कार और सम्मान उन्हें प्राप्त हुए हैं। उन्होंने एक ऐसी तराशी हुई अभिव्यक्ति और बारीक नजर विकसित की है, जो छोटी-छोटी चीजों और बीरों में गहरे उतरकर इंसानी सरोकारों की खोज करती हैं। उनके काव्य संसार में साहस से भरी हुई आन्दोलन की कविताएं हैं। स्त्रियों के जीवन के मार्मिक प्रसंग हैं मीर की जैसी क्लासिक रंगत वाली शरद की रातें, समुद्र और चांद जैसी कविताएं हैं। छोटी-छोटी निरर्थक दिखने वाली वस्तुओं को कविता का विषय बनाकर रची गयी कविताएं हैं। जिनमें कपड़े के जूते, पतंग, किसने बचाया मेरी आत्मा को जैसी कविताएं हैं, जो धीरे-धीरे असाधारण सी कई बेचैनियों पाठक में भर देती हैं, जो आलोक धन्वा जैसे अनन्य दुस्साहसी सर्जक की प्रतिबद्धता के ही बस की बात है।

वेणुगोपाल :

साठोत्तरी कविता में नक्सलवाड़ी विद्रोह से प्रभावित विद्रोही कवियों में वेणुगोपाल का प्रमुख नाम है। कविता में उनका आगमन रूमानियत के विरोध में इस घोषणा के साथ हुआ। "मैं हाथ में फूल नहीं पत्थर लिए हैं वे कविता में क्रान्ति की उग्र राजनैतिक मुहावरे वाली भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी मुख्य चिंता है कि इस महान देश में सब कुछ हो रहा है मगर एक मामूली सी हरकत 'क्रान्ति' नहीं हो पा रही है। भेड़िए, हिरावल दस्ता, गुप्त बैठक, गुरिल्ला युद्ध उनके प्रिय शब्द हैं, जिनसे कविता में एक उत्तेजना पैदा करने का प्रयास वे करते हैं। ऐसा करते हुए ये बहुधा राजनैतिक विचारों का सरलीकरण करने लगते हैं। कहीं-कहीं वे दुस्साहसिक घोषणाएं करने लगते हैं, शोषक व्यवस्था के लिए मौत का ऐलान कर देते हैं।

एक अतिरिक्त विश्वास और क्रान्ति को लेकर विकलता के चलते, सामाजिक विडम्बनाओं से वे टकराते नहीं और सामाजिक यथार्थ की गहरी पहचान नहीं कर पाते। कविता में उनका विद्रोह, दुस्साहस, क्रान्ति के प्रति उनका भावुक समर्पण, यथार्थ से उनका संबंध बनाने और स्थितियों की सही पहचान कर पाने में उनकी मदद नहीं कर पाता। उनकी क्रान्तिकारिता यद्यपि ओढ़ी हुई नहीं है, जनता के साथ उनका जुड़ाव गहरा है, किन्तु स्थितियों की सही पहचान न कर पाने के कारण एक ओर विचारधारा के स्तर पर वे राजनैतिक सरलीकरण का शिकार होते हैं, दूसरी ओर संप्रेषण के स्तर पर भी उनकी कला का समुचित विकास नहीं हो पाया। उनकी 'आवेग-15' में 'ब्लैकमेलर' शीर्षक से एक कविता छपी जो बहुत चर्चित हुई। कविता में वे कहते हैं:

"जरूरी था कि मैं हथियारों की जाँच कर लेता।

और कारवाई के लिए मानसिक हथियार चुन लेता।

मैंने अपने पास के हथियारों पर नजर डाली।

कलम और कविताएं, बस ये ही तो थे।

कलम तो उससे टकरायेगी नहीं कि चूर-चूर हो जाएंगी।

कविताओं को तो वह फाड़-फूड़कर हवा में उड़ा देगा।"¹

वेणुगोपाल समाज के जिस मध्यवर्ग से आते हैं, वह क्रांतिकारिता तक आसानी से पहुँच जाता है, लेकिन परिवर्तन के लिए जिस अनुशासन धैर्य और दृढ़ता की आवश्यकता होती है, उसका इस वर्ग में अभाव में होता है। अपने भीतर के इस वर्गीय ढाँचे को तोड़ पाने की दिशा में उनका ध्यान नहीं जा पाता तो एक दुलमुल अनिश्चय की स्थिति उन पर हावी हो जाती है। अपनी एक अन्य चर्चित कविता 'जंगल गाथा' में, जो वाम-वाम में प्रकाशित हुई थी, वे कहते हैं –

"भेड़ों के झुण्ड के झुण्ड/रेंग रहे है।

जुलूस की शक्ल में,

और जा रहे हैं/सीधे /उसके मुँह में.

और वहीं दूसरे स्थान पर शोषक वर्ग के प्रति यह कहते हैं:-

"मैंने देखा कि उसकी मुस्कुराहट गायब हो चुकी है/

उसकी जबान की लपलपाहट बढ़ गयी है कि वह हड़बड़ा गया है,

कि वह पागलों की तरह जमीन खींचते हुए घूम रहा है।"

जनता की शक्ति पर कहीं अविश्वास, कहीं अतिविश्वास, स्थिति का वस्तुपरक मूल्यांकन किये बिना आत्मपरक ढंग से मूल्यांकन करते हुए आशा और निराशा के अतिवादी सिरोँ तक वे जैसे पहुँच जाते हैं, वह क्रान्ति और कविता दोनों को ही नुकसान पहुँचाता है। वेणुगोपाल की काव्यकला क्रान्ति का विगुल बजाते ऐसे स्थलों से अधिक वहाँ अधिक कारगर सिद्ध होती है, जहाँ वे वस्तुस्थिति का सीधे अन्तः निरीक्षण करते हुए लिखते हैं :

"हम सूरज के भरोसे मारे गये और सूरज घड़ी के जो बंद इसलिए पड़ी है

¹ वेणुगोपाल . आवेग- 15 . पृ. सं.- 23

कि हम चाबी लगाना भूल गये थे और सुबह है कि हो ही नहीं हो पा रही है।”

वेणुगोपाल साहसी और समर्थ कवि रहे हैं, लेकिन क्रान्ति को कविता में बदलना मुश्किल कार्य है। भोले विश्वासों से युद्ध नहीं जीते जाते न इस निराशा से कोई हल मिलता है कि सब कुछ खत्म हो गया है। वेणुगोपाल क्रान्ति के दौर के गुजर जाने के बाद अधिक गम्भीरता से कविता की ओर मुड़े। बाद की उनकी कविताओं में उन्होंने उस रूमानियत से निकलने का प्रयास किया, जिसका शिकार उनकी आरम्भिक रचनाएं थीं।

सुदामा पाण्डे ‘धूमिल’ :

समकालीन हिन्दी कविता में कथ्य तथा शिल्प दोनों में मौलिक योगदान करने वाले कवि धूमिल का वास्तविक नाम सुदामा पांडे था। उनका जन्म 9 नवम्बर 1936 को वाराणसी जनपद (उ.प्र.) के खेवली ग्राम में हुआ था। 10 फरवरी 1975 को उनका स्वर्गवास हो गया। उनका पहला काव्य संग्रह 'संसद से सड़क तक' सन् 1972 में उनके जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था। 'कल सुनना मुझे' 1977 में एवं 'सुदामा पांडे का प्रजातंत्र' 1998 में उनकी मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुए।

धूमिल कृषक जीवन से उभरे कवि रहे हैं। इसलिए उनकी कविता में चीजों के प्रति कृषक दृष्टिकोण दिखाई देता है। कृषक जीवन में व्याप्त सामंती प्रवृत्तियाँ भी धूमिल की कविता में प्रवेश कर गई हैं। उनकी कविता में औरत को दोयम दर्जे पर देखने की जो प्रवृत्ति मिलती है वह सामंती मानसिकता की देन है। राष्ट्रीय बुर्जुआ के शक्तिशाली न होने के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमारे यहाँ सामन्तवाद नष्ट नहीं हुआ। 'पटकथा' धूमिल की बहुचर्चित कविता मानी जाती है, जिसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत की नाकामियों और भ्रष्टाचारों का व्यापक चित्रण नेहरू के प्रति प्यार और नेहरू से मोहभंग - दोनों ही स्थितियों को रेखांकित किया गया है। पड़ोसी देशों द्वारा किए गए युद्धक हमलों एवं चीनी विश्वासघात का भी व्यापक चित्रण है। 'जनता' और 'जनतंत्र' के नाम पर चलनेवाले मदारी के खेल को धूमिल बेनकाब करते हैं :

**‘एक भेड़ है
जो दूसरों की ठंड के लिए अपनी पीठ पर
ऊन की फसल रही है
(जनता) दरअसल , अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है**

जिसकी जान मदारी की भाषा है'¹

सुदामा पाण्डे 'धूमिल' धूमिल कविता को 'भाषा में आदमी होने की तमीज' कहते हैं। उनके लिए कविता 'शब्दों की अदालत में मुजरिम के कठघरे में खड़े बेकसूर आदमी की हलफनामा है, एक सार्थक वक्तव्य है। अपनी कविताओं में वे भाव जगत का अंकन बड़ी ईमानदारी से करते हैं। उनके जीवनकाल में छपा उनका एकमात्र कविता संग्रह 'संसद से सड़क तक' इतना चर्चित हुआ, जितना किसी भी अन्य युवा कवि की रचना नहीं हुई। विभिन्न आन्दोलनों से जुड़े कलाकारों ने उनकी कविताओं के संभवतः सर्वाधिक पोस्टर बनाए होंगे। उनकी कई कविताएं साहित्य के सामान्य विद्यार्थियों की जबान पर भी चढ़ी मिल जाएंगी। बीटनिकों ने सत्य को इतने पर्दों में छिपाये रखने के विरोध में उसे निरावृत्त कर सामने रख देने का नारा दिया था। हर नकाब को उतार फेंकने और अपनी असलियत को खोलकर सबके सामने रख देने के उनके नारे से धूमिल भी प्रेरित हुए थे। राजनीति की सच्चाईयों को बड़े साहस के साथ उन्होंने अपने पाठक के सामने रखा। जिनसे तत्कालीन व्यवस्था के प्रति गुस्से से भरे पाठक के मन को परितोष मिला। धूमिल की सफलता के बारे में डॉ० विद्या निवास मिश्र लिखते हैं कि, "इसका कारण यह नहीं था कि धूमिल ने कविता के मुहावरे को तोड़ा और वर्णित शब्दावली का प्रयोग ऐसे किया जैसे उनमें कोई चौंकाने की बात न हो, सामान्य अभ्यास हो, न यह था कि धूमिल ने अपने समय की विसंगति को तेज छुरी जैसी भाषा दी. कारण मेरी समझ में यह था कि एक ठेठ गाँव का आदमी शहर में आया। वामपंथी तेवर ने उसे खींचा पर आदमी गाँव का था। तेवर वालों के ढोंग से वह तिलमिलाया, उसने यह तल्खी एक घूँट में गले के नीचे उतारी और आदमी के रिश्ते की जाँच करने लगा और तिलमिलाया, जब उसने देखा कि बेटे और माँ के बीच का रिश्ता, आदमी और आदम इरादों से बिता भर उठी हुई पृथ्वी के बीच का रिश्ता कहीं नहीं है।

"पता नहीं कब गिर गया वह,

तेरे आँचल या,

मेरी फटी हुई जेब से,

इन दिनों खाली हाथ हम,

दोनों जीने के लिए विवश हैं,

एक दूसरे को दिए गए फरेब से,

¹ धूमिल . संस्करण – 2013 . संसद से सड़क तक . राजकमल प्रकाशन . पृ. सं. 99

उसकी कविता फरेब की पहचान बनी, एक खरी पहचान।"¹

धूमिल परम्परा की बात नहीं कहते, न भविष्य की बात उनके लिए मायने रखती है। वह अपने समय की बात कहते हैं, जिसमें वे जी रहे हैं। अपने परिवेश को निरावृत करते वे समाज की गतिहीनता, विकृतियों और विडम्बनाओं पर कोई रहस्य का पर्दा नहीं डालते। शहीदे आजम भगत सिंह ने देश की आजादी के बारे में जो आशंका जाहिर की थी कि ये गोरे शोषकों से काले शोषकों के हाथ में सत्ता का हस्तांतरण मात्र होकर न रह जाए धूमिल उसी आशंका को सच में बदलते देखते हैं, तो कहते हैं :

"हाँ यही सही है कि कुर्सियों वही है,

सिर्फ टोपियाँ बदल गयी है।"²

यही कवि देखता है कि संसद देश की धड़कन का प्रतिबिम्ब नहीं बनी, बल्कि ऐसी तेल की धानी है, जिसमें आधा तेल और आधा पानी है। देश के नक्शे पर गाय ने गोबर कर दिया है और जो चरित्रहीन है, उसकी रसोई में पकने वाला चावल कितना महीन है, ये सब देखते हुए कवि आजादी पर प्रश्न चिन्ह लगाता है :

"क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है,

जिन्हें एक पहिया ढोता है,

या इसका कोई खास मतलब होता है?"³

उनकी एक महत्वपूर्ण कविता है 'मोचीराम' कविता का नायक निचली जाति का एक मेहनतकश है जो 'रांपी' से चेहरा उठाता है, तब जीवन भर का शोषण बोलने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति उसके लिए महज एक जोड़ी जूता बनकर रह गया है :

"न कोई छोटा है/न कोई बड़ा है,

¹ पाण्डेय, सुदामा . प्रजातंत्र (भूमिका से) . पृ. सं.- 4

² वही, पृ. सं.- 31

³ पाण्डेय, सुदामा . पटकथा, संसद से सड़क तक ., पृ. सं.- 56

मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है,
जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।"¹

उनका दूसरा कविता संग्रह 'कल सुनना मुझे' उनकी मृत्यु के बाद छपा और साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित हुआ। उसके बाद तीसरा संग्रह 'सुदामा पांडे का प्रजातंत्र' के नाम से प्रकाशित हुआ। अपनी विद्रोही चेतना के चलते वे नक्सलवादी किसान आंदोलन की चेतना से प्रभावित होते हैं। बाद के संग्रहों में उनकी यथार्थ के प्रति दृष्टि विकसित हुई है, वे नवीन संकल्प लेते हैं :

"मैं साहस नहीं चाहता,
मैं सहज होना चाहता हूँ,
ताकि आम को आम,
और चाकू को चाकू कह सकूँ।"²

अकविता आंदोलन से जुड़ने के कारण धूमिल ने यौन प्रसंगों का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया, ये यौन प्रसंग राजनीतिक संदर्भों से जुड़कर इतर अर्थों को देने लगते हैं। यौन प्रतीकों को राजनैतिक अर्थों वाले प्रतीकों में बदल देने में वे सफल रहे हैं। इससे उनकी कविता में यौन उत्तेजना नहीं बल्कि व्यवस्था से तीव्र घृणा पैदा होती है।

¹ पाण्डेय, सुदामा . मोचीराम, संसद से सड़क तक . , पृ. सं.- 16

² पाण्डेय, सुदामा . संसद से सड़क तक . , पृ. सं.- 43

2.2. पृष्ठभूमि

आठवें दशक की हिंदी कविता में कई महत्वपूर्ण कवि और उनकी रचनाएँ शामिल हैं। इस दशक की कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत मुद्दों पर गहन विचार किया गया है। राजेश जोशी और मंगलेश डबराल जैसे कवियों ने इस दौर में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राजेश जोशी की कविताएँ जैसे "मारे जाएँगे" और "बच्चे काम पर जा रहे हैं" सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर केंद्रित हैं। मंगलेश डबराल की कविताएँ जैसे "पहाड़ पर लालटेन" और "प्रेम करती स्त्री" भी इस दशक की महत्वपूर्ण रचनाओं में से हैं।

आठवें दशक की कविता में परिवार, समाज और सामुदायिकता की केंद्रीयता को भी देखा जा सकता है। इस दौर के कवि अनाचार, दमन और हिंसा के खिलाफ आवाज उठाते हुए परिवार और सामुदायिकता को महत्व देते हैं। आठवाँ दशक प्रारम्भ होते-होते समकालीन कविता में रुग्णतावादी अकवितावादी प्रवृत्तियाँ समाप्ति के निकट आ गयीं और सामाजिक यथार्थ और मानवीय सरोकारों के प्रति प्रतिश्रुत कविता हिन्दी कविता की मुख्य धारा बनती चली गयी।

इन्हीं दिनों समकालीन कविता में वामपंथी क्रान्तिकारिता का एक नया और अभूतपूर्व उभार दिखाई देने लगा। नक्सलवादी आन्दोलन से प्रेरित इस काव्य लहर को डॉ. विश्वभरनाथ उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'समकालीन कविता की भूमिका' में गुरिल्ला कविता का नाम दिया है, और इसका विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रवृत्ति की शुरुआत डॉ. माहेश्वर द्वारा सम्पादित संकलन 'शुरुआत' (70) से होती है, जिसमें डॉ. माहेश्वर, हरिहर द्विवेदी, उग्रसेन और तड़ित कुमार की कविताएँ संकलित हैं। वेणु गोपाल और कुमार विकल ने इस लहर को आगे बढ़ाया।

अपने एक लेख 'समकालीन कविता और विविध आन्दोलन' में डॉ. सुखवीर सिंह ने समकालीन कविता को तीन मुख्य दौरों में बाँटकर देखा है, "पहला 50 से 60 के मध्य का नयी कविता दौर, दूसरा 60 से 70 के बीच का साठोत्तरी कविता दौर और तीसरा सत्तर से अस्सी के बीच का सत्तरोत्तरी दौर। उनका कथन है कि पहले दौर की मुख्यधारा नयी कविता दूसरे की अकविता और तीसरे की विचार कविता है।"¹

आठवें दशक की कविता पर विचार करते हुए डॉ. रणजीत ने अपनी पुस्तक 'प्रगतिशील कविता के मील पत्थर' की भूमिका में लिखा था, "आठवें दशक की प्रगतिशील कविता की कुछ चारित्रिक विशेषताओं की ओर यहाँ संकेत किया जा सकता है। सातवें दशक की आक्रामक और युयुत्सु मुद्रा यहाँ कम है, जीवन के मूलभूत सरोकारों का भरापूरा संसार आँसू और मुस्कान के कोमल प्रसंग, घाटी में खिले फूल, नदी, सागर, पहाड़, पेड़, चिड़ियाएँ, माँ और बच्चे एक सम्पूर्ण अहसास के साथ इस कविता में मौजूद हैं, इनके सहारे वह मनुष्य के भीतर के उस आदिम

¹ रणजीत . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . पृ. सं.- 18

इतिहास से टकराती हैं, जहाँ से सभ्यता और संस्कृति के नाम पर मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और उत्पीड़न का सिलसिला शुरू हुआ। कहा जा सकता है कि छोटी-छोटी अनुभूतियों और चीजों के सहारे यह कविता मनुष्य की जड़ों तक जाने की कोशिश करती है।¹ यही कारण है कि इस कविता में आदमी का आदिम स्वरूप बार-बार उभरता है, वह अपनी कुल्हाड़ी, पत्थर, चूल्हा, आग, बैल, जाल, मछली, तीरकमान और लश्कर सहेजता है और अपनी सामूहिक स्मृति को नये अर्थ सन्दर्भ से गहरा करता है। भारतीय कविता की परम्परागत कथात्मकता भी एक नये ढंग से इस दौर की कविता में फिर से उभरी। आम आदमी के कष्टपूर्ण जीवन और संघर्ष को कुछ मूर्त कथात्मक संदर्भों में बार-बार उभारा गया। एक और बात जिसकी ओर प्रभाकर श्रोत्रिय ने संकेत किया है, यह है कि सातवें दशक के कवि जिस साधारण जन के पक्षधर थे, वह उनकी कविता में अन्य या मध्यम पुरुष के रूप में अलग खड़े श्रोता की हैसियत से ऊपर नहीं उठ पाया था, पर आठवें दशक की कविता में वह :

“राम गुलाम हम तुम एक हैं। अपने ईमान को पैरों से तोलें / अपनी

हिम्मत को खून सा घोले ईमान में' की पूरी भागीदारी

की स्थिति में आया है।²

अशोक बाजपेयी ने 1980 में बिना किसी नाटकीय शोरगुल के हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कविता के केन्द्रीय विधा के रूप में सामने आने की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए आठवें-नवें दशक की हिन्दी कविता की कुछ चारित्रिक विशेषताओं को रेखांकित किया है वे हैं पश्चिम-मुक्त देसीपन, नयी वस्तुपरकता, नैतिक विवेक और प्रगतिशील दृष्टि के साथ-साथ अपने माध्यम के प्रति चौकन्नापन! वे कहते हैं, यद्यपि पिछले पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य पर पश्चिम का गहरा आतंक रहा है पर इधर कम से कम समकालीन कविता को देखते हुए लगता है कि हमारी आधुनिकता अब उतनी पश्चिमाभिमुख नहीं रही। अपने इतिहास और भूगोल से, इसलिए अपने जन से अधिक जुड़ी है। वह अन्ततः अधिक देशी है और उस अपनी सच्चाई समझने और यथाशक्ति उसे बदलने का अधिक अर्जित आत्मविश्वास भी है। ये कविताएँ संसार में कहीं भी हो सकने वाली नामहीन कविताएँ नहीं हैं वे ऐसी कविताएँ हैं जो हमारे यहाँ की हैं, हमारे इतिहास के एक खास बिन्दु पर की हैं वे सच्ची और सार्थक हैं।

¹ रणजीत . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . पृ. सं.- 21

² रणजीत . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . पृ. सं.- 22

2.2.1. अस्सी के दशक के कवि

बलदेव वंशी

बलदेव वंशी (1938-2018) हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण कवि, आलोचक और संपादक थे। उन्होंने हिंदी कविता को नई दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका जन्म 10 जुलाई 1938 को पंजाब के होशियारपुर जिले में हुआ था। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ से शिक्षा प्राप्त की थी। उनकी कविताओं में सामाजिक चेतना, मानवता, और संवेदना का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। 'विचार कविता आंदोलन' के प्रेरक रहे और कई वर्षों तक 'विचार कविता' नामक लघु पत्रिका का प्रकाशन भी किया। वह सरकारी सेवा परीक्षाओं में 'भारतीय भाषाएँ लाओ' आन्दोलन के अध्यक्ष रहे। वह कई वर्षों तक 'विश्व कबीर पंथी महासभा' के अध्यक्ष रहे। उन्होंने 'संत साहित्य अकादमी' की स्थापना की और अपने लेखन या अन्य प्रतिष्ठित लेखकों को प्रेरित करके बड़ी मात्रा में संत साहित्य प्रकाशित किया। हिंदी साहित्य के प्रति उनकी असाधारण सेवा को मान्यता देते हुए विभिन्न राज्य सरकारों ने उन्हें पुरस्कार से सम्मानित किया। पंजाब सरकार ने उन्हें 'शिरोमणि साहित्यकार' पुरस्कार देकर सम्मानित किया। आगरा हिंदी संस्थान के सौजन्य से उन्हें सम्मानित किया गया जिसका पुरस्कार पूर्व राष्ट्रपति, आदरणीय श्री प्रणब मुखर्जी के करकमलों द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ। उनके कार्य तथा हिंदी साहित्य सेवा की वृहद मात्रा तथा उत्कृष्टता इस बात से समझ में आती है कि न केवल उनकी रचनाएं कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में शामिल की गयीं, बल्कि उनके रचना संसार को विषय बना कर कई शोधार्थियों ने एम फिल और पीएचडी की पढ़ाई की है।

सामाजिक सरोकार: बलदेव वंशी की कविताएँ सामाजिक मुद्दों और मानवता के प्रति उनकी गहरी संवेदनशीलता को प्रकट करती हैं। वे समाज के हाशिये पर खड़े लोगों के दुःख-दर्द को अपनी कविताओं में बखूबी व्यक्त करते थे।

प्राकृतिक सौंदर्य: उनकी कविताओं में प्रकृति के सौंदर्य का भी सुंदर चित्रण मिलता है। वे प्रकृति के साथ मनुष्य के संबंधों को बड़ी कुशलता से व्यक्त करते थे।

भाषाई सरलता: बलदेव वंशी की कविताएँ सरल और सहज भाषा में लिखी गई हैं, जो आम जनमानस तक आसानी से पहुँचती हैं। उनकी रचनाओं में स्थानीय भाषा और बोलचाल के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

संवेदनशीलता और मानवीय मूल्य: उनकी कविताएँ मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं से ओतप्रोत हैं। वे जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में भी गहरी संवेदनाओं को व्यक्त करने में सक्षम थे।

कविता संग्रह: बलदेव वंशी के कई कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें "पीली मिट्टी की महक", "जलते हुए डैने", "नींद से मुलाकात" और "यादों का चिराग" प्रमुख हैं। इन संग्रहों में उनके काव्य का वैविध्य और गहराई स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

बलदेव वंशी न केवल एक सफल कवि थे, बल्कि उन्होंने संपादन और आलोचना के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। वे साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादन से जुड़े रहे और हिंदी साहित्य को नई प्रतिभाओं से समृद्ध किया। बलदेव वंशी का काव्य हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण धरोहर है, जो आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित करता रहेगा। उनकी कविताएँ आज भी समाज में अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए हैं।

बलदेव वंशी की कविताएँ मानवीय संवेदनाओं, सामाजिक यथार्थ, और ग्रामीण जीवन के इर्द-गिर्द घूमती हैं। उनकी रचनाओं में एक खास तरह की संवेदनशीलता और मानवीयता का बोध होता है, जो पाठक को गहराई से प्रभावित करती है। उनकी कविताओं में जीवन के प्रति गहरी समझ, प्रेम, दर्द, और संघर्ष की अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी भाषा सरल, सहज और प्रवाहमयी है, जिससे उनकी कविताएँ पाठकों के दिलों तक पहुँचती हैं। वंशी जी की कविताओं में जीवन के विभिन्न रंगों और परिस्थितियों का सजीव चित्रण मिलता है। बलदेव वंशी ने कई महत्वपूर्ण काव्य संग्रह लिखे। कुछ प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं: 'तिनका तिनका', 'युग से संवाद', 'आधी रात के शब्द'।

हरिनारायण व्यास :

'दूसरा सप्तक' में शामिल हरिनारायण व्यास का जन्म 14 अक्टूबर 1923 को मध्य प्रदेश के सुंदरसी में हुआ। उनका पूरा नाम हरिनारायण घनश्याम व्यास था। उनकी शिक्षा उज्जैन और बड़ौदा में हुई और फिर पुस्तकालय में नौकरी करने लगे। गाँव की घटनाओं और व्यक्तियों पर बचपन से ही तुकबंदियाँ करने लगे थे। युवपन में अपने मामा गोपालवल्लभ उपाध्याय के बौद्धिक प्रभाव में साहित्य की ओर झुकाव हुआ। उज्जैन में मित्रवर मुक्तिबोध और गुरुवर प्रभाकर माचवे के संपर्क में कवि-जीवन को चेतना प्राप्त हुई। गिरिजाकुमार माथुर से भी प्रभावित हुए।

हरिनारायण व्यास की काव्य रचनाएँ मुख्य रूप से राष्ट्रीय भावना, समाज सुधार, और मानवीय संवेदनाओं पर केंद्रित थीं। उनकी कविताओं में देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना प्रमुख रूप से देखने को मिलती है। वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय सक्रिय रूप से जुड़े रहे, और उनके काव्य में इस संघर्ष की छाप स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। व्यास जी की रचनाओं में सरलता, सहजता, और प्रभावी अभिव्यक्ति प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनकी कविताओं में आम जनमानस के दर्द, पीड़ा, और संघर्ष की झलक मिलती है। उनकी रचनाएँ समाज में व्याप्त बुराइयों और कुरीतियों के खिलाफ भी आवाज उठाती हैं, जिससे समाज में सुधार की प्रेरणा मिलती है।

कविताओं के बारे में उनकी मान्यताएँ 'दूसरा सप्तक' में प्रकाशित उनके वक्तव्य में प्रकट हुई हैं। वह मानते थे कि "कविता के प्रतीक यथासाध्य जीवन के सान्निध्य से लिए जाने चाहिए...। भाषा जीवन और समाज का एक प्रबल शस्त्र है, किंतु उसे जीवन से अलग होकर नहीं, जीवन में ही रहना है। यदि कविता की भाषा दुर्बोध रही तो उसका कर्म—अर्थात् लड़ने में मनुष्य का सहायक होना—अधूरा ही रह जाता है...। पुरानी मान्यताओं, पुराने शब्दों, पुरानी कहावतों को नए अर्थ से विभूषित करके कविता में प्रयोग करने से पाठक की अनुभूतियों को छूने में सहायता मिलती है।" उन्होंने कविता को सपनों का संसार कहा और कहा कि यदि यह संसार नए जीवन के क्रीड़ा-स्थल नए जगत की रंगीनी से सिक्त हो तो कवि का कर्म और उसके सामाजिक दायित्व सार्थक हो जाते हैं। 'मृग और तृष्णा', 'त्रिकोण पर सूर्योदय', 'बरगद के चिकने पत्ते', 'आउटर पर रुकी ट्रेन', 'निद्रा के अनंत में जागते हुए' उनके काव्य-संग्रह हैं।

हरिनारायण व्यास का साहित्यिक योगदान हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण रहा है। उनकी रचनाएँ अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक परिवेश को प्रतिबिंबित करती हैं। उन्हें साहित्य जगत में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था और उनकी रचनाएँ आज भी साहित्य प्रेमियों के बीच प्रासंगिक बनी हुई हैं। हरिनारायण व्यास का साहित्यिक जीवन भारतीय साहित्य में उनकी सशक्त उपस्थिति को दर्शाता है। उनकी कविताएँ पाठकों के दिलों में आज भी जीवंत हैं और समाज को प्रेरित करती हैं।

कुमार विकल :

कुमार विकल हिंदी साहित्य के एक प्रसिद्ध कवि थे, जिनकी कविताएँ मानवीय संवेदनाओं, सामाजिक यथार्थ, और विद्रोह की भावना को सजीव रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनका वास्तविक नाम विजय कुमार था, लेकिन साहित्यिक दुनिया में वे "कुमार विकल" के नाम से प्रसिद्ध हुए। कुमार विकल का जन्म 15 मार्च 1935 को शिमला, हिमाचल प्रदेश में हुआ था। उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा शिमला में ही प्राप्त की और बाद में हिंदी साहित्य में उच्च शिक्षा हासिल की। वे अपने समय के प्रख्यात कवियों में से एक थे और हिंदी कविता में अपनी अनूठी शैली और विचारधारा के लिए जाने जाते थे। वे शिक्षा के क्षेत्र से भी जुड़े रहे और हिंदी साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। विकल जी का जीवन कठिनाइयों और संघर्षों से भरा था, जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखता है।

कुमार विकल की कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर तीखी टिप्पणी मिलती है। उनकी रचनाओं में एक विद्रोही स्वर सुनाई देता है, जो शोषण, अन्याय, और समाज में व्याप्त असमानता के खिलाफ है। उनकी कविताएँ समाज में परिवर्तन की इच्छा और संघर्ष की भावना को व्यक्त करती हैं। उनकी भाषा सरल, सहज, और प्रभावशाली थी, जिससे उनकी कविताएँ आम

जनमानस के दिल तक पहुँचती थीं। वे अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को अपने लेखन में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने में सक्षम थे। उनकी कविताओं में विद्रोह के साथ-साथ मानवीय संवेदनाएँ, प्रेम, और करुणा भी गहराई से झलकती हैं।

कुमार विकल ने कई महत्वपूर्ण काव्य संग्रह लिखे, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं: 'काला वक्त सफेद कविताएँ', 'धूप के हस्ताक्षर', 'नक्षत्र वेला'। कुमार विकल का साहित्यिक योगदान हिंदी कविता के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उनकी कविताएँ आज भी सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर विचार करने के लिए प्रेरित करती हैं। उनके साहित्यिक योगदान के लिए उन्हें कई सम्मान और पुरस्कार भी प्राप्त हुए थे। कुमार विकल की कविताएँ न केवल उनके समय की सच्चाई को उजागर करती हैं, बल्कि आज भी प्रासंगिक हैं। उनके साहित्यिक योगदान ने हिंदी साहित्य को समृद्ध किया और उन्हें एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। उनकी रचनाएँ आज भी पाठकों को प्रेरित करती हैं और समाज में परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित करती हैं।

उनकी शैली में एक खास तरह की संवेदनशीलता और गहराई है, जो पाठक को झकझोर देती है। उनकी कविताएँ न केवल बाहरी दुनिया के यथार्थ को व्यक्त करती हैं, बल्कि उनके आंतरिक संघर्ष और पीड़ा को भी उजागर करती हैं। उनकी कविताओं के प्रमुख विषयों में समाज की विसंगतियाँ, व्यक्ति का अकेलापन, समय का क्रूर स्वरूप, और मानवीय संबंधों की जटिलताएँ शामिल हैं। कुमार विकल ने अपने समय के समाज में हो रहे बदलावों, विशेषकर शोषण और अन्याय के खिलाफ अपनी कविताओं के माध्यम से आवाज उठाई।

शलभ श्रीराम सिंह :

शलभ श्रीराम सिंह हिंदी साहित्य के एक प्रमुख कवि, आलोचक, और निबंधकार थे। उनकी कविताएँ और साहित्यिक योगदान हिंदी साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। शलभ श्रीराम सिंह का लेखन सामाजिक, राजनीतिक, और सांस्कृतिक मुद्दों पर गहन चिंतन का परिणाम था। शलभ श्रीराम सिंह का जन्म 27 जुलाई 1931 को उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के चिरैयाकोट गाँव में हुआ था। उन्होंने हिंदी साहित्य में अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की और बाद में वे शिक्षण और साहित्यिक लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हो गए। वे हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर माने जाते हैं और अपने समय के प्रमुख साहित्यकारों में से एक थे।

शलभ श्रीराम सिंह की कविताएँ समाज में व्याप्त असमानता, अन्याय, और राजनीतिक विसंगतियों के प्रति गहरी चिंता प्रकट करती हैं। उनकी रचनाओं में गहन सामाजिक चेतना और परिवर्तन की आकांक्षा स्पष्ट रूप से झलकती है। वे उन साहित्यकारों में से थे, जिन्होंने साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाने का प्रयास किया।

उनकी भाषा में एक अद्वितीय स्पष्टता और तीखापन है, जो उनकी कविताओं को प्रभावी बनाता है। उन्होंने समाज में व्याप्त समस्याओं को सरल और सटीक शब्दों में प्रस्तुत किया, जिससे उनकी कविताएँ आम जनता के बीच भी लोकप्रिय हुईं। शलभ श्रीराम सिंह की कविताओं में भावनाओं की गहराई और विचारों की तीव्रता का अनुठा संगम मिलता है। शलभ श्रीराम सिंह ने कई महत्वपूर्ण काव्य संग्रह और साहित्यिक रचनाएँ लिखीं। उनके कुछ प्रमुख काव्य संग्रह निम्नलिखित हैं: 'हवा के खिलाफ', 'बीच का समय', 'आत्महत्या के विरुद्ध' साहित्यिक योगदान और विचारधारा' शलभ श्रीराम सिंह का साहित्यिक योगदान हिंदी कविता के विकास में अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा है। उनकी कविताएँ केवल साहित्यिक उत्कृष्टता तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे समाज को जागरूक करने और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में प्रेरित करने का कार्य भी करती हैं।

उनकी विचारधारा समाजवादी और मानवतावादी मूल्यों पर आधारित थी। वे मानते थे कि साहित्य का उद्देश्य केवल सौंदर्य की साधना नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा में प्रेरणा देना भी है। उन्होंने साहित्य को एक ऐसा माध्यम बनाया, जिसके द्वारा वे समाज की समस्याओं पर सवाल उठाते थे और उनके समाधान की दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करते थे। शलभ श्रीराम सिंह हिंदी साहित्य के एक महत्वपूर्ण कवि और चिंतक थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज की ज्वलंत समस्याओं पर गहरी दृष्टि डाली। उनकी कविताएँ आज भी प्रासंगिक हैं और पाठकों को सोचने और समाज में परिवर्तन की दिशा में कदम उठाने के लिए प्रेरित करती हैं। उनके साहित्यिक योगदान ने हिंदी कविता को एक नई दिशा और गहराई प्रदान की है।

‘नफस-नफस कदम-कदम, बस एक फिक्र दम-ब-दम, घिरे हैं हम सवाल से हमें जवाब चाहिए, जवाब-दर-सवाल है कि इंकलाब चाहिए’ हिंदी साहित्य प्रेमियों की नई पीढ़ी को न सही, पुरानी को अच्छी तरह याद है कि युयुत्सावाद के प्रवर्तक कवि शलभ श्रीराम सिंह का लासानी क्रांतिकारी चेतना से ओतप्रोत यह गीत एक समय देश के प्रायः सारे परिवर्तनकामी जनांदोलनों का प्रयाण-गीत हुआ करता था।

इससे अभिभूत बाबा नागार्जुन ने उन्हें प्रेम और प्रकृति के बजाय बगावत का कवि करार देते हुए कहा था कि वे अपने पाठकों को जनसाधारण की जिंदगी कठिन करने वाली क्रूर शक्तियों के विरुद्ध हथियारों जैसे शब्द देते हैं। इतना ही नहीं, 'उनसे हिंदी कविता का एक नया गोत्र आरंभ होता है इसलिए उनको इसके किसी और मठ में शरण लेने की कोई जरूरत नहीं है।

समूचे भारतीय समाज और राजनीति में आमूल क्रांति का स्वप्न देखने वाले भावुक, सरल व बेहद ईमानदार कवि के रूप में शलभ की आभा तो, कूढ़मगज आलोचकों द्वारा उन्हें अराजक और उद्दंड आदि जानें क्या-क्या करार देने के बावजूद, ऐसी निर्मल थी कि अनेक लोगों को उनमें कबीर की अक्खड़ता व नजरुल की क्रांतिचेतना के साथ निराला का ओज भी नजर आता था-एक साथ।

शलभ के अपने शहर फैजाबाद की बात करें तो वह तो उनके निधन के अठारह वर्षों बाद भी किसी भी तरह उन्हें बिसराने को तैयार नहीं दिखता और उसकी दंतकथाओं में वे अभी भी पहले जैसे ही जीवंत हैं। वहां कोई भी बता सकता है आपको कि शलभ बेहद अपरिचितों को भी पहली मुलाकात में ही बताना नहीं भूलते थे कि उनके नाम का 'श' शत्रुघ्न के लिए, 'ल' लक्ष्मण के लिए और 'भ' भरत के लिए है, फिर पूछते थे- इन भाइयों के बगैर श्रीराम हैं भी क्या? फिर कोई काव्यप्रेमी आपको उनकी ये पंक्तियां सुनाकर चमत्कृत भी कर सकता है :

“तुम खड़े-खड़े सहो रोबोट की मार

कंप्यूटर के डाटे चबाओ पड़े-पड़े

अलविदा, मैं चला

एक कविता मेरे इंतजार में है!

राकेटों, मिसाइलों, बमों और रसायनों से दूर

अपनी दुनिया में वापस जा रहा हूं मैं

एक बच्चा मेरे इंतजार में है

इंतजार में है एक फूल

एक पत्ती मेरे इंतजार में है!”¹

नरेंद्र मोहन :

नरेंद्र मोहन ने साहित्य की अन्य विधाओं (आलोचना, नाटक) पर लिखते हुए लम्बी कविता-यात्रा की है। कविता विधा पर नये प्रयोग करते हुए उन्होंने इसे नये आयाम देकर इस विधा को समृद्ध किया है। इतने लम्बे कालखंड तक नरेंद्र मोहन का सृजन-कर्म में निरंतरता बनाए रखना ऐतिहासिक कार्य है क्योंकि कवि रुकता नहीं, ना ही उसकी गति मन्द होती है। रचनाकार का लगातार लिखना जोखिमपूर्ण ही सकता है। लिखते- लिखते Dead end आ जाता है पर कवि एकरूपता तथा एकरसता के बोझ से कविता को बचाता हुआ आगे बढ़ता है। वह दायरों में सिमटा न रहकर कविता के क्षेत्र में नयी राहें, नवीन सम्भावनाएँ और विशाल फलक खोजने में कामयाब हो जाता है इसीलिए उसके काव्य-कोष में जीवन के यथार्थ से जुड़ी विसंगतियों को चित्रित करती द्वन्द्व पूर्ण कविताएं हैं, चित्रों, रंगों के माध्यम से

¹ शलभ श्रीराम सिंहप्रेम और प्रकृति का नहीं ; बगावत का कवि) thewirehindi.com)

कथ्य की शैली है, नृत्य को कथ्य में मूर्त करने की शैली है, पुतुल-कला से अभिव्यक्ति की शैली है, इन्हे माध्यम बना कर कविता की आत्मा में पिरोया गया है और उसमें जान डाल कर जीवन्त किया गया है। यह विविधता नरेंद्र मोहन की कविता-यात्रा में हुआ अभिनव प्रयोग है।

कविता के क्षेत्र में नरेंद्र मोहन की पहचान 'विचार' कविता से बनी। कवि ने कविता में नये प्रयोग किए हैं और आज भी कर रहे हैं। उनकी कविताओं में कई मूडस-शेड्स अपना प्रभाव छोड़ते हैं। कवि ने रचनाकार के रूप में एक मोड़ पर जैसे यू टर्न ले लिया और उनकी कविता नये विचारों से जुड़ कर नृत्य और चित्रकला की ओर मुड़ गयी। यह परिवर्तन ऐसा है जो नये अनुभवों अभिरुचियों को अभिव्यक्ति देने में समर्थ हुआ। नरेंद्र मोहन की कविता में पाठक दाखिल होते रहे हैं और कविताओं को परखते रहे हैं और उनकी धुरी में बने केंद्रीय रूपक खोजते रहे हैं और इन प्रश्नों के उत्तर तलाशते रहे हैं कि क्यों आग, नदियाँ और पेड़ उनकी कविताओं में बार-बार आते हैं, क्यों उनके साथ स्मृतियों के वर्तुल और साहचर्य जुड़ते हैं।

उनकी कविताएं वादों के दायरों से मुक्त हैं। मार्क्सवादी, लेनिनवादी, प्रगतिवादी और जनवादी विचार धारा की अपेक्षा आज का सच उनकी कविता में उभरा है। उल्लेखनीय यह है कि कवि ने कविता का मुहावरा खुद गढ़ा है। नरेंद्र मोहन बहुआयामी प्रतिभा से सम्पन्न कवि, आलोचक और नाटककार हैं। कविता में एस्थेटिक्स को बदलने का परामर्श पुराने प्रतीकों तथा बिम्बों को यथावत न रख सौंदर्य चेतना के नये साँचे गढ़ने का वे आग्रह करते हैं। नरेंद्र मोहन की कविता सामाजिक सरोकारों से जुड़ी कविता है जिसमें जीवन का यथार्थ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक विडम्बनाओं के साथ अभिव्यंजित हुआ है।

'जितना बचा है मेरा होना' काव्य-संकलन की कविताएं राजनीतिक विसंगतियों और विद्रूपताओं की अभिव्यक्ति करती हैं। नेताओं और व्यवस्था पर कवि का आक्रोश 'दीवारें कँपाती हँसी', 'हँसी फूटने पर', 'हँसते-हँसते', विसंगति, 'इस हादसे में', 'दुख है!' कविताओं में व्यक्त हुआ है। असल में नरेंद्र मोहन का काव्य निरपेक्ष दृष्टि का प्रतिपादन करता है वह किसी भी राजनीतिक दल का समर्थन या असमर्थन नहीं करता और सत्ताधारी निरपेक्ष नहीं रहता। इसी कारण वह अपने हितों और स्वार्थों को साधने के लिए परस्पर भिड़ाने का काम करता है **नरेंद्र मोहन** ऐसे नेताओं पर व्यंग्य करते हुए 'इस हादसे में' कविता में कहते हैं :

**“पर सम्मोहन टूटने के बाद/भूकम्प आया/चीज़ें बजबजा उठीं/उलट-पुलट गईं/और
आप यह जुगाड़ बैठाते रहे/आपका हाथ कहीं न दिखे/पूरे हादसे में!”¹**

¹ मोहन, नरेंद्र . इस हादसे में . पृ. सं.- 31

राजनीतिक हालातों से चिन्तित और विक्षुब्ध होकर नेताओं पर विक्षोभ व्यक्त करते हुए कवि कह उठता है :

**“लेकिन मुझे इस हालत में पहुँचा कर/आप निर्लिप्त और निरापद बने रहेंगे/और मैं
शान्ति-पाठ करता रहूँ/यह मुमकिन नहीं!”¹**

गिरिजा कुमार माथुर :

समकालीन हिंदी कविता के अंतर्गत प्रयोगवाद और नई कविता का आकर्षक सम्मिश्रण गिरिजा कुमार माथुर जी की रचनाओं में हमें देखने को मिलता है। वे एक रोमानी दृष्टिकोण को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत करने की योग्यता रखने वाले कवि हैं। शब्द चयन में वे बड़े सतर्क रहे हैं। छायावादी पदावली की टक्कर में वे कोमल परन्तु उससे थोड़ी भिन्न पद रचना को वे काव्य में लाये कथन, उदासी, मिठास, केसर, रेशम, छाँह जैसे शब्द तो वे बहुधा प्रयुक्त करते हैं, लेकिन उनमें छायावादी शब्दों जैसी सूक्ष्म अर्थ छाया नहीं आ पायी है। उन्होंने विचार बोध के क्षेत्र में भी किसी निश्चित विचार प्रणाली को नहीं अपनाया था। डॉ० नामवर सिंह उनके संबंध में लिखते हैं- **“सफल रूपवाद और अनिश्चित विचार प्रणाली के बावजूद गिरिजा कुमार माथुर की थकान एवं रूप-रस-रंग की ऐन्द्रिक 'तृप्ति' के पीछे संक्रांति युग के मध्यवर्गीय कवि की निश्चित मनोवृत्ति का हमें पता चलता है। इस तरह गिरिजा कुमार माथुर की यह थकान और रुग्ण रोमानियत भी परोक्ष रूप से उसी व्यक्तिवाद से परिचालित है, जिसमें हम जीवन की उलझनों से बचकर रंगीन दिवा-स्वप्नों में दिल बहलाने की प्रवृत्ति जगाते हैं।”²**

गिरिजा कुमार माथुर जी तारसप्तक के कवियों में प्रमुख रहे हैं, उनके निम्न काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं- धूप के धान (1955), शिलापख चमकीले (1961), मंजीर (1941) तथा नाश और निर्माण (1946)। मंजीर में उनका अल्प विकसित व्यक्तित्व सभी के सामने आया है। वहीं 'नाश और निर्माण' में उनके कवित्व प्रतिभा की विकासोन्मुख दशा दिखाई पड़ती है। इसमें हमें मध्यवर्ग का तनाव दिखता है, जो असमर्थ होकर कहीं न कहीं नियतिवादी हो जाता है।

काव्य संग्रह 'धूप का ध्यान' में विचारों की प्रौढ़ता दिखती है, यहाँ माथुर जी ने परिमार्जित शिल्प में नयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। किसी स्थान पर वे मानवतावादी होते दिखते हैं कहीं मार्क्सवादी चेतना का भी प्रभाव मिलता है। रोमांस और सामाजिक यथार्थ का तालमेल उनमें मिलता है। छायावादी वायवी प्रेम के स्थान पर भौतिक प्रेम की अभिव्यक्ति उनके यहाँ कुंठित नहीं हुई है। 'धूप के धान' की भूमिका में वे लिखते हैं **"आज के विरोधी मत वादों के समन्वय से भय रहित, कष्ट त्रास**

¹ नरेंद्र मोहन की कविता) ज़िन्दगी का पर्याय :abhinavimroz.page)

² सिंह, नामवर . आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ . पृ. सं.- 106

रहित, अर्थमुक्त मानवता के एक सर्वांगीण दर्शन की उत्पत्ति होगी, जिसमें श्रद्धा, निष्ठा, आस्था, विनयशीलता, प्रेम, जीवन सम्मान, सामाजिक न्याय, अंतःकरण की नैतिक स्वतंत्रता प्रतिष्ठित होगी।"¹

रोमांटिक गीत लिखने में तो वे सिद्ध रहे ही हैं। उनकी मंजीर काल की अनेक प्रसिद्ध रचनाएं रही हैं। उनके यहाँ वर्ण, गन्ध, नाद आदि से संबंधित सूक्ष्म चित्र मिलेंगे। जैसे केसर रंग रंगे बन, श्वेत धुँसा पतला नभ नींद भरे आलिंगन में चूड़ी की आहट फूल की रेशमी छांह, आदि। उनका ध्यान विषय से अधिक टैक्नीक पर रहा है। वास्तविकता का सरलीकरण करने के बावजूद उनकी भावुकता से भरी हुई कविताएं मध्य वर्ग में काफी लोकप्रिय रही।

भारतभूषण अग्रवाल :

भारतभूषण अग्रवाल प्रथम सप्तक के कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। 1919 में जन्मे भारतभूषण अग्रवाल भी उच्च शिक्षित और आधुनिक विचारों से प्रभावित थे। वे 'साहित्य अकादमी' के सहायक सचिव भी रहे और ऑल इंडिया रेडियो पर हिन्दी कार्यक्रमों के प्रस्तोता के रूप में भी उल्लेखनीय सेवाएँ प्रदान कर चुके हैं। उनकी प्रसिद्ध काव्य कृतियाँ छवि के बंधन, जागते रहो, मुक्तिमार्ग, ओ अप्रस्तुत मन और कागज के फूल के नाम से प्रकाशित हुई हैं। 'छवि के बंधन' में उनकी आरम्भिक रोमानी अनुभूतियों और उन पर यथार्थ का स्पर्श देखा जा सकता है। जागते रहो में वे एक प्रगतिशील कवि के रूप में सामने आये। मुक्ति मार्ग तक वे भाषा के परिमार्जन में सतर्क हुए, लेकिन प्रगतिशीलता से हटते हुए प्रयोगवादी होते गये। 'ओ अप्रस्तुत मन' में उनकी सृजन शिल्प संबंधी विशेषतायें नई कविता से जुड़ती हैं, यही उनकी सर्वाधिक सफल रचना के रूप में सामने आती है। कागज के फूल हास्य प्रधान मुक्तकों का संग्रह है। विचार को लेकर उनमें संशय रहा है। उनकी एक रचना है, 'पथ-हीन' जिसमें वे इस संशय का स्वीकार करते हैं:

"पर महाजन-मार्ग गमनोचित न सम्बल है, न रथ है,

अन्तरात्मा अनिश्चय, संशय ग्रसित,

क्रांति-गति अनुसरण योग्या है न पद सामर्थ्य!

कौन-सा पथ है? मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा।"²

¹ माथुर, गिरिजा कुमार . धूप के धान . पृ. सं.- 11

² भ्रमर, रवीन्द्र . हिन्दी के आधुनिक कवि . पृ. सं.- 247

अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' शीर्षक रचना में धारा में मिलने से स्पष्ट नकार दिया था, लेकिन भारतभूषण अग्रवाल 'हम नहीं हैं द्वीप' कहकर इससे इतर प्रतिक्रिया देते हैं :

**"हम नहीं है द्वीप जीवन की नदी के,
वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर!"¹**

अज्ञेय के विपरीत मुक्तिबोध और नेमिचन्द्र जैन के समान भारतभूषण अग्रवाल में भी नवीनतम जनांदोलनों से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा थी। इनमें अज्ञेय के असन्तोष से थोड़ा भिन्न एक नए ढंग की 'कशमकश' दिखाई पड़ती है। यह कशमकश है संस्कार और विवेक की आत्मस्थ होने की चाह को विवेक द्वारा चीर डालने की कशमकश। भारतभूषण अग्रवाल की प्रारम्भिक रचनाओं पर छायावाद का प्रभाव है तो शैली में गीति तत्वों का प्राधान्य है। मुक्त छंद की रचनाओं में भी गद्यात्मकता पर अधिक बल न देकर अर्थ और शब्द की लयात्मकता साधने का प्रयास है। लेकिन प्रगतिवादियों की तरह धरती से जुड़ाव के अभाव में उनकी रचनाओं में सहृदय की चेतना को झकझोर सकने की शक्ति चुकती नजर आती है और विलक्षणता को अर्जित नहीं कर पाती।

नेमिचन्द्र जैन :

नेमिचन्द्र जैन भी पहले तारसप्तक के कवियों में संकलित है यद्यपि उनकी काव्य चेतना सामाजिक है। उनकी अनेक रचनाएं यत्र-तत्र सभी महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। प्रगतिशील चेतना के साथ-साथ उनमें कुण्ठा और पराजय बोध भी बहुत गहरा है। नेमिचन्द्र जैन अपने उचटे हृदय को साइरन के बाद शून्यता के सहारे व्यक्त करते हैं तो नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न नई मनःस्थिति का सूक्ष्म चित्र आंकते हैं :

**"आज उचटा सा हृदय;
साइरन बज जाय उसके बाद,
निर्जन शून्य सड़कों सा निभृत, निस्संग, खाली,
व्यर्थता की स्याह सी बेमाप चादर से,**

¹ वहीं . पृ पृ. सं.- 247

अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त।”

उनकी कविताएं नये बिंबों के साथ उत्तेजित तो करती है। लेकिन कोई समग्र प्रभाव निर्मित करने में समर्थ नहीं होती। उनकी एक लम्बी कविता है जिन्दगी की रात जीवन के प्रति, मनुष्यता के प्रति आस्था और एक रोमानियत के साथ कविता शुरू होती है।

फिर अगम पर्वती, तूफानों, सागरों को लांघती यह जीवनशक्ति बौद्धिकता के जाल में उलझ जाती है। प्रगतिवादी मूड को लादने के प्रयास में सर्वहारा के संघर्ष से उसे जोड़ने में आगे कविता अपनी प्रभान्वीति को खो देती है। ऐसा लगता है। कवि की आस्था कहीं खो गयी है और पराजय, गुंठा उस पर हावी होती गयी है ये गति उनकी सुनोगे नाम की एक अन्य कविता में भी देखी जा सकती है, तारसप्तक के कवि के रूप में वे एक समय में काफी संभावनाशील रहे हैं, लेकिन विचार और संप्रेषण दोनों ही स्तरों पर उनकी कशमकश से आधुनिक भाधारा की कविताओं के लिए वे अनुपयोगी सिद्ध होते हैं।

धर्मवीर भारती :

धर्मवीर भारती का जन्म 1926 ई० में इलाहाबाद में हुआ था। प्रयाग विश्वविद्यालय से एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर बाद में वहीं वे हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्रिका धर्मयुग के सम्पादक के रूप में भी वे प्रसिद्ध हुए, दूसरे सप्तक के वे एक प्रमुख कवि हैं। इनकी रचनाओं का प्रथम संग्रह ‘ठण्डा लोहा’ 1952 में प्रकाशित हुआ। ‘अन्धायुग’ उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। इस नाट्य काव्य में महाभारत की कक्षा को नवीन संदर्भों में उन्होंने प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त ‘सात गीत वर्ष’ और ‘कनुप्रिया’ भी उनकी प्रमुख रचनाएं हैं। नई कविता में अंधायुग और कनुप्रिया ही प्रबन्ध रचनाओं के रूप में हैं।

धर्मवीर भारती अस्तित्ववाद से प्रभावित होकर व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्षधर हैं। उनमें बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा वाली क्षणी रोमांसवादी चेतना भी यदा-कदा मिलती है। मसलन ‘इन फीरोजी होठों पर बरबाद मेरी जिंदगी’ गीत। लेकिन नये प्रयोगवादी बिंब विधान और प्रतीकों के कारण वे अपनी शिल्प विधि में नये मालूम पड़ते हैं। अपनी रचनाओं में वे भारतीय व यूरोपीय मिथक चरित्रों के माध्यम से अपने युग की मूल्यहीनता पर प्रश्न उठाते हैं, कुंठा, निराशा और मनुष्य के जीवन की जटिल विडंबनाओं को वे विशाल फलक पर लाते हैं। आज की विडंबना पूर्ण स्थिति के सम्मुख नाटकीय काव्य के लिए अपार संभावनाएँ हैं और नाटकीय रचनाएं ही इस स्थिति की चुनौती को अच्छी तरह स्वीकार भी कर सकती हैं। आकस्मिक नहीं है कि इस दौर की सशक्त रचनाओं में अंधा युग का नाम प्रायः लिया जाता है, वह

काव्य नाटक है। त्रासदी की छाया से रंजित इस नाटक के संभवतः सबसे प्रभावशाली चरित्र दो प्रहरी हैं और उनके आत्म विडंबना से भरे हुए संवाद का यह अंश 'अंधायुग' के मार्मिक प्रसंगों में से एक है :

“हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया,
क्योंकि नहीं थी, अपनी कोई भी मर्यादा,
हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा,
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई गहन आस्था,
इसीलिए सूने गलियारे में, निरुद्देश्य,
निरुद्देश्य, चलते हम रहे सदा,
दाँ से बाँ और बाँ से दाँ,
मरने के बाद भी, यम के गलियारे में,
चलते रहेंगे सदा, दाँ से बाँ,
और बाँ से दाँ।”¹

यह काव्य खंड यदि गीत होता तो सर्वथा सपाट लगता। एक व्यक्ति के आत्म संताप के रूप में यही उद्गार अपनी गंभीरता के बोझ से पूरे कथ्य को बोझिल बनाकर उसकी अर्थवत्ता नष्ट कर देता। किन्तु दो व्यक्तियों के संवाद में विभक्त होकर यह काव्य खंड अपनी एकरसता को ही भंग नहीं करता। समूचे कथ्य को विडंबना पूर्ण बना देता है, जिसमें आत्म विडंबना भी अंतर्निहित है। महाभारत के सर्वनाश की त्रासदीय पीठिका में प्रहरियों का यह आत्मतुष्ट स्वर अपनी अगंभीरता द्वारा समूचे संदर्भ को और भी भाव गंभीर बना देता है और इस कारण उस त्रासदी की छाया और गहरी हो जाती है। कवि के अनजाने ही यह काव्य खंड स्वयं कवि द्वारा अंत में स्थापित 'मर्यादा' और 'आस्था' की निरर्थकता नहीं तो विडंबना को उद्घटित कर देता है।

धर्मवीर भारती की भाषा आम बातचीत की भाषा नहीं है, बल्कि उच्च मध्यवर्ग को संतोष प्रदान करने वाली भद्र भाषा है। यद्यपि उनकी चिंता निम्न मध्यवर्गीय जन से जुड़ने की है। सात गीत वर्ष में 'प्रमथ्यु गाथा' में ग्रीक मिथक चरित्र प्रोमिथियस की कथा है जो मनुष्य के लिए स्वर्ग से आग चुरा कर

¹ भारती, धर्मवीर . अंधा युग . पृ. सं.- 41

लाता है। उसे दण्ड में एक शिलाखंड से बाँध दिया जाता है। एक गिद्ध नोंच-नोंच कर उसका हृदय खाता रहता है और रात में फिर उसके घाव भर जाते हैं। सुबह फिर से वही क्रम, जिनके लिए वह आग चुराता है वे मनुष्य उसे तमाशबीन की तरह देखते रहते हैं। 'अंधायुग' में वे युद्ध के संकट को प्रश्न के दायरे में लाते हैं। वहीं 'अधायुग' का युयुत्सु कौरवों से विद्रोह कर पांडवों का साथ देता है। पांडव विजय के बाद उसकी उपेक्षा करते हैं, उद्धेलित होकर वह सत्य और असत्य दोनों की निरर्थकता की बात कहने लगता है।

ये विकट अनास्था, मानवविरोधी निराशा बड़ी व्यथित करने वाली है। 'अंधायुग' के सभी पात्र नियति को जानते हुए भी मूकदर्शक हैं। भारती जी की ये मनःस्थिति उसी मध्यवर्गीय मन स्थिति को दिखाती है जो परिस्थिति के तकाजे से व्यक्तिगत हानि-लाभ देखते हुए निर्णय लेती है। डॉ० नामवर सिंह ने भी इस ओर संकेत किया है- "भारती की अधिकांश कविताएं जिस राग रंग से बनी ठनी नजर आती है। उन्हें देखकर यही कहा जा सकता है कि शंका की बातें वे केवल अवसर के तकाजे से ऊपरी मन से करते हैं। फिर भी प्रयोगवाद के इतिहास की इस मनोवृत्ति का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि इससे कुछ परवर्ती प्रयोगवादियों की अनुभूतिहीन अनुकरणशील प्रवृत्ति का पता चलता है।"¹

प्रभाकर माचवे :

प्रभाकर माचवे पहले सप्तक के प्रमुख कवि हैं। माचवे छायावाद को हिस्टीरिया मानकर उससे तीव्र विरोध प्रकट करते हैं और यह सोचकर कि प्रयोगवाद में विषय की विविधता, व्यंग्यों की तीक्ष्णता, प्रकृति का वैज्ञानिक प्रयोग और बोलचाल की भाषा में नये कल्पनाचित्रों और अर्थों को भरने की शक्ति है वे प्रयोगवाद के साथ जुड़ते हैं। उन्हें व्यंजना शक्ति का प्रयोग प्रिय रहा है। मुक्त छन्द में भी उनकी गति अच्छी रही है। 'अनुक्षण' संग्रह की कविताओं में ये विशेषताएं देखी जा सकती हैं। उनकी विचारधारा के संबंध में डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है:

"प्रयोगवादी कवियों में प्रभाकर माचवे और गिरिजा कुमार माथुर दो ऐसे कवि हैं, जिनकी विचारधारा स्पष्ट नहीं है अथवा कम से कम जिन्होंने अपनी अनुभूति को निश्चित विचार प्रणाली का रूप नहीं दिया है। दर्शनशास्त्र के विज्ञापित विद्यार्थी प्रभाकर माचवे के लिए इस तरह की बात थोड़ी आश्चर्यजनक है, लेकिन है अक्षरशः सत्य। इसका कारण माचवे द्वारा ही उद्धृत कोलरिज के इस कथन में है कि गहरी भावनाएं गहरे विचार की कोख से जनती हैं' और माचवे में

¹ सिंह, नामवर . आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ . पृ. सं.-105

न तो गहरी भावनाएं हैं और न गहरे विचार। वे अपने भावों के प्रति कतई 'सीरियस' नहीं हैं, इसलिए उनके पद्यात्मक प्रयत्नों को शुद्ध 'रूपवाद' कहा जा सकता है।"¹

उनकी कविताओं में भी शमशेर की भांति परस्पर असंबद्ध स्मृति चित्र फ्री एसोशियंस के रूप में उठते दिखाई पड़ते हैं, लेकिन शमशेर के यहाँ वे अनायास आते हैं और माचवें सप्रयास उन्हें उदाहरण गढ़ने के लिए लेकर आते हैं। यद्यपि व्यंग्य, विडंबना और शाब्दिक विरोधों का भरपूर उपयोग वे करते हैं और काव्य के बुनियादी ढाँचे के साथ रचनात्मक खिलवाड़ का भाव उनमें मिलता है, जिसे लक्ष्मीकांत वर्मा 'शरारतपूर्ण सहसंयोजन' कहते हैं, लेकिन गम्भीरता के अभाव में ये मात्र क्रीड़ा कौतुक बन कर रह जाता है।

नरेश मेहता :

श्री नरेश मेहता (जन्म 1924) दूसरे सप्तक के एक प्रमुख कवि हैं, उनकी 'वनपाखी सुनो और 'बोलने दो चीड़ को नाम से दो संग्रहों में कविताएं प्रकाशित हुई हैं। इनकी कविताओं में एकांतिक आत्ममंथन से सामूहिक दायित्व बोध की ओर मुड़ने की प्रवृत्ति मिलती है। उनकी आरम्भिक कविताओं पर छायावाद और रहस्यवाद का प्रभाव रहा है। आगे चलकर वे यथार्थ चेतना की ओर मुड़ते हैं तो मैं पृथ्वी का सदा पुत्र हूँ, है धरती माता मेरी, लिख सकूँ प्रत्येक की हाहाकार कोलाहल कथा. जैसी कविताएं लिखते हैं। शस्य श्यामला भूमि पर जलती फसल और मरते मनुज पर उनकी दृष्टि जाती है। दूसरा सप्तक में संकलित उनकी कविता किरण धेनु का स्वर प्रारम्भिक छायावादी रोमानी स्वर ही है। 'मेरा समर्पित एकान्त' में वे रूमानियत से बाहर विडंबनाओं के चित्रण में जुटते हैं:

“सत्य की शोध में, मैंने उस दिन अपने सम्पाती को भेजा

सूर्य ओर, और वह जाने किस आकाश से

टूटकर लौट आया, उसे विनेत्र देख

मैंने कहा, सत्य आग्रेय है

उसे झुलसे देख मैंने कहा,

सत्य तेजस है;

उसे लौटे देख मैंने कहा, सत्य अप्राप्य है।

¹ सिंह, नामवर . आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ . पृ. सं.-105

लोगों ने तपस्वी सम्पाती को नहीं,

मुझे ऋषि कहा।"

‘संशय की एक रात’ नरेश मेहता का नाट्य काव्य है। कथा भूमि कमोवेश ‘राम की शक्तिपूजा’ की ही है, लेकिन युद्ध की अनिवार्यता राज्य व्यवस्था के पीछे छिपे अमानवीय चिंतन के दुष्परिणामों की नयी अभिव्यंजना करते हुए वे इसे युगीन प्रश्नों के साथ जोड़ देते हैं।

विनोद कुमार शुक्ल :

विनोद कुमार शुक्ल हिंदी कविता के वृहत्तर परिदृश्य में अपनी विशिष्ट भाषिक बनावट और संवेदनात्मक गहराई के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने समकालीन हिंदी कविता को अपने मौलिक कृतित्व से सम्पन्नतर बनाया है और इसके लिए वे पूरे भारतीय काव्य परिदृश्य में अलग से पहचाने जाते हैं। वे कवि होने के साथ-साथ शीर्षस्थ कथाकार भी हैं। 1 जनवरी 1937 को छत्तीसगढ़ के राजनांदगांव में जन्में शुक्ल की जड़ें हमेशा अपने जन्मस्थान में रही हैं। शुक्ल को व्यापक तौर पर नई कविता या प्रयोगवाद परंपरा में समेटा जा सकता है क्योंकि उनकी कविता में भाषा के साथ प्रयोग किए गए हैं। उत्पीड़न पर शुक्ल की कविताओं में से एक, "हताशा से एक व्यक्ति बैठा था" का बार-बार उल्लेख किया जाता है :

“हताशा से एक व्यक्ति बैठा था
व्यक्ति को मैं नहीं जनता था
हताशा को जनता था
इस लिए मैं उस व्यक्ति के पास गया
मैंने हाथ बढ़ाया
मेरा हाथ पकड़ कर वह खड़ा हुआ
मुझे वह नहीं जनता था....”¹

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी :

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की साहित्य साधना अविराम है। पूर्वांचल के कुशीनगर जनपद के एक छोटे से गांव रायपुर भैंसही से उनकी यात्रा शुरू होती है और इंग्लैंड, मारीशस, रूस, नेपाल, अमरीका, नीदरलैंड, जर्मनी, फ्रांस, लक्जमबर्ग, बेल्जियम, चीन और थाईलैंड होते हुए अभी जारी है।

¹ शुक्ल, विनोद कुमार . संस्करण- 2000 . अतिरिक्त नहीं . पृ. सं. – 13

उनका रचनाकर्म देश और भाषा की सीमाएं तोड़ता है। उड़िया अनुवाद के रूप में इनकी कविताओं के दो संकलन प्रकाशित हुए। हजारी प्रसाद द्विवेदी पर लिखी इनकी आलोचना पुस्तक का गुजराती और मराठी भाषाओं में अनुवाद है। इसके अलावा रूसी, नेपाली, अंग्रेजी, मलयालम, पंजाबी, मराठी, बांग्ला, गुजराती, तेलुगु, कन्नड़ व उर्दू में भी इनकी रचनाओं का अनुवाद हो चुका है।

डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (जन्म 20 जून 1940) प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार हैं और 2013 से 2017 तक की अवधि के लिए साहित्य अकादमी के अध्यक्ष रहे हैं। इस पद पर निर्वाचित होने वाले वे हिन्दी के प्रथम लेखक हैं। अकादमी ने उन्हें महत्तर सदस्य बना कर अपना सर्वोच्च सम्मान दिया है। 2023 में भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया। वे गोरखपुर से प्रकाशित होने वाली 'दस्तावेज' नामक साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका के संस्थापक-संपादक हैं।

शोभनाथ यादव :

शोभनाथ यादव का जन्म 14 जून, 1937 को जौनपुर (उत्तर-प्रदेश) में हुआ था। डा. यादव 'आकल्प' तथा 'प्रगतिशील आकल्प' द्वारा आयोजित महत्वपूर्ण अखिल भारतीय साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सरोकारों पर बेलाग परिचर्चाओं के आयोजन एवं सम्पादन से सतत जुड़े हुए हैं। देश की प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएं प्रकाशित हैं एवं आपकी कविताओं का अंग्रेजी, रूसी, गुजराती, पंजाबी तथा मराठी में अनुवाद हो चुका है। यूरोप तथा की यात्रा द्वारा अपनी सृजनधर्मिता में वृद्धि करने वाले डॉ यादव विश्व हिन्दी सम्मेलन (न्यूयार्क)-2007 में भी भाग ले चुके हैं। वे टैब्लाइड आकार में देश की प्रथम साहित्यिक पत्रिका 'प्रगतिशील आकल्प' का पिछले 8 वर्षों से कुशल सम्पादन कर रहे हैं। उनके प्रसिद्ध कविता-संग्रह हैं- संभावना (समकालीन भारतीय कविता: संपादन 1970), कविता (बंबई के प्रतिनिधि कवियों का संपादन 1974), भस्मासुर की भूमिका (1980), ईश्वर आतंकवादी (1991), अग्निमुखी (1993), अनाम त्रिज्याएं (1995), प्रजातंत्र का भोंपू (1996), दहक उठा गुलमोहर (1996), समकालीन कविता-1(1996) आदि।

डॉ. शोभनाथ यादव की कविता प्रजातंत्र के भोंपू का रहस्य खोलती है और राजनीति के 'सूरबाड़े' के घिनौने रूप को बेनकाब करती है। उनकी कविता में आम आदमी के त्रासद जीवन की तीव्र अकुलाहटपूर्ण चिंता है:

“छोड़ आया हूँ पीछे मैं

माँ की धुंधली दृष्टि

पिता की दुबली काया

बचपन के साथियों की

ढहती उम्र की कच्ची दीवार”¹

भगवत रावत :

भगवत रावत का जन्म 13 सितम्बर 1939 को ग्राम- टेहेरका, जिला- टीकमगढ़, मध्य प्रदेश में हुआ। भगवत रावत ‘एलीट’ कवि नहीं हैं। झांसी के सीपरी बाज़ार वाले हिस्से में सामान्य लोगों के बीच उनका बचपन बीता। यही जन-सामान्य उनकी कविता में बार-बार उभरता है। अपनी जिजीविषाशक्ति के साथ अनवरत संघर्ष करता हुआ आदमी ही उनकी कविता का वर्ण्यविषय है :

“ दरअसल में अब
फुल पट्टी, दरख्त, पहाड़, नदियाँ
यहाँ तक कि
धमियों-शिराओं में
बहते रक्त की तरह
फैली हैं कवितायें।”²

भगवत रावत की कवितायें अपने आसपास के जीवन एवं परिवेश से प्राप्त आत्मीय चेहरों की कवितायें हैं।

रमेशचंद्र शाह :

कवि, कथाकार, समीक्षक तथा निबंधकार डॉ. रमेशचंद्र शाह का जन्म सन् 1937 में बैसाख त्रयोदशी को अल्मोड़ा (उत्तराखंड) में हुआ था। इतिहास पुराण बाँचते हुए संप्रति की आँच में दहते हुए भी शाह साधारण जन की ही दुनिया के व्यक्ति हैं। उनकी कविताओं में समाज वर्गों में बँटा नहीं नजर आता, बल्कि एक अविभक्त सगुण इकाई के रूप में सामने आता है। विपुल पुस्तकों के रचयिता श्री शाह ने प्रत्येक विधा को अपने लेखन से संपन्न किया है। उनके प्रमुख कविता संग्रह हैं- कछुए की पीठ पर(1974), हरिश्चंद्र आओ, नदी भागती आई, प्यारे मुचकुंद को, चाक पर, देखते हैं शब्द भी अपना समय, अनागरिक (2004)।

उन्हें काव्य-रचना के लिए प्रेरित करने वाला तत्व है जिंदगी का चाव। जिंदगी के नए पुराने घावों के बावजूद वे उसे छोड़ नहीं पाते हैं और यही चाव अपने पाठकों के मन में भी जगाये रखना चाहते हैं :

¹ मिश्र, सरजू प्रसाद (सं.) – 2011 . समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर . पृष्ठ सं.- 104

² मिश्र, सरजू प्रसाद (सं.) – 2011 . समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर . पृष्ठ सं.- 117

“कुछ घाव जिंदगी का
पुरता है जो उसी से,
जो है नहीं किसी की
मरता नहीं क्यों फिर भी,
यह चाव जिंदगी का?”¹

¹ मिश्र, सरजू प्रसाद (सं.) – 2011 . समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर . पृष्ठ सं.- 106

2.3. पृष्ठभूमि

90 के बाद का समय हमारा जीवन काल है- हमारा यानी सामान्य रूप से स्वाधीनता के आसपास जनमे लोगों से लेकर युवतम पीढ़ी का। इनमें संवेदना अथवा चेतना के धरातल पर मैं बहुत भेद नहीं करना चाहता। समसामयिक होने के नाते लोगों के पूर्वग्रह काम कर सकते हैं। समकालीनता के साथ यह बात प्रायः होती ही है। वर्तमान मतभेद की भूमि न हो, तो वह कितनी बेजान चीज़ होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। इसके बावजूद, वर्तमान की वास्तविक विशिष्टताओं का शरसन्यान कठिन होता है। इसके लिए बहुत बड़ी बहस की आवश्यकता है। वर्तमान के अन्तर्विरोध आखिर हमारे ही अन्तर्विरोध होते हैं, जिन्हें समझने के लिए समसामयिक ऐतिहासिक यथार्थ को कठोर आत्मचेतना के स्तर पर पहचानने की आवश्यकता होती है।

‘लॉग नाइन्टीज़’ के पहले राजेश जोशी और विजय कुमार ‘आलोचना’ के मंच से समकालीनता और कविता विषय को बहस के लिए आगे कर चुके थे। बाद में राजेश जोशी ने अपनी दूसरी नोटबुक वाली किताब का नाम ही रखा- ‘समकालीनता और साहित्य’। समाप्ति के कुछ चिह्न बाबरी मस्जिद के ध्वंस और उसके बाद की कुछ घटनाओं में अवश्य दिखते हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी के विस्तार के लिहाज से सभी यह कह सकते हैं कि हम लगभग 21वीं शताब्दी में आ गए हैं।

नब्बे के दशक का कवि वह है जो अपने को पूर्ववर्तियों की वैचारिक मान्यताओं की कड़ी के रूप में देखता है। वह केवल वास्तविकता की ओर उन्मुख नहीं है। वास्तविकता को वह आत्मचेतना के स्तर पर रचने का प्रयास करता है, जिसमें भविष्य और उसके रास्ते संकेतित होते हैं। यह काम चुपचाप चलता है, बहुत बोलकर नहीं। कविता की यही प्रकृति है। कवि के आत्मसंघर्ष की यह प्रकृति है। कवि वास्तविकता का हिस्सा मात्र नहीं होता। वह वास्तविकता के विरुद्ध एकांत की रचना करता है, और एकांत जिस चुप्पी की रचना करता है उसमें अनन्त का स्फोट होता है। दूसरे शब्दों में, भविष्य का स्फोट होता है।

किसान, मजदूर और प्रोलेटेरियत आंदोलनों के बरक्स उपेक्षित एवं दलित, महिला एवं सबाल्टर्न प्रतिरोध बंदी के अनुसार ‘90 के बाद’ की विशेषता है। इससे सहमत होने की गुंजाइश मेरी समझ से कम बनती है। ये बातें बहुत पहले पैदा हो गई थीं। हॉब्सबॉम की पुस्तक ‘एज़ ऑफ़ एक्सट्रिम्स’ के शुरू में ‘लोगों की नज़र में बीसवीं शताब्दी क्या है’ शीर्षक के अन्तर्गत कुछ टिप्पणियाँ शामिल की गई हैं। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित रीता लेवी मोन्तेलसिनी की टिप्पणी है, **“सभी बातों के बावजूद इस शताब्दी में अच्छे से अधिक अच्छे के लिए क्रांतियाँ हुई हैं... चौथी सत्ता का उदय और सदियों से दमित नारी का उत्थान।”**¹ यह बात यूरोप की तुलना में भारत में कम हुई थी, लेकिन हुई थी। कविता में भी ‘90 से पहले’ यह दिखाई पड़ती है। रघुवीर सहाय में स्त्री प्रश्न खूब है। मंगलेश, अरुण कमल,

¹ जैम्सन, फ्रेडरिक . पोस्ट मॉडर्निज़्म ऑर द कल्चरल लॉजिक ऑफ़ लेट कैपिटलिज़्म . पृ. सं.- 64

राजेश जोशी और उदयप्रकाश में भी है। यह अलग बात है कि इन कवियों ने इसे अलगा कर दिखाने की कोशिश नहीं की, और पिछले दौर में कवयित्रियों का अभाव रहा। अच्छी बात है कि बद्रीनारायण ने अपने पूर्व के कुछ कवियों को, जिसमें राजेश जोशी और अरुण कमल हैं, सरलीकरण की प्रवृत्ति से बाहर रखकर देखा है, लेकिन इसके लिए उन्हें '90 का ऋणी बना दिया है। बड़ी चीज़ नब्बे है; जैसे पहले छायावाद के विरुद्ध बड़ी चीज़ नई कविता थी। नयी कविता छायावादी संस्कार की शत्रु थी; '90 परवर्ती प्रगतिशील संस्कार का किंचित शत्रु हुआ।

प्रश्न है हमारा समय क्या है? हमारे समय की कविता कैसी है? विद्वान इस समय को 'लॉग नाइन्टीज़' नाम देते हैं। 'लॉग नाइन्टीज़' यानी हॉब्सबॉम की 'शॉर्ट सेंचुरी' के बाद का समय, जिसमें पुराना समाप्त हो चुका, लेकिन नए का स्वप्न साफ नहीं है। 'लॉग नाइन्टीज़' पद में, इस तरह समाजवाद के भविष्य के प्रति निराशा दिखाई देती है। निराशा उचित है। लेकिन उस निराशा के उत्तर में इधर-उधर से लाए गए वैचारिक संस्रोतों में जो चमक और ऊर्जा देखी गई है, और जिस तरह 'पूर्व पीढ़ी' के कृतित्व पर शरसन्धान किया गया है, वह आत्मश्लाघापूर्ण विच्छेद की ऊँचाई पर है।

नब्बे के दशक के कवि दो प्रकार के हैं। एक वे हैं जो अपनी रचना और उसके विषयों को लेकर बहुत मुखर हैं। उन्हें अपने को मनवाने की चिन्ता अधिक रहती है। समझौताविहीन स्तर पर और बेहतरी की दिशा में या कहें प्रगति की मंशा से यदि किसी में यह है, उसे भी आत्मसंघर्ष के रूप में मंजूर किया जाना चाहिए। दूसरे वे हैं जो अपने कवि होने के प्रति संकोच का भाव रखते हैं। उनका आत्मसंघर्ष कठिन है। उनमें अन्तःप्रेरणाएँ अधिक सक्रिय रहती हैं, लेकिन उन्हें समझने में कवि अपने को असमर्थ महसूस करता है। जब कवि ही नहीं समझ पाता तो दूसरों के लिए समझना मुश्किल काम होगा ही। इस मुश्किल के भीतर कवि के आत्मसंघर्ष को समझने और इसी दृष्टि से उसे महत्त्व दिए जाने की आवश्यकता है। आज कवि बहुत हैं, लेकिन इस 'मुश्किल' के भीतर ऊँचाई पाने वाले कवि बहुत कम हैं। जो हैं उन्हें आगे रखकर देखने की ज़रूरत है। आत्मसंघर्ष वाली बात ठीक-ठीक तभी समझ में आ सकती है।

सन् 1977 के चुनाव में दिग्गज नेताओं की एक पूरी पीढ़ी पहली बार पराजित हुई। इसके बाद अल्पजीवी सरकार बनी फिर उसका पराभव, मध्यावधि चुनाव, देश को हिला देने वाली राजनीतिक अनस्थिरता का दौर... सबने मिलकर एक दिग्भ्रम कायम कर दिया। विफलता के इस दौर ने समाज का ढाँचा बदल देने का हौसला रखने वाले युवा-वर्ग को आन्दोलनविमुख कर दिया, वे विद्रोह की दिशा छोड़कर किसी तरह कुछ पा लेने के लिए पिछले दरवाजे की तलाश करने लगे। यह स्थिति रचनाकारों के लिए त्रासद थी। उनके लिए विषय तो वे ही थे, पर उस दंश की तीक्ष्णता बढ़ गई थी। इसलिए कवियों ने अपनी शैली और शिल्प में परिवर्तन किया। चीख, विद्रोह और आक्रोश की भाषा संयत हुई, मगर सहज, सरल शब्दों में तीक्ष्ण व्यंग्य की प्रवृत्ति सामने आई।

इन कविताओं में मानव-जीवन के सब रंग उपस्थित हुए— प्रवंचनाएँ, विकृतियाँ, शोषण, प्रताड़ना, पाखण्ड, दैन्य, अशिक्षा, शिक्षा की माफियागिरी, राजनीति का अपराधीकरण, मानवीय सम्बन्धों को खण्डित करने के षड्यन्त्र, प्रायोजित समस्याएँ, स्त्री विमर्श, दलित प्रसंग, अपहरण, बाल समस्या, भ्रूण-हत्या, मानव-हत्या, दंगा-फसाद, साम्प्रदायिक और जातीय दंगा, अमानवीय हरकतें, तस्करी, राष्ट्रीय अस्मिता के साथ धोखाधड़ी... सब कुछ का चित्रण गम्भीर संवेदना के साथ होने लगा। कवि अपनी भाषा और विचार की जटिलता, क्लिष्टता से मुक्ति पाकर स्पष्टता और सुलझाव की ओर उन्मुख हुए, क्योंकि सामाजिक स्तर पर सारे परिदृश्य उनके समक्ष स्पष्ट और सुलझे हुए थे, सारे सत्य को वे निज जीवन के यथार्थ की तरह भोग रहे थे। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक सम्बन्धों की पहचान कविताओं में होने लगी। कविता आम जनमानस से अपने नए सम्बन्ध के साथ जुड़ने लगी।

2.3.1. नब्बे के दशक के कवि

अरुण कमल :

अरुण कमल का जन्म 15 फरवरी 1954 ई. को नासरीगंज जिला रोहतास, बिहार में हुआ था। इनकी उच्च शिक्षा पटना विश्वविद्यालय में हुई। वर्तमान समय में ये पटना विश्वविद्यालय में ही अंग्रेजी के प्रोफेसर हैं। अरुण कमल के अब तक कुल तीन काव्य संग्रह 'अपनी केवल धार (1980 ई.)', 'सबूत' (1989 ई.), और 'नये इलाके में' (1996 ई.) प्रकाशित हो चुके हैं। अरुण कमल मुख्यतः मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े रचनाकार हैं। लेकिन वैचारिक आग्रह रचनाओं में दुराग्रह का रूप कभी भी धारण नहीं करता। अरुण कमल जीवन के विविध क्षेत्रों में जो कुछ घटित हो रहा है उसे इस दृष्टि से देखते-परखते हैं कि मानव जीवन में परिवर्तन के नाम पर कितना जुड़ रहा है और कितना रीत रहा है। 'नये इलाके में' कविता मनुष्य की भौतिक उन्नति शहरीकरण की मानसिकता, परिवर्तन की तेज गति के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की आत्मीय संवेदना के हास को निर्दिष्ट करने वाली कविता है।

गरीबी, भुखमरी एवं आम आदमी की त्रासद स्थितियों के अनेक मार्मिक चित्र अरुण कमल की कविताओं में अंकित मिलते हैं। वे मनुष्य को ऐसे स्तर पर प्रतिष्ठित देखने की चाह रखते हैं जहाँ वह मनुष्य के रूप में शान से जी सके। जब सबका मूल एक ही भूमि, जल, संसार सब एक है। नितान्त सरल शब्दों में विश्व मानवता के एकीकरण की यह सार्वभौम दृष्टि अरुण कमल को श्रेष्ठ कवि के दायरे में ला देती है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं :

“एक ही तो मूल में हम
एक ही हैं भूमि-जल-संसार अपना।
एक ही अन्तः प्रदेश।
उतने ही अलग।
उतने ही एक।
जितना दो आँखे”¹

अरुण कमल हिन्दी के उन थोड़े कवियों में हैं जिनके यहाँ मृत्यु का आभास और जीवन की उद्दाम लालसा के बिन्दुओं से उठता विडम्बनापूर्ण जीवन का संघर्ष आरम्भ होता है। उनकी कविता को पढ़ते हुए निराला, नागार्जुन, केदारनाथ सिंह तक बार बार याद आते हैं। कम से कम शब्दों में अनूठे

¹ कमल, अरुण . 2012 (तृतीय संस्करण) . अपनी केवल धार . पृ. सं.- 77

बिम्बों से जैसे कविता में जीवन की सृष्टि वे कर पाते हैं वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी हर कविता नये इलाकों की खोज में निकलती है और नये काव्य सत्य को सामने लाती है। 15 फरवरी 1954 को बिहार के नासरीगंज (रोहतास) में जन्में कवि अरुण कमल की चार कविता पुस्तकें अपनी केवल धार (1980), सबूत (1989), नये इलाके में (1996) और पुतली में संसार (2004) अब तक आई हैं। उन्हें भारतभूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार (1980), सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार (1989), श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार, रघुवीर सहाय स्मृति पुरस्कार, शमशेर सम्मान और नये इलाके में संग्रह के लिए 1998 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। अपने पहले कविता संग्रह में ही कवि ने आम जनजीवन से अपने घनिष्ठतम लगाव और संघर्षशील राजनीतिक विचारधारा की स्पष्ट अभिव्यक्ति की थी, नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की चेतना से वे प्रभावित हुए। आन्ध्र प्रदेश के नक्सलबन्दी किशता गौड़ और भूमैया को आपातकाल के दौरान फांसी देने और समाचार पत्रों द्वारा तमाम हास्यास्पद खबरों के बीच इस घटना को खबर तक न बनाने से वे क्षुब्ध हुए। उनके पहले संग्रह में ही एक कविता है 'खबर' जिसमें वे इसे विडम्बना के रूप में देखते हैं :

“एक खबर जो कहीं नहीं थी

किशता गौड़ को फांसी हो गयी

एक खबर जो खबर नहीं थी

भूमैया को फांसी हो गयी।”¹

लेकिन हर निराशा के बीच कहीं तो आशा की किरण हमेशा रहती है एक ऐसे समय जब सारे अखबार सूर्य ग्रहण को न देखने की ताकीद करते हैं, तब भी कुछ सिरफिरे तो ही है जो खतरे उठाने के आदी होते हैं। ऐसा जो भी निष्प्रयोज्य जानकारी छोड़ दिया गया, छोटी-छोटी चीजें जिनको महत्वहीन माना जाता है उन्हीं हाशिये पर पड़ी चीजों से कवि को उर्जा मिलती है। धान से अलगाकर फेंक दी गयी भूसी, बाज़ार में पड़ी वस्तु से अलगा दिये गये उस वस्तु के निर्माता मजदूर या अन्न के अभाव से जूझते अन्नदाता किसान का प्रतीक बन जाती है। 'भूसी की आग' कविता में ऐसी ही कम महत्वपूर्ण समझी जाने वाली चीजों में छिपी आग की ओर कवि इशारा करता है:

“जाड़े की रात थी/मिट्टी की बोरसी में धान की भूसी की

¹ कमल, अरुण . कुछ देर के लिए, हम जो देखते हैं . पृ. सं.- 11

थोड़ी सी आग थी/आग के ऊपर/एक दूसरे के तर ऊपर
कई जोड़े हाथ थे/अपने को सेंकते/ तभी किसी बच्चे ने
लोहे की सीक से आग उकटेरी/और धाह फेंकती लाल आग
को देखकर सबने सोचा/भूसी की आग भी बड़ी तेज होती है।"¹

क्रान्ति, सूने में नहीं होती बदलाव मध्यवर्ग नहीं लाता, हाँ वह बदलाव के एक दौर में सहयोगी के रूप में आन्दोलन की दिशा अवश्य तय करता है। जन बौद्धिक की तमाम ऊर्जा का स्रोत जनता ही है। जनता के साथ उसका आत्मीय संबंध ही उसे निर्णायक समझ देता है।

लीलाधर जगूड़ी :

लीलाधर जगूड़ी का जन्म 1 जुलाई, 1994 को उत्तरांचल के टिहरी जिले में घंगड़ गाँव में हुआ था। इनके प्रमुख काव्य संकलन इस प्रकार हैं- शंखमुखी शिखरों पर (1964), नाटक जारी है (1962), इस यात्रा में (1964), रात अभी भी मौजूद है (1966), बची हुई पृथ्वी (1966), घबराये हुए शब्द (1981), भय भी शक्ति देता है (1991)। लीलाधर जगूड़ी अपनी कविता में यथार्थ को सम्पूर्णता में रूपायित करने की चेष्टा करते हैं। वे उसकी जटिलता और बारीकियों की भी खोज करते हैं। उनकी कविताओं में अपने परिवेश की गहरी समझ है। 1962 के बाद परिवेश के प्रति विशेष सजगता और उपेक्षित तिरस्कृत लोगों की यातना और शोषण की स्थितियों को विश्लेषित और रूपायित करने की प्रवृत्ति हिन्दी कविता में विशेष रूप से उभर कर आई। जगूड़ी एक रिपोर्टर की तरह यथार्थ का व्यौरा नहीं प्रस्तुत करते बल्कि नित्य अनुभव में आने वाले वृक्षों, चिड़ियों, बाजार, ट्रेफिक, खिलौने आदि में अर्थ की नूतन संभावनाओं का समावेश करते हैं।

कवि जगूड़ी कहीं-कहीं आक्रामक मुद्रा में कविता के जरिये ललकारता है। शोषक और शोषित के बीच के सम्बन्धों की तल्खी को शब्दबद्ध करते हुए वह कहते हैं :

"तुम समझ रहे हो कि हवा तुम्हारे पक्ष में है
लेकिन आज ये वक्त है।
तुम्हारे इतने बड़े हाथ की इतनी बड़ी पहुँच से।
मैं बहुत पीछे छूट गया हूँ

¹ कमल, अरुण . भूसी की आग . पृ. सं.- 17

**जहाँ तुम मुझे एक फोड़े की तरह महसूस कर रहे हो
ये वक्त है कि न तुम मुझे सहन कर सकते हो
और न मैं तुम्हें जीवित छोड़ सकता हूँ”।¹**

साठोत्तरी हिन्दी कविता को लीलाधर जगूड़ी की रचनात्मक हिस्सेदारी ने निहायत अलहदा तरीके से समृद्ध किया है। उनकी कविताओं का पहला संग्रह 1964 में शंखमुखी शिखरों पर नाम से प्रकाशित हुआ था। आठवें दशक में उनके चार कविता संग्रह नाटक जारी है (1972), इस यात्रा में (1974), रात अब भी मौजूद है (1976) तथा बची हुई पृथ्वी (1977) नाम से एक के बाद एक प्रकाशित हुए। नवें दशक में घबराये हुए शब्द भय भी शक्ति देता है, महाकाव्य के बिना प्रकाशित हुए। ‘अनुभव के आकाश में चांद’ के बाद ईश्वर की अध्यक्षता में संग्रह तक आते-आते उनकी काव्य चेतना में हिन्दी कविता के विभिन्न आन्दोलनों का प्रभाव देखा जा सकता है। संभवतः अपने समकालीनों में सर्वाधिक संकलन उन्हीं के प्रकाशित हुए हैं। उनकी लम्बी कविताओं में ‘नाटक जारी है’ और ‘बलदेव खटिक’ काफी चर्चा में रही हैं। उन्हें कई आलोचक धूमिल की साहित्यिक परम्परा का सच्चा उत्तराधिकारी मानते हैं। अनुभव के आकाश में चांद के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

उनके कवि-जीवन का आरम्भ अकविता के दौर में हुआ था। उनकी आरम्भिक कविताओं पर अकविता आन्दोलन का स्पष्ट प्रभाव दिखता है, जिसके फलस्वरूप जुगुप्सा पैदा करने वाले दृश्यों, कथानकों और अभद्र शब्दों का इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति उनमें भी दिखाई देती है। नाटक जारी है में समकालीन जीवन का साक्षात्कार जहाँ वे करते हैं। वहीं व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश भी उनमें दिखाई देता है जिसके चलते उनकी वाणी असंयत हो जाती है। इस यात्रा में वे एक कदम और पीछे आकर कल्पना और वाकचातुर्य का सहारा लेकर यथार्थ की भूमि से हटते दिखते हैं। यद्यपि राजनैतिक कविताएं यहाँ पहले से अधिक हैं, लेकिन एकरसता और जुगुप्सा पैदा करने वाली उक्तियों के अलावा पहले की अपेक्षा यहाँ दुहराव भी बहुत दिखता है। रात अब भी मौजूद है में वे वापस अपनी कविता की जमीन पर लौटते हैं। यहाँ अश्लीलता से बचते हुए वे अपनी रचना शक्ति व अपनी सामर्थ्य का परिचय कराते हैं। बची हुई पृथ्वी में पुनः वे अपने स्तर से हटते हैं। यद्यपि इसी संग्रह की एक कविता ‘बलदेव खटिक’ संग्रह की अन्य कविताओं से अलग अपनी पहचान बनाती है। देश में न्याय, कानून, कचहरी पुलिस सब क्या सिर्फ धनपतियों के लिए ही है? ये प्रश्न कविता में बार-बार उभर कर आता है। बलदेव खटिक की माँ बिना दवा दारू के दम तोड़ जाती है :

“अपने होंठों पर मुर्दा दिन को जिन्दा करते हुए,

दीवान कहता है किस कलम से करूँ?

¹ मिश्र, सरजू प्रसाद (सं.) – 2011 . समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर . पृष्ठ सं.- 196

चाँदी की कलम से करूँ? सोने की कलम से करूँ?

कि लकड़ी की कलम से करूँ?

मार खाया हुआ आदमी रिरियाता है कि कानून की कलम से करो

कानून की कलम लकड़ी की होती है।

दीवान कहता है- कल आना।"¹

‘बलदेव खटिक’ उनकी सफल कविताओं में एक ही नहीं हिंदी की श्रेष्ठ कविताओं में भी एक है। उनकी कविताओं में ‘बच्चे’ और ‘चिड़िया’ दो संज्ञाओं का कई बार प्रयोग हुआ है। ‘चिड़िया’ शीर्षक से भी उन्होंने कई कविताएँ लिखी हैं। ‘बची हुई पृथ्वी में चिड़िया-1’ शीर्षक कविता में वे लिखते हैं :

“आदमी के भीतर जो चिड़िया है,

घोड़े के भीतर जो चिड़िया है,

बिजली जिस पर गिरेगी

उस किसी एक पेड़ से बचना चाहती है।”²

लीलाधर जगूड़ी कविता के फार्मेट में बड़े पैमाने पर तोड़-फोड़ करते चलते हैं। कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि वह अपने समय की जटिलता को अभिव्यक्त करने के मकसद से कम शाब्दिक तार्किकता में खेलने रचने के सुख से कहीं ज्यादा परिचालित हैं। उनके स्वर में नकार नहीं है बल्कि प्रबल मार्क्सवादी परिवर्तन की आकांक्षा है। उनकी दृष्टि यथार्थवादी दृष्टि है जो आम जनजीवन का साक्षात्कार पाठक को कराती है। शुरूआती कविताओं में वे सामाजिक विषमता का सीधा साक्षात्कार करते थे :

“वे केवल खा रहे हैं

वे केवल पहन रहे हैं

बिना यह जाने हुए

¹ जगूड़ी, लीलाधर . बलदेव खटिक, बची हुई पृथ्वी में . पृ. सं.- 27

² जगूड़ी, लीलाधर . चिड़िया एक, बची हुई पृथ्वी में . पृ. सं.- 30

कि बाजार में थान के थान कपड़े हैं

और तुम नंगे हो"¹

कुल मिलाकर उनकी कोशिश लोक जीवन के आचरण की भाषा निर्मित करने की ओर होती है, जिसका अलग ही वैचारिक शरीर होता है। समकालीन कविता के वे एक समर्थ कवि हैं, जिनका नकार और प्रशंसा दोनों साथ-साथ चलती रहती है। इसके साथ ही हिन्दी कविता में आलोचकों और पाठकों ने उन्हें स्वीकार भी किया है और हिन्दी के चुनिंदा बड़े कवियों में उन्हें गिना जाता है।

विजेन्द्र :

उत्तर प्रदेश के बदायूँ के धर्मपुर गांव में 1935 में जन्मे विजेन्द्र की प्रारंभिक तालीम उर्दू फारसी के विद्वान मौलवी रफीक अहमद के सान्निध्य में हुई तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय से उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में एमए किया। कुछ दिनों मुकुंदगढ़ के महाविद्यालय में पढ़ाने के बाद भरतपुर के श्री जया महाविद्यालय में पढ़ाया और तदनंतर लोहिया कालेज चूरू में उपाचार्य व एनडीबी राजकीय कालेज नोहर में प्राचार्य पद से सेवानिवृत्ति हुए। स्वतंत्र लेखन ताउम्र चलता रहा। वे प्रारंभ से ही वामपंथी विचारधारा के अनुयायी रहे तथा अंत तक वामपंथ में आस्थावान बने रहे। यह और बात है कि वामपंथी आलोचना ने भी उनके अवदान को कभी उत्सुकता से नहीं निहारा।

विजेन्द्र हिन्दी कविता के क्षेत्र में लोक की आकृति, लोक संवेदना को व्यक्त करने वाले प्रमुख कवि हैं। लोक जीवन के अछूते बिम्ब, नये शब्दों और लोक की ध्वनियों को कविता में खोज कर लाने वाले प्रमुख कवि हैं। उनकी कविता में वो किसान जिसकी सारी फसल सारा जीवन बंधक है, मजदूर जो चैत काटता है, खदान में कोयला खनता है, रिक्शे पर आदमी को ढोता है, होटल में बर्तन मांजता है, कविता के केन्द्र में आया है जो बौद्धिक विमर्शों के अकादमिक वक्तव्यों, राजनीतिक विचारों की किताबी व्याख्या करती और नगरीय जीवन पर मध्यवर्ग पर केन्द्रित हो चली कविता से गायब ही होता जा रहा था। विजेन्द्र का पहला संग्रह 'त्रास' (1966) में आया था फिर 1980 में 'ये आकृतियां तुम्हारी' आया। उसके बाद चैत की लाल टहनी (1982) उठे गूमड़े नीले (1983) धरती कामधेनु से प्यारी (1990) ऋतु का पहला फूल (1994) उदित क्षितिज पर (1996) घना के पांखी (2000) तुम्हारा पहले खेलना (2004) बसंत के पार (2006) पकना ही अखिल है (2009) दूब के तिनके (2009) आंच में तपा कुंदन (2010) समेत दर्जन से अधिक कविता संग्रह अब तक आ चुके हैं।

विजेन्द्र ने जीवन जगत के लोक के बिम्बों, प्रतीकों के संकेतार्थों, अर्थचावियों को आत्मसात कर उनका पुनर्सृजन कविता में किया है उनमें लोक कथाओं का गांभीर्य है जिसे वे अपने काल के बोध से

¹ जगूड़ी, लीलाधर . रामलीला, रात अब भी मौजूद है . पृ. सं.- 16

जोड़कर समकालीन कविता के पाठक की चेतना उसकी ज्ञानेन्द्रियों को झकझोरने के लिए प्रयुक्त करते हैं। उनकी बुनियादी चिंताएं क्या हैं देखिए :

“शत्रु को पहचानो यह एक शर्त है

कविता पहले यह प्रश्न उठाती है,

शत्रु को पहचानो

रचना आँख है यह एक लड़ाई है

कविता को तोड़ना बहुत जरूरी है जैसे बीहड़ यात्रा से पहले सारा बंदोबस्त...”¹

कवि इस फरेब से निकलकर संघर्षशील मजदूरों-आदिवासियों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। ‘बिरसा मुण्डा’ पर कविता लिखते हुए वह उस संघर्षशील मनुष्य की गाथा कहता है जिसके जनसंघर्ष ने उसे बिरसा मुण्डा से बिरसा भगवान का दर्जा दिलाया। आज फिर से उसी आँध को कवि ढूँढ़ता है :

“जलाओ अलाओ वो आंच

जो उसने जलाई थी

छोटा नागपुर के पठारों पर

बिरसा के अतुल बल का ही नाम है

आज की उदित जनशक्ति...”²

मंगलेश डबराल :

मंगलेश डबराल का जन्म मई 1948 को टिहरी गढ़वाल, उत्तरांचल में हुआ था। ‘घर का रास्ता’ एवं ‘पहाड़ पर लालटेन’ इनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं। जनभावना से सम्पूक्त डबराल बड़े नपे तुले तरीके से सामान्यजन के दैनिक क्रिया-कलापों, संघर्षों एवं सपने से जुड़ी अनुभूतियों को अपनी कविता में चित्रित करने का प्रयास करते हैं। ‘पहाड़ पर लालटेन’ संकलन की पहली कविता में वे अपनी रचना

¹ विजेंद्र . ये आकृतियाँ तुम्हारी . पृ. सं.- 78

² विजेंद्र . भीगे डैनो वाला गरुड़ . पृ. सं.- 91

धर्मिता को व्यंजित करते हैं। उनको उम्मीद है कि इन ढलानों पर बसन्त फिर आयेगा, ठंड से मरे हुए लोगों की इच्छाएँ पुनर्जीवित हो जायेंगी, अंधकार मुसाफिर की तरह चला जायेगा, चारों ओर पत्थरों में दबे हुए मुख दरार के बीच से झाँकने लगेंगे।

शहर की आपाधापी, भागदौड़, थकान, एकाकीपन, नीरसता, घोर प्रतिस्पर्धा, दिन की चमक में भी शहर के बीचोबीच की धुंध को 'आखिरी वारदात' कविता में रोमांचक ढंग से चित्रित करते हैं। भय और दहशत के माहौल को कुछ-कुछ मुक्तिबोध की फैन्टेन्सी वाली शैली में व्यंजित करने का प्रयत्न दिखाई देता है :

“जीभ लपलपाते दिन
मेरे सर से चले जाते हैं
और धूप मुझे कुछ और मूर्ख बनाकर
छोड़ देती है शहर के बीचोबीच
एक अजीब सी धुंध में
चौंककर मैं आँखें साफ करता हूँ
शहर एक स्थायी बाढ़ में बहता चला जाता है
मुझे लकड़ी या पत्थर की तरह
किनारे फेंकता हुआ।”¹

हिंदी कविता जगत में मंगलेश डबराल एक परिचित और विश्वसनीय नाम है। 'पहाड़ पर लालटेन' और 'घर का रास्ता' के बाद उनका 'हम जो देखते हैं' नाम से काव्य संग्रह आ चुका है। उन्होंने कविता में संस्मरण जैसी विधा का इस्तेमाल करते हुए व्यक्तियों पर लिखी हुई कविताओं को एक विशिष्ट पहचान दी है। सम्बन्ध स्मरण और व्यवहारवाद से ऊपर ये कई अर्थों में बड़ी कविताएँ हैं। उदाहरण के लिए उनकी कविता मोहन थपलियाल का आखिरी हिस्सा देखिए :

“तुम अस्पताल से लौटते हो अपने कलेजे का रक्त थामे हुए
देखते हो बच्चे कुछ और बड़े हो गये हैं
घर की मद्धिम रोशनी में पढ़ रहे हैं अपना पाठ
रसोईघर में खड़ी पत्नी पल भर देखती है

¹ डबराल, मंगलेश . 1981 . पहाड़ पर लालटेन . राधाकृष्ण प्रकाशन . पृ. सं. 77

मुश्किल से जुटाया हुआ अपना छोटा सा संसार और

तुम अपने कॉमरेड ब्रेख्त की कविता पर झुके..”¹

मंगलेश डबराल ने कविता और संगीत के बीच एक पुल बनाया है। उनके अनुभव की प्रक्रिया नयी है और बहुधा गद्य का सहारा लेकर बुनी गयी उनकी कविताओं में भी रूखापन नहीं बल्कि लय मिलती है। जो ओढ़ी हुई नहीं बल्कि स्वतः स्फूर्त भाषा का लक्षण है। मनुष्य के भीतर जो कुछ भी सुंदर है उसकी रक्षा का प्रण उनकी कविताओं में भरा है। विडम्बनाओं से भरे हमारे समय के प्रति वे जागरूक हैं। ‘तानाशाह कहता है’ कविता में वे लिखते हैं :

“देखो! तुम्हारी झोपड़ी के पर उड़ गये हैं / और कई रोज से

तुमने कुछ खाया नहीं/ तुम्हारी फसल कोई लूट ले गया है

तुम्हारे बच्चे रो रहे हैं/आसमान की ओर मुँह किये हुए

फिर भी तुम खुश रह सकते हो / अगर हमारे होकर रहो

हम तुम्हारे लिए ही आये हैं/कहते हुए तानाशाह पथ से आता है

जो हमारा नहीं उसकी खैर नहीं/कहकर मुस्कुराता है”²

भ्रष्ट हो रही भाषा और भोथरी होती जा रही हमारी संवेदना को बचाने का प्रयास उनकी कविता करती है। लगातार नष्ट होती जा रही खोयी हुई चीजों के संसार में वे प्रवेश करते हैं और उनको नष्ट करने वाली शक्तियों से टकराते हैं। उनकी रचनाओं का संसार हमारी दैनंदिन साधारण परिचित दुनिया की घटनाओं और चीजों से बना है। जिसे एक विनम्र शिल्प के सहारे करुणा और विडम्बनाओं के प्रकटीकरण की विशेषताओं से उन्होंने जीवित बनाया है। पहाड़ पर लालटेन की कविताओं में उनकी संघर्षधर्मी चेतना के दर्शन होते हैं। जहाँ पहाड़ पर एक तेज आँख की तरह धीरे-धीरे आग बुनती लालटेन उम्मीद के प्रतीक में बदल गयी है। चट्टानों से ये सारे लोग उभर कर आ जाते हैं जिनके खेत गिरवी रखे हुए हैं स्त्रियों के गहने उतार लिए गये हैं जो कभी भूख से कभी बाढ़ से मारे जा रहे हैं, एक उम्मीद उन्हें मुस्तैद पंजे में बदल रही है। जो निरीह है शक्तिहीन है धीरे-धीरे वे अपनी शक्ति को खोज

¹ डबराल, मंगलेश . मोहन थपलियाल (कविता) . पहल- 75

² डबराल, मंगलेश .पहाड़ पर लालटेन . पृ. सं.- 63

कर जुटा कर संघर्ष के लिए तैयार हो रहे हैं। 'चिड़िया' शीर्षक कविता में चिड़िया उसी सर्वहारा का प्रतीक बन जाती है। जो धीरे-धीरे जागरूक हो रहा है :

"खून की खामोशी को छेदती हुई / एक छटपटाहट है जिसके पार चिड़िया घूमती दिखती है।"¹

यथास्थितिवाद से मुक्त होकर कवि बाह्य जगत में चल रहे इस संघर्ष से जुड़ना चाहता है। लोगों के साथ उनके दुख सुख में शामिल होना चाहता है। 'खिड़की' कविता में इसी की अभिव्यक्ति की गई है। नींद की कविता, कागज की कविता, सपने की कविता, बचपन की कविता और चाँद की कविता, निराशा की कविता, आँसुओं की कविता और हाशिये की कविता जैसी कविताओं में भी अपने निराशा भरे समय पर गंभीर टिप्पणियों और उन निराशाओं के बीच आशा को खोजते कवि को देखा जा सकता है। 'नृत्य में खांसी' उनकी एक विशिष्ट कविता है जो अलग से पाठ की माँग करती है। खांसी आना एक स्वाभाविक क्रिया है। कला संस्कृति के क्षेत्र में नैसर्गिकता का ऐसा निषेध है कि सभ्य समाज में खाँसना भी अपमानजनक बन जाता है। कवि ऐसी संस्कृति और एलीटबोध पर व्यंग्य करते हुए लिखता है :

"खांसी मनुष्य को नृत्य से दूर करती है,

खांसी मनुष्य को मंत्री से दूर करती है

खांसी मनुष्य को दूर करती है संस्कृति से.."²

कवि ने उन खोई हुई चीजों से जीवन की पुनर्चना कविता में की है। कविता के क्षेत्र उनकी सफलता का कारण उनकी कला नहीं बल्कि जीवन के प्रति दृढ़ विश्वास और एक गहरी उम्मीद ही है। जो पाठकों को जीवन को भिन्न तरीके से उसके यथार्थरूप में देखने के लिए प्रेरित करता है।

मनमोहन :

मनमोहन उन विरले कवियों में है जिन्होंने मात्रात्मक रूप से कम कविताएँ लिखकर भी हिन्दी कविता को नए आयाम दिए हैं और अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। उनका पहला संग्रह 'जिल्लत की रोटी' पाठकों के काफी इन्तजार के बाद आया है। उनकी कविताओं के पाठक संग्रह के अभाव में भी

¹ कमल, अरुण . चिड़िया . पृ. सं.- 42

² कमल, अरुण . नृत्य में खांसी . पृ. सं.- 43

सुदूर कस्बों और अंचलों में बने। इसका कारण था जनता से उनका जुड़ाव, संघर्षों के प्रति प्रतिबद्धता और कवि के रूप में आवश्यक शिल्पसजगता। 'जिल्लत की रोटी' शीर्षक अपने कई प्रतीकार्थ लिए है। समाज में बदलाव के लिए समाज में होना जरूरी है और एक ऐसे विडम्बनापूर्ण समय में जब समाज में जीवकोपार्जन के सारे साधनों पर साम्राज्यवादी-पूंजीवादी ताकतों का वर्चस्व हो और मजबूरी में रोजी-रोटी की तलाश वहीं करनी पड़ी तो कौन जिल्लत की रोटी नहीं खा रहा ? कवि की आकांक्षा उसके विचार को भी जिन्दा इसी ने रखा है कि एक दिन सब सम्मान से रोटी खा सकेंगे। संग्रह की एक कविता है 'इच्छागीत' जो इसका प्रमाण है कि कवि परिवर्तनकामी है :

“खोले आँख जहाँ साफ सुथरे अच्छे जीवन की

पवित्र इच्छा नवजात/पहली बार

और जो छा जाए घटा की तरह / मन की मलिनता पर

गहन मंतव्य बार बार मुंह दिखलाए

बड़ी रचना की इच्छा पैदा हो और दूर तक देखने की योग्यता”¹

मनमोहन की कविता में जिल्लत की रोटी खाने की ग्लानि है तो विद्रोह भी है। असहायता और विपन्नता के बावजूद कातरता नहीं है। प्लास्टिक की खुशामद, मैत्री का निर्वाह और कवि बुद्धिजीवी, राजनेता अभिनय के सिवा कुछ नहीं करते दिखते। पुरस्कारों की होड़ लगी हुई है। दरवाजे बंद करके बाहर के जीवन से अनजान कवि सुन्दर कविताएँ लिख रहे हैं। शोर कालिख पसीने और लालच से भरे दिल्ली जैसे शहर में भी कवि इस उम्मीद पर कि सुनसान सड़क पर शायद किसी दोस्त की आवाज सुनायी देगी अपने कठिन कवि-कर्म में रत है। कवि वीरेन डंगवाल की तरह एक फितूर जैसा मुश्किल रास्ता कवि मंगलेश डबराल का भी है जिस पर घोर निराशा में भी एक नाउम्मीदी जैसी उम्मीद के साथ वे चल रहे हैं। तस्वीर शीर्षक से हम जो देखते हैं संग्रह में चार कविताएँ है दादा की तस्वीर पिता की तस्वीर माँ की तस्वीर और अपनी तस्वीर। मनुष्यता के विभिन्न रंगों की पहचान से ये तस्वीरें बनी हैं दादा की तस्वीर में वे शांत गंभीर पानी से भरे हुए बादल की तरह दिखते हैं लेकिन उनका गुस्सा उनकी लाचारी या मामूलीपन तस्वीर में नहीं दिखता जो कि उनमें अनिवार्य रूप से मौजूद रहा था और पिता की तस्वीर में वे खांसते हुए नहीं दिखते सबसे अहम सदस्य माँ की कोई तस्वीर ही नहीं खिच पायी क्योंकि जीवन के अनिवार्य कामों में जुटी थी कभी लकड़ी घास पानी लेने गयी होती थी, कभी घर में खोयी हुई चीजों को ढूँढ रही होती थी, जिससे उसकी गरीबी ढकी दिखाई दे साहस दिखाई दे बेचैनी छिपी रहे

¹ मनमोहन . जिल्लत की रोटी . पृ. सं.- 135

लेकिन यह संभव नहीं हो पाता क्योंकि तस्वीरें जिदा मनुष्य का विकल्प नहीं हो सकती। जीवन के समस्त रंगों को एक साथ एक पर्दे पर ला पाना मुश्किल काम है। जिसे साधने में जितनी सामर्थ्य भाषा की हो सकती है उतनी ही तकनीक की नहीं। भविष्य की ओर एक उम्मीद से देखते हुए 'बच्चों के लिए चिट्ठी' कविता में कवि लिखता है :

"प्यारे बच्चों जीवन एक उत्सव है जिसमें तुम हंसी की तरह फैले हो
जीवन एक हरा पेड़ है जिस पर तुम चिड़िया की तरह फड़फड़ाते हो
जैसा कि कुछ कवियों ने कहा है जीवन एक उछलती गेंद है
और तुम उसके चारों ओर एकत्र चंचल पैरों की तरह हो
प्यारे बच्चों अगर ऐसा नहीं है तो होना चाहिए"¹

मनमोहन वामपंथी कवि है। पूंजीवादी शक्तियों के विस्तार से वाम में पैदा अन्तर्विरांचों की पहचान करने में वे समर्थ हैं। ये आत्मालोचन का विवेक 'डर से सांठ गांठ' कविता में दिखता है -

"हमने किए हैं गुप्त समझौते / हमने की है गूढ़ संधियां
विस्तृत समर्पण पत्र पर हस्ताक्षर करके
हमने उन्हें अनाम बैंकों के गुप्त लॉकरों में जमा कर दिया है
कि अब कोई शर्म नहीं/ विस्मरण की दराज में बद है सारी शर्म..."²

मनमोहन की कविताएं केवल अन्तर्वस्तु नहीं हैं, उनकी संरचना है और कमोवेश वहीं संरचना है जो समकालीन कविता की मानी गई है। वह मुक्त छन्द में प्रगति की संरचना है। उनकी शिल्प सजगता का आलम यह है कि शब्द से लेकर वाक्य तक भाषा की अभिव्यक्ति के हर उपकरण की अद्भुत प्रतीति है बिल्कुल चेखव की कहानियों जैसी, पर वह कला के घटाटोप में खुद को गंवाते नहीं। उनकी संवेदनीयता में विचारधारा के प्रति समर्पण है। उसके प्रति अपनी समझ से वे पूरी तरह आश्चस्त हैं। इसलिए जिसे ईमानदारी की खुशबू कहते हैं, वह उनके यहां पर्याप्त से भी अधिक है। संभवतः यही वह

¹ मनमोहन . जिल्लत की रोटी . पृ. सं.- 44

² मनमोहन . जिल्लत की रोटी . पृ. सं.- 24

बात है जो मनमोहन के व्यक्तित्व और उनकी कविता को जन से जोड़ती है और हर कोई इन कविताओं में अपना चेहरा देख पाता है।

राजेश जोशी :

राजेश जोशी का जन्म 18 जुलाई, 1946 को नरसिंहगढ़ मध्य प्रदेश में हुआ था। इन्होंने स्कूल मास्टरी, अखबार नवीसी और बैंक में नौकरी किया। अब स्वतन्त्र लेखन कर रहे हैं। राजेश जोशी ने अपनी अनुभूतियों भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए कविता, कहानी, नाटक आदि विधाओं को अपनाया। उनकी कविताओं के चार संकलन प्रकाशित हुए हैं। 'एक दिन बोलेंगे पेड़', 'मिट्टी का चेहरा', 'नेपथ्य में हंसी' तथा 'दो पक्तियों के बीच'। इनकी कविताएँ जर्मन, रूसी, अंग्रेजी के भारतीय भाषाओं में अनूदित हैं। राजेश जोशी प्रगतिशील विचार धारा के तेजस्वी रचनाकार हैं।

राजेश जोशी उत्तर आधुनिक संवेदना को रूपायित करने वाले सशक्त रचनाकार हैं। आज की आशंका भरी दुनियाँ में जहाँ आम आदमी का जीवन संघर्ष बहुत प्रखर है। वहाँ राजेश जोशी सपनों की दुनियाँ निर्मित करने की कोशिश करते हैं। वे पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित, पीड़ित जनसाधारण को अपनी कविता के माध्यम से जागरूक करने की कोशिश करते हैं। उनकी कविताओं में सीधी उपदेशात्मकता नहीं है और न स्थिति विशेष के विरोध में आक्रोशित होकर गालियाँ देने की प्रवृत्ति है। जैसा कि अनेक प्रगतिवादी रचनाकारों में इस तरह की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं।

राजेश जोशी का काव्यमानस क्रान्ति धर्मिता की चेतना से आपूरित है। उनके आस-पास जो भी चीज दिखती है उनका क्रान्तिधर्मी मन उसमें प्रतिरोध एवं संघर्ष की ताकत को पहचान लेता है। 'प्याज की संरचना' में जो उसे एक अद्भुत संगठन, गुस्से और निश्चय में कसी हुई मुट्ठी, पलक झपकते एक से दो, दो से चार, दस होने की प्रक्रिया, जमीन के भीतर की एक मोर्चा बन्द कार्यवाही का बिम्ब दिखाई देता है :

**“एक संरचना है प्याज
जमीन के भीतर-भीतर...”¹**

मंगलेश डबराल की तरह ही राजेश जोशी के शिल्प में भी सांगीतिकता का प्रभाव है। कहीं बहुत गहरे किसी शोकगीत किसी मर्सिये की सी लय में त्रासदियों का बखान कविता में शामिल हो जाता

¹ जोशी, राजेश . 1988 . प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन . पृ. सं. 23

है। तो कहीं धीमी गति से आलाप के विस्तार करते हुए दर्द सा उठता जाता है, अपने पहले की संग्रह की भूमिका में उन्होंने कविता को जादू कहा था, जो जैसा है उसे तुरन्त फुरत बदल डालने का जादू। उनकी सारी कविताई में ये जादू, और परदे के पीछे से उतती दर्द भरी तान मिलेगी, समसामयिकता का साक्षात्कार करने का उनका ये अपना अनूठा तरीका है, जिसमें फैटेसी और यथार्थ एक दूसरे से घुल मिल गये हैं। उनकी कविता में शिशुवत जिज्ञासाओं से परिपक्व जीवन दर्शन तक की यात्रा सिलसिलेवार मिलती है। बचपन उनकी कविता के आसपास हमेशा रहता है। उसकी स्मृतियाँ बचपन के प्रगाढ़ रिश्ते और वहीं पर जीवन में घृणा की पड़ती हुई नींव दिखाई देती है। बचपन से उनका लगाव उनके काव्य संसार की कुंजी हो सकता है :

"बच्चा खड़ा हो रहा है / पलंग की पाटी पकड़कर / माँ की हथेलियों पकड़कर

बच्चा खड़ा हो रहा है / अपनी तीन पहियों की/ लकड़ी की गाड़ी ठेलता

बच्चा पहला डग भर रहा है / डगमगाता / संभलता/और जमाता/धीरे-धीरे

अपना छोटा सा पैर"¹

उनकी कविताओं में संघर्ष या आक्रोश का स्वर वैसा प्रभावी नहीं जैसा शोक या करूणा का आत्मीय स्वर है। जिन स्थितियों के प्रति मन में गुस्सा या घृणा पैदा होनी चाहिए वहाँ भी अधिक से अधिक कविता एक गहरी सहानुभूतियाँ करूणा ही जगा पाती है। उदाहरण के लिए- पत्ता तुलसी का कविता को लिया जा सकता है जहाँ स्थिति का करूणाजनक चित्र आता तो है लेकिन उस स्थिति के जिम्मेदार कारणों की ओर इंगित करना भी दूर एक कटाक्ष या पहेली जैसी स्थिति पर कविता खत्म हो जाती है। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में प्रचलित फार्मूला मिलता है जिससे कविता में शीघ्र निष्कर्ष निकाल कर उपदेश देना आरम्भ हो जाता है। पत्थर की अंगूठियों कविता उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है। जो एक साथ समाज में फैले अन्धविश्वास, उसकी पहचान फिर उदाहरण और अंत में निष्कर्ष सभी कुछ एक साथ समेटने की कोशिश में चौपट हो जाती है। जटिल अन्तर्विरोध में गहरे उतरने से बचने की कोशिश में सारी सदाशयता बेमानी हो जाती है। किस्सा तोता मैना चौरासी बंगले, नवीं मंजिल या तोता कविताओं में भी कमोवेश ये प्रवृत्ति मिल जाएगी। 'नौवीं मंजिल' पद-प्रतिष्ठा के साथ पैदा हुए मिथ्याभास पर व्यंग्य है। राजेश जोशी प्रतिरोध दर्शन के साथ हैं पर वह चाहते हैं कि प्रतिबद्ध कला साम्राज्यवादी कलावादी शिल्प सौष्ठव के मुकाबले पीछे न रहे।

¹ जोशी, राजेश . बच्चा पांव ले रहा है . पृ. सं.- 44

उदय प्रकाश :

उदय प्रकाश हिंदी के सर्वाधिक संवेदनशील कवियों में एक हैं। उनका जन्म 1 जनवरी, 1952 को मध्य प्रदेश के सीतापुर के शहडोल में हुआ है। उदय प्रकाश का रचनाकर्म उनके आचार-विचार का एकाकार प्रतिबिम्ब है। जैसा उनका साहित्य है वैसा ही उनका जीवन न कोई बनावट, न कोई ईर्ष्या, न लालच एवं लोभ की कोई आँख मिचौली। सब कुछ सीधा-साधा देशज ढंग से सच को सच एवं झूठ को झूठ कहने की अपार साहसिकता। यही बात उन्हें अन्य रचनाकारों से अलग स्थान देती है। उदय प्रकाश ने अपने साहित्य में राजनीति एवं राजनेताओं का यथार्थ चित्रण किया है। बिना किसी भय व डर के खुलकर राजनीति तथा नेताओं के मखौटों को उतार फेंका है।

उदय प्रकाश हिंदी के उन कवियों में से हैं जिनके यहां यथार्थ एहसासभर नहीं है। बल्कि उनकी कविताओं में यथार्थ अपने तीखेपन के साथ उपस्थित हो कर हमारे समय और समाज की पड़ताल करता है। औरत शब्द को उदय प्रकाश ने भी अन्य साहित्यकारों की तरह गहराई से समझा है। वाणी प्रकाशन की उदय प्रकाश रचित 'पचास कविताएं नयी सदी के लिए चयन' में 'औरतें' शीर्षक की कविता हम अपने पाठकों के लिए काव्य चर्चा के तहत रख रहे हैं।

**“वह औरत पर्स से खुदरा नोट निकाल कर कंडक्टर से अपने घर
जाने का टिकट ले रही है
उसके साथ अभी ज़रा देर पहले बलात्कार हुआ है..”¹**

विनय दुबे :

कुछ कवि ऐसे होते हैं, जिनका महत्व समय गुजरने के साथ बढ़ता है। ऐसा इसलिए क्योंकि उनकी कविता अक्सर अपने समय के दायरों का अतिक्रमण कर देती है। वे नितांत वर्तमान में रहते हुए भी भविष्य को देखने और कहने की क्षमता विकसित करते रहते हैं। समय के बुनियादी अंतर्द्वंद्वों का दायरा उनमें अधिक विकसित होते हैं। वे कुछ-कुछ उस हीरे की मानिंद होते हैं जिनमें ज्यों ज्यों हम देखने के कोण को विस्तृत करते जाते हैं, चमक बढ़ती जाती है। विनय दुबे की कविताओं के संदर्भ में ये बातें सार्थक प्रतीत होती हैं। उनकी कविताओं में सहजता और दृश्य की जटिलताओं का जो सहभाव नज़र आता है, वह उन्हें अपनी पीढ़ी का अप्रतिम कवि बनाता है।

¹ प्रकाश, उदय . 2005 . रात में हार्मोनियम . वाणी प्रकाशन . पृ. सं. 61

विनय दुबे का जन्म मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के जमानी गाँव में सन् 1942 में हुआ। उनके काव्य संग्रहों में - राक्षस (1983), खलल (1993), तत्र कुशलम (2002), आदि प्रमुख हैं। भ्रष्टाचार आज का सबसे बड़ा धर्म है। सरकारी अफसर और कर्मचारी इस धर्म के प्रचारक हैं। नीति निष्ठा और सदाचरण में डूबा गाँव इन प्रचारकों की संगति में इस विधा को बड़ी आसानी से सीख लेता है। विनय दुबे जी की चिंता स्वाभाविक है :

“मेरा गाँव भी अब सीख जायेगा,
चिट भेजना
खिलाना पिलाना
रिरियाना
घिघियाना
बोलना अर्जी की भाषा में।”¹

वीरेन डंगवाल :

वीरेन डंगवाल (5 अगस्त 1947 – 28 सितंबर 2015) साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत हिन्दी कवि थे। उनका जन्म कीर्तिनगर, टेहरी गढ़वाल, उत्तराखंड में हुआ। वीरेन डंगवाल का पहला कविता संग्रह 43 वर्ष की उम्र में आया। इसी दुनिया में नामक इस संकलन को रघुवीर सहाय स्मृति पुरस्कार (1992) तथा श्रीकान्त वर्मा स्मृति पुरस्कार (1993) से नवाज़ा गया। दूसरा संकलन 'दुष्चक्र में सृष्टि' 2002 में आया और इसी वर्ष उन्हें 'शमशेर सम्मान' भी दिया गया। दूसरे ही संकलन के लिए उन्हें 2004 का साहित्य अकादमी पुरस्कार भी दिया गया। उन्हें हिन्दी कविता की नई पीढ़ी के सबसे चहेते और आदर्श कवियों में माना जाता है। समालोचकों के अनुसार, उनमें नागार्जुन और त्रिलोचन का-सा विरल लोकतत्व, निराला का सजग फक्कड़पन और मुक्तिबोध की बेचैनी और बौद्धिकता एक साथ मौजूद है।

अपने समय के साथ जीते हुए सृष्टि पर पहरेदारी करने का सदगुण कबीर के पास था, और उन्हीं गुणों तथा तत्वों की संयुक्त चेतना अगर किसी में दिखाई देती है तो वह है वीरेन डंगवाल। जो अपने समय को सिर्फ जीये ही नहीं बल्कि अपने समय के समानंतर एक विराट प्रतिसमय भी खड़ा करते रहे। उनकी कविताएं अपने समय के यथार्थ से मुठभेड़ करती हुई अपने समय को एक विकल्प भी देती है। वीरेन डंगवाल जीवन पर्यन्त पद- प्रतिष्ठा से सदैव दूर रहे, एक मौलिक आदमी की तरह ,उम्मीद और जिजीविषा के रंग भरते हुए जीवन जगत को समझते रहे और वही अनुभव उनकी कविता

¹ मिश्र, सरजू प्रसाद (सं.) – 2011 . समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर . पृष्ठ सं.- 139

के संसार को समृद्ध करता है, कहीं भी उनकी कविताओं में बौद्धिकता का आतंक या रंग की गहराई ऐसी नहीं मिलेगी जहां समय और मनुष्य न उतर सके। इतिहास वही व्यक्ति निर्मित करता है जिसे वर्तमान और भविष्य की समझ हो, और वीरेन को यह समझ गंगा से मिलती है गंगा की तरह खुद पर अटूट आस्था लिए वे शब्दों में एक साधक की तरह खुशबू भरते हैं जो चेतना के धरातल पर उतरते ही व्यक्ति के अंतर्मन का रंग हो जाता है।

वीरेन डंगवाल 1991 में अपने पहले काव्य संग्रह 'इसी दुनिया में' के समय से ही क्षुद्र कुजात समझी जाने वाली मामूली चीजों के कवि के रूप में जाने जाते हैं। उनके लहजे में अमां यार वाली लापरवाही है जिसके भीतर एक सतर्क और अचूक दृष्टि है जो बाजार की चकाचौंध में चुंधियायी नहीं है बल्कि सारे खेल को समझते हुए उसे खत्म करने की राह ढूँढती है। उनका काव्य संसार अटपटी सी लगने वाली ओझल होती जा रही चीजों और अनदेखी की जाती घटनाओं का संसार है। ऊँट, गाय, मक्खी, पपीता, समोसा, इमली, पोदीना जैसे विषयों पर कविता लिखना साहस और समझ दोनों की माँग करता है। इन आम चीजों से उठती हुई उनकी कविता गहरे राजनैतिक अर्थों से लैस होती है। उन्होंने निराला और नागार्जुन की फक्कड़पन और तीखे व्यंग्यों की परम्परा को आत्मसात किया है। जाहिर है वे राजधानियों के विशिष्ट या एलीट कवियों में शामिल नहीं होते। यद्यपि विश्व कविता के श्रेष्ठ कवियों का प्रभाव उन पर रहा है तथापि उनका काव्य ठेठ देशी आस्वाद का काव्य है। चर्चा पुरस्कारों और विवादों की उठापटक में वे शामिल न रहते हुए भी अगर स्वीकृत हुए हैं तो इसीलिए कि वे आम लोगों मामूली चीजों से एक ऐसा प्रतिपक्ष कविता में निर्मित करते हैं जिसे नजर अंदाज करना संभव नहीं होता भले आदमी की प्रचलित धारणा पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए अपने पहले संग्रह की दूसरी ही कविता में अपने पाठक को सावधान कर देते हैं:

“इतने भले नहीं बन जाना साथी/जितने मले हुआ करते हैं सर्कस

के हाथी/गदहा बनने में लगा दी अपनी सारी कूवत सारी प्रतिभा।

किसी से कुछ लिया नहीं न किसी को कुछ दिया

ऐसा भी जिया जीवन तो क्या जिया ?”¹

‘रामसिंह’ उनकी बहुचर्चित कविता है देशभक्ति का अर्थ फौज में भर्ती हो जाने को मानने वाले देश के लिए प्राण न्यौछावर कर देने की प्रतिज्ञा देकर सीमाओं पर तैनात सैनिकों की निष्ठा का राजनीति उन्हीं के विरुद्ध किस प्रकार दुरुपयोग करती है? युद्ध में मारे जाने वाले लोग कौन होते हैं? एक ऐसे

¹ डंगवाल, वीरेन . इसी दुनिया में . पृ. सं.- 11

समय में जब अपने तिजारती मंसूबों को पूरा करने के लिए देशों के बीच हथियारों की होड़ लगी हो, युद्ध में रोज मरने वालों की संख्या कई हजारों में होती है। वे प्रश्न उठता है कि क्या व युद्ध मानवता की रक्षा के लिए ही लड़े जा रहे हैं? युद्धों में सीधे शामिल होने वाले सैनिक से कवि प्रश्न करता है :

“तुम किसकी चौकसी करते हो रामसिंह?

तुम बन्दूक के घोड़े पर रखी किसकी उँगली हो?

किसका उठा हुआ हाथ?

किसके हाथों में पहना हुआ काले चमड़े

का नफीस दस्ताना?”¹

सभ्य मानने वाले एलीट तबकों की छोटी-छोटी भद्रताओं में नैसर्गिकता का जीवन की लय का टूटना कवि ने देखा है तभी तो 'पी० टी० उषा' कविता में वे सावधान करते हुए कहते हैं :

“मत बैठना पी०टी० उषा/इनाम में मिली उस मारूति पर

मन में भी इतराते हुए / बल्कि हवाई जहाज में जाओ

तो पैर भी रख लेना गद्दी पर

खाते हुए मुँह से चपचप की आवाज होती है?/ कोई गम नहीं

वे जो मानते हैं बेआवाज जबड़े को सभ्यता

दुनिया के सबसे खतरनाक खाऊ लोग हैं।”²

पश्चिम की श्रेष्ठता और सभ्यता के मिथकों ने एक जमाने में पूरब के भारत जैसे देशों को गुलाम बनाए रखने में बड़ी मदद की थी, आज भूमण्डलीकरण के दौर में जब हमारे अनजाने ही सभ्य बनने का एक दबाव हम पर हावी होता जा रहा है तो थोड़ा रूककर इन विचारों के मूल स्रोतों को देख लेना जरूरी है। इस सभ्यता के पीछे बर्बरता का गंधाता एक इतिहास है, जो कहीं न कहीं ये हमारे बोध को

¹ डंगवाल, वीरेन . रामसिंह, इसी दुनिया में . पृ. सं.- 17

² डंगवाल, वीरेन . पी.टी. उषा . इसी दुनिया में . पृ. सं.- 59

बदलने की कोशिशों से जुड़ा है। वीरेन डंगवाल इसी बोध को बचाने की कोशिश करने वाले कवि हैं। वे देखते हैं कि एक जमाने में जो तोप बड़े-बड़े समस्याओं के छक्के छुड़ा देती थी अब उस पर छोटे-छोटे बच्चे सवारी करते हैं चिड़ियाएँ उसके भीतर गपशप करती हैं जो बताती हैं :

“दरअसल कितनी भी बड़ी हो तोप/एक दिन तो होना ही है

उसका मुंह बन्द”¹

वीरेन डंगवाल की कविता की बनावट में ठेठ देशी किस्म के, खास और आम, तत्सम और तद्भव, क्लासिक और देशज अनुभवों की संश्लिष्टता है जो पर्जन्य, वन्या, वरूण घौस जैसे वैदिक प्रतीकों और ऊँट, गाय इमली पपीते जैसे लौकिक वस्तुओं की एक साथ शिनाख्त करते हुए अपने समय में एक जरूरी हस्तक्षेप करती है। ‘दुष्चक्र में स्रष्टा’ तक आते-आते साधारण की गाथा लिखने में उनमें और अधिक सामर्थ्य का विकास हुआ है। उनके कवि व्यक्तित्व ने सर्वथा नयी काव्य रीति अपनायी है। जिसमें वे छन्द से बाहर और भीतर लापरवाही से गहन चिन्ता, साधारण से उदात्त, हास्यास्पद से करुण त्रासद तक विभिन्न ध्रुवों के बीच यात्रा करते हुए एक ऐसा सकारात्मक प्रतिरोध कविता के भीतर से रच डालते हैं जो बिना मनुष्य और उसकी कड़ियल जिजीविषा पर दृढ भरोसे के संभव नहीं होता। चीजों का घटनाओं का सरलीकरण वे नहीं करते लेकिन एक सहज तान उनकी कविता की है जो बड़ी मुश्किल से उन्होंने अर्जित की है।

विष्णु खरे :

बीसवी सदी की हिन्दी कविता में विष्णु खरे का आगमन कविता में बहुत कुछ जोड़ता है। 1970 में उनका पहला संग्रह एक गैर रूमानि समय में उन्होंने खुद छपवाया था, जिसकी अधिकांश कविताएँ पहचान सीरीज में अशोक वाजपेयी ने प्रकाशित की। इसके बाद 1978 में खुद अपनी आँख से प्रकाशित हुआ। विष्णु खरे ‘टाइम्स ऑफ इण्डिया’ और ‘नवभारत टाइम्स’ जैसे प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों के सम्पादक के रूप में लम्बे समय तक सेवाएँ दे चुके थे। उनकी कविताओं में भी अखबारी भाषा और ब्यौरों का इस्तेमाल करते हुए सूचनाओं को कविता में पिरोने का विलक्षण तरीका दिखता है। अनीत पुरातत्व फिल्म और विज्ञान, कला और राजनीति की गहरी समझ से वर्णन और विवरण का एक अनोखापन उनकी कविताओं में दिखता है। साथ ही उनकी कविता में इससे एक दुरूहता भी पैदा होती है। जो केवल उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के कोषगत अर्थ जान लेने भर से दूर नहीं हो पाती। उन्होंने

¹ डंगवाल, वीरेन . पी.टी. उषा . इसी दुनिया में . पृ. सं.- 61

अपनी कविता के आस्वादन की शर्तों को कुछ कड़ा रखा है। पाठक से एक मानसिक तैयारी की अपेक्षा उनकी कविताएं करती हैं। कविता के विषयों को लेकर उनके यहाँ फैलाइडोस्कोप की बहुबिम्बदर्शी विविधता है। वे शुद्ध कला अध्यात्म या रहस्यवाद का सहारा नहीं लेते, लेकिन कविता में वादों के दायरे में भी उनकी कविता को आसानी से बाध पाना मुश्किल होता है। भौतिक और अभौतिक, ज्ञात और अज्ञात दोनों के बीच जीवन की रचना उनकी कविता में होती है।

भारी भरकम सूधनाओं के बीच उनकी कविता में जीवन के मर्म को छू जाने वाले वे तमाम तत्व हैं जिनके बिना उनकी कविता को कविता कहने में थोड़ी मुश्किल होती। उदाहरण के लिए टेबिल कविता जो खुद अपनी आँख से संग्रह में शामिल है पाच खण्डों की एक कविता है। प्रत्येक खण्ड एक विवरणात्मक वाक्य पर खत्म होता है और कविता मध्यवर्गीय भारतीय परिवार के कई पीढ़ियों के इतिहास से समाजशास्त्र से परिचित कराती चलती है। इस कविता के अन्त में अगर तीन बरस की एक लड़की न हो जो टेबल पर फैले आश्चर्य लोक को दिलचस्पी से देखती हैं. तो इस कविता को कविता नहीं कहा जा सकता था।

विष्णु खरे कविताओं का विषय भी कई बार ऐसा चुनते हैं जिसके साथ कविता में कथात्मक रोचकता बनी रहती है। इसी संग्रह में एक अन्य कविता अन्तिम आदमी उदाहरणार्थ ली जा सकती है। कथा मात्र इतनी है कि भीमकाय चींटियों का राज्य स्थापित हो गया है और अन्तिम आदमी से संयोगवश उनकी भेंट हो जाती है यद्यपि वे उसकी सहायतार्थ ही आयी थी किन्तु जब आदमी भयभीत होकर भाला चलाता है तो वे उसे आत्मरक्षार्थ मार डालती है। कविता तीखे व्यंग्य से आरम्भ होती है और चींटियों की ओर से अपनी सामाजी के समक्ष निवेदन के रूप में यह कविता प्रस्तुत की गयी है। एक अन्य कविता है 'गूंगा' जिसकी कथावस्तु है एक अविकसित मस्तिष्क वाले बालक द्वारा एक छोटे से कौए के बच्चे का पकड़ा जाना और फलतः कौए के बच्चे की मृत्यु और यह पता लगने पर उस बालक का रोना कुछ पंक्तियाँ देखिए :

“गूंगे की आँखें देखती हैं कौए की आँख में,
कौए का गरम जिस्म और घबराया हुआ दिल,
धड़कता है उसकी गिरफ्त में और जब भी,
वह हिलता है तो गूंगा उसे मारता है सिर पर।”¹

¹ खरे, विष्णु. गूंगा, खुद अपनी आँख से . पृ. सं.- 67

आगे वे इसे सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर प्रश्न करते हैं कि किसके किए की सजा कौन दे रहा है। 1994 में उनका एक महत्वपूर्ण काव्य संकलन आया सब की आवाज के पर्दे में तीक्ष्ण व्यंग्य और ब्यौरों में कविताओं के लेखन के लिए उनकी एक व्यापक पहचान पूर्व के संग्रहों से निर्मित हो गयी थी, उनके नये संग्रह ने उनकी इस पहचान को और मजबूत किया। मार्मिक कविताएं यहाँ भी पर्याप्त हैं जिनको हिन्दी की यादगार कविताओं में शामिल किया जाता है। उपभोक्तावादी भागमभाग के युग में प्रतिदिन जिन चीजों से घटनाओं से हमारा सामना पड़ता है विष्णु खरे उन्हीं को कविताओं का विषय बनाते हैं। अनूठे विषय और रहस्यात्मक तरीके से उनसे पर्दा उठाते हुए घटनाओं की छानबीन करती गीध, घुग्घू जो मार खा रोई नहीं जैसी कई कविताएं इस संग्रह में शामिल हैं। संग्रह की पहली ही कविता है 'बंगले' कविता की चंद पक्तियाँ देखिए :

“अजीब मामला है वह सोचता है,
कोई दिखता नहीं कोई बोलता नहीं,
कोई दाखिल नहीं होता, कोई बाहर नहीं जाता,
फिर यहाँ होता क्या है/ठेठ गाँड़ो के मुहल्ले में पैदा हुआ वह
घबरा गया इस संभावना से/कि जब वह यहाँ से नहीं गुजरता
तब अचानक बस जाती है दुनिया इनमें..”¹

असद जैदी :

असद जैदी की कविता को हम सिनेमा की तरह देख या ज्यादा सही कहें तो पढ़ सकते हैं। जैसा कि फ्रांसीसी सिनेमा की नई धारा के प्रवर्तक **ज्यां लुक गोदार** आदि अपनी फिल्मों के बारे में कहते थे, “इस सिनेमाई विधान में यथार्थ व नवयथार्थ, अतिथार्थ और अयथार्थ के दृश्य स्वप्न जैसा तर्क लेकर प्रकट होते हैं, परस्पर घुल मिल जाते हैं और आवाजाही करते रहते हैं। इसी के कारण उनकी कविताएं यथार्थ से स्वप्न तक अभिधा से व्यंजना तक, किसी अप्रभाव के अज्ञात विस्तारों तक या उस अनुभव में छिपे किसी दूसरे अनुभव तक निर्बाध और सहज ढंग से चली जाती है।”²

असद जैदी का पहला संग्रह 'बहनें और अन्य कविताएं' (1980) में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 1988 में प्रकाशित उनका दूसरा संग्रह 'कविता का जीवन' भी काफी चर्चित रहा। आजकल वे अपने नए संग्रह सामान की तालाश के लिए चर्चा में हैं। असद जैदी की कविताएं एक ओर अमानवीय

¹ खरे, विष्णु . बंगले, सबकी आवाज़ के परदे में . पृ. सं.- 13

² डबराल, मंगलेश . कथादेश अगस्त 2000 . अवसाद लोक में असद . पृ. सं.- 23

बर्बर सत्ता तंत्र और विभिन्न शक्ति संरचनाओं के विरोध में उनसे दूर हाशिए पर पड़े मनुष्यों विचारों और संवेदनाओं को जुटाने के लिए प्रशंसित हुई है दूसरी ओर अपनी अनूठी भाषा और शिल्प के लिए भी जिसमें यथार्थ को व्यक्त करने की नयी हिकमतें वे खोजते रहते हैं। कला को जीवन पर कविता पर हावी करके वे किसी महान रचना को गढ़ने का प्रयास नहीं करते। उनकी कविता में जीवन को क्षुद्रताओं को जैसा वह है वैसा ही अभिव्यक्त करने का प्रयास उनकी कविता को बड़ा बनाता है। उनकी बहनें, नमक आगे का हाल, संस्कार इन शब्दों में और माँग जैसी कविताओं को आज भी इसीलिए बार-बार याद किया जाता है। 'संस्कार' कविता का उदाहरण देखिए :

“बीच के किसी स्टेशन पर/दोने में पूड़ी साग खाते हुए

आप छिपाते हैं अपना रोना/जो अचानक शुरू होने लगता है

पेट की मरोड़ की तरह / और फिर छिपाकर फेंक देते हैं किसी कोने में अपना दोना

सोचते हैं मुझे एक स्त्री ने जन्म दिया था

मैं यों ही दरवाजे से निकलकर नहीं चला आया था।”¹

उपरोक्त कविता में गहरे सामाजिक राजनैतिक निहितार्थ छिपे हैं जिसमें कवि कलात्मक सजगता से आत्मालोचन करता चलता है। अतियथार्थवाद या जिन भी कला की तरकीबों का इस्तेमाल वो कविता में करता है वे इतनी रची बसी होती हैं कि कविता की अन्तर्वस्तु पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। वे साधन के तौर पर सिर्फ विचारों के संप्रेषण का काम करती है विचार का स्थान नहीं ले लेती। कविता में उनकी पक्षधरता हाशिए पर पड़े उस सर्वहारा के साथ है जिसका अकेलापन उसके खाली पेट के सिवा कुछ नहीं है। 'माँग' शीर्षक कविता में कवि जीवन के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं के बारे में दरखास्त लिखने की इच्छा जाहिर करता है। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि बुनियादी सुविधाओं के लिए भी दरखास्त की जाए। अन्त तक आते-आते यह एक कटु व्यंग्य में बदली जाती है जो खुद को ही चीरता हुआ जाता है। एक असहायता का सा बोध पैदा हो जाता है। दरखास्त करने पर भी इसकी क्या गारन्टी है कि वह चीजें मिल ही जाएँगी। उनके दूसरे संग्रह कविता का जीवन की भी पुश्तैनी तोप, हमारी लाचारी दोपहर जैसी कविताओं को हिन्दी कविता की अमूल्य धरोहर में शामिल किया जाता है।

¹ ज़ेदी, असद . संस्कार, बहनें और अन्य कविताएँ . पृ. सं.- 11

1857 के स्वाधीनता संग्राम के 150 साल पूर्ण होने पर उद्बोधना पत्रिका के अंक में 2007 में प्रकाशित उनकी कविता '1857 : सामान की तलाश' काफी चर्चित हुई है, अपनी 51 पंक्तियों में यह कविता पिछले डेढ़ सौ साल के इतिहास की पुनर्व्याख्या करती है, कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं :

“1857 की लड़ाइयाँ जो बहुत दूर की लड़ाइयाँ थी

आज बहुत पास की लड़ाइयाँ हैं”¹

जिन ताकतों के खिलाफ 1857 का संघर्ष मिलकर लड़ा गया था, पूंजीवाद कंपनी के तिजारती तौर तरीके हिन्दू मुस्लिम और दूसरे धर्मों जातियों में देश को बाँटने की कोशिशों किसानों मजदूरों के शोषण से जुड़ी ये ताकतें पिछले डेढ़ सौ सालों में पहले से और अधिक मजबूत हुई है जाहिर है उनके खिलाफ लड़ने की जरूरत भी पहले से अधिक हुई है। ऐसे समय में हमारी सरकार कहाँ हैं और देश कहाँ खड़ा है? इसके बाद नवजागरण काल की विवादग्रस्त गुत्थियों हिंदी और हिंदू की अवधारणाओं राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति की बहसों से गुजरते हुए वे नाम लेकर भारतेन्दु, सर सैयद अहमद खाँ और रामचन्द्र शुक्ल तक को प्रश्नों के घेरे में ले आते हैं और नवजागरण पर अभिजनवादी होने का आरोप लगाते हैं। इसके बाद कविता उस वर्तमान से टकराती है जहाँ :

“यह उस सिलसिले की याद है जिसे जिला रहे हैं

150 साल बाद आत्महत्या करते हुए

इस जमीन के बुनकर जिन्हें बलवाई कहना मुश्किल है और जो चले जा रहे हैं

राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय भुखमरी के सूचकांकों की खुराक बनते हुए

विशेष आर्थिक अंगों से निकलकर सामूहिक कब्रों और मरघटों की तरफ”²

ज्ञानेन्द्रपति :

ज्ञानेन्द्रपति का पहला संग्रह 'आँख हाथ बनते हुए' अशोक वाजपेयी ने 'पहचान' श्रृंखला में 1970 में छापा था, तब वे बी०ए० प्रथम वर्ष के छात्र थे। 1981 में दूसरा संग्रह शब्द लिखने के लिए ही

¹ पहल, उद्बोधना . 2007 . पृ. सं.- 12

² पहल, उद्बोधना . 2007 . पृ. सं.- 12

कागज बना है नगरीय जीवन के साथ-साथ ग्रामीण और प्राकृतिक जीवन की छवियों को गढ़ते हुए प्रतिरोध की परम्परा की नितांत भिन्न प्रकार से पहचान करने के कारण यह संग्रह पर्याप्त चर्चित हुआ। 1999 में 'गंगातट' ब्राह्मणवादी प्राचीन संस्कृति के केन्द्र बनारस में बदलती वैश्विक परिस्थितियों में जन मानस में आ रहे बदलाव और प्रतिरोध के नये आयामों की खोज करता है। 2004 में संशयात्मा नाम से उनका नया कविता संग्रह आया, जिसे 2006 में साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। 'संशयात्मा' की कविताएं भारत से लेकर इथियोपिया जैसे भुखमरी से पीड़ित देशों तक की व्यथा कथा को कविता का विषय बनाती है। एक साथ दुर्लभ प्रजातियों की वनस्पतियों से लेकर जीवों के विलुप्त होते जाने और पूंजी के नित नए करतबों के बीच काल के मुख में जा रहे जीवन के मूल स्रोतों तक अपनी पहुँच बनाते हुए कवि हमारे समय को कविता में अनूठे रूप में पुनर्सृजित करता चलता है। कवि आलोचक मदन कश्यप इस संग्रह के संदर्भ में लिखते हैं। संशयात्मा की कविताओं से गुजरते हुए जो चीज सबसे पहले ध्यान आकर्षित करती है, वह है भाषा का उबड़-खाबड़पन। समकालीन काव्य भाषा की रूढ़ियों से अनुकूलित पाठकों को तो उनकी कविता की भाषा अवरोध पैदा करती सी लगती है। देखा जाए, तो इस स्तर पर भी वे एक तरह का प्रतिरोध रच रहे होते हैं, परन्तु इसे केवल प्रतिरोध का अंग मान लेना एक अनुचित सरलीकरण होगा। दरअसल ज्ञानेन्द्रपति की इधर की कविताएं (जिनमें गंगा तट की कविताएं भी शामिल हैं) भाषा की एक विशिष्ट प्रविधि के रूप में देखे जाने की माँग करती है। ज्ञानेन्द्रपति की काव्य भाषा स्वयं संचालित नहीं है। उनकी कविता से गुजरते हुए भाषा के रचाव को साफ-साफ महसूस किया जा सकता है। वह सामान्य भाषा को अवरोधित और विखण्डित करके अपनी काव्यभाषा निर्मित करते हैं। उनकी कविताओं को पढ़ते वक्त शब्दों की बनावट, संयोजन और संरचना के प्रति अतिरिक्त सजगता जरूरी है।

ज्ञानेन्द्रपति की मनुष्यधर्मी चेतना ने उनकी कविता में वैचारिकता से संतुलन इतनी कुशलता से साधा हुआ है कि क्रोध से संपृक्त होने पर उनकी कविता लाउड होने से बची रह पाती है। लोकगीतों की सरल तान से उठती हुई वह विश्वव्यापी अन्याय के विरुद्ध आवाजों में शामिल हो जाती है। ऊबड़-खाबड़ भाषा के चलते अपने समय की वैचारिक ऊथल-पुथल को व्यक्त करने में भी वे सफल हैं। इससे एक जरूरी बैचेनी कविता के पाठकों के मन में उपजाने में भी है। करीब से होते हुए निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर तक की एक वैचारिक परम्परा को ज्ञानेन्द्रपति ने आत्मसात किया है। भाषिक विन्यास के प्रति सजगता, नवीन शब्दानुसंधान, बिंबधर्मिता, मुहावरों के अभिनव प्रयोग ने उनकी कविता का रूपाकार तो निर्मित किया है, लेकिन ज्ञानेन्द्रपति की विशिष्टता इसी में है कि अपनी वैचारिक परम्परा को नवीन दृष्टि के साथ जोड़ते हुए वे परिदृश्य से गायब होते जा रहे जीवन के सर्वाधिक संभावनाशील कोनों तक अपनी कविता को न सिर्फ ले जाते हैं, बल्कि उन कोनों को प्रकाशित करते हुए पर्याप्त सजगता बरतते हैं। जीवनग्रासी परिस्थितियों के आगे एकदम से उन्हें खोलकर रख देने के खतरों से वे वाकिफ हैं। इसलिए अपने भाषिक कौशल से वे अपने विचार की रक्षा भी कर पाते हैं और उस

विचार को संप्रेषित करने के लिए अभिव्यक्ति के नये मार्गों की खोज भी कर पाते हैं। भाषिक स्खलन की तरह ही वैचारिक स्खलन से भी अपनी कविता को बचाने रखने में वे सफल हुए हैं। मानवीय प्रेम और संवेदना को बारीकी से कुरेदकर उनकी कविता पाठक को देर तक सोचने के लिए छोड़ जाती है। 'ट्राम में एक याद' एक ऐसी ही कविता है।

पूछती है माँ, विज्ञान शिक्षक से छोटी लड़की का सवाल, उनके सपनों का रंग मैं जानता हूँ, लड़की, इंतजार जैसी कई कविताओं की ये खासियत है। उनके सपनों का रंग मैं जानता हूँ कविता में वे लिखते हैं :

“उनके सपनों का रंग मैं जानता हूँ,
रोहिनी के पास के बहादुर मोहाली, गोविन्द मोहाली,
रामेसर बुधवा और परताप,
उनके औरत बच्चे, गठरियाँ, टोकरियों उनके ठण्डे चूल्हे
और अभी तक
धौंक फेंकती बोरसियों के सपनों
का रंग मैं जानता हूँ...”¹

ज्ञानेन्द्रपति की प्रारम्भिक कविताएं भाषा के सधे हुए प्रयोग व ताजा मौलिक बिंबों के कारण चर्चित हुई थी। इधर नये बिंबों की अपेक्षा नये शब्दों की तलाश उनकी कविता में ज्यादा दिखती है। उनकी कविताओं की जमीन ठेठ भारतीय है, जिसकी चौहद्दी में हमारे समय की सांवली सच्चाईयाँ दर्ज हैं। हमारे समय में नष्ट होती जा रही प्रजातियों और जैव-विविधताओं का मार्मिक शोक लेख उनकी कई कविताओं में दर्ज हुआ है। सप्रेषण के स्तर पर कविता के क्षेत्र में नयी प्रविधियों की खोज जहाँ उन्होंने की है वहीं अपनी वैचारिक पक्षधरता को भी कभी उन्होंने छिपाया नहीं वे कहते हैं :

“तटस्थता लेखक के लिए जरूरी शर्त है ताकि ठीक से चीजों को देख परख सकें। इसके लिए एक तरह की रचनात्मक दूरी जरूरी होती है, लेकिन मुझे लगता है कि तटस्थता का अर्थ निष्पक्षता कभी नहीं है। कवि के कंठस्वर को क्रोध से संपृक्त होना चाहिए। तभी तो आदि कवि बाल्मीकि के पहले श्लोक में जो क्रौंचयुगल में से एक की व्याघ्र द्वारा की गयी हत्या पर फूटा था।

¹ ज्ञानेन्द्रपति . शब्द लिखने के लिए ही कागज़ बना है . पृष्ठ सं.- 38

करूणा के साथ-साथ क्रोध का भी योग है। भारतीय कविता की मूल परम्परा यही है। करूणा वंचितों एवं दमितों-प्रताड़ितों के प्रति, क्रोध उनके प्रति जो इन स्थितियों के लिए जिम्मेदार हैं। इसलिए कविता को निष्पक्ष होना नहीं शोभता। तटस्थता निष्पक्षता का पर्याय नहीं हो सकती।”¹

एकांत श्रीवास्तव :

एकांत श्रीवास्तव की हिंदी कविताओं में आधुनिक विकास और उदारीकरण की शक्तियों के अवतरण के पूर्व के गाँव के मर्म चित्र उजागर हुए थे। उन कविताओं की तरफ ध्यान गया तो लगा था कि घर-परिवार, पास-पड़ोस, रिश्तों- नातों और प्रकृति की आत्मीय उपस्थिति से भरा-पूरा एक नया काव्य-संसार उजागर हुआ है। एकान्त वस्तुतः छत्तीसगढ़ की ‘कन्हार’ के कवि हैं। एकान्त का काव्य-संसार एक ओर माँ-बाप, भाई-बहन का भरा-पूरा परिवार है तो दूसरी ओर अंधी लड़की, अपाहिज और बधिर जैसे असहाय लोगों का शरण्य भी और ‘कन्हार’ जैसी लंबी कविता तो एक तरह से नख-दर्पण में आज के भारत का छाया-चित्र ही है। ‘अन्न हैं मेरे शब्द’ से अपनी काव्य-यात्रा आरंभ करने वाले एकान्त उन थोड़े से कवियों में हैं जो ‘शब्द’ को अपनी कविताओं से एक नया अर्थ दे रहे हैं। निश्चय ही एकान्त का काव्य एक लंबी छलाँग है और ऊँची उड़ान भी कवि के ही शब्दों में एक भयानक शून्य की भरपाई।

एकांत जी के कविता संग्रहों के नाम हैं- अन्न हैं मेरे शब्द (1994), मिटटी से कहूँगा धन्यवाद (2000), तथा बीज से फूल तक (2003)। एकांत श्रीवास्तव की हिंदी कविताओं में आधुनिक विकास और उदारीकरण की शक्तियों के अवतरण के पूर्व के गाँव के मर्म चित्र उजागर हुए थे। उन कविताओं की तरफ ध्यान गया तो लगा था कि घर-परिवार, पास-पड़ोस, रिश्तों- नातों और प्रकृति की आत्मीय उपस्थिति से भरा-पूरा एक नया काव्य-संसार उजागर हुआ है।

अग्रिशेखर :

साहित्य में ‘अग्रिशेखर’ के नाम से मशहूर डॉक्टर कुलदीप सुंबली कश्मीर के एक विस्थापित कवि के रूप में जाने जाते हैं। अग्रिशेखर न तो कश्मीर की सियासत में किसी परिचय के मोहताज हैं, न हिन्दी साहित्य में। एक विस्थापित कवि के रूप में वह अलग रहते हुए भी कश्मीर को अपने दिल से कभी पृथक् नहीं कर सके हैं। कश्मीरी साहित्य को विश्व मंच तक ले जाने में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिन्दी में अब तक उनके कई कविता संग्रह- ‘किसी भी समय’, ‘मुझसे छीन ली गई मेरी नदी’, ‘कालवृक्ष की छाया में’, ‘जवाहर टनल’ आदि प्रकाशित हो चुके हैं।

¹ ज्ञानेन्द्रपति . 14 मार्च, 2007 . अमर उजाला . कुछ पढ़ते कुछ गढ़ते हुए . पृष्ठ सं.- 45

उनकी ज्यादातर कविताओं में भी अपनी जड़ों से टूट जाने, बेघर हो जाने की सदियों पुराना दर्द है। 'जवाहर टनल' के एक तरफ है कश्मीर और दूसरी तरफ शेष भारत, बकौल कवि के "हिंदुस्तान-मेरा देश महान..." बीच में एक सुरंग है- गहरा स्याह और अन्तहीन! इसी में फंसे हुए हैं सैकड़ों लोग- विस्थापित, अपनी जन्नत से- दोख की ओर- एक लंबी, अनजान यात्रा पर। इन कविताओं में जो कुछ भी है, वह किसी उदास इन्द्रधनुष की तरह खूबसूरत, मगर उतना ही त्रासद भी! इन्हें पढ़ते हुए हाड़-मज्जे में सन्नाटा धंस आता है और एक आतंक - एकदम अच्छोर, अतल। अग्निशेखर का अपने रचना संसार से एक अलग तरह का जुड़ाव है। उनके शब्दों में 'कविता रच रहा हूँ, तो जी रहा हूँ। इस में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं है। मेरी कविता का केन्द्रीय संवेदन निर्वासन, विस्थापन, निष्कासन है, और यही मेरे जीवन की संवेदना हो गई है। इसी से मुक्ति की कामना, प्रतिरोध का संघर्ष हम छेड़े हुए हैं, जिसमें मैं अग्रणी रूप से सक्रिय हूँ और चाहता हूँ कि जिनके साथ हम घाटी में जी रहे थे, वे सभी सांस्कृतिक जीवन मूल्य पुनः बहाल हों, सद्भाव हो और धर्म जाति या मौलिक विचारधारा के आधार पर किसी के साथ भेदभाव न हो।

विनोद दास :

विनोद दास हिन्दी के उन चुनिंदा कवियों में हैं जिन्होंने मात्रा में यद्यपि बहुत अधिक न लिखा हो लेकिन गुणात्मक रूप से जितना लिखा है वह इतना मूल्यवान है कि निरन्तर कबाड़ होती जा रही इस दुनिया में भी अपनी प्रासंगिकता बचाए हुए है। विनोद दास का पहला संग्रह 'खिलाफ हवा से गुजरते हुए' 1986 में प्रकाशित हुआ था जिसमें जो बातें पर्दे के पीछे दिख रहीं थी आज वो हमारे सामने खुल कर आ गयी है। बाजारवाद का जो अश्लील रूप आज हम देख रहे हैं कवि उसके आरंभिक दौर में ही उसकी सही पहचान करता है। आगे चलकर कवि की हर बात एक-एक कर के सच होती गयी है 2010 तक आते-आते इसी के चलते नए संदर्भों में कवि और अधिक प्रासंगिक हो गया है। दो दशक पहले कवि किन प्रलोभनों को अस्वीकारते हुए कह रहे थे :

"झूबते हुए सूरज को साक्षी मानकर कहता हूँ

मैं यहाँ नहीं आऊँगा दोबारा

मुझे नहीं चाहिए मीठे फल"¹

¹ पहल 87 . टूटने की सी कोइम आवाज़ विनोद दास की कविता पर जीतेन्द्र श्रीवास्तव का लेख . पृ. सं.- 281

हवा के खिलाफ तनकर खड़े होने में कवि ने सौन्दर्य और गरिमा को देखा था। आज भी कवि उसी ईमानदारी के साथ चलने का साहस रखता है। उनकी चेतना जनपक्षधर राजनीति की चेतना है जिसके चलते कविता में गोल मोल भाषा से असहमति जताने का साहस कवि में मिलता है। किसान जीवन से संबंधित कई अच्छी कविताएं उनके रचना संसार में मिलती हैं जिनमें जीवन का उल्लास और उम्मीद एक ओर लहलहाती दिखती है, दूसरी ओर विडम्बनाओं का साक्षात्कार भी है, जीवन के मूल स्रोतों को नष्ट करने के लिए बढ़ते आ रहे खतरों की पहचान भी है।

दो दशक पहले लिखी उनकी कविता 'तवा' आज पहले से अधिक प्रासंगिक है। दिन भर हाड़ तोड़ श्रम के बाद भी यदि देश के सबसे श्रमशील किसान-मजदूर के घर में चूल्हा तक नहीं जल पाता तो विकास के सुनहरे मॉडलों की असलियत पर क्या संदेह नहीं होता? देश की बहुसंख्यक जनता के रक्त स्वेद की क्या ये ही कीमत थी? इसके बाद भी क्या इस व्यवस्था के भविष्य को लेकर कोई शंका नहीं उठती? कवि 'तवे' पर लिखते हुए कहता है :

"मैं जब कोई तवा ठंडा देखता हूँ

काँप उठता हूँ"¹

हमारे समय तक आते-आते यह भयावहता और बढ़ गयी है इसलिए कविता और अधिक प्रासंगिक हो उठी है। लेकिन इतना कहकर ही कवि चुप नहीं हो जाता, आगे वह इस स्थिति से निपटने का निश्चय करता है। उनकी इतनी सी चाह भी पूरी नहीं होती, पूंजीपतियों और नेताओं के गठजोड़ तक अनाज की खबर पहुँच जाती है। वे उनके दुख को तमाशा बना देते हैं। किसानों के रक्त से गाँधी की किताब भीग जाती है। आखिर कौन से हैं? वे कारण जिनसे किसान आत्महत्या के कगार पर पहुँच गये हैं? कौन हैं वे लोग जो इसके जिम्मेदार हैं कविता में ये प्रश्न बड़े तीखे स्वर में बार-बार उठता है। एक दूसरी महत्वपूर्ण कविता 'तारीख' में न्याय के दायरे से बाहर खड़े देश के सर्वहारा वर्ग के बारे में टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है :

**"उनकी तकलीफें/उस पुरानी मिसिल की तरह है/ जिन्हें बाहर निकालने के लिए/हर कोई कुछ
न कुछ वसूल करता है और जब आता है सुनवाई का वक्त अदालत उठ जाती है/और उन्हें
मिलती है तारीख/सिर्फ तारीख
वे कचहरी की मात्र तारीख है"¹**

¹ पहल 87 . टूटने की सी कोइम आवाज़ विनोद दस की कविता पर जीतेन्द्र श्रीवास्तव का लेख . पृ. सं.- 277

विनोद दास जिस ईमानदारी से किसानों के जीवन की विडम्बनाओं का साक्षात्कार करते हैं उसी ईमानदारी से स्त्रियों के जीवन में भी प्रवेश करते हैं। उनके पहले संग्रह की पहली ही कविता '**चाँदी के तार**' भी एक युवती के स्वप्नों के टूटने की कथा कहती थी। स्त्री विमर्श के दौर में उनकी 'साध्वी' कविता भी अलग से पढ़े जाने की माँग करती है। गृहिणी शीर्षक से उनकी पाँच कविताएँ हैं जो हमारे आसपास की स्त्रियों के श्रम को उनके वैभव के साथ दिखाती हैं कहीं बर्तन के साथ-साथ प्रिया भी घिस रही है, कहीं भाग भाग कर वे घर के काम निपटाती सुखी होने का भ्रम देती हैं, इन स्त्रियों को आखिर हम कितना जानते हैं। विनोद दास में गहरा काव्य विवेक है जिससे वे इच्छाओं की राख, दागी आलू, प्रेत और भूतपूर्व प्रधानमंत्री के साथ जैसी अलग-अलग विषयों पर लिखी कविताओं को धैर्य से जीवन के वृहत्तर संदर्भों से जोड़ देते हैं। वे केवल विडम्बनाओं का साक्षात्कार नहीं करते बल्कि इस बुरे अच्छे के सारे संघर्ष में अपना पक्ष भी धैर्यपूर्वक चुनते हैं और एक गहरे नैतिक साहस से कविता में अपना प्रतिरोध दर्ज करते हैं।

देवीप्रसाद मिश्र :

हिंदी की आधुनिक कविता में देवीप्रसाद मिश्र की उपस्थिति कविता में विचार की उपस्थिति जैसी है। उनका संग्रह 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं' हिन्दी काव्य जगत में विशिष्ट स्थान रखता है। देवीप्रसाद मिश्र का यह संग्रह दो हिस्सों में बंटा है पहला '**परम्परा पाठ**' और दूसरा '**यह समय**' ये दोनों छोर उनकी काव्य सर्जना के दो आयाम हैं जिनके बीच में उनकी कविता बारीक डगर पर संतुलन बनाते चलती है और आधुनिक समय का भाष्य करती है। परम्परा का बोध उनके पास है लेकिन परम्परा के नाम पर अतीतोन्मुख फासीवाद के खतरे को वो पहचानते हैं। वर्चस्व की होड़ में परम्परा का इस्तेमाल कर वस्तुओं को बेचने वाले बाजार से वे सतर्क हैं इसलिए धर्म से आक्रांत इस समय में ये देवताओं से कुछ कहते भी हैं तो "**प्रार्थना के शिल्प में नहीं**" :

"इन्द्र आप यहाँ से जायें/तो पानी बरसे / मरुत आप यहां से कूच करें तो हवा चले/वृहस्पति आप यहाँ से हटें/ तो बुद्धि कुछ काम करना शुरू करे/अदिति आप यहां से चलें तो कुछ ढंग की संततियाँ जन्म लें/ रुद्र आप यहां से दफा हों/ तो कुछ क्रोध आना शुरू हो, देवी देवताओं, हम आपसे जो कुछ कह रहे हैं/ प्रार्थना के शिल्प में नहीं"²

¹ श्रीवास्तव, जितेन्द्र . टूटने की सी आवाज़ . पहल- 87 . पृ. सं.- 281

² मिश्र, देवीप्रसाद . प्रार्थना के शिल्प में नहीं . पृ. सं.- 10

ईश्वर के बजाय मानव की परम्परा का पाठ करते हुए वे दस हजार साल पुराने उबलते गाढ़े रक्त से संबंध जोड़ना चाहते हैं, नदियों के साथ रिश्ते को पुनर्स्थापित करना चाहते हैं, बेडौल पत्थरों से आग सुलगाने की तरकीब खोजना चाहते हैं, लौह युग के मनुष्य की तरफ अपने भीतर लोहे की खोज करना चाहते हैं, उन लिपियों को पढ़ना चाहते हैं जिनमें मनुष्य के अदम्य साहस के स्रोतों का पता लिखा है। आदमी और लोहे के बीच जानने की उत्तेजना और भूख की उदग्रता के बीच रिश्ता खोजते हुए कवि भाषा के इतिहास में पहुंचता है और वहाँ विद्यालय से निकले मेधावी छात्र की लाश पाता है जो विचार होते हुए भी संप्रेषण की कला नहीं सीख पाने से विक्षिप्त हो गया था। फिर गांव बसने शुरू होते हैं और उसके बाद राजाओं के दिग्विजय अभियान और किसान का चकरी जांत के लिए रखा पत्थर छीनकर राजाओं के शिलालेख बनाये जाते हैं और शुरू होता है किसान मजदूरों के श्रम और उसके शोषण का एक अंतहीन सिलसिला जो आधुनिक समय तक पहुंचता है। देवी प्रसाद मिश्र ने आधुनिक समय की विडम्बनाओं के बड़े सूक्ष्म चित्र अपनी कविताओं में खींचे हैं, सटीक व्यंग्य करते नाविक के तीर सी ऐसी उनकी एक कविता है 'दिलचस्पी' :

"भूमिहीन किसान जब / मकबरे में घुसा तो

अंदाजने लगा यह कितने रकबे में है"¹

'बाज़ारवाद' के इस दौर में जब कई भाषाएं, परम्पराएं नस्लों पूरी की पूरी गायब होती जा रही है, शब्दों के अर्थ उनसे गायब होते जा रहे हैं, कवि जानना चाहता है 'कि गायब होकर अच्छी चीजें कहां इकट्ठा हो रही हैं। अपने समय में व्याप्त हिंसा को देखते हुए वह जानता है कि इस तंत्र में सिर्फ आपका नाम भी आपकी हत्या का सबब बन सकता है। गुजरात की त्रासदी पर मार्मिक कविता लिखते हुए कवि इस त्रासदी को इतिहास और काव्यलय में अन्तर्मुक्त कर देता है। 'जो पीवे नीर नैना का' उनकी एक कविता है :

"मैं चीनी पीर/मैं वली दकनी/मैं वली औरंगाबादी

मैं वली गुजराती/तीन सौ साल बाद जलावतन"²

¹ मिश्र, देवीप्रसाद . दिलचस्पी . पृ. सं.- 34

² मिश्र, देवीप्रसाद . जो पीवे नीर नैना का . पृ. सं.- 141

देवी प्रसाद मिश्र ने स्त्रियों पर कई अच्छी कविताएं लिखी हैं जैसे 'आपके गणतंत्र की एक स्त्री की प्रेम कथा', नगरवधू, माँ, औरत का हालचाल, भेंट अंकवार लेती हुए सखियाँ, औरतें यहां नहीं दिखती, लड़कियां आदि जो अलग से चर्चा की मांग करती हैं।

अष्टभुजा शुक्ल :

अष्टभुजा शुक्ल समकालीन कविता के अनूठे कवि हैं, इस मामले में भी कि प्रखर लोक की बोली, मुहावरों और भाषा की कूट भंगिमाओं का विलक्षण प्रयोग करते हुए आधुनिक समस्याओं की जटिलताओं से वे ठीक वैसे ही मुठभेड़ करते हैं जैसी कबीर दादू जैसे संतो की परम्परा से होते हुए निराला, नागार्जुन या धूमिल अपने समय में करते हैं, यानि एक खासे फक्कड़ तेवर में ऊपर बेफिक्र दिखते हुए भी वे दुनिया को बदलने के लिए फिक्रमंद हैं। विचार के लिए गद्य की भाषा पर जब इतना जोर दिया जा रहा है और छंदहीनता को समकालीन कविता का लक्षण मान लिया गया है वे पारम्परिक छन्द की ताकत को पहचानते हुए उसे कविता में वापस ला रहे हैं इसमें अतीतानुसंधान नहीं अपनी परम्परा में शक्ति स्रोतों की पुनर्जाँज को देखना चाहिए। विचारधारा को लेकर अष्टभुजा शुक्ल स्पष्ट रहे हैं, दुनिया के बाजार में बदलते जाने को वो देख रहे हैं। तभी कह पा रहे हैं -

"ग्राहक है भगवान यहाँ का/ भक्त यहाँ विक्रेता

कलियुग बीता/यह उत्तर आधुनिक काल का त्रेता"¹

कबीर की परम्परा में भाषा का प्रयोग व्याकरण के नियमों तक रुका नहीं रहता, ज़रूरत हो तो अपनी बात कहने के लिए भाषा को दरेरा देकर आगे राह निकाल ली जाती है। दूसरा एक खासा तीखा आक्रामक तेवर जो इस परम्परा में देखा जा सकता है उसको अष्टभुजा शुक्ल में भी देखा जा सकता है। लोक में गाली और भेदस भाषा का जो तेवर है वो उससे बचते नहीं उसे भी कविता में आने देते हैं :

"जैसी माई वैसी धीया

छिनरों की इस जाटपुरी में सभी दिखाते दीया"

¹ श्रीवास्तव, परमानन्द . कविता का उत्तर जीवन . पृ. सं.- 131

लेकिन क्रोध, आक्रोश, घृणा के ही कवि नहीं हैं, प्रेम भी उनके यहाँ है, एक सादगी के साथ दाम्पत्य की ऐसी ऐन्द्रिक व्यंजना, कभी नागार्जुन की कविताओं की याद दिलाती है तो कभी अपनी लय में भवानीप्रसाद मिश्र की जैसी संप्रेषणीय हो जाती हैं। कवि स्त्रियों का सौन्दर्य उनके श्रमसंघर्षों श्रम व्यापारों में देखता है और इसी श्रम को सौन्दर्य में बदलने की कला में कवि की सफलता है। अपनी एक कविता में बारात के स्वागत के दौरान रोशनी ढोने वाली किशोरियों के चित्रण के बहाने उन्होंने श्रमशील स्त्रियों के विडम्बना मूलक जीवन की खोज की है :

"वे शराबी बापों और लतखोर माताओं के

प्रेम और नफरत और बेचारगी की कमाई थी।"¹

एक ऐसे समय में जब 'कवि जन खोज रहे अमराई' अष्टभुजा शुक्ल धूप में निकलते हैं लोक जीवन की मिठास, ताकत और उस खासे तेवर की खोज में जो बाजारवाद के दौर में आखिरी उम्मीद की तरह हैं। अपनी मनुष्यता को बचा पाने की गहरी उम्मीद उनमें है जो "रहूँगा" जैसी कविताओं में मिलेगी।

बद्रीनारायण :

बद्री नारायण हिंदी के महत्वपूर्ण कवि हैं। उनके कविता संग्रह 'तुमड़ी के शब्द' को साहित्य अकादमी पुरस्कार 2022 से सम्मानित किया जा चुका है। लेखक और कवि होने के साथ-साथ बद्री नारायण सामाजिक इतिहास और सांस्कृतिक मानवविज्ञान के विशेषज्ञ भी हैं। बद्री नारायण के कविता संग्रह 'खुदाई में हिंसा', 'शब्दपदीयम', 'सच सुने कई दिन हुए' और 'तुमड़ी के शब्द' काफी चर्चित रहे हैं। आपकी कविताएँ अंग्रेजी, बांग्ला, उड़िया, मलयालम और उर्दू सहित कई भारतीय भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। द मेकिंग ऑफ दलित पब्लिक इन नॉर्थ इंडिया, फैसिनेटिंग हिन्दुत्व और वुमेन हीरोज़ उनकी चर्चित पुस्तक हैं।

बद्री नारायण ने लगभग तीन दशकों की कविता-यात्रा में लोकशास्त्र और इतिहास से जो तत्त्व अर्जित किए, वे अब और भी परिपक्व, सान्द्र तथा बहुवर्णी हुए हैं। वे पक्षी, वृक्ष, वाद्य और कथाएँ अब भी हैं जो बद्री के पहचान-चिन्ह और आधार-शक्ति रहे हैं, लेकिन जो सर्वथा नया और अप्रत्याशित है वह है समाज, सभ्यता और जीवनमात्र की निस्पृह समीक्षा। इस संग्रह की कविताएँ हारे, छूटे, टूटे लोगों की महाकाव्यात्मक पीड़ा की अभिव्यक्ति हैं। यहाँ हर कविता दूसरी से अभिन्न और अपरिहार्य है। ऐसी

¹ शुक्ल, अष्टभुजा . जनवरी-मार्च, 2007 . वे चन्द्रशेखरियां किशोरियां . आलोचना . पृ. सं.- 111

परिकल्पना व सृजन अपने आप में एक दुर्लभ घटना है। और बद्री ने यह सब सम्पन्न किया है अपने ही अभ्यस्त उपादानों से। बद्री ने कविता और जीवन-परिवर्तन की अपनी परम्परा अन्वेषित और निर्मित की है। उन्होंने कविता रचते हुए भी रुक-रुककर खुद को देखा है। अपने समय के वीभत्स भोगवाद, शोषण, असमानता और हिंसा की निर्मम आलोचना करते हुए यह संग्रह हमें अपने भीतर भी बसूले-रंदे चलाने को विवश करता है :

“नयी पगडंडी भले कच्ची ही हो
आजमाए एवं आदत में शुमार रास्तों से
ज्यादा अच्छी और ज्यादा सुखी दुनिया खोलती है
...इस पगडंडी पर बढ़ो
कहीं पहुँचो या न पहुँचो
इस पगडंडी पर चलो”¹

¹ बद्रीनारायण . 2019 . तुमड़ी के शब्द (काव्य संग्रह) . राजकमल प्रकाशन . पृ. सं. 21

2.4. पृष्ठभूमि

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में शिक्षा के नए-नए आयामों और अर्थोपार्जन की नई-नई पद्धतियों के कारण लोगों में नई चेतना विकसित हुई। विश्वग्राम और नवउपभोक्तावाद की अवधाणा और सूचना एवं प्रौद्योगिकी के प्रभाव की परिणति से समाज में नई-नई परिस्थितियाँ पैदा हुई। प्रति-आख्यान (एण्टी नैरेटिव्स) की स्थिति आई। आर्थिक उदारीकरण के कारण, मनुष्य के जीवन-यापन का स्तर बदला। स्थिति कुछ बेहतर भी हुई, बदतर भी। कई रूढ़ियाँ टूटीं, पर उसकी ओट में कई विकृतियों का जन्म भी हुआ। गाँव और कस्बों में कामगारों की मजदूरी की कटौती, श्रमिकों के आत्मबोध, महानगरों में दैनिक भत्ते के कामों की उपलब्धता... के कारण पलायन एक बड़ा मुद्दा बना। गाँव के गाँव खाली हो गए। कृषि कर्म आहत हुआ। दलित सम्प्रदाय के जीवन-जगत को ध्यान में रखती हुई समकालीन कविता इन सभी स्तरों पर समकालीन हुई। इसी के साथ हिन्दी में दलित कविता की सशक्त उपस्थिति दर्ज की गई।

समकालीन कविता परिदृश्य में महिला कवयित्रियों की व्यापक दुनिया के नवीकरण का दृश्य सुखद है, जो पूर्व में नहीं था। नई कविता के दौर में शकुन्त माथुर, कीर्ति चौधरी, स्नेहमयी चौधरी, अमृता भारती, इन्दु जैन, सुनीता जैन; अकविता के दौर में मणिका मोहिनी, मोना गुलाटी आदि का आगमन हुआ। अकविता आन्दोलन के दौर में उभरे स्त्री-स्वर की निजता का ही परिणाम है कि आज हिन्दी कविता में कवयित्रियों की पर्याप्त और खुली उपस्थिति है। गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका, निर्मला गर्ग, नीलेश रघुवंशी, तेजी ग्रोवर, अर्चना वर्मा, सविता सिंह, क्षमा कौल, अनीता वर्मा, इला कुमार, मधु शर्मा, वन्दना केंगरानी, स्वरांगी साने, मनीषा झा, इन्दु वैद्य, वन्दना देवेन्द्र, जया जादवानी, रंजना जायसवाल, किरण अग्रवाल, रश्मि रमानी आदि नाम अपनी विशिष्ट पहचान के साथ उभर कर आईं और समकालीन कविता की धारा को पुष्ट करने लगीं। घर, परिवार चलाते हुए जीवन यापन के सारे पहलू इनके यहाँ मौजूद हैं; ड्राइंग रूम से रसोई घर तक, क्रेच से जच्चा-घर तक, चूल्हे चौके से दफ्तर तक, मयखाने से संसद तक की स्थितियाँ अपने पूरे प्रभाव और मौलिकता के साथ इनके यहाँ दर्ज हैं। स्त्री-जीवन का मौलिक सच लेकर आई इन कवयित्रियों की कविताएँ अपनी अनूठी तस्वीर पेश करती हैं।

वर्तमान समय की हिंदी कविता सकारात्मक मानव मूल्यों के साथ ही मनुष्य को समग्रता में आत्मसात कर चलती है। मनुष्य को तोड़नेवाली हिंसा और उसके विकास की दिशा को रोकनेवाली साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ सृजनात्मक मूल्यों को प्रश्रय देती है। इसमें सकारात्मक हस्तक्षेप का भी स्वर है। इस कविता की मूल शक्ति है-मानवीय संवेदना, करुणा, दया, अहिंसा, मानवाधिकार के तत्व, लोकतांत्रिक जीवन मूल्य। कवि सामान्य लोगों की बौद्धिक कमजोरी को दूर कर समाज में समता, बंधुत्व एवं न्याय की स्थापना के लिये संघर्ष करने को प्रेरित करता है। उसके ज्ञान क्षितिज का विस्तार करता है। रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, अज्ञानता को मिटा कर, वैज्ञानिक चेतना जगा कर उसे स्वविवेक से सत्य और असत्य के निर्णय करने के योग्य बनाता है। उसे संवेदनशील बना कर इंसानियत की रक्षा के

लिए सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर तैयार करता है। उसे अपनी सुविधाओं एवं खुशियों को हासिल करने के लिये गुरिल्ला युद्ध करने, उसके हाथों में हथियार नहीं थमाना चाहता है। आज का कवि जानता है कि हिंसा से मानव समुदाय का अहित होगा। आनेवाली पीढ़ियों के लिये यह धरती शांति, प्रेम एवं भाईचारे को खो देगी।

विषमतामूलक समाज को मिटा कर मानवीय समानता के आधार पर देश-दुनिया का निर्माण वर्तमान समय की कविता का लक्ष्य है। हिंसा, खून खराबा को प्रश्रय न देकर कवि मनुष्य को मनुष्य से जोड़नेवाले तत्व प्रेम, करुणा, दया, अहिंसा, सत्य, आत्मीयता, सहानुभूति, सहयोग जैसे महान मानव मूल्यों को संपोषित करता है। जीवन को सकारात्मक दिशा की ओर बढ़ने में मदद करनेवाली प्राकृतिक उपादानों को भी आज की कविता अहम मानती है। इसके लिये लाल आतंक और घातक हथियारों की जगह कविता में- धरती, आकाश, बादल, बारिश, पेड़, पौधों, फूल, चिड़ियां, नदी, पहाड़, जंगल, सुबह, शाम, दोपहर, वसंत, सर्दी जैसे प्राकृतिक रूपों को विशेष स्थान दिया गया है। वहीं साधारण आदमी की इच्छा, प्रेम, विचार, भाव, सहयोग, संघर्ष, खून-पसीना और बदलते सामाजिक मूल्यों का चित्रण भी है।

घर, परिवार, पत्नी, मां, बाप, बच्चे, मित्र, टोला, पड़ोस, खेत-खलिहान, श्रम एवं फसलें मिल कर आज की कविता को पूर्व की अपेक्षा जनसरोकारों से जोड़ता है। वह जीवन के यथार्थ का मानो भोक्ता हो गयी है। वायवीय भावों, विचारों एवं कल्पनाओं के लिये यहां बिलकुल जगह नहीं है। आज की कविता अनंत संभावनाओं से युक्त तेजी के साथ जीवन के अनछुए पहलुओं को रच रही है। इसमें आतंक और चीख-पुकार या शोर-शराबा नहीं है। यही कारण है कि समकालीन कवियों की कविताएं नारेबाजी एवं बड़बोलेपन का शिकार नहीं हैं। व्यक्ति, समाज, देश एवं दुनिया के अनुभव, चिंतन एवं लोगों के संघर्ष को स्वाभाविक तरीके से सहज एवं सरल भाषा में व्यक्त किया जा रहा है।

सन् 1960 से आज तक के तमाम उथल-पुथल को समकालीन हिन्दी कविता अपनी पैनी निगाह से देखती समझती आई है। इस यात्रा में अकविता, प्रगतिशील जनवादी कविता और नवगीत की सुसंगत परम्परा को भी समकालीन कविता का ही अंग माना गया। कई पीढ़ियों की सृजनधर्मिता से पोषित ये कविताएँ आमजन का पाथेय बनी हैं। शैक्षिक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकि उन्नति के बावजूद आपराधिक राजनीति और राजनीतिक अपराध से कलंकित परिदृश्य की सच्ची तस्वीर पेश कर इसने सावधान समाज बनाने का सफल उद्यम किया है। ओछी हरकतों में लिप्त नेता, पुलिस, पत्रकार के आचरण; गैरमुनासिब हरकतों में मशरूफ़ सामाजिक कार्यकर्ता... तमाम दुराचारों का डटकर सामना करती हुई वर्तमान समय की हिन्दी कविता सतत मनुष्य को सही राह दिखाती रही है।

2.4.1. वर्तमान परिदृश्य

कँवल भारती :

प्रसिद्ध दलित समालोचक कँवल भारती ने काव्य लेखन भी किया है। उनकी एकमात्र कविता संग्रह 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती!' जिसका प्रकाशन 1996 में बोधिसत्व प्रकाशन से हुआ है। प्रकाशित हुई। इस संग्रह के संबंध में कँवल भारती ने लिखा है कि प्रगतिवादी/जनवादी लेखक और दलित लेखक एक-दूसरे के मित्र ही है, अंतर सिर्फ इतना है कि जहां प्रगतिवादी/जनवादी लेखक का एकमात्र शत्रु पूंजीवाद है, वहीं दलित लेखकों ने ब्राह्मणवाद एवं पूंजीवाद दोनों पर प्रहार किया है। अपनी कविता संग्रह में डॉ. आंबेडकर के महत्वपूर्ण संघर्षों को स्मरण करते हुए तथा वर्णव्यवस्था, जाति, धर्म एवं सामाजिक विसंगतियों के विरोध में कविताएं संकलित हैं। राजतंत्र एवं लोकतंत्र के व्यवस्था में मानवाधिकार कितनी सीमा तक सुरक्षित हैं, इसकी भी तुलनात्मक अभिव्यक्ति कँवल भारती की कविताओं में हमें मिलती है। साथ ही, सामाजिक नियमों ने दलितों के जीवन को कितना भयावह और यातनापूर्ण बनाया है, इसकी अभिव्यक्ति भी उनकी कविताओं में स्पष्ट रूप से होती है।

कँवल भारती ने ने कविता संग्रह में कई कविताओं में हिंदू धर्म की परंपराओं, त्योहारों आदि की कटु आलोचना की है। "होली" शीर्षक कविता में वे लिखते हैं :

“जो भी धर्म, शास्त्र, देवता, महापुरुष
सिखाते हैं असमानता
अलगाव, नफरत और अस्पृश्यता
न्यायोचित ठहराते हैं जो वर्णव्यवस्था को
मैं उन सब का विरोधी हूँ।”¹

निर्मला पुतुल :

संथाल परगना (झारखंड) के दुधानी कुरुवा गांव में जन्मी कवयित्री निर्मला पुतुल ने आदिवासी महिलाओं के उत्थान के लिए बहुत काम किया है और आज भी कर रही हैं। उनकी लिखी कविताओं में पहाड़ का जीवन, उस क्षेत्र निवास करने वाली स्त्रियों और पुरुषों का संघर्ष साफ नज़र आता है। निःसंदेह उन्होंने उन स्थितियों को देखा और जिया होगा, जिसके बाद वह इतनी मार्मिक रचनाएं के लिए लिख सकीं। निर्मला के काव्य संसार में आदिवासी स्त्री अस्मिता के सरोकार नगाड़े की तरह बजते हैं।

¹ भारती, कँवल . 1996 . तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती!, बोधिसत्व प्रकाशन . पृष्ठ सं- 118

यह ऐसी पुकार है जिसने हिंदी कविता की तस्वीर ही बदल दी है। ये कविताएँ सम्बोधित हैं अपने समाज से और शेष संसार से भी। इसमें लगातार छले गए सबसे भले लोगों की वेदना है, नाराजगी है, और सबसे बड़ी बात इस छल को समझने और उससे जूझने की तैयारी है।

यह नृशंसता की सीमा है जहाँ मानवीय संवेदनाएँ इस कदर मर जाती हैं कि मनुष्य और पशु का अंतर ही न दिखाई पड़े। दैहिक-शोषण जैसे इस समाज में स्त्री की स्वीकृत नियति है। इसलिए कहीं कोई चीख-पुकार नहीं, बस प्रताड़ित स्त्री के गले में अवरुद्ध हो गई चीत्कार भर है जिसे वह चाहकर भी भूल नहीं सकती :

“कैसे भूल जाऊं वह राक्षसी रात

जिसमें दुनिया की सारी संवेदनाएँ

मेरा सबसे ऊँचा विश्वास

पवित्र रिश्ते की आस्था

सबकुछ लुट गया..”¹

मदन कश्यप :

मदन कश्यप जितने प्रेम के कवि हैं, उतने ही प्रकृति, जीवन राग व संघर्ष के कवि भी। साहित्य आजतक पर उनके जन्मदिन पर पढ़िए 'पनसोखा है इंद्रधनुष' से स्वयं मदन कश्यप द्वारा चुनी गई उनकी पांच उम्दा कविताएं- बेरोज़गार पिता की बेटी, तब भी प्यार किया, साठ का होना, फिर लोकतन्त्र और भूख का कोरस मदन कश्यप जितने प्रेम के कवि हैं, उतने ही प्रकृति, जीवन राग व संघर्ष के कवि भी। समाज व परिवार, संवेदना व करुणा उनमें भरपूर है। अपने 'लेकिन उदास है पृथ्वी', 'नीम रोशनी में', 'कुरूज', 'दूर तक चुप्पी' और 'अपना ही देश' नामक काव्य संकलनों से खासी लोकप्रियता हासिल करने वाले मदन कश्यप का नया काव्य-संकलन सेतु प्रकाशन से 'पनसोखा है इंद्रधनुष' नाम से छपकर आया है।

उनकी कविताओं में समय और समाज समग्रता में अंकित हुआ है। आन्दोलन की पृष्ठभूमि में उनकी कविता का जन्म हुआ है। ज़मीन से जुड़ा हुआ कवि का जीवनानुभव समय को मूर्त करता है बड़े असरदार तरीके से। इस कवि के काव्य-विकास पर ध्यान दें तो स्पष्ट पता चलता है कि यहाँ अन्तर्वस्तु और शिल्प के धरातल पर वैविध्य है। उनकी कविताओं में समय और समाज समग्रता में अंकित हुआ है। आन्दोलन की पृष्ठभूमि में उनकी कविता का जन्म हुआ है। ज़मीन से जुड़ा हुआ कवि का जीवनानुभव

¹ गुप्ता, रमणिका . स्त्री होने की सजा सब जगह भोगनी पड़ती है, निर्मला पुतुल से प्रेमिला की बातचीत, आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार ., पृ .89

समय को मूर्त करता है बड़े असरदार तरीके से। इस कवि के काव्य- विकास पर ध्यान दें तो स्पष्ट पता चलता है कि यहाँ अन्तर्वस्तु और शिल्प के धरातल पर वैविध्य है। प्रेम, गृहस्थ-जीवन, स्त्री, राजनीति, प्रकृति और पर्यावरण, किसान, दलित-आदिवासी आदि तमाम विषयों और संवेदनाओं के बिम्ब एवं दृश्य पाठकों के अन्तर्मन को प्रभावित करते हैं। गाँव, जनपद, महानगर, देस आदि के साथ विदेश के सुन्दर चित्रपट सँजोते हुए कवि ने अपनी विशिष्टता बनाये रखी है। कवि की संवेदना के आयतन का विस्तार उसकी कविताओं से साफ़ देखा जा सकता है।

कात्यायनी :

कात्यायनी ने हमारे समय के हिंस्र, बर्बर, जन विरोधी और कुटिल चेहरे को जिस तरह से अपनी कविताओं में प्रत्यक्ष किया है वैसा और किसी ने नहीं किया है। जीवट और उनकी जिद उन्हें प्रतिबद्धता से विचलित नहीं होने देती है। चेहरों पर आंच, सात भाइयों के बीच चम्पा, जादू नहीं कविता, इस पौरुषपूर्ण समय में, फुटपाथ पर कुर्सी, राख अंधेरे की बारिश में जैसे महत्वपूर्ण कविता-संग्रहों में जहाँ एक तरफ कविता और उसमें क्रांतिधर्मी बदलाव के लिये संघर्ष के बीच तनावपूर्ण संबंधों को लेकर वे कथ्य और कला- शिल्प को भी जोखिम में डाल देती हैं। वहीं आत्मसंघर्ष को रचना का केंद्रीय विचार मानते हुए व्यवस्था की विसंगतियों, कलावाद और कला की आत्मतुष्ट तटस्थता पर भी चोट करती हैं। निर्विवाद रूप से कात्यायनी हिंदी की समूची जुझारु, प्रतिबद्ध स्त्री-कविता में अपनी जागरूक और बेमिसाल उपस्थिति बना चुकी हैं :

“इस पौरुषपूर्ण समय में
संकल्प चाहिये
अदभुत-अन्तहीन
इस सान्द्र, कूरता भरे
अंधेरे में
जीना ही क्या कम है
एक स्त्री के लिये
जो वह
रचने लगी
कविता !”¹

¹ कात्यायनी . 2008 . इस पौरुषपूर्ण समय में . परिकल्पना प्रकाशन . पृ. सं. - 33

समकालीन हिन्दी कवयित्रीयों में कात्यायनी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। कात्यायनी की कविता को मात्र स्त्रियों के शोषण के विरुद्ध रची स्त्री कविताओं तक सीमित नहीं किया जा सकता है बल्कि बदलाव के कई मोर्चों पर सक्रिय हिंदी कविता के एक विशेष स्वर के रूप में सुना जा सकता है। कात्यायनी ने स्त्री पक्षधरता को स्वतन्त्रता के मूल्य में परिवर्तित किया है। गद्य में स्त्री विषयक प्रश्नों को लेकर लिखे उनके निबंधों का संकलन दुर्गा द्वार पर दस्तक और साम्प्रदायिकता, फासीवाद और साहित्य की सामाजिक भूमिका को लेकर लिखे उनके निबन्ध संग्रह 'षड्यंत्ररत मृतात्माओं के बीच' और 'कुछ जीवित कुछ ज्वलन्त' नाम से प्रकाशित हुए हैं और पर्याप्त चर्चा में रहे हैं। कविता के क्षेत्र में उनका पहला संकलन 'चेहरों पर आंच' नाम से आया था उसके बाद इस पौरुषपूर्ण समय में जादू नहीं कविता, फुटपाथ पर कुर्सी, राख-अंधेरे की बारिश में जैसे कई संकलन आये हैं। समकालीन हिन्दी कविता में कात्यायनी सामाजिक यथार्थ से टकराते हुए निरन्तर कविता के औचित्य उसकी प्रासंगिकता और उसके शिल्प को लेकर बहस करते हुए मुक्तिबोध और धूमिल की परम्परा स जुड़ती है।

कात्यायनी क्रान्तिकारी वाम धारा से विचार के स्तर पर जुड़ती है। आज भी उनकी कविता में विद्रोही, तीखी बहस और पीड़ादायक आत्मसंघर्ष मिलता है जो समकालीन कविता में अब बहुत कम दिखता है। 1965-75 के एक खास दौर की कविताओं में जैसे मुक्ति के लिए तड़प थी वह आज भी कात्यायनी की कविता में बाकी है लेकिन क्रान्ति को लेकर रूमानियत बड़बोलापन जैसे प्रभाव उनमें नहीं मिलेंगे बल्कि अपने व्यक्तित्व व अपनी कविता में बार-बार विचार और संप्रेषण के स्तर पर नये आयामों की खोज करना और बार-बार अपनी ही सीमाओं का अतिक्रमण कर नई अभिव्यक्तियों की फिर-फिर खोज में निकलने वाले मुक्तिबोधीय विवेक को उनमें देखा जा सकता है। वे कविता के क्षेत्र में वाम से लगातार कविता और काव्यालोचन को लेकर बहस चलाती है, उत्तर आधुनिकता की मृगतृष्णा फूकोयामा के 'इतिहास के अंत' की घोषणाओं और साम्प्रदायिक नव फासीवाद के उत्स के कारणों को वे पहचानती हैं। कवि आलोचक विष्णु खरे उनके संबंध में कहते हैं :

"यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि कला और आस्था के कई खतरे उठाते हुए मी कात्यायनी हिन्दी की समूची जुझारू प्रतिबद्ध कविता में अपने जागरूक वैविध्य से अनूठी उपस्थिति बना चुकी है और विकासशील सशक्त युवा कवयित्रीओं की सुखद रूप से बढ़ती हुई कतार में तो ये अपने तरह से एकमात्र है।"¹

उनकी सर्वाधिक चर्चित कविताओं में से एक है 'सात भाइयों के बीच चम्पा'। जहां परिवार और समाज के संदर्भों में स्त्री के अस्तित्व को मिटा देने, उसके इतिहास को विस्मृत कर देने के तमाम प्रयासों के बावजूद अपनी अदम्य इच्छा शक्ति से बार-बार केन्द्र में आ जाने वाली स्त्री व खत्म होने वाली उसकी चेतना के प्रतीक के रूप में वह अपनी कविता की नायिका चम्पा को खड़ी करती हैं :

¹ खरे, विष्णु. इस पौरुषपूर्ण समय में ब्लर्ब पर . पृ. सं.- 11

"सात भाइयों के बीच सयानी चम्पा

एक दिन घर की छत से

लटकती पाई गई

तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच

दबा दी गई

वहां एक नील कमल उग आया

चम्पा"¹

‘हॉकी खेलती लड़कियाँ’ कविता भी इस दृष्टि की एक महत्वपूर्ण कविता है। आमतौर पर परिवार समाज में लड़कियों के लिए घर की चहारदीवारी के भीतर पर्दे में रहना, व्रत पूजा करना, विवाह से पूर्व अपने माता-पिता के कठोर संरक्षण में चूल्हा चौका और आगामी गृहस्थ-जीवन के लिए खुद को तैयार करना और विवाह के बाद पति व बच्चों की सेवा में अपने जीवन को समर्पित कर देने तक स्त्री की भूमिका को सीमित कर दिया जाता है। ऐसे में लड़कियों के लिए खेलने निकलना, वो भी इक्कट दुक्कट जैसे उनके लिए उपयुक्त समझे जाने वाले खेल के लिए नहीं, हॉकी जैसे भागदौड़ वाले उत्साहपूर्ण और लगभग उनके लिए वर्जित समझे जाने वाले खेल में भाग लेने के लिए निकलना कितना विद्रोही कदम हो सकता है, कविता इस ओर ध्यान आकर्षित करती है। जब घर में माँ संतोषी माता के व्रत की कथा सुनाने के लिए वर पक्ष के लोग आये हुए है, गली चौराहे पर शोहदे उनके लौटने के इंतजार में खड़े हैं, इससे निश्चिन्त लड़कियाँ मैदान में खेल रही है :

"लड़कियां, पेनाल्टी कार्नर मार रही हैं

लड़कियाँ पास दे रही है/ लड़किया 'गोडल गोऽल' चिल्लाती हुई,

बीच मैदान की ओर भाग रही है।

लड़कियों एक दूसरे पर बह रही हैं/एक दूसरे को चूम रही हैं और

वे हँस रही हैं कि यह जिन्दगी नहीं है इस बात से निश्चिन्त हैं लड़कियों हंस रही हैं,

¹ अनामिका . कहती हैं औरतें . पृ. सं.- 67

रेफरी की चेतावनी पर"¹

आलोचक परमानन्द श्रीवास्तव इस संग्रह की एक श्रृंखला 'सहिष्णु आदमी की कविता, बूढ़े आदमी की कविता, अनिद्रा के रोगी की कविता, आलोचक की कविता में अधिक कहने की हड़बड़ी और वाग्जाल के कारण उन्हें लगभग निरर्थक हो जाने के दोष को देखते हैं वहीं दूसरी कविताओं की तारीफ करते हुए वे लिखते हैं :

“जबकि वहीं एक ढलती नदी का सच जैसी अधिक अर्थवान कविता है। आलोचक प्रासंगिक है वह हो, न हो, कवि के पास एक आत्म आलोचना स्वभाव जरूरी है। तब कविता के साथ जादू भी गैर जरूरी न होगा। 'नाउम्मीद हो जाना कविता की अर्थमयता के लिए कविता के बाहर कुछ भी जानना जरूरी नहीं है। यह भी कात्यायनी ही लिख पा रही है "संगीत छन रहा हो/ अंधेरे की जाली से/रोशनी के मानिन्द/राग तुम हो जाओ विराग/संगति को रहने दो निर्लिप्त पोर पोर से मैं जानना चाहती हूँ/जगाने का आनन्द।”²

कात्यायनी ने समकालीन हिंदी कविता में निश्चित रूप से नये आयाम जोड़े हैं। इच्छाओं, प्रेम, विश्वास, दुःख, नाउम्मीदी, मृत्यु के बावजूद जीवन के प्रति एक अदस्य आकर्षण, दुनिया को बेहतर बनाने का स्वप्न और अपने जीवन में कविता में उसके लिए क्रान्तिकारी संघर्ष जारी रखने का साहस, उनकी कविता को नारी मुक्ति के संदर्भ में ही नहीं मानवीय मुक्ति के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक और महत्वपूर्ण बनाता है।

अनामिका :

अनामिका हिन्दी की प्रमुख समकालीन कवयित्री है जो अपनी परम्परा का मूल्यांकन करते हुए नयी और प्रगतिशील परम्परा के निर्माण के लिए संघर्षरत है। उनकी कविता के केन्द्र में भी यद्यपि स्त्री जीवन ही है, तथापि वे व्यापक मनुष्य जीवन में उपस्थित विडम्बना और सौंदर्य की कवयित्री हैं। उनका पहला कविता संग्रह 1976 में 'शीतल स्पर्श एक धूप को' के नाम से आया था। उस समय उनकी उम्र चौदह वर्ष मात्र थी। किशोरावस्था के स्वाभाविक कच्चेपन के बावजूद उनकी शुरूआती कविताओं में भी विचारों की एक ताकत थी इमरजेंसी के ठीक पहले के वातावरण में आतंक, भूख और दूसरी आजादी के नारों के उठने के इस समय में उनकी कविता एक ओर प्रतिरोध की परम्परा से जुड़ रही थी वहीं दूसरी ओर नई स्त्री आकांक्षा को भी उसमें देखा जा सकता था, अपने काव्य जीवन के आरम्भ में ही उनकी कविता का जो तेवर था, उसकी ओर ध्यान दिलाते हुए आलोचक जितेन्द्र श्रीवास्तव इस संग्रह से दो उदाहरण देते हैं। कविता है 'नव क्रांति का आह्वान' :

¹ अनामिका . कहती हैं औरतें . पृ. सं.- 91

² श्रीवास्तव, परमानन्द . कविता का उत्तर जीवन . पृ. सं.- 195

"सूरज का बुझने लगा शोला
बिखेरता है धुँआ सा अम्बर में धरती पर राख सा अंधेरा।
चाँद की अधपकी रोटी/पा लेने को मचल रहे कितने ही कर हैं
सूरज की बिंदिया से शोला हो जाने की/चाँद के खिलौना से रोटी हो जाने की लम्बी
कहानी / कितनी रोमांचक है।
जाने कब साथ छोड़ेंगे/भूख और अंधेरा।"¹

अपनी काव्य यात्रा के आरम्भ में ही वह दिखा देती है कि उनके पास कविता का प्राण तत्त्व विचार है। 1990 में उनका दूसरा संग्रह 'समय के शहर' में प्रकाशित हुआ जिससे उन्हें व्यापक पहचान मिली और उनकी विचार सामर्थ्य और कवित्व सामर्थ्य का विकास इसमें स्पष्ट देखा जा सकता है। 'शीर्ष की टहनी' शीर्षक कविता देखें :

"जड़ कहो हमको / मगर हम जड़ नहीं
काल की बरगद जटाएं हमीं में आकर सदा से लय हुई हैं
गिलहरी क्षण की हमारे कोटरों में ही फुदकती है
शेषनाग सुधियों का हमसे ही लिपटा है"

इसके बाद 1993 में बीजाक्षर 2005 में खुरदुरी हथेलियों और 2007 में दूब धान नाम से उनके संग्रह आये जिनमें उनकी कविता निरन्तर परिष्कृत होती आयी है। कविता की भाषा के संबंध में अनामिका का मानना है :

"स्त्रियों के यहां कविता कहानी में चित्रित हर लैंडस्केप उनमें प्रयुक्त हर लोकमोटिफ या लोकभाषा से नागमणि की तरह उठाया गया हर व्यंजक शब्द, कहावत, मुहावरा बिंब, चरित्र संवाद प्रसंगादि अस्मिता की लड़ाई में एक छोटी मोटी युद्धभूमि की भूमिका अख्तियार कर गया है। भाषा के महीन लकरपेंच, टूटे फूटे पुश्तैनी गहनों की तरह औरतों के कोष में सुरक्षित रहते हैं

¹ श्रीवास्तव, जीतेन्द्र . पहल – 89 . पन्नों की फटती छाती पर . पृ. सं.- 266

और वक्त पड़ने पर वे इनहें अस्त्र भी बना लेती हैं। दरअसल यह तो स्थापित तथ्य है कि भाषिक औजारों से ही लड़ी जाती है अस्मिता की लड़ाई”¹

अनामिका की कविता में दैनन्दिन जीवन में स्त्री के देह, मन, घर, प्रसव, दुख, सुख सारे संघर्ष, सारे खटाराग, हड़बडिया, मोह और कहीं बची थोड़ी सी हंसी सबको एक साथ कविता में लिए चलती हैं वह चुटपुटिया बटन, सेप्टीपिन, जैसी छोटी नगण्य सी समझी जाने वाली स्त्रियों की छोटी-छोटी चीजों को कविता का विषय बनाकर उनसे स्त्रियों की समस्त पीड़ाओं का बयान निकाल लाती है।

अनामिका की कविताएं शान्त निर्विकार निरुद्धिग्र स्वभाव वाले कवि की कविताएं नहीं हैं वे एक ऐसे कवि की कविताएं हैं जिसके अपने मंसूबों से उनके इरादों तक लोहा रोज ही टहलता है सुबह शाम जिससे बाबा ने घोड़े की नाल गढ़ ली और अम्मा ने गढ़ा ली थी नाल की अंगूठी, वही लोहा टहलता है सुबह शाम और इस स्त्री के सुख-दुख त्रास संघर्ष और साहस या जीवट की अनिवार्य बेचैन अभिव्यक्ति है। एक ठोस वास्तविक स्त्री की दुनिया, यहाँ एक अविराम ‘उपस्थिति’ है।

सुशीला टांकभोरे :

सुशीला जी का व्यक्तित्व बहुआयामी प्रतीभा और विलक्षणा से युक्त है । इनकी रचनाओं में ‘शिकंजे का दर्द’, कविता संग्रह ‘हमारे हिस्से का सूरज’, ‘तुमने उसे कब पहचाना’, नाटक ‘नंगा सत्य’, ‘रंग और व्यंग्य’, कहानी संग्रह ‘संघर्ष’, ‘टूटता वहम’, ‘अनुभूति के घेरे, उपन्यास ‘तुम्हें बदलना ही होगा’ आदि का विशेष महत्व है।

स्वाधीनता और राजनीतिक अधिकारों के बावजूद जड़ मानसिकता को कोई मिटा नहीं पाया.सुशीला जी की अनेक कविताओं में दलित जीवन का यह दर्द उभरता है.उनके यहाँ स्मृति अपमान का पर्याय बन गई है.पूर्वजों की पीड़ा का संताप तथा वर्तमान में बार-बार जाति के नाम पर भोगा गया अपमान स्थायी सत्य है.‘यातना के स्वर’ कविता में उन्होंने साफ लिखा कि वर्तमान स्थिति में अन्याय के प्रतिकार की चेतना सबल न होने के कारण ही पी एच. डी तक शिक्षा प्राप्त प्राध्यापिका भी झाड़ूवाली कही जाती है.शोषण के ये सन्दर्भ अपमान की पीड़ा को जीवित रखते हैं.ऐसी सभी स्थितियाँ घोर अपमानजनक एवं अस्वीकार्य हैं.पीड़ा के इन अनगणित चिन्हों को झेलते हुए, अब सीधे सामने की लड़ाई का संकल्प है.दया और सहानुभूति के पर्दे गिराकर, पूरे वर्ग पर किए अत्याचारों का हिसाब माँगा जा रहा है.कुछ व्यक्ति या जातियाँ ही कटघरे में हैं, पूरे समाज को जवाब देना होगा कि कैसे उसने अपने जनसमूह के एक बड़े भाग को शताब्दियों तक असंख्य यंत्रणाओं की अग्नि में जलने को विवश किया :

¹ अनामिका . कहती हैं औरतें . पृ. सं.- 25

“हम दलित

आदम रूप होकर / आदम भाषा में पूछना चाहते हैं सवाल
मानव सभ्यता-संस्कृति का इतिहास क्या है ? / भारतीय संस्कृति का आधार क्या है
क्यों किया अब तक / हम पर अत्याचार ?”¹

इब्बार रवि :

इन्हें 'ओरिजेनिलिटी' का कवि कहा गया है जो शिल्प के प्रोसेस में नहीं फँसते, तीक्ष्ण दृष्टि और संवेदना से कविता बरतते हैं। उन्होंने अलग ढंग की कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं जिसने ध्यान आकर्षित किया। सरिता मासिक, नवभारत टाइम्स, आउटलुक आदि पत्र-पत्रिकाओं से उनकी संबद्धता रही।

सातवें दशक के कवि-पत्रकार इब्बार रबी का जन्म 2 मार्च 1941 को उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ में हुआ। हिंदी में एम.ए. और पत्रकारिता में डिप्लोमा के साथ वह अध्यापक और पत्रकार के रूप में सक्रिय रहे। उन्होंने आदिवासियों और दलितों के बीच कार्य किया है। वह हिंदी अकादेमी दिल्ली के साहित्यकार सम्मान, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के विजयदेवनारायण साही पुरस्कार, शमशेर सम्मान, कविता समय सम्मान आदि से साराहे गए हैं।

‘खाँसती हुई नदी’, ‘घोषणा पत्र’, ‘लोगबाग’ और ‘वर्षा में भीगकर’ उनके चार काव्य-संग्रह हैं। उनकी चुनी हुई कविताएँ ‘कवि ने कहा’ सीरिज़ में प्रकाशित हैं। उन्हें ‘ओरिजेनिलिटी’ का कवि कहा गया है जो शिल्प के प्रोसेस में नहीं फँसते, तीक्ष्ण दृष्टि और संवेदना से कविता बरतते हैं। उन्होंने अलग ढंग की कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं जिसने ध्यान आकर्षित किया। सरिता मासिक, नवभारत टाइम्स, आउटलुक आदि पत्र-पत्रिकाओं से उनकी संबद्धता रही। उन्होंने इतावली, रूसी आदि भाषाओं में कविताओं के अनुवाद किए हैं। कोशकारिता में भी उनका योगदान रहा है।

जसिंता केरकेट्टा :

पूरी दुनिया में कविताओं के जरिए प्रतिरोध का स्वर जिस तरह उभरा है, वैसा साहित्य की किसी और विधा में कम ही मिलता है। कविताएं बहुत कम शब्दों में मर्म को छूती हैं, किसी खास विषय को कहने की सहजता बरतती है और सत्ता प्रतिष्ठानों की पैनी नज़रिए से समीक्षा करती है। युवा कवयित्री जसिंता केरकेट्टा की कविताएं एकदम पाठकों को स्तब्ध करती हैं। उनका रचना संसार एक सीमित वर्ग और समुदाय का होते हुए भी व्यापक है और उनकी पैनी नज़रों से पर्यावरण क्षरण, विकास

¹ टांकभोरे, सुशीला . 1994 . हम दलित, यह तुम भी जानो . पृ.सं. - 87

का दुरुपयोग, शोषण, प्रतिरोध, खेमेबंदी, राष्ट्रवाद, बाज़ार, जनमानस की पीड़ा स्पष्ट शब्दों में बिना लाग-लपेट उभरती है।

जसिंता केरकेट्टा की कविताएं इंसान के भीतर एक असर पैदा करती हैं जो पाठकों को लंबे समय तक समाज के जरूरी विषयों पर सोचने को मजबूर करती हैं। कवयित्री ने आदिवासी जनजीवन पर मंडराते खतरों को जिन रूपों और हकीकत के सहारे गढ़ा है, वो बताती है कि देश के दूर-सुदूर क्षेत्रों में रहने वाली ये आबादी किन खतरों का सामना कर रही है। कैसे ये लोग देश के अभिन्न हिस्सा होते हुए भी बाकी लोगों से भिन्न हैं। कैसे इनका इस्तेमाल किया जा रहा है, सिर्फ लालच की पूर्ति के लिए।

जसिंता अपनी कविताओं में ईश्वर की अवधारणा पर सवाल उठाती है और इसके जरिए लगातार फैलते उस डर को उकेरती है जिसे ईश्वर के नाम पर धर्म को पोषित करने के लिए किया जा रहा है। वो लिखती हैं:

**“मजदूर जब अपने अधिकार के लिए उठे
तो कुछ ईश्वर भक्तों ने उनसे
हाथ जोड़कर प्रार्थना करने को कहा”¹**

अनुज लुगुन :

अनुज लुगुन की कविता की शैली मुहावरेदार है। वैसे भी जब सत्ता अपनी राजनीति में भाषिक जुमले और राजनीतिक नारों के जरिए जनता की आवाज का दमन करती है तब कविता को नई शैली और मुहावरों की जरूरत पड़ती है। इसके अभाव में उनके भाषिक हिंसा से संघर्ष नहीं किया जा सकता है। वह हर साहित्यकार, जिसका समाज से सरोकार है, वह देश में राजनीतिक हलचलों से खुद को तटस्थ नहीं रख सकता। अनुज लुगुन भी अपनी कविताओं में स्वयं को आदिवासी अस्मिता और मुख्यधारा के पीड़ित जनसमूह बीच में रखकर पीड़ित मनुष्यता का वृहत संकुल बनाते हैं।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि मुख्यधारा के से जुड़े कवि, विचारक और एक्टिविस्ट ने बहुत रुचि नहीं लिया इस आंदोलन में। यही चुप्पी प्रतिक्रियावादी ताकतों को संविधान पर हावी होने में मदद करता है। कवि ने लिखा है :

**‘हिंदी आदिवासियों की मातृभाषा नहीं है
न ही वे पत्थर फेंकने का मुहावरा जानते हैं**

¹ केरकेट्टा, जसिंता . 2022 . ईश्वर और समाज, राजकमल प्रकाशन . पृ. सं.- 12

**वे तो सिर्फ पत्थर गाड़ना जानते हैं
फिर भी वे पत्थर फेंकने के दोषी माने गए।¹**

अरुणाभ सौरभ :

अरुणाभ की कविताओं का लोकल भले ही बिहार का एक पिछड़ा ग्रामीण या अर्ध-शहरी क्षेत्र हो किन्तु कविताओं में उनकी चिंताएं वैश्विक हैं। कवि भौगोलिक या भाषिक बंधनों में बंधकर नहीं सोचता है। उसकी चिंता के केंद्र में पूरी मानवता है। गत 100 वर्षों में विश्व भर में जिस प्रकार युद्ध-संस्कृति को बढ़ावा मिला है उसे हम सब जानते हैं। एक तरफ जहां विज्ञान हमारे जीवन को अति सुगम बनाता हुआ हमें उत्तरोत्तर भौतिक प्रगति की ओर ले जा रहा है वहीं परमाणु युद्ध जैसे अभिशापित खतरे से भी हमें अवगत करा चुका है। अरुणाभ इस अभिशाप को ब-खूबी समझते हैं और उस खतरे को न सिर्फ अपनी कविता में लाते हैं बल्कि उसका हल भी तलाशते हैं। वह विज्ञान से केवल युद्ध नहीं प्यार करने प्यार सीखने का आग्रह भी करते हैं-

**‘वही विज्ञान जो महज युद्ध करना नहीं
प्यार करना भी सिखाता है’²**

विहाग वैभव :

हिंदी के युवा कवि विहाग वैभव का जन्म ‘उत्तर प्रदेश’ के जौनपुर जिले के सिकरौर नामक गांव में एक सामान्य किसान-मजदूर परिवार में हुआ है। उनकी 10वीं तक की शिक्षा जौनपुर के श्री सहदेव इंटर कॉलेज, 12वीं सेंट्रल हिन्दू स्कूल से और बीए तथा एमए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से हुई। वर्तमान में वे हिन्दी साहित्य में वहीं से पीएचडी कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण पत्रिकाओं जैसे पहल, नया ज्ञानोदय, अदहन, आजकल, कविता कोश इत्यादि में उनकी कविता निरंतर प्रकाशित होती रहती हैं। इसके अलावा वे कई साहित्यिक संस्थाओं में काव्य पाठ के लिए बुलाये भी जाते हैं। उनकी कविता में इतिहास का आख्यान और परंपरा का ज्ञान तथा भविष्य के सवाल छुपे हुए हैं। हालांकि, विहाग वैभव का कोई कविता संग्रह नहीं है, बावजूद उसके उनकी कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से पाठक वर्ग तक अपनी पहुंच बना चुकी हैं। वे एक विवेकवान और संवेदनशील कवि के रूप में पाठकों के बीच प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

¹ लुगुन, अनुज . प्रथम संस्करण, 2021 . पत्थरगाढ़ी, वाणी प्रकाशन . पृष्ठ सं.- 56

² सौरभ, अरुणाभ . 2022 . मेरी दुनिया के ईश्वर (कविता संग्रह) . प्रभाकर प्रकाशन, दिल्ली . पृ. सं.- 21

नरेश दाधीच :

नरेश दाधीच वर्तमान में राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। प्रोफेसर दाधीच 1978 से विभाग में अध्यापन का कार्य कर रहे हैं तथा 36 वर्षों से अधिक समय से राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन-अध्यापन से जुड़े हुए हैं। प्रोफेसर दाधीच 2006 से 2013 तक वर्तमान महावीर खुला विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे हैं। आपने समसामयिक राजनीतिक चिन्तन विषय पर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में आमन्त्रित व्याख्यान दिये। आप 2005 में प्रतिष्ठित फैलोशिप के अन्तर्गत साल्वे रेजिना विश्वविद्यालय, रोड आइलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। आपने 2003 में जॉन रोल्स के विचारों को हिन्दी में पहली बार पुस्तक जॉन रोल्स का न्याय का सिद्धान्त के माध्यम से प्रस्तुत किया।

पवन करण :

18 जून, 1964 ई. को ग्वालियर (म.प्र.) में जन्मे पवन करण समकालीन कविताओं के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। आपने जनसंचार एवं मानव संसाधन विकास में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। आपके 8 काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं-‘इस तरह मैं’, ‘स्त्री मेरे भीतर’, ‘अस्पताल के बाहर टेलीफोन’, ‘कहना नहीं आता’, ‘कोट के बाजू पर बटन’, ‘कल की थकान’ और ‘स्त्री शतक’ (दो खंडों में)। आपका कविता संग्रह “स्त्री मेरे भीतर” मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, उर्दू तथा बाँग्ला में प्रकाशित हो चुका है। इस संग्रह की कविताओं का नाट्यानुवाद एवं मंचन भी हो चुका है। आपकी कविताओं का भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त रूसी और अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ है।

पवन करण आधुनिक हिंदी कविता के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। इनकी कविताएँ दर्शन, समाज, राजनीति, पुराख्यान, जीवन के प्रत्येक क्षण, मानव मन की सूक्ष्म भावनाओं को जिस सहजता से अभिव्यक्त करती हैं उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने मन का दर्शन बड़े ही निश्चल भाव से कर पाता है। यह आपकी लेखनी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जो व्यक्ति से उसके ही मन का साक्षात्कार निर्विकार भावसे करा पाता है। पवन करण की कविताओं में स्त्री जीवन, उसके मन के विविध भावों, अनुभावों, संघर्षों तथा अभावों की सहज अभिव्यक्ति है। पवन करण की कविताओं में स्त्री मन अपने सभी द्वन्दों, संघर्षों, आत्मविश्वास, आस्था, जीवन मूल्यों के साथ मुखरित हुआ है। यह अपने अधिकार के प्रति सचेत स्त्री का स्वर है जो अपेक्षाकृत अधिक मुखर है। सभी स्त्रियाँ इतनी मुखर नहीं हो पाती। कुछ स्त्रियाँ विद्रोह नहीं करती, बस अचानक अपनी उड़ान से अपनी सोच समाज को सौंपती है। ‘उड़ान’ कविता में स्त्री की उसी सोच को कवि ने वाणी दी है। घर-परिवार स्त्री पर पाबन्दी लगाता है, वह नहीं जान पाता कि स्त्री अपने सपनों की उड़ान को, अपने परोक्षों को सबसे छुपा कर खुले आकाश में उड़ना सीख रही है। एक दिन वह अपने पूरे आत्मविश्वास के साथ सपनों के आकाश में उड़ जाती है। कवि सन्देश देता है :

“जो घर स्त्री की उड़ान को
नहीं पहचानते
उनसे उड़कर जाने वाली स्त्रियाँ
‘कभी वापस नहीं लौटती
आकाश छूकर
बस उनकी उड़ान लौटती है।”¹

सूरजपाल चौहान :

इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में हिन्दी दलित साहित्य अपनी निजी पहचान स्थापित कर चुका है। ‘दलित’ संज्ञा को लेकर जो मतमतांतर प्रवर्तित हैं उस पर गौर करें तो एक बात स्पष्टतः उभरकर आती है कि अधिकतर दलितेतर लेखकों-आलोचकों का रुख ‘दलित’ से आर्थिक विपन्नता की ओर अधिक रहा है। ऐसे आलोचक-लेखक सिर्फ जातिगत तौर पर उपेक्षित, प्रताड़ित, अपमानित, अस्पृश्य वर्ग को ही ‘दलित’ कहा जाये, इसके पक्ष में नहीं दिखाई पड़ते। २० अप्रैल, १९५५ के दिन उत्तरप्रदेश के अलीगढ़ जिले के फुसावली गाँव में जन्में सूरजपाल चौहान प्रतिबद्ध दलित साहित्यकार हैं। कविता, कहानी व आत्मकथा के दो भाग प्रकाशित कर चौहानजी ने दलित साहित्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता सिद्ध की है। सरकारी कार्यालयों में भोगे यथार्थ को निर्भीकता से प्रस्तुत करनेवाले सूरजपालजी ने सवर्णों की खोखली नीति, पाखण्डी वृत्ति व उनके द्वारा किये जाते अत्याचारों पर जिस बेबाकी से प्रकाश डाला है, उतनी ही सच्चाई व ईमानदारी से दलित वर्ग में मौजूद भेदभाव व प्रपंच पर भी अपनी लेखनी चलायी है। **दयाशंकर त्रिपाठी जी** ने सही कहा है :

“वे जिस अधिकार के साथ सवर्ण-समाज का नंगापन उघारते हैं, उसी प्रकार दलित समाज की हकीकतों और कमजोरियों का भी साक्षात्कार हमें करवाते हैं।”²

20 अप्रैल 1955 को अलीगढ़ उ० प्र० के एक गांव फुसावली में जन्मे सूरजपाल चौहान दलित विमर्श के प्रमुख कवि हैं। वे छंद और मात्रा के आधार पर कविता लिखने वाले पहले दलित कवि हैं। उनकी कहानी ‘बदबू’ पर वर्ष 2002 में उन्हें ‘रमाकान्त स्मृति पुरस्कार’ मिल चुका है और उनकी आत्मकथा ‘तिरस्कृत’ और एक कहानी संग्रह ‘हैरी कब आयेगा’ के नाम से पर्याप्त चर्चा पा चुका है। कविता के क्षेत्र में उनके दो कविता संग्रह अब तक आये हैं ‘प्रयास’ और ‘क्यों विश्वास करूँ’ नाम से।

¹ करण, पवन . 2006 . ‘स्त्री मेरे भीतर’, ‘उड़ान’ . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली . पृ. सं. 70

² चौहान, सूरजपाल . 2014 . वह दिन जरूर आएगा (भूमिका) . पृ. सं. 17

उनकी एक कविता है 'मेरी माँ' जिसमें सड़क किनारे झाड़ू लगाती, मैला ढोती माँ के कर्म में छिपे आक्रोश को वो पकड़ते हैं :

“भोर होने से पहले/सड़क पर/झाड़ू लगाती/ मेरी माँ

जैसे खरोंच रही हो चुपचाप/सीने को/फौलादी व्यवस्था के

अपने नाखूनों से/उस पर जाती/सड़क को वह बजबजाती गंदगी की टोकरी रखे/जैसे/

उठाया हुआ हो उसने एक शव/मरी हुई व्यवस्था का”

उनकी कविताओं में प्रगीतात्मकता का आग्रह मिलता है जो उनकी कविताओं को सप्रेषणीय बनाता है। गीत व छंद शैली का सफल निर्वाह उनकी रचनाओं में हुआ है। उदाहरण के तौर पर धुनिया का गीत, जोगिया गीत, यह दलितों की बस्ती है, परियों ने आना छोड़ दिया, जैसे गीत 'क्यों विश्वास करूँ' संग्रह में शामिल है। रमणिका गुप्ता उनके संबंध में लिखती हैं, “दरअसल हिन्दी दलित साहित्य में गीत विधा में श्री चौहान का कोई दलित कवि सानी नहीं है। आज दलित समाज की समझ में बदलाव लाने के लिए गीत भी एक सक्षम हथियार बन सकता है, जिस पर सूरजपाल चौहान को पर्याप्त महारत हासिल है।”¹

ओमप्रकाश वाल्मीकि :

दलित कवि लेखक और चिंतक के तौर पर ओमप्रकाश बाल्मीकि एक जाना पहचाना नाम है। बरला मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) में 30 जून 1950 को जन्मे ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाएं हिन्दी की सभी प्रमुख पत्र पत्रिकाओं में छपी हैं। अंग्रेजी, बांग्ला, मराठी, गुजराती, पंजाबी एवं उर्दू में उनकी रचनाओं के अनुवाद हुए हैं। उन्हें डॉ० अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार, परिवेश सम्मान 1995, जैसे कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। हिन्दी कविता के अतिरिक्त नाटकों के निर्देशन कथा लेखन और अभिनय के क्षेत्र में भी वे महत्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं। उनके अब तक दो कविता संकलन, 'सदियों का संताप' और बस्स! बहुत हो चुका' नाम से आये हैं। 'सदियों का संताप' के लिए डॉ० धर्मवीर ने लिखा है, “सदियों का संताप काव्य पुस्तक बहुत छोटी है, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से अभिव्यक्ति में बेहद सशक्त है यही मराठी कवि आलोचक शरण कुमार लिम्बाले संग्रह की कविताओं को अपनी पीड़ा और प्रश्नों का

¹ चौहान, सूरजपाल . क्यों विश्वास करूँ (भूमिका से) . पृ. सं.- 3

बयान मानते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में भावाकुलता के साथ-साथ कलात्मक धैर्य भी मिलता है जो उन्हें दलित कविता की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रखता बल्कि हिन्दी की मुख्य कविताधारा से भी जोड़ता है। अनुभव की सच्चाई का जो प्रतिमान हिन्दी कविता ने स्थिर किया है उस पर कवि की कविताएं खरी उतरती हैं। 'बस्स! बहुत हो चुका' संग्रह की शीर्षक कविता देखिए :

"मेरी हथेलियों भीग भीग जाती हैं/ पसीने से
आँखों में उतर आता है / इतिहास का स्याहपन
अपनी आत्मघाती कुटिलताओं के साथ
झाड़ू थामे हाथों की सरसराहट / साफ सुनायी पड़ती है भीड़ के बीच
बियावान जंगल में सनसनाती हवा की तरह / वे तमाम वर्ष / वृताकार होकर घूमते हैं
करते हैं छलनी लगातार / उंगलियों और हथेलियों को/नस नस में समा जाता है
ठण्डा ताप
गहरी पथरीली नदी में असंख्य मूक पीड़ाएं/ कसमसा रही हैं
मुखर होने के लिए रोष से भरी हुई/बस्स/बहुत हो चुका / चुप रहना
निरर्थक पड़े पत्थर/अब काम आयेंगे सन्तप्त जनों के।"¹

समूची ब्राह्मणवादी व्यवस्था के जो धार्मिक विश्वास आधार बने हैं। कवि बार-बार उन पर चोट करते हुए अपने अस्तित्व की खोज करता है। उसके प्रश्न बड़े तीखे हैं। यहाँ तक कि भाषा पर ब्राह्मणवादी संस्कारों का जो प्रभाव रहा है उसके खिलाफ एक नई भाषा की तलाश उनकी कविता करती है :

"शब्दों का खोखलापन/बार-बार उजागर हुआ
फिर भी कहीं एक विश्वास बचा रहा कि एक न एक दिन
शब्द अपने आदिम रूप में उपस्थित होकर साक्ष्य देंगे जनसमूह के बीच

¹ वाल्मीकि, ओमप्रकाश . बस्स! बहुत हो चुका . पृ. सं.- 79

बचा रहा विश्वास/कि एक न एक दिन सारे तर्क / लम्पट बौद्धिकता में लिपटे साबित होंगे”¹

इस भय व घृणा के साथ-साथ कवि के भीतर गहरा विश्वास भी है कि एक दिन वह भाषा में समर्थ अभिव्यक्ति ला सकेगा जिससे दलितों शोषितों की तकलीफ कविता में संप्रेषणीय हो पायेगी और दलित मुक्ति का शोषण मुक्त समाज का एक दिन जरूर आयेगा।

कुमार अम्बुज :

कुमार अम्बुज जिनका जन्म 13 अप्रैल, 1957 को गुना (मध्य प्रदेश) में हुआ, विज्ञान से जुड़े होते हुए भी कविता के बुलावे पर कविता की ओर पूरे ध्यान के साथ आए और साहित्य से जुड़े। उनकी कविताओं ने हमेशा ही सोचने के पुराने ढंग से मुक्त करने का प्रयास किया। साथ ही नए और वास्तविक नज़रिए प्रदान किए। किवाड़ (1992), क्रूरता(1996), अनंतिम(1998), अतिक्रमण(2002), अमीरी रेखा कुमार अम्बुज के प्रमुख कविता संग्रह हैं। वर्तमान समय ऐसा समय है जब लोग शहरों की भीड़ में गुम हो रहे हैं, उनका नज़रिया उनके घरों के कमरों जितना संकुचित होता जा रहा है। ऐसे समय में स्मृतियों, प्रेम, संवेदनाओं, मूल्यों और बुनियादी खुशियों के लिए समय न निकाल पाना हमारे समय की एक बड़ी हार है। ऐसे समय में ऐसे समाज और ऐसे जीवन को जी रहे वर्ग का प्रतिरोध करना बेहद जरूरी है। कुमार अम्बुज प्रतिरोध के ऐसे ही कवि हैं जिनकी कविताएं सुगमता से हमारे समाज में हमारे कष्ट भरे जीवन को अभिव्यक्त कर रही हैं। हमारे चारों ओर बिखरी हुई जटिलता और जीने की निर्मम शर्तों को मानकर भी हम संवेदनहीन होकर केवल जीवन जी रहे हैं। ऐसा जीवन जिसमें भीतर ही भीतर बुनियादी सवालों से, विरोधाभासों से लगातार लड़ना है। कुमार अम्बुज की कविताएं ऐसे ही बुनियादी सवालों को, विरोधाभासों को कविताएं की भूमि पर लाकर हमारे समय का सच परिदृश्य कर रही हैं।

अपनी कविताओं के साथ वर्तमान समय की सच्चाई को पूरी ताकत से दिखाने का प्रयास करते कुमार अम्बुज को पढ़ते हुए उनकी कविता में प्रतिरोध महसूस करना उनकी कविता की सबसे प्रमुख विशेषता है। वे हर तरह से हमारे भीतर बैठी जड़ता को खंडित करते हैं जो समाज ने, जीवित रहने की राजनीति ने, हमारे पुरखों ने हमें विरासत में दी है।

कुमार अम्बुज आधुनिक समय में बर्बरताओं, लालसाओं का महारास रचती पूंजीवादी साम्राज्यवादी शक्तियों के छल की पहचान अपनी कविता में करते हैं उनका पहला संग्रह **किवाड़**

¹ वाल्मीकि, ओमप्रकाश . आदिमरूप . पृ. सं.- 28

(1992) में आया था, जब इस संकट की शुरूआत हो रही थी, उसके बाद विविध रूपों में जीवन के तमाम स्रोतों पर बाज़ार का जब फैलाव होता गया पूंजी के नए-नए छल सामने खुलते गये तो उनकी पहचान कवि के आगामी संग्रहों की कविताओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। 1996 में 'क्रूरता' 1998 में 'अनंतिम' और 2002 में उनका चौथा संग्रह 'अतिक्रमण' पाठकों के बीच पहुंचता है। 'किवाड़' संग्रह में 'कानून' कविता देखें जिसमें कवि बाज़ार के भटकाव में दार्शनिकता का लबादा ओढ़कर संघर्ष के रास्तों से बचकर निकलते कवियों की आलोचना करता है :

"विस्फोट और दुर्घटना से गुजरते हुए
मुझे उत्तेजित होने से बचना था
और अपना दुख
अवसर देकर ही प्रकट करना था।
यह सब आसानी से कर गुज़रना
नारों से भरी दीवार को सराहना था
और अराजक भीड़ को चुपचाप रास्ता दे देना था
फिर मुझे वसंत और प्रेम के बारे में
एक कविता लिखनी थी"¹

ये तो आरम्भ था जब संघर्ष के स्थान पर सुविधा अर्जित करना ही मनुष्य की कर्मण्यता का प्रतीक बताया जा रहा था, विमर्शों ने धूल और हवा के लिए किवाड़ बन्द कर दी थी। जब कवि जान जाता है कि अब विचारों के क्षेत्र में भी बाज़ार का नियंत्रण होता जा रहा है और बाज़ार द्वारा नियंत्रित विमर्शों में उसका इस्तेमाल भर हो रहा है तो वह कहता है :

"मैं कहना चाहता हूं सिर्फ
मुझे इस्तेमाल किये जाने वाले आपके तरीकों के बारे में
कृपया सारी फाइलों

¹ अम्बुज, कुमार . किवाड़ संग्रह, कानून . पृ. सं.- 29

और योजनाओं में से आप मेरा नाम

तुरंत निकाल दें।”¹

इसके बाद अपने समय की 'क्रूरताओं' का साक्षात्कार करते हुए कवि ने उन तमाम छद्मों को अनावृत करना आरम्भ किया, उसने देखा कि शब्दों के अर्थ बदल दिये जा रहे हैं। जैसे लालसाएं जो हिंसक हो चुकी हैं उन्हें बचाने की चीज में बदल दिया गया है। यही बात कवि को, उसकी कविता को, प्रतिपक्ष में बचाये रख पाती है। कुमार अंबुज दिन प्रतिदिन जीवन को ग्रसते जा रहे भी विचार के लिए प्रतिबद्ध हैं।

मलखान सिंह :

हिन्दी दलित कविता में 'मलखान सिंह' एक क्रांतिकारी विद्रोही कवि के रूप में सामने आये हैं। 30 सितम्बर 1948 को अलीगढ़ के बसई काजी गाँव में जन्मे कवि मलखान सिंह ने धूमिल के काव्य मुहावरे का प्रयोग अपनी कविता में करते हुए ब्राह्मणवाद पर तीक्ष्ण प्रहार किये हैं। 'सुनो ब्राह्मण' उनका चर्चित काव्य संग्रह रहा है, जिसकी कविताओं में भारतीय ग्राम्य जीवन में दलितों के शोषण के दृश्य बड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त हुए हैं। 'इनकी कविताओं में गाँव का जो यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है वह गाँव के प्रति डॉ॰ रामकुमार वर्मा और सुमित्रानन्दन पंत की अवधारणाओं को तो तोड़ता ही है वह गाँव को आदर्श व्यवस्था मानने वालों के झूठ पर से भी पर्दा उठाता है। गाँव की व्यवस्था में दलित जीवन के सत्य को उद्घाटित करती मलखान सिंह की ये कविताएं आजादी की स्वर्ण जयंती मनाने वालों के लिए सचमुच विचारणीय हैं।

अनुभूति की सच्चाई और तीव्रता के मानदण्ड पर मलखान सिंह की कविताएं सफलता से संप्रेषणीय होती गई है संग्रह की पहली ही कविता 'मैं आदमी नहीं हूँ' का उदाहरण देखिए :

"मैं आदमी नहीं हूँ स्साब/जानवर हूँ,

दो पाया जानवर/जिसकी पीठ नंगी है

कन्धों पर मैला है/गट्टर है/मवेशी का ठठर है

हाथों में रांपी-सुतारी है/कत्री-बसूली है/सांचा है-या मछली पकड़ने का फांसा है

¹ अम्बुज, कुमार . निवेदन . पृ. सं.- 93

बगल में मूंज है-मुंगरी है/तसला है-खुरपी है
छैनी है-हथौड़ी है/झाड़ू है-रन्दा है-या बूट पॉलिस का धन्धा है।"¹

कार्यों के वर्गीकरण में सर्वाधिक श्रम वाले, जरूरी कार्यों को अभिजात्य ने दलित समुदाय पर ही छोड़ दिया है। एक हद तक उसने इन कार्यों को घृणित मानते हुए खुद से उनको इतना दूर कर लिया है कि अब वह उन कार्यों से जुड़े औजारों से भी परिचित नहीं होता, उस समूचे श्रम से परिचित नहीं होता, जिस पर समाज टिका हुआ है। मलखान सिंह अपनी कविता में इन्हीं औजारों को प्रतीक बनाते हैं। पहली ही कविता में वह श्रम से अपनी जाति का अभिन्न जुड़ाव दिखाते हैं। कविता के दूसरे हिस्से में इसी समाज में सर्वाधिक श्रमशील वर्ग की क्या स्थिति है वह सामने आती है :

"खाने को जूठन है/पोखर का पानी है
फूस का बिछौना है/ चेहरे पर/मरघट का रोना है
आँखों में भय/मुँह में लगाम/ गर्दन में रस्सा है
जिसे हम तोड़ते हैं/तो मुँह फटता है और
बचे रहने पर दम घुटता है।"²

इसी व्यवस्था में कवि संघर्ष करके शिक्षा प्राप्त करता है। उसके पास अवसर है कि वह इस सबसे नजर बचाकर सुविधाओं का चुनाव कर ले लेकिन कवि अपने समाज से खुद को काट नहीं पाए वह कुछ न बदल पाने की ग्लानि से दिन-रात जलता है। मुक्ति कभी अकेले नहीं मिलती वह है तो सबके साथ ही है, लेकिन सबकी मुक्ति का रास्ता दिखाई नहीं देता, क्योंकि :

"अंधेरा इतना गाढ़ा है
कि अपना हाथ अपने ही हाथ को पहचानने में बार-बार गच्चा खा रहा है।"³

¹ सिंह, मलखान . सुनो ब्राह्मण . पृ. सं.- 7

² सिंह, मलखान . सुनो ब्राह्मण . पृ. सं.- 8

³ सिंह, मलखान . सफ़ेद हांथी . पृ. सं.- 13

रास्ता दिखाई नहीं देता तो यह निराशा से भर नहीं जाता ये उदासीन माहौल भी उसके गुस्से को खत्म नहीं कर देता. उसमें लगातार रास्तों की खोजने की ललक बाकी रहती है। अपनी पीड़ाओं को वह भुला नहीं देता एक उम्मीद अब भी उसके पास है जिसके रहते वह कह पाता है। आश्चर्य नहीं कि दलित जिस ब्राह्मणवाद के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष जीतना चाहते हैं वही ब्राह्मणवाद धर्म के रूप में उनके भीतर शामिल होता है और अंतरविरोध पैदा करता है। धर्म और उससे जुड़े अंधविश्वासों का प्रभाव अनपढ़ श्रमिक किसान दलितों पर जितना है उतना ही पढ़े-लिखों पर भी, मलखान सिंह इसे पहचानते हैं। इसीलिए उपरोक्त पंक्तियों में दलितों की मुक्ति के लिए स्वर्ग की नसैनी तोड़ने की बात कहते हैं। कवि यह भी जानता है कि दलितों के उद्धार के लिए राजनीतिज्ञों की घोषणाएँ और नौकरशाहों के कागजी घोड़े दौड़ाने मात्र से जाति का अस्तित्व समाप्त नहीं जाएंगे:

"हमारे वजूद को/ धरती पर लाने हेतु/योजनाएँ बनती है

योजना के पेट में/योजनाएँ पकती है।

विशाल सभागृह में / जंगली रिवाज पर खूब बहस होती है.....

निकलते ही सड़क पर / मान्यवर और मान्यवर / दाँत फाड़ हँसते हैं

बाँहों में बाँहे डाल/काली पीली वादियों में मटरगश्ती करते हैं।"¹

कवि तो मानता है कि ब्राह्मण के जन्म के साथ ही दलित का जन्म भी हुआ है और जब तक ब्राह्मणवाद का अंत नहीं होगा दलितों की मुक्ति भी नहीं हो सकती। दलित साहित्य का विशिष्ट काव्य मुहावरा है, रंग, गंध और स्पर्श संवेदनाओं की अभिव्यक्ति भी भिन्न है, अभिजात्य काव्य मॉडलों पर उसे कसने पर वह अपरिपक्व या कमजोर दिखाई देता हो तो भी उसने अपनी निजी विशेषताओं को अर्जित किया है। मलखान सिंह की कविताओं में उसका एक प्रमुख रूप दिखाई देता है, जहाँ गुस्सा, यातना और सार्थक विकल्पों की तलाश को लेकर बेचैनी है जो हिन्दी कविता में मुक्ति के मार्गों को तलाशते सच्चे कवियों की परस्पर में जाकर जुड़ती है।

अनीता वर्मा :

युवा कवयित्री अनीता वर्मा की कविताएं एक विशिष्ट आस्वाद की कविताएं हैं उनका पहला कविता संग्रह 'एक जन्म में सब' के नाम से आया था। जिसने उन्हें समकालीन कविता के एक सशक्त

¹ सिंह, मलखान . कागजी घोड़े . पृ. सं.- 41

हस्ताक्षर के रूप में पहचान दिलाई थी और उसके बाद उनका दूसरा संग्रह 'रोशनी के रास्ते पर' 2008 में आया जो उनकी इस पहचान को और पुष्टा करता है। अपनी कविता में उन्होंने एक और सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में ऐसे अनुभवों को जो बहुधा अध्यात्म के क्षेत्र के जान कर छोड़ दिये जाते थे, को सूक्ष्मता से अपनी कविता में पकड़ा है। उनकी कविताओं में एक भिन्न काव्य भंगिमा है जो कविता की उस परंपरा से जुड़ती है जिसमें निराला की 'जो मार खा रोई नहीं' जैसी कविताओं से रघुवीर सहाय, विष्णु खरे, और चन्द्रकान्त देवताले की औरतों पर लिखी कविताओं तक विकसित होती आयी है 'एक जन्म में सब' में उनकी कविता 'यह हंसी बहुत कुछ' देखिए जो कुछ ऐसे खत्म होती है :

“सब कुछ पर्दे के पीछे चला गया था

या कुछ पर्दा नहीं रहा था

पर्दे के बाहर रूकी हुई थी पृथ्वी

रूकी हुई थी मुस्कुराहट”¹

स्त्रियों के दुखों की अथाह गाथा जिसे अपनी हँसी में स्त्रियाँ आसानी से फलाँगती चली जाती है। उसकी अभिव्यक्ति का कौशल अनीता वर्मा अपनी आरम्भिक कविताओं में ही हासिल कर लेती है और इससे आगे बढ़कर वो स्त्री कविता तक सीमित नहीं रहती, बल्कि जैसा कि आलोचक विष्णु खरे उनकी कविताओं के सम्बन्ध में कहते हैं कि यदि लिंगबोधक स्वर मात्र हटा दिए जाए तो वे किसी भी समकालीन कवि से बीस ही पड़ेंगी।

सविता सिंह :

सविता सिंह समकालीन हिन्दी कविता के क्षेत्र में जाना पहचाना नाम है, वे राजनीतिक शास्त्र की विदुषी हैं। रॉय फुलर और देरिदा के साथ शोध कर चुकी हैं। हिन्दी में उनकी सर्वाधिक चर्चित कविताओं में से एक है 'मैं किसकी औरत हूँ' सामान्य जीवन में स्त्री के परिचय के लिए पूछे जाने वाले साधारण से लगते इस प्रश्न के निहितार्थों में अपने स्वत्व की खोज करते हुए वे निकलती हैं, रेलगाड़ी में सामने की सीट पर बैठी महिला द्वारा प्रश्न किये जाने पर वह उत्तर देती है :

¹ वर्मा, अनीता . एक एक जन्म में सब . पृ. सं.- 37

**"मैं किसी की और नहीं हूँ मैं अपनी औरत हूँ
अपना खाती हैं/जब जी चाहता है तब खाती हूँ
मैं किसी की मार नहीं सहती/और मेरा कोई परमेश्वर नहीं"¹**

स्त्री का अस्तित्व पुरुष के संरक्षण में ही देखती आयी साधारण स्त्री के लिए ये उत्तर क्यों है, अकेली स्त्री खुश भी रह सकती है। ऐसा तो शायद निम्न और निम्न मध्यवर्ग की स्त्री की सोच में भी कभी नहीं आ पाता, सामने बैठी स्त्री का जीवन बिना पुरुष के कितना दुखदायी हो जाएगा। कैसे कटेगा इस औरत का जीवन? इस संशय से भरी स्त्री को कवयित्री ने अपने अकेलेपन के गर्व से परिचित कराती है और इस उम्मीद से भी कि एक दिन उसके जीवन में भी वह खुद अपनी हो पाएगी। अकेलापन भी एक भरा पूरा अनुभव है डरावना ही नहीं, लेकिन इस अकेलेपन में सामाजिकता का निषेध नहीं है बल्कि एक ऐसा सार्थक कोना ढूँढ लिया गया है जिसे सामाजिक मुक्ति की लड़ाई का मोर्चा बनाया जा सकता है।

'अपने जैसा जीवन' सविता सिंह का चर्चित कविता संग्रह है जिसमें अपने स्वत्व की खोज करते हुए वे नये पड़ावों की ओर बढ़ती है। भेद, कठिन कठोर अनुभूतियों, सुख जैसी कविताएं भी एक सतर्क पाठ की मांग करती है। सविता सिंह ने अपनी निजता के बावजूद अपनी दुनिया को विस्तार दिया है। उनकी कविता 'कृतज्ञ हूँ मेरी कविता' का उल्लेख इस संदर्भ में जरूरी है वे लिखती हैं :

**"इतनी नेकदिल हो तुम कि ले आती हो दूसरों का प्रेम ही मुझ तक / छिपा लेती हो
उनकी सारी वितृष्णा डाल देती हो जाने कहाँ दूसरों की डाह और घृणा मेरे सामने रहता है सदा
तुम्हारा चमकता माथा ही बार-बार इसलिए ही चाहती हूँ, तुम्हें/अपने एकान्त के उल्लास में कोई
चाहे जैसे देह में घुमड़ती अपनी ही वासना!"²**

'नाच' कविता में वे फैशन, मॉडलिंग विज्ञापन की चमचमाती दुनिया के अंधेरों से टकराती हैं "हज़ारों रंगों में बदल सकती है लिपिस्टिक, नेल पॉलिश बनकर परफ्यूम की गंध बन फैलती हैं। दसों दिशाओं में अबाध हैं वे इन्हें कुछ भी नहीं बांध सकता/विश्वबाजार में वही तो है सब कुछ अब / शायद बहुत पहले तय कर चुका था बाजार।"

मुक्ति का ये एक झूठा आदर्श जो बाजार स्त्रियों के लिए गढ़ता है। अपने यथार्थ में वह और अधिक शोषण की परतें अपने भीतर छिपाये रखता है। सविता सिंह बाजार द्वारा प्रचारित इस आधुनिकताबोध को पहचानती है और इसीलिए स्त्री मुक्ति के लिए उनकी कविता नए रास्तों की खोज में निकलती है। उनकी कविता इसी कारण आगे के समय के लिए अधिक प्रासंगिक बन पायी है।

¹ सिंह, सविता . मैं किसकी औरत हूँ . पृ. सं.- 137

² सिंह, सविता . 'कृतज्ञ हूँ मेरी कविता' . पृ. सं.- 188

गगन गिल :

गगन गिल का काव्य संसार स्वप्नों, संशयों, मृत्युबोध स्त्री जीवन की स्याह रहस्यों, त्रास और आतंक का मिला जुला संसार है, मुक्ति की एक अनवरत खोज उनके कविता संसार में है। उनके तीन कविता संग्रह - 'एक दिन लौटेगी लड़की' (1989), 'अंधेरे में बुद्ध' (96) और 'यह आकांक्षा समय नहीं' (1989) उनकी इस खास दुनिया को जानने समझने का अवसर देते हैं। 'एक दिन लौटेगी लड़की' की शीर्षक कविता को ही देखें :

"एक दिन लौटेगी लड़की / हथेली पर जीभ लेकर

**हाथ होगा उसका लहू से लथपथ / मुँह से टपका लहू कपड़ों में सूखा हुआ फिर धीरे-धीरे मुँह
उसका आदी हो जाएगा/कपड़ों के खुशनुमा रंग उसके चेहरे पर लौटेंगे / सोचेगी नहीं भूलकर
भी/अपनी हथेली के बारे में जीभ के बारे में....."¹**

स्त्री जीवन की त्रासद और भयाकुल करने वाली इस संग्रह की कविताओं में मृत्यु बोध बार-बार आता है। कविता में संयम के साथ सही भाषा के प्रयोग से एक तनाव पैदा कर पाने में वे सक्षम हैं। आलोचक परमानन्द श्रीवास्तव इस संग्रह की कविताओं के साथ अमरीकी कवयित्री एमिली डिकन्सन की मृत्यु बोध वाली कविताओं को याद करते हैं। 'अंधेरे में बुद्ध संग्रह' में इसी स्पष्टता का विस्तार हुआ है जहां पहले संग्रह में व्याप्त मुखरता मौन में बदल जाती है। मृत्यु यहां भी लगातार पीछा करती है, 'अंधेरे में बुद्ध' उद्विग्न होकर टहल रहे हैं क्योंकि :

**"कोई नहीं उत्सुक/उनकी बात सुनने को कोई कोई बुद्ध एकदम / गुमसुम हो गये हैं.
बची नहीं एक भी बात/बुद्धों के पास बुद्ध भी थक गये हैं, बुद्ध होते होते।"**

"गगन गिल की कविताओं के सारतत्व को रेखांकित करना चाहे तो कह सकते हैं, अस्तित्व में जीवित और अस्तित्व के पार, देह में जीवित और देह के भी पार, कविता में जीवित और कविता के पार, शब्द में जीवित और शब्द के भी पार, कभी छाया कभी काया. ऐसे है गगन गिल की कविता, पर ऐसे सारतत्व के निरूपण में भी शायद बहुत कुछ छूट जाने वाला है। अपने तीसरे संग्रह 'यह आकांक्षा समय नहीं' तक आते आते गगन गिल की कविता में त्रास और मृत्युबोध के साथ जीवन की लालसा और गाढ़ी होकर अपने लगती है। कुछ त्यागन के लिए पहले कुछ होना भी तो चाहिए, मरता भी तो वही है जो कभी जिया है, संग्रह की पहली कविता में जीवन के प्रति यह राग दिखता है :

¹ गिल, गगन . एक दिन लौटेगी लड़की'. पृ. सं.- 11

अपने चौथे संग्रह 'थपक थपक दिल थपक थपक' में गगन गिल इस राग विराग को आपस में गूँथ कर बिल्कुल मायावी तरीके से एक कौतुक में बदल देती है। ऊपर से ये कोरा शब्द विलास और बुद्धि विलास दिखाई देता है। लेकिन इस कौतुक के स्रोत बाबा फरीद बुल्लेशाह जैसे सूफी सन्तों में ही नहीं अक्का महादेवी और जनाबाई सरीखी सन्त कवयित्रीयों के यहां है। संग्रह की भूमिका में कवयित्री इसे स्वीकार करती हैं:

"इस हक और हुक ने मेरी पंजाबी मिट्टी को कुछ इस तरह से साना और गूँथा है कि मैं अपनों की, अपने संस्कार के कवियों की डार में आन मिली हूँ....। ये कविताएं मेरा और मैं इनका आविष्कार हूँ। जैसे कभी मिट्टी बर्तन बन जाए और कभी मिट्टी। भाषा और छन्द जीने में अब कोई बेगानापन नहीं रहा कोई बेलागपन भी नहीं जैसे एक भाषा से विदा की गई बेटी दूसरी भाषा के अपने घर में पहुंच गई हो।"¹

नीलेश रघुवंशी :

हिन्दी की युवा कवयित्री नीलेश रघुवंशी के अब तक तीन काव्य संग्रह 'घर निकासी', 'पानी का स्वाद' और 'अंतिम पंक्ति में' नाम से आ चुके हैं उनकी कविताओं में दाम्पत्य जीवन के अनुभव और पारिवारिक वृत्तान्तों के साथ मंथर गति से आगे बढ़ता जीवन है जिसमें स्त्री की दुनिया के अन्तरंग कोने हैं, जो परत दर परत पीडा के साथ खुलते हैं तो खुशी अवसाद उत्सुकता और कौतुहल से भरा एक ओर संसार भी दिखाई देता है। अपनी एकान्तिकता में भी ये कविताएं सामाजिक अर्थ पा लेती हैं।

उनकी कविता में पर्सनल को पॉलिटिकल बनाने की जल्दबाजी नहीं मिलेगी बल्कि सर्वथा निजी आख्यानो को वह स्त्री विरोधी ताकतों के खिलाफ व्यंग्य में बदल कर प्रतिरोध का नूतन तरीका खोजती है। संतान को जन्म देना स्त्रीत्व का विशिष्ट अनुभव है, 'पानी का स्वाद' में 'पहली रूलाई तक की डायरी' कविता श्रृंखला में नीलेश रघुवंशी मातृत्व के प्रत्येक अनुभव की प्रगाढ़ता के साथ जब शिशु के साथ अपने संवाद को लिखती है तो शब्दों से भी अधिक मीन में कई अर्थस्तर खुलते हैं। इस कविता श्रृंखला में स्त्रीवादी महाकाव्य की सी संभावनाएं हैं। इस श्रृंखला की पहली ही कविता में सूर्यग्रहण से बचने और सन्तरे खाने की इच्छा के बीच द्वन्द्व है। यहां रोमांच और खुशी ही नहीं है, डर भी है। संवाद है तो यों :

"मेरे बच्चे कितने अच्छे हो मेरी बनिस्बत तुम

¹ श्रीवास्तव, परमानन्द . कविता का उत्तरजीवन . पृ. सं.- 184

कम से कम रोटी तो खाने देते हो मुझे/...!"¹

भीतर का अंधेरा, भीतर की बारिश, ये अनुभव कविता से अधिक बयान करते हैं। अपना बदला रूप देखकर यह खिलंदडा बिम्ब नीलेश ही रच सकती हैं- अकुण्ठ, आत्मीय :

"मोटी अम्मा बनाकर रख दिया तुमने" या "मैं लिख रही हूँ डायरी और तुम बन्दर बने हुए हो, तुमने तो मेरे पेट को खेल का मैदान बना रखा है"²

नीलेश की कविता में ऐन्द्रिकता एक अर्थबहुल अनुभव है जैसे 'पानी का स्वाद' जिसे बहुधा स्वादहीन माना जाता है या फिर जब वे कहती हैं "खिड़की के बाहर फैले खेत झिलमिला रहे हैं दीये की तरह खेतों में लगी ये आग बनायेगी जमीन को और उपजाऊ जीएंगे इस जीवन को भी कौन सा कितना खारा, मीठा कितना" ऐसे ही दहेज में मिला वह हंडा जिसम कभी पानी कभी अनाज और कभी बचपन और सपने रखती है स्त्रियाँ, स्त्रियों के न रहने पर भी घर भर में लुढ़कते उस हंडे में उनकी पुकार, घर भर को सहेजती उधेड़बुन सुनाई दे जाती है।

वीरा :

समकालीन हिन्दी कवयित्रीयों में 'वीरा' ने अपने आसपास के जीवन और जीवनानुभव से अपने समय-समाज के अन्तर्विरोधों और विडम्बनाओं को देखने परखने का अलहदा तरीका खोजा है। उनकी कविताओं में स्त्री विमर्श की कोरी सैद्धान्तिकी के बजाय परिवेश के साथ संघर्ष से पैदा हुई राजनैतिक चेतना दिखाई देती हैं। ऊपर से उनकी कविताएं बहुत सरल और सादी हैं लेकिन उनमें भीतर गहरे राजनीतिक आशय हैं जो स्त्री की मुक्ति और मानव मुक्ति के संघर्षों से उन्हें जोड़ देती है। उनमें नए शब्दों, बिम्बों और तमाम प्रकार के विमर्शों की ढूँस-ठांस कविता में करने की उतावली नहीं है, पर गृहस्थी के चालू शब्दों और मुहावरों से रचा उनका कविता संसार शांत से दिखाई देने वाले हमारे परिवेश के भीतर यातना और आतंक की छिपी हुई तहाँ को उजागर करता है, वीरा ने आठवें दशक के मध्य में कविता लिखना आरम्भ किया था जबकि उनका पहला कविता संग्रह 'उतना ही हरा भरा' नाम से वर्ष 2004 में प्रकाशित हुआ। जिनमें कई स्मरणीय कविताएं हैं जैसे कि एक कविता 'भूख का हिसाब' देखें :

¹ श्रीवास्तव, परमानन्द . कविता का उत्तरजीवन . पृ. सं.- 189

² श्रीवास्तव, परमानन्द . कविता का उत्तरजीवन . पृ. सं.- 190

"तमाम नन्हें बच्चे / उत्सुकता से मेरे झोले के भीतर झांकते हैं।

**मैं उनेसे यह कैसे कहूँ कि मेरे झोले में उनके भोजन का हिसाब है, उनकी भूख कोई जवाब
नहीं"।¹**

उनकी एक कविता 'क्या होगा?' वर्तमान साहित्य के कविता विशेषांक में अप्रैल मई 1992 में छपी थी और काफी चर्चित रही है। वीरा की भाषा में प्रतिरोध की नई परम्परा का धैर्य है। मार्मिकता है, गहरा जीवनानुभव है, विडम्बनाओं को देख पाने वाली दृष्टि है, जो उनकी कविताओं को मूल्यवान बनाता है।

¹ वीरा . भूख का हिसाब . पृ. सं.- 286

3. समकालीन हिंदी कविता : प्रवृत्तिगत विशेषताएं

समकालीन कविताओं में भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, आतंकवाद, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, विकास की राजनीति व क्षेत्रवाद, व्यवस्था जनित विस्थापन और भेदवादी राजनीति जैसे मुद्दे कहीं-न-कहीं मौजूद हैं। समकालीन कवि हाशिये पर खड़े लोगों के लिए अपने शब्दों को अंकित करता है। भूमण्डलीकरण ने संसार के प्रत्येक व्यक्ति, समाज, संस्कृति, प्रकृति आदि सभी को प्रभावित किया है। समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से उन तमाम स्थितियों-परिस्थितियों को इंगित किया है, जो भूमण्डलीकरण के आगमन के बाद उत्पन्न हुए हैं।

समकालीन कविता, आधुनिक कविता के विकास में नयी चेतना, नयी भाव-भूमि, नयी संवेदना तथा नये शिल्प के बदलाव की सूचक काव्यधारा है। समकालीनता बोध युग-बोध की पहचान का महत्वपूर्ण आधार है। सामाजिक यथार्थ, सपाटबयानी के साथ राजनीति एवं व्यंग्य इसके महत्वपूर्ण पहलू हैं।

लोक संस्कृति एवं बाज़ारवाद: आधुनिक संस्कृति जन संस्कृति की प्रकृतिवादी दृष्टि से नहीं चलती, बल्कि यह टेक्नोलॉजी पर आधारित रही है। खतरनाक एवं नाजुक कगार पर खड़ी यह संस्कृति आर्थिक साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा प्रायोजित आधुनिक विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी के थपेड़ों से तप रही हैं। उत्तर-आधुनिक होती दुनिया से संस्कृति का सर्वथा लोप हो रहा है।

बाज़ारवाद : वैश्वीकरण की नींव है। बाज़ारवाद और मल्टीनेशनल कंपनियों की ऊँची पगार ने आदमी को जाति, धर्म, सांस्कृतिक विशिष्टता, राष्ट्रीयता आदि से अलग कर दिया है। मनुष्य धीरे-धीरे अपनी पहचान खोता जा रहा है।

बाज़ारवाद ने मजदूर, व्यापारी, कलाकार आदि को हाशिये पर रख दिया है। बाज़ार के प्रभाव के कारण स्त्रियों का अस्तित्व शरीर तक सिमट कर रह गया है। आगे चलकर अपने शरीर और सौन्दर्य की प्रशंसा के कारण ही स्त्रियाँ अपनी ओर समाज के नज़रिए को बदलते देखेंगी।

अमीरी-गरीबी का यथार्थ : भूमण्डलीकरण के आने के बाद अमीर और अमीर होते चले गए तथा गरीब और गरीब। समकालीन कविता इसकी पड़ताल करती है:

“खानों से कारखानों से, टूटी झोपड़ियों से निकलते
सूअर-जैसे नंगे, सूअर-जैसे गंदे
और सूअर-जैसे विकृत शरीर वाले

पांव घसीटते मेरे सूबे के लोग।”¹

बदलती मानसिकता : भूमण्डलीकरण की आक्रंता के कारण रिश्तों में दरारे आयीं हैं, असली चेहरे मोहरों से ढँक गए हैं। चेहरों के साथ मानसिकता भी बदल रही है:

**“चेहरे पर चेहरे दिखते हैं-
रुपयों में रिश्ते बिकते हैं।”²**

प्रकृति व औद्योगिकीकरण : बसंत जो किसानों के लिए उत्साह, उल्लास, उत्सवों को ले कर आती थी, वह आज औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था की भेंट चढ़ गयी है। प्रकृति का स्थान औद्योगिकीकरण ने ले लिया है। कारखानों की सायरनों और मशीनों की कोलाहल भरी चीखों में मनुष्य को कुछ इस तरह कवि ने प्रस्तुत किया है:

**“धुआँधार अग्नि बाणों की वर्षा से,
काल-सा बसंत दिशाओं को,
चिपड़ी-चिपड़ी किये दे रहा है।”³**

शहरीकरण : भूमंडलीकरण ने विश्वभर की लोक संस्कृति का बेतहाशा दोहन किया है। शहरीकरण भूमण्डलीकरण की ही देन है। ऐसे में मनुष्य की भावनाएं एवं लोक संस्कृति पर हो रहे राजनीतिक असर को समकालीन कवियों ने प्रकाश में लाया है। महानगरों में पीड़ा की त्रासदी का अहसास होता है। जगदीश चतुर्वेदी जी ने अपनी कविताएं ‘मृत्यु जैसी खामोशी’, ‘नगर-यंत्रणा’, ‘बीसवीं सदी के बाद’ आदि में इस त्रासद स्थिति को अभिव्यक्त किया है।

धार्मिकता का ढोंग और अल्पसंख्यक वर्ग: भारत में अब तक के अध्ययन और विश्लेषण व चर्चा के केंद्र में अल्पसंख्यक(मुस्लिम) विमर्श कभी नहीं रहा। अल्पसंख्यक विमर्श वास्तव में अल्पसंख्यकों को जानने, समझने, पारिभाषित करने की प्रक्रिया का नाम है। भूमण्डलीकरण के आगमन के बाद अल्पसंख्यकों के जीवन में भी महत्वपूर्ण बदलाव(सकरात्मक-नकारात्मक) आये हैं। भूमंडलीकरण के कारण धर्म अपने मूल रूप में नहीं रहा, चाहे हिन्दू धर्म की बात करें या इस्लाम की, बौद्ध की, जैन की बात करें या फिर इसाई की। पूँजीवादी व्यवस्था में उनका रूप भी बदला है। किन्तु इसमें भी जो कम हैं अथवा अल्पसंख्यक हैं उनकी वस्तुस्थिति में भी कायांतरण हुआ है।

¹अश्वघोष. जुलाई-अगस्त, 2009 . ‘महंगाई की मार’ . समकालीन भारतीय साहित्य . पृष्ठ सं. 131

²वही, पृष्ठ सं. 131

³राग, पंकज . 2006 . असुर बसंत(कविता संग्रह) . भारतीय ज्ञानपीठ . पृष्ठ सं. 32

किसानों की दुर्दशा एवं मानवतावादी दृष्टि: भूमण्डलीकरण के दौर की ऐसी भयावह परिस्थितियों के बीच भी आशा की उम्मीदें जगाने की कोशिश और मानवता को नया जीवनदान देने का अथाह प्रयास अभी जारी है। मनुष्य अभी इन विपरीत परिस्थिति के सामने समर्पित होने को तैयार नहीं है। मानवता का अन्तःस्रोत अभी तक सुखा नहीं है। हर कदम पर आहत आदमी वैश्वीकरण और बाजारवादी प्रवृत्ति के खिलाफ लड़ रहा है। बाज़ार की मार से आहत, विवश, पीड़ित, संघर्ष में डूबे हुए मानव को फिर भी आशा की किरण दिखती है। यही आशा और विश्वास कवि **राजेन्द्र निशेश** को भी है:

“एक हिरनी तुम्हारे वेग में भी है
एक निर्झर है तेरी शिलाओं में भी
एक मर्मर तुम्हारी फुनागियों में भी है।”¹

भूमण्डलीकरण तथा वंचित वर्ग (स्त्री, दलित एवं आदिवासी): वर्तमान परिवेश में नारीवाद और नारी मुक्ति का आह्वान साफ़ झलकता है। आज लगभग सभी साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक गतिविधियों में स्त्री आवाज़ मुखरित होती है। भूमण्डलीकरण ने जिस निर्यातोन्मुख विकास नीति को पूरी दुनिया में लगभग अपरिहार्य और विकल्पहीन-सा बना दिया है, उसमें बड़े पैमाने पर औरतों का निर्यात हो रहा है। भारतीय सन्दर्भों में यदि देखें, 33 फीसदी महिला आरक्षण का दम्भ भरने वाले समाज में आज भी औरत **‘House hold lady’** के चस्पे से उबर नहीं पायी है। वह अपना तन-मन-धन, परिवार और समाज को समर्पित कर देती है तथापि जिल्लत उसका नसीब बनी हुई है। कवयित्री **अनामिका** की जुबां में कहें तो :

“जैसे की मजदूरनी
तोड़ती है पत्थर
मैंने तोड़ा खुद को
कूट-कूट कर!”²

पूँजीवादी व्यवस्था ने दलितों, आदिवासियों व वंचितों को वह परिवेश मुहैया नहीं कराया जिसकी अंबेडकर ने कल्पना की थी। विज्ञान-प्रौद्योगिकी की व्याप्ति के साथ जातीय संकीर्णता के नए समीकरण बने। दलितों व आदिवासियों के मन में इस व्यवस्था के प्रति तथा व्यवस्था-प्रभु के प्रति हिंसा और हिकारत के भाव अनायास ही नहीं जन्मे। इनके साथ धूर्तता, मक्कारी, छल-फरेब और मौलिक अधिकारों से वंचना के फलतः **ओमप्रकाश वाल्मीकि** अस्मिता, अस्तित्व के लिए जूझते सरोकारों को रेखांकित करते हैं :

¹निशेश, राजेन्द्र . जुलाई-अगस्त, 2009 . ‘एक तिल तुम्हारी आवाज़ में भी’ . समकालीन भारतीय साहित्य . पृष्ठ सं. 139

²अनामिका . 2005 . खुरदरी हथेलियाँ . पृष्ठ सं. 42

“शम्बूक की अभिशप्त हत्या
और एकलव्य के साथ
किये गए छल को साथ लिए
मेरी पीढ़ी
जंगलों, पहाड़ों, नदियों और नालों में
खोज रही है
गत और विगत के बीच की मौन शिलाएँ।”¹

¹वाल्मीकि, ओमप्रकाश . (1989) . सदियों का संताप . पृष्ठ सं. 13

3.1. जनवादी संघर्ष एवं राजनीतिक चेतना का उद्घाटन

स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ ही वर्ष के बाद उस दौर की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों ने जनमानस को चौंका दिया था। वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न प्रगतिशील समाज के गठन के आग्रही नेता जवाहरलाल नेहरू का मोहभंग हुआ; लालबहादुर शास्त्री को सदमा पहुँचा; दृष्टि-सम्पन्न इन दो-दो प्रधानमन्त्रियों का देहावसान, इन्दिरा गांधी के नेतृत्व की शुरुआत, भारत-पाक सीमा-संघर्ष में इन्दिरा गांधी की सूझ-बूझ से देश में जगी नई स्फूर्ति...ये सभी स्वर समकालीन कविता में अपनी तरह के विरोध, समर्थन के साथ प्रस्तुत हुए। जन-गण के सुख-दुख की उपेक्षा भी हुई, सारी स्थितियों से बाखबर समकालीन कविता ने अपना अग्राभिमुख संस्कार अगले दशक को थमाया। वस्तुतः सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता को समकालीन कविता के रूप में स्वीकार किया सकता है।

सन् 1947 से पूर्व भारतीय जनता की सबसे बड़ी समस्या पराधीनता और सबसे बड़ा लक्ष्य स्वाधीनता थी। स्वाधीनता के बाद कुछ वर्ष परिवर्तन के बाद की स्थिरता की प्रतीक्षा में बीते। थोड़े दिनों बाद असन्तोष के बीज उगने लगे, जल्द ही लोगों को लगने लगा कि यह आजादी पूरे देश की जनता की नहीं है, यह सिर्फ नेताओं की आजादी है या धन-कुबेरों की आजादी है। ऐसे जनजीवन की त्रासदी देखते हुए सन् 1960 आते-आते हिन्दी काव्य-क्षेत्र में जो नई पीढ़ी खड़ी हुई, उसकी अभिव्यक्ति में शालीनता और शिष्टता के स्थान पर आक्रामकता आने लगी।

भारतीय स्वाधीनता के बाद आरम्भिक दो दशकों की हिन्दी कविताओं को लोगों ने अकविता, सहज कविता, विचार कविता, नक्सलवादी कविता, साठोत्तरी कविता आदि नाम समय-समय पर आग्रह अथवा दुराग्रह से दिए। प्रारम्भ में भूखी पीढ़ी, आहत पीढ़ी, शमशानी पीढ़ी, क्षुब्ध पीढ़ी के लोगों द्वारा लिखी गई कविता को नेतृत्व वर्ग द्वारा स्वेच्छाचारी और अराजक प्रयोग पद्धति से लिखी गई कविता कहा गया। असल में बिना किसी राजनीति के जो कवि खड़े हुए, उनका उद्देश्य किसी सिद्धान्त और वक्तव्य को क्रियारूप देना नहीं था, बल्कि वे जनता की पीड़ा को वाणी दे रहे थे।

समकालीन कविता अपने गहरे अर्थ में राजनीतिक कविता है। कविता के साथ राजनीति का रिश्ता पुराना है। लेकिन कविता के इस दौर में राजनीति केन्द्रीय स्थिति पा जाती है। केन्द्रीय स्थिति पाकर राजनीति अपने क्रूर, नंगे अमानवीय रूपों में जीवन के हर क्षेत्रों में सक्रिय हुई। यहाँ तक कि धर्म तक को राजनीति ने भ्रष्ट करने से नहीं छोड़ा। आपातकाल की राजनीति ने जनता को तबाह किया और इन्दिरा-युग की इस करतूत पर नागार्जुन तथा भवानीप्रसाद मिश्र जैसे पुराने कवियों ने डटकर लिखा। नागार्जुन ने लिखा :

“हरिजन गिरिजन नंगे भूखे हम तो डोलें वन में
खुद तुम रेशम साड़ी डाँटे उड़ती फिरो गगन में
महंगाई की सूर्यनखा को ऐसे पाल रही हो

शासन का गोबर जनता के सिर पर डाल रही हो।”¹

निरन्तर बढ़ती महँगाई ने गरीबी-भुखमरी से आम आदमी के आत्म-निर्वासन की प्रक्रिया को तेज कर दिया। जातिवाद, साम्प्रदायिकता, झगड़े, पिछड़े का खतरनाक विभाजन, राजनीति में अपराधीकरण का वर्चस्व, धर्म के राजनीतिकरण से पूरा देश तबाही की ओर बढ़ा। गांधी का स्वदेशी आन्दोलन अमेरिकी कर्ज पर चलने वाली सरकारों ने निगल लिया और देश एक नए ढंग की पराधीनता में पुनः फँसने लगा। कवियों को लगता था कि आजादी के सवा दशक बाद भी आम जनता के दुख दर्द से विमुख सत्तासीन लोग, देश की बदहाली में भी अपना ऐश्वर्य बनाने में तल्लीन हैं। कवियों को लगता था कि उनकी इस गैरमुनासिब आश्वस्ति पर तीखे प्रहार जरूरत है। अकविता का प्रवेश इसी प्रहारक रवैए के साथ हुआ। वह रवैया नैतिकता की प्रदत्त परिभाषा के विरुद्ध था। लोग भले कहें कि अकविता आन्दोलन एलेन गिन्सबर्ग के ‘बिटनिक आन्दोलन’ और पश्चिम बंगाल की ‘भूखी पीढ़ी’ की संगति का परिणाम था; पर असल में वह तत्कालीन राजनेताओं के प्रति उत्पन्न नागरिक अनास्था, क्षोभ और विद्रोह से उत्पन्न प्रखर व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति था; ध्यातव्य है कि ‘अकविता’ का व्यक्तिवाद ‘नई कविता’ के व्यक्तिवाद की तरह आत्मकेन्द्रित नहीं था; अपनी प्रयुक्ति में वह बहुत विस्तार पा जाता था, निजी भोग को भी कवि समष्टि के रूप में भोगता था। शारीरिक व्याधि तक को राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय का व्याधि के रूप में देखता था :

“क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों में और कभी

वियतनाम में”²

जैसी पंक्तियों में राजकमल चौधरी अन्तर्राष्ट्रीय अमानवीयता को शारीरिक व्याधि की तरह अभिव्यक्त कर रहे थे। कवि का व्यक्तिवाद बाहर भीतर का भेद मिटा चुका था। अकविता का व्यक्तिवाद, हताशा, निराशा और अनास्थावादी स्वर उन विकृत परिस्थितियों के प्रतिपक्ष में खड़ा हुआ था। राजकमल चौधरी समेत उस धारा के समस्त कवियों की कविताई सातवें दशक के पूर्वार्द्ध की उन परिस्थितियों और वातावरणों की उपज थी, जहाँ कवियों को लगता था कि उन्हें सँजोकर रखने लायक कुछ भी नहीं दिख रहा था। अकविता आन्दोलन, व्यवस्था की बेईमानी से इसी मुक्ति की कामना का स्वर था।

साथ ही यह भी रेखांकित किया जाना चाहिए कि अकविता का विद्रोही स्वर जल्दी ही परिष्कृत हो गया। सन् 1962 में चीन और सन् 1965 में पाकिस्तान के साथ हुए सीमा संघर्ष ने देश की स्थिति-परिस्थिति बदल दी। चीन के हमले ने भारत के बौद्धिक समाज को झकझोड़ दिया था। शमशेर बहादुर सिंह ने कविता में उन्हें ‘मानव जाति’ के होने पर सन्देह किया। चीन के प्रति भारतीय नागरिकों के इस

¹ जोशी, राजेश (सं.) . संस्करण 2017 . नागार्जुन रचना संचयन . पृ. सं.- 164

² चौधरी, राजकमल . संस्करण : 2006 . ऑडिट रिपोर्ट, वाणी प्रकाशन . पृ. सं.- 188

घृणा-भाव का असर राजनीतिक व्यवस्था पर भी पड़ा। मुक्तिबोध ने 'अभिव्यक्ति के सारे खतरे' उठाने की बात की, रघुवीर सहाय 'नया कुछ रचने के लिए तोड़ना बहुत जरूरी' समझने लगे। ये बातें अकविता में भी थी, पर अब नई भाषा, नए बिम्ब, नए प्रतीकों के योग से अकविता की अनास्था, अस्वीकृति और क्रोध के भाव को परिष्कृत कर धिक्कार में बदल देने की आवश्यकता हुई।

समकालीन कविता का मुख्य स्वर निराशा और दुःख का है। समकालीन कविता पीड़ा बोध से ओत-प्रोत है। पीड़ा-बोध से संयुक्त समकालीन कवि पीड़ा को चिरन्तन सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। समकालीन कविता में पीड़ा की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रयोगवाद में पीड़ा की अनुभूति को एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया है। जीवन की अनेक प्रकार की दुःखद समस्याओं के प्रतिक्रिया स्वरूप ही प्रयोगवादियों के काव्य में पीड़ा की अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। सामान्य जन-जीवन कठोर सामाजिक बन्धनों एवं आर्थिक वैषम्यों का सामना करके पराजय के मनोभाव से कुण्ठाग्रस्त हुआ था। इस पीड़ा-बोध ने प्रयोगवादियों में इतना गहरा प्रभाव डाला कि वे उसे चिरन्तन सत्य मान बैठे-

"सृष्टि प्रिया पीड़ा है

कल्पवृक्ष

दान समझ, शीश झुका

स्वीकारो -

ओ मन करपात्री।

मधुकरी स्वीकारो, बहन करो, सहन करो,

ओ मन। वरण करो पीड़ा।"¹

समकालीन कविता में अभिव्यक्त यथार्थ व्यक्तिपरक यथार्थ है। अर्थात् समकालीन कवि अपने व्यक्ति जीवन में जिस यथार्थ से गुजरता है, उसका चित्रण वह करता है। समकालीन कविता में यथार्थ के धरातल पर जीवन के सुन्दर और असुन्दर दोनों पक्षों को ग्रहण किया गया है। इसमें जीवन के सुन्दर पक्ष की अपेक्षा असुन्दर पक्ष अधिक उद्घाटित हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियों में नारी को पाने की बलवती आकांक्षा दृष्टव्य है :

¹ मेहता, नरेश . बनपाखी सुनो . पृ. सं.- 9

"आह मेरा श्वास है उत्तप्त
ध्वनियों में उमड़ आई है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त
तुम कहाँ हो नारी ?"¹

समकालीनता हिन्दी कविता के लिए एक नया अनुभव था। दोनों महायुद्धों के बीच एक युग ऐसा था जबकि सारे संसार के बुद्धिजीवि, संस्कृति की मार्क्सवादी व्याख्या से बहुत प्रभावित हुए थे और साम्यवादी आन्दोलन के सांस्कृतिक पक्ष के रूप में प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन सभी साहित्य में पनपा था। हिन्दी साहित्य में सन 1936 से लेकर सन् 1943 तक के काल को प्रगतिवादी काल की संज्ञा दी गयी है। साम्यवाद से प्रभावित होकर जिन कवियों ने रचना की वे प्रगतिवादी कवि कहलाए। प्रगतिवाद में क्रान्ति का नया जोश भरा था। इस विचारधारा के अन्तर्गत समाज के दो हिस्से थे शोषक और शोषित। अधिशेष के दोहन को जो व्यवस्था थी, उसे मिटाना प्रगतिवादी कवियों का लक्ष्य था।

समकालीन कविता का पहला उद्देश्य शोषण का उन्मूलन था। अंग्रेज़ी सामंतवादी राजनीति का सहारा लेकर निम्न श्रेणी के सर्वहारा मजदूरों को लूटते रहे। दमित और शोषितों को मौन जानकर वे अत्याचार की तीव्रता और भी बढ़ा देते हैं। **भारत भूषण अग्रवाल** ने इसके खिलाफ सशक्त आवाज़ उठायी है-

"ये अस्त्र शस्त्र तिनके समान
हँसते हैं तुझपर मौन जान ।
सोया क्या तव आत्माभिमान
हुंकार लगाकर जाग जाग
ओ सोए ज्वालामुखी जाग।"²

¹ अज्ञेय . तारसप्तक . पृ. सं.- 276

² अग्रवाल, बिंदु (सं) . भारत भूषण अग्रवाल रचनावली (खंड- 1) . पृ. सं.- 26

कवि ने देशवासियों को हिम्मत देते हुए लिखा कि जब तक अपने पर होनेवाले अत्याचारों को सहते हुए मौन रहेंगे तब तक अत्याचार और शोषण की सीमा बढ़ती रहेंगी। अपने आत्माभिमान को जगाकर हुंकार लगाते हुए देश के लिए कर्मनिरत होना हर देशवासी का फर्ज है। प्रजा को सत्ता से भी महनीय माननेवाले भ्रष्ट राजनीति की पोल खोलते हुए **भारत भूषण अग्रवाल** जी आगे बताते हैं :

"भूखों को मर जाने दो

बच्चों को मर जाने दो

चोर बाज़ार चलाने दो रूपया

खूब कमाने दो।"¹

बरसों से चल रहे शोषण और उत्पीड़न को सहकर लोग तंग आ गये थे। अपने ही देश में गुलाम रहने की विवशता ने लोगों को त्रसित कर दिया था। प्रतिरोध की हिम्मत जुटाने में जनता सक्षम हो रही थी :

"पैंतीस कोटी लडके बच्चे

जिसके बल पर ललकार रहे

वह पराधीन बन निज गृह में

परदेशी की दुत्कार सहे

कह दो अब हमको सहा नहीं।"²

जनता को जागृत करने की जो कोशिशें कवियों ने किया था, वह सफल होने लगी थी। जनता अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार के खिलाफ आवाज़ उठाने लगे। शोषण के आधुनिक रूपों को अपनाकर पूँजीपति जब राजनीति की छाव में आये, तब भी कवियों ने उन्हें पहचान लिया और जनता को आगाह किया। दिन रात मेहनत करने के बावजूद भी श्रमिकों को पेट भर खाना नसीब नहीं। वह ठीक से समझ भी नहीं पाता कि उसका शोषण कहाँ से और कैसे हो रहा है। आधुनिकता के नाम पर होड़

¹ वही, पृ. सं.- 225

² सुमन, शिवमंगल सिंह . सुमन समग्र खंड . पृ. सं.- 95

मचानेवाले पूँजीपति अपने ऐश व आराम के लिए बेकसूर मज़दूरों का विश्राम छीन लेता है। उनकी मेहनत का फल खाकर उच्चवर्गीय अधिकारी लोग सुख लोलुपता में ज़िन्दगी गुज़ारते हैं। सत्ता से सारी प्रतीक्षा खोकर, लोग प्रतिरोध के बारे में सोचते हैं। उनके मन में दुख है, निराशा और पराजय मनोभाव है। नेताओं पर जो विश्वास था वह टूटने पर लोग विवश हो जाते हैं।

पराजय मनोभाव से ऊबे हुए जनता को जागरण का सन्देश देकर कवि बताता है कि प्रगतिशील होकर ही अपने अधिकारों को पा सकता है। दासता को छोड़कर स्वतंत्रता पाने के लिए साम्यवाद के सहारे चलने का आह्वान देकर प्रगतिवादी कवियों ने नए रास्ते खोल दिये। **'कोई क्रान्ति शुरू करो'** नामक कविता में कवि **दिनकर** ने लिखा :

"है कोई यहाँ
जो क्रान्ति शुरू करे ?
मज़दूर वर्ग को गद्दी पर बिठाने को नहीं,
बल्कि, हमेशा के लिए
कमकरो के वर्ग को खत्म करके
आदमियों की
एक नयी दुनिया बसाने के लिए।"¹

यहीं नहीं पूँजीपतियों पर घोर घृणा दिखाते हुए समकालीन कवियों ने उन्हें एहसास दिलाया कि वे श्रमिकों की मेहनत पर खड़े हैं। उनकी मेहनत से बनाये आराम की ज़िन्दगी को छीनकर शोषण के नये नये तरीके आजमानेवाले पूँजीपतियों को कवि ने प्रस्तुत पंक्तियों के ज़रिए उचित जवाब दिया। भारत की राजनीति ने हमेशा सत्ता को प्रमुखता दी है। जनतांत्रिक व्यवस्था में जनता के हित के बाद ही बाकी सब आना चाहिए। लेकिन भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया है कि सत्ता उसमें डूब गया है। इस खोखली व्यवस्था को मिटाने के लिए कविता ने सत्ता का विमर्श जारी रखा और देश के लिए वह कर्मरत रही।

समकालीन कवि का संवेदनशील हृदय जब भी अपने समय की घातक राजनीति के क्रियाकलापों से आहत हुआ, उसकी संवेदना में आघात हुआ। उसने उस राजनीतिक घटनाक्रम या व्यक्ति के विरुद्ध अपनी नाराजगी कठोरतम भाषा में व्यक्त की। कविता का राजनीतिक परिधान और

¹ नवल, नंदकिशोर (सं.) . दिनकर रचनावली . पृ. सं.- 164

उसके प्राणतत्व के रूप में खीज, गुस्सा, बौखलाहट यही सब है, पूर्ववर्ती दौर की कविता। सन् 1968 में नक्सलवादी आन्दोलन के बाद कविता में राजनीति का हावी हो जाना कतई अस्वाभाविक नहीं था। इसने कविता के अस्वीकार या नकार के भाव को जन्म दिया। अपने समय को गलत मानव विरोधी राजनीति का अस्वीकार, अधोमुखी कुत्सित राजनीतिक मूल्यों को नकारा। यही कारण है कि इस समय की कविता में अस्वीकृत या ध्वंस का भाव अधिक है और यह भाव राजनीति की शब्दावली में 'वक्तव्य' बनकर आया है। कविता व्यवस्था परिवर्तन के लिए एक सशक्त हथियार का काम करती है। कविता का स्वरूप लगातार उग्र होता गया कविता क्रांतिधर्मी हो गई है।

आपातकाल की समाप्ति के बाद राजनैतिक परिवर्तन क्षणभंगुर सिद्ध हुआ था। कांग्रेस के पुनः सत्ता में आ जाने से जाहिर हो गया था कि चाहे वह जनता पार्टी की सरकार रही हो या कांग्रेस की, दोनों के वर्ग चरित्र में कोई मौलिक भेद नहीं है और जरूरत है व्यवस्था के आमूल परिवर्तन की। भारतीय संविधान ने सामंती और पूंजीवादी मूल्यों के स्थान पर लोकतन्त्रीय परम्पराओं को स्थापित करने का उपक्रम किया। इस प्रकार इस संविधान की रसरेखा तो जनवादी रही, लेकिन मानव के मूलभूत अधिकारों की स्थिति अब भी पाश्चात्य समाज के प्रतियोगी तथा संग्रहशील आचरण के अनुकूल थी। देश में शिक्षा संस्थान, स्वास्थ्य केन्द्र, औद्योगिक प्रतिष्ठान सम्भावनाओं के केन्द्र तो बने पर व्यावहारिक रूप में उनकी उपादेयता सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि उच्चवर्ग की अर्थव्यवस्था के लिए ही लाभप्रद सिद्ध हुई।

सातवें दशक की शुरूआत में एक विरोध की राजनीति उभरकर सामने आई जिसका कारण मोहभंग से उपजा आक्रोश था। यह अलग बात है कि इस राजनीति के सामने कोई वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक दर्शन, तर्कसंगत दृष्टिकोण तथा भविष्य के लिए सामाजिक व्यवस्था की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं थी। मोहभंग की अप्रत्याशित घटना के उपरांत सन् 1962 में चीनी आक्रमण भारतीय राजनीति के इतिहास में एक अविस्मरणीय हादसा है जिसने विदेश नीति में संशोधन या समयानुकूल परिवर्तन के लिए राष्ट्रनियामकों का ध्यान आकर्षित किया। इसी परम्परा में सन् 65 और सन् 71 के पाकिस्तानी युद्ध, नेहरू, शास्त्री, लोहिया जैसे महान व्यक्तियों की मृत्यु भारतीय राजनीति के विकासक्रम में ऐतिहासिक दस्तावेज है। वामपंथी दलों का आक्रामक शक्ति के रूप में उदय और तदन्तर विखराव, नक्सलवादी और श्री काकुलम का लोमहर्षक विस्फोट इस दशक की राजनीतिक उथल-पुथल और अनिश्चित स्थितियों के साक्ष्य है।

इस दशक में घटित तीन महायुद्धों के परिणामस्वरूप देश में भावात्मक एकता को बल मिला। जाति, धर्म, प्रान्त की दीवारों को भंग कर सभी राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिए कृतसंकल्प हो गए और हिमालय से कन्याकुमारी तक देश एक समवेत शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया। सन् 1971 में भारत पाक युद्ध भी राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है जिससे विश्व इतिहास के क्षितिज पर बांग्लादेश का उदय हुआ। महायुद्धों के परिणामस्वरूप उभरी मुद्रास्फीति ने आर्थिक व्यवस्था की जड़ों को हिला

कर रख दिया। जुलूस, हड़ताल, घेराव, तोड़-फोड़, साम्प्रदायिक उपद्रव दैनिक जीवन के अंग बन गए और भाषा, जाति तथा प्रांत की आड़ में हर समस्या का निदान व्यक्तिगत स्वार्थों में ढूंढा जाने लगा। देश की अराजक स्थिति को नियंत्रित करने के लिए जून 26, 1975 में आपात स्थिति की घोषणा इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। 1977 में कांग्रेस की पराजय 24 मार्च, 1977 को मुरारजी का प्रधानमंत्री पद ग्रहण और तदन्तर पुनः 1979 में श्रीमती इन्दिरागांधी का सत्तारूढ़ होना विस्मयकारी राजनीतिक हलचले हैं।

राजनीति का दायित्व था व्यक्ति, जाति, वर्ग और समाज के पारस्परिक संबंधसूत्रों की नव्यतम सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करना पर वह कूटमंत्रणाओं और षडयंत्रों के कदर्भ से ऊपर न उठ सकी। संसद और विधानसभा जैसे पवित्र स्थलों पर जूतों और चप्पलों की बौछारें होने लगीं और राष्ट्रीयता, धर्म निरपेक्षता, देशभक्ति, स्वतंत्रता पर प्रश्नचिह्न लग गए। समकालीन कविता पर बहस करते हुए डॉ. जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने लोकतंत्र की स्थापना को जन सापेक्ष न मानते हुए स्पष्ट लिखा है कि लोकतंत्र जनता का नहीं, पूंजीपतियों, भूस्वामियों, नेताओं का था, इस त्रिगुट को लोकतंत्र की अपेक्षा थी। अतः उसे लोगों पर लाद दिया गया।

उपनिवेशन का आधुनिक रूप नवउपनिवेशन का मुखौटा पहनकर सामने आया। उपनिवेशन में ब्रिटेन से डर था तो नवऔपनिवेशिक व्यवस्था में विकसित पूंजीपति देशों से डरना पड़ता है। उपनिवेशन हो या नवउपनिवेशन, प्रत्यक्ष नीति हो या परोक्ष उद्देश्य केवल एक ही है 'मुनाफा'। हर तरीके से मुनाफ़ा प्राप्त करना, वही नवउपनिवेशन का सैद्धान्तिक आधार था। इस व्यवस्था में भी अमीर, अमीर होते गये और गरीब और गरीब।

औपनिवेशिक गुलामी को खत्म करने के उद्देश्य से सालों संघर्ष करने पर जो आज़ादी मिली, वह स्थितियाँ बदलने के लिए काफ़ी नहीं थी। देश की स्थिति में बदलाव बहुत कम ही हुआ। अच्छे और बेहतर ज़िन्दगी का ख़्वाब देखकर भारतवासियों ने जिस जनतंत्र का सिद्धान्त अपनाया था वह किस हद तक व्यावहारिक रहा, यह सोचनेवाली बात थी। जनता ने सोचा कि बरसों का उपनिवेशन खतम होते ही शोषण, गरीबी, उत्पीड़न यह सब मिट जाएगा और नई खुशहाली आएगी। जनतंत्र के रास्ते को अपनाते हुए देशवासियों के मन में उम्मीद जाग रही थी कि आनेवाली सरकार, अपने देश की सरकार देश के लिए उज्ज्वल भविष्य बुनेगी। लेकिन राजनीति के भ्रष्ट सत्तातंत्र ने ऐसा बिलकुल होने नहीं दिया। जनता मोहभंग की गहरी खायी में गिर गयी।

"मेरा देश, जो कभी

स्वराज व स्वतंत्रता का जन्मसिद्ध अधिकार था

आज सांस्कृतिक, मानसिक गुलामी में कैसे जकड़ गया है

प्यार से व्यापार कैसे बन गया है।

मेरा देश, इतना कैसे बदल गया।”¹

देश के इस बदलाव का कारण नव उपनिवेशी तंत्र है जो दिन ब दिन नई-नई शोषण नीतियाँ अपना रहे हैं। पूँजीवाद, भूमण्डलीकरण, बाजारीकरण, उदारवाद, निजीकरण, उपभोक्तावाद आदि नए नए तथ्य सामने आने लगे जिन सब का आधार धनतंत्र था। इससे पूँजीपतियों का खूब उन्नमन हुआ।

उपनिवेशन के दौर में आर्थिक मुनाफे का जो रास्ता था, देशों के स्वतंत्र होने पर वह रास्ता बन्द हो गया। मुनाफे के बगैर पूँजीपतियों का गुज़ारा ही नहीं हो सकता। मुनाफ़ा कमाने के लिए नए तंत्र बनाए गये। उपनिवेशन से उत्पीड़ित गरीब देश आज़ादी के बाद भी अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाया। उन्हें आर्थिक सहायता देकर पूँजीपतियों ने फिर से खेल शुरू कर लिया। पहले आर्थिक सहायता फिर धीरे धीरे राजनैतिक व सामाजिक, सांस्कृतिक मामलों में हक जमाना यही उनका गूढ़ तंत्र था। पूँजीपति वर्गों ने देश की राजनीति को भी अपने चंगुल में फँसा लिया है। मुनाफे के लिए देश को बेचने के लिए भी आज के राजनीतिज्ञ तैयार बैठे हैं। पूँजीपति अपने आप को आर्थिक ही नहीं बल्कि राजनैतिक रूप से भी सशक्त रखना चाहता है। और आर्थिक सशक्तीकरण के लिए पूँजीपतियों के साथ मिलने के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं था। जनता की खुशहाली और देश के विकास को बेचकर सत्ता और धन दोनों को बनाये रखना राजनीतिज्ञों से ज़्यादा कोई नहीं जानता। यह सब करने के बावजूद भी जनता के सामने अपने चरित्र को साफ़ रखते हैं। उन्हें एहसास दिलाते हैं कि देश की राजनीति जनता के हित के लिए कर्तव्यरत है :

“बनिए-लीडर-अफ़सर तीन त्रिमूर्ति

कर रहे हैं अपनी मनोरथ पूर्ति

अपने हित में सब करते हैं औरों के लिए झाँसा

रोते फटे कलेजा जैसे देने हेतु दिलासा।”²

¹ डागा, सावित्री . शताब्दी की सरहद पर . पृ. सं.- 83

² नागार्जुन . पका है यह कटहल . पृ. सं.- 54

देश की राजनैतिक व्यवस्था इस अवसर का खूब फायदा उठाकर अपने आर्थिक व राजनैतिक मनसूबों को साकार करती हैं। जगदीश चतुर्वेदी ने 'नए मसीहा का जन्म' में इस खोखली व्यवस्था का खुला चित्रण किया है :

**"यह अनिवार्य नियती है
यह विश्व के लौह चक्र की
लम्बी जीभ है
जो इस सदी के अंत तक
मनुष्य को अपने विशाल जबड़ों में लील लेगी।"**¹

कवि ने दिखाया है कि एक देश के राजनीतिज्ञ किस हद तक स्वार्थ हो सकता है। अधिकार और सत्ता बनाये रखने के लिए देश की नियति को दाँव पर लगा देते हैं और तानाशाह को आगे बढ़ने का अवसर देकर देश के विकास पर कुल्हाड़ी मार देते हैं। सरकार भी कुरसी बनाए रखने के लिए जनता को धोखे में रखती हैं। नव उपनिवेशन के गूढ़ चाल को बढ़ावा देकर एक ओर वे साम्राज्यवाद को बढ़ावा देते हैं और दूसरी तरफ़ सत्ता बनाये रखने और चुनाव जीतने के लिए मतदाताओं के सामने शरीफ बनते हैं और इस षड्यंत्र के गठबन्धन से शोषित जनता अपनी ज़िन्दगी को आगे ले जाने के लिए दिन रात अभाव और तनाव को सहती हैं :

**"फिर भी ललड़ रहे हो तुम पेट की लड़ाई
पेट आज जिसका अर्थ विश्व हो गया है
विश्व जो चन्द पेटों में ही स्थापित हो रहा है पेटों में ही उद्योग स्थापित हो रहे हैं
पेटों में ही श्रमिक घुट रहे हैं।"**²

इस तरह शोषण की नई नीति सत्ता की सहायता से बनी हुई है और स्वतंत्रता के बाद की खुशहाली के ख्वाब तोड़कर भारतवासियों को फिर से गुलामी की जंजीरों में बाँध देते हैं। आज़ादी के

¹ यायावर, भारत . मैं हूँ यहाँ हूँ . पृ. सं.- 12

² वही . पृ. सं.- 34

बाद भी परावलम्बन का शिकार बनकर भारत अपने ही देश की सत्ता से वंचित हो जाता है। औपनिवेशिक दौर में विदेशियों के शोषणतंत्र का शिकार बनना पड़ा था और आज़ादी के बाद अपने ही देश की सत्ता ने भारतवासियों को परोक्ष गुलामी का शिकार बना दिया ।

आर्थिक अंतर को मिटाने के नाम पर विश्वबाज़ार व मुक्तहोड को सामने लाया गया था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस बारे में शुभ्रा पंत कोठारी ने लिखा : **"नई आर्थिक नीति ने भारतीय समाज में आर्थिक असमानता को पुनः जन्म दिया। इस प्रक्रिया में बड़े पूंजीपतियों, उद्योगपतियों एवं बड़ी कंपनियों को ही लाभ पहुँचाया है। आज गरीबी हटाओ की जगह अमीरी बढ़ाओ का नारा बुलंद किया जा रहा है।"**¹ वैश्वीकरण के इस नई नीति के चंगुल में भारत भी बुरी तरह से फस गया है। भारत की राजनीतिक शक्तियों का भी वैश्वीकरण हो रहा है। राजनीति भी वैश्वीकृत शक्तियों का साथ देकर स्वार्थ साधने में व्यग्र है। वैश्वीकृत शक्तियों के धनबल पर राजनैतिक पार्टियाँ अधिकार पा लेती हैं और उनके हितानुसार देश का शासन चलाती हैं। अपनी भलाई के सपने संजोकर वोट डालने वाला साधारण मतदाता बेवकूफ बना दिया जाता है। आदर्श राजनीति भी इस दौर में जनहित के लिए कुछ नहीं कर पाती क्योंकि उनपर भी वैश्वीकृत आर्थिक नीतियों का कठोर दबाव मौजूद रहता है। जनतांत्रिक व्यवस्था में सबसे अहम भूमिका निभानेवाला, मताधिकार भी वैश्वीकरण के पंजे में दब गया है। वोट भी खरीद बिक्री का साधन मात्र रह गया है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में पूंजी धीरे धीरे हस्तक्षेप करने लगी। लोक और निज के सहभोग से राष्ट्र निर्माण यही उन्नति का नारा बन गया है। प्रत्येक क्षेत्र में सरकार की अर्थनीति और कार्यनीति कॉर्पोरेट के पक्ष में बदलती है। जनविरोधी अलोकतांत्रिक साबित हो जाती है। यहीं नहीं राजनीति में आजकल चली आ रही दलीय व्यवस्था ने वैश्वीकृत शक्तियों के रास्ते को और अधिक आसान बना दिया है।

कविता और राजनीति कभी भी पृथक नहीं रही। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। कविता ने कभी राजनीति को सराहा तो कभी विमर्श किया। भारतीय राजनीति के जो उत्थान और पतन हैं वह हिन्दी कविता में उसी रूप प्रतिफलित हैं। भारतेन्दु युग में भारतीयों की सर्वप्रथम माँग स्वतंत्रता ही थी। कवियों ने भी इस माँग को दर्शाया और लोगों में जोश भी भर दिया ताकि वे अपनी माँगों की पूर्ती कर सकें। उससे पहले की कविता राजनीति के स्तुतिपाठक थे। लेकिन भारतेन्दु युग के चलते लोगों ने ठीक से समझा (कविता ने समझा दिया) कि भ्रष्ट राजनीति के खिलाफ उँगली उठाना हर किसी का फर्ज है। कवियों ने लोगों को सही रास्ता दिखाकर स्वतंत्रता संग्राम की ओर अग्रसर कर दिया। द्विवेदी युग में राष्ट्रीय काव्यधारा का खूब प्रचलन हुआ जिसने हर पाठक के मन में राष्ट्रीयता और स्वदेश प्रेम जागृत किये। देश की बलिवेदी पर हर वक्त तैयार रहने के लिए कवियों ने आह्वान दिया। प्रगतिवाद तक आते आते राजनीति से उम्मीदें खोती हुई नज़र आने लगी। नेताओं पर जो विश्वास था, वह टूटने लगा।

¹ सिन्हा, मनोज . समकालीन भारत एक परिचय . पृ. सं.- 264

अलगाववाद सिर उठाने लगा। लेकिन कवियों ने धीरज दिखाकर लोगों को सही रास्ता दिखाया। कवियों ने देश और राजनीति के बीच का संबन्ध स्वदेश प्रेम के धागे से दृढ़ बना दिया ।

समकालीन युग में नये प्रयोगों से, बौद्धिकता को अहमियत देते हुए कवियों ने राजनीति पर विचार व्यक्त किये। बाद में देश स्वतंत्र हुआ और स्वतंत्रता के पश्चात अपने ही देश की राजनीति से जनता मोहभंग का शिकार बन गयी। राजनेतिक अराजकताओं के खिलाफ धूमिल और नागार्जुन जैसे कवियों ने सख्त प्रतिरोध किया। आपातकालीन अराजकता के खिलाफ तो कवियों ने सशक्त कदम उठाया और समाज के प्रति अपना दायित्व निभाया।

3.2 वास्तविक स्वतंत्रता की समस्या एवं व्यंग्य की अभिव्यक्ति

समकालीन कविता और सामाजिक आंदोलनों के सहसंबंध पर रोहिताश्व कहते हैं, वस्तुतः स्वतंत्रता प्राप्ति के 42 वर्षों के बाद भी विहंगम पर्यवेक्षण करें तो राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेस दल का प्रजातंत्रीय आपाधापी का खेल, भारत के शहीद और सच्चे क्रांतिकारियों के प्रति सत्ता का उपेक्षा भाव, तेलंगाना का सशस्त्र आंदोलन,.....राष्ट्र मंडल की सदस्यता, मिश्रित उद्योग नीति, अहिंसा और पंचशील के लचर सिद्धांत, गुलाम भारत के संविधान पर आधारित भारतीय गणतंत्र का संविधान, भारतीय समाज की यथा स्थितिवादिता, इन सबके बावजूद एक ही प्रवृत्ति के अनेक लोगों का अनेक दशाब्दियों तक पार्टी बदल कर सत्ता में रह जाना और अन्ततः 1962 में भारत-चीन सीमा संघर्ष और उसमें भारत की शर्मनाक पराजय, मोहभंग, विसंगतिबोध, नेहरू युग की समाप्ति तथा कम्युनिस्ट वामपंथी शक्तियों-गुटों में 1964 से बिखराव की लम्बी प्रक्रिया, समकालीन कविता के प्रस्थान बिंदु के महत्वपूर्ण तत्व तो हैं ही, साथ ही साथ सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में समस्त भारतीय प्रदेशों में सूखा-बाढ़, अकाल की विभीषिका, हरिजन दहन, जन-असंतोष, सत्ता का क्रूर दमन-चक्र, बुद्धिजीवियों की अवसरवादिता, उदासीनता, आत्मपरायेपन, प्रशासन में भ्रष्टाचार एवं मुद्रा के वास्तविक मूल्य में निरंतर कमी, विदेशी ऋण एवं कर्जों की लगातार अधिकता की स्थिति रही है।

अर्थात् समकालीन हिंदी कविता में उभरे स्वरों के लिए उपर्युक्त सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों ने उर्वरा-भूमि का कार्य किया और तत्पश्चात् बदली परिस्थितियों में विदेशी कर्ज की बढ़ोतरी, रुपये का अवमूल्यन, कानपुर में विद्यार्थियों के आंदोलन आदि के फलस्वरूप भारतीय समाज का शंकाकुल चेहरा प्रकट हुआ। समकालीन कविता पर नितांत समसामयिकता और तात्कालिकता का गहरा आतंक राजनीति के नरक के भीतर से फूटकर फैला है। इसी आतंक ने आक्रोश-विक्षोभ और विद्रोह की काव्य भंगिमाएँ पैदा की हैं। यही कारण है कि यह कविता अपने समय, समाज, और राजनीति का सच्चा साक्ष्य है जिसमें “नंगापन/अंधापन होने के खिलाफ एक सख्त कार्यवाही है” (धूमिल – संसद से सड़क तक) और आदमी :

“वह चाहे जो है जैसा है जहाँ कहीं है

आजकल

कोई आदमी जूते की नाप से

बाहर नहीं है”¹

¹ पाण्डेय ‘धूमिल’, सुदामा प्रसाद . 1972 . संसद से सड़क तक . पृ. सं.- 15

वस्तुतः समकालीन कविता यथार्थ की सूचकता और सहजता के निकट है। वह लघुता, मोहभंग, संत्रास आदि बोधात्मक स्थितियों से अधिक कवि की काव्यात्मक प्रतिबद्धता और अभिरुचि को रेखांकित करती है। इसीलिए समकालीन कविता में जो कुछ भी हो रहा है, वह तत्कालीन से पूर्णतः संबंधित है। डॉ. विश्वंभर उपाध्याय समकालीन कविता को अपने समय के प्रमुख अंतर्विरोधों तथा द्वंद्वों की कविता स्वीकारते हुए, अपना मत अभिव्यक्त करते हैं कि “समकालीन कविता में जो हो रहा है, ‘बिकमिंग’ का सीधा खुलासा है। इसे पढ़कर वर्तमान काल का बोध हो सकता है, क्योंकि उसमें जीते, संघर्ष करते, लड़ते, तड़पते, गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है।”¹

जलियांवाला बाग.. असहयोग... दमन चक्र..... सविनय अवज्ञा... गोली.... खून.... भारत छोड़ो... स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का भारत एक ओर सामन्तवादी सामाजिक बन्धनों में कैद था और दूसरी ओर गंभीर आर्थिक संकट में फंसा हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की बागडोर जिस शहरी अभिजात और उच्चतम वर्ग के संस्कारों वाले नेतृत्व के हाथ में आयी उसकी विकास की परिभाषा पाश्चात्य औद्योगिक विकास पर आधारित थी। उसकी कल्पना में विकास देश के अन्तिम नागरिक तक आम फहम चीजों की सुलभता नहीं था बल्कि तुरत-फुर्त मशीनीकरण था। क्योंकि शासकों का जनता के साथ सीधा संवाद नहीं था इन दोनों के बीच था अधिकारी वर्ग, जिसके दोनों हाथों में लड़्डू थे एक हाथ से यह वर्ग जीवनयापन के लिये जूझती जनता की जेबें टटोलता था और दूसरे हाथ से सरकारी तिजोरियों के ताले खोलता था। स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान राजनीति को मिले जनाभिमुख चरित्र के आधार पर देश में एक ऐसा प्रजातन्त्रीय ढांचा खड़ा किया जाना चाहिये था जिसमें विकास की परिभाषा की पहली पवित्र सामाजिक अन्तर्विरोधों को समाप्त करना होती। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद राजनीति ने रुख अपनाया लीपापोती का।

स्वतन्त्रता के बाद पश्चिम की विकसित प्रौद्योगिकी को भारत में यथावत् आयात ही नहीं किया गया बल्कि उसे भारतीय जनता पर थोपा गया जिसके दो स्पष्ट परिणाम सामने आये पहला यह कि आर्थिक तकनीकी सहयोग के नाम पर भारत के शासकों का सम्पर्क पश्चिम की चकाचौंध से बढ़ा जिससे कि वह दिन-ब-दिन ज्यादा से ज्यादातर प्रभावित होते गये और भारतीय भूमि पर पश्चिमी विकास का नक्शा खींचते रहे, दूसरे मशीनीकरण और पूँजी बहुलता द्वारा विकास के प्रपत्नों से श्रम की आवश्यकता और मनुष्य शक्ति की जरूरत कम हो गयी। जिसके कारण रोजगार के साधनों में अपेक्षित वृद्धि नहीं हुई फलतः इस घनी आबादी वाले देश में बेरोजगारों और अर्धबेरोजगारों की निरंकुश बाढ़ आ गई।

स्वतन्त्रता से पहले उत्साहित जनता को देखकर भारत का जो भविष्य कल्पित होता था स्वतन्त्रता के बाद उसका अशमात्र भी कहीं दिलवाई नहीं पड़ा। इसका कारण या सत्तारूढ़ दल अर्थात् कांग्रेस द्वारा किये गये विकास नियोजन की खामिया निःसंदेह स्वतन्त्रता से पहले और उसके बाद भी

¹ डॉ. उपाध्याय, विश्वंभरनाथ, मंजुल उपाध्याय (संपादक) - समकालीन कविता की भूमिका, पृ. सं. 3

भारत के राजनीतिक पटल पर कांग्रेस नाम ही अधिकतर अंकित रहा है। लगभग पचास पचपन सालों से कांग्रेस का नाम स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़ा हुआ था। खाते-पोते किसानों से लेकर बड़े पूँजीपतियों तक सभी इसका समर्थन करते थे। हालांकि तब इसका उद्देश्य इतना क्षीण नहीं था, परन्तु फिर भी कांग्रेस किसी निश्चित विचारधारा पर आधारित दल न होकर अनेक वर्गों का मिला जुला समूह था यानि कांग्रेस दल एक ऐसी ओट के समान था जिसके नीचे धूप आदि से बचने के लिये कोई भी राजनीतिक मुसाफिर शरण ले सकता था ।

स्वतन्त्रता के बाद नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने कुछ व्यवहारिक कदम उठाने का प्रयास किया, परन्तु स्पष्ट चिन्तन धारा न होने के कारण इनका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। कांग्रेस में पूँजीवाद से लेकर समाजवाद तक की विचारधारा के लोग मिलते थे। संभवत यही कारण था कि नेहरू ने कांग्रेस की समाजवादी विचारधारा को परिभाषा रहित समाजवादी विचारधारा कहा था। इस परिभाषा रहित समाजवादी विचारधारा की अवधारणा श्रीमती गांधी ने भी अपनायी। इस सदर्भ में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री **स्व. मोरारजी देसाई** अपनी जीवनी '**मेरे जीवन की कहानी**' में लिखते हैं, "**श्रीमती गाँधी ने दावा किया कि वह और उनकी पार्टी, अपने कम्युनिस्ट सहयोगियों सहित, वास्तविक समाजवाद में विश्वास करते हैं। 'वास्तविक समाजवाद' को उन्होंने कभी परिभाषित नहीं किया।**"¹

कांग्रेस का यह समाजवाद किताबी समाजवाद जैसा था क्योंकि उसकी कार्यप्रणाली में ऐसी कोई भी चेष्टा नजर नहीं आयी जो समाजवादी विचारधारा के नजदीक ठहरती हो। कांग्रेस की तिजोरी का बड़ा हिस्सा पूँजीपतियों का दान था और है। आम जनता, मजदूर, किसान या साधारण सदस्यों के चन्दे से न चुनाव लड़ा जा सकता है, न सत्ता में आया जा सकता है। भारत में राजनीतिक दलों का, पूँजीपति वर्ग पर अपनी निर्भरता यो कारण, व्यवहारिक रूप से समाजवाद का रास्ता अपनाना कठिन है। शायद इसी कारण, भारत का पूँजीपति वर्ग कांग्रेस पार्टी की वामपंथी घोषणाओं से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। व्यवहार की इस दोगली नीति ने इस दल के विचार ओर क्रिया में खाई पैदा कर दी। **"1956 में बिड़ला ने सार्वजनिक रूप से कहा कि कांग्रेस दल के समाजवादी विचारों से सहमत हैं। उसके बाद फेडरेशन ऑफ इन्डियन चेम्बरज़ ऑफ कॉमर्स ने भी बिड़ला के वक्तव्य का समर्थन किया । अतः पूछा जा सकता है कि यह कांग्रेसी समाजवाद कैसा है जिसका समर्थन बिड़ला जैसे पूँजीपति भी करते हैं।"**²

विचार और व्यवहार के अलगाव ने राजनीतिज्ञों की ऐसी तस्वीर उभारी जिससे आम समाज में नैतिक मूल्यों का संकट आ गया। एक ऐसी कामचलाऊ प्रवृत्ति इस दल की पूरी क्रियात्मकता में आ गई जो अपने समय और संसार की किसी गंभीर चुनौती का हल स्थायी समाधान में नहीं बल्कि किसी तत्कालिक राहत में खोजती थी। हालांकि आज़ादी के बाद शासित दल का मुख्य कार्य सामाजिक

¹ देसाई, मोरारजी . 1978 . द स्टोरी ऑफ़ माई लाइफ़ (वॉल्यूम- 3) . एस चंद एंड कंपनी लिमिटेड . पृ. सं.- 64

² कुमार, विजय . साठोत्तरी हिंदी कविता : परिवर्तित दिशाएं . पृ. सं.- 17

अन्तर्विरोधों, भेदभावों तथा वैर-वैमनस्य को समाप्त करके जनशक्ति को पुनः विकासात्मक कार्यों के लिये एक सूत्र में पिरोना था। परन्तु तत्कालिक कांग्रेस दल समाज में व्याप्त विरोधी रूचियों की समझौता परस्ती में लीन हो गया और इस समझौता वादी रूख से ही संतुष्ट होने तथा करने लगा। वास्तव में कांग्रेस एक अत्यधिक नरम दल था और एक मायने में अब भी है जो मुलायम और नरम नीतियां अपना कर वक्त गुज़ारना चाहता है और कोई ठोस कदम उठाने से घबराता है। कांग्रेस दल के इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो ऐसे सैंकड़ों उदाहरण सामने आते हैं जो उक्त विचार को आधार प्रदान करते हैं और उसे उचित ठहराते हैं। उदाहरणार्थ छठे दशक में कांग्रेस शासन के दौरान उठाये गये सबसे क्रान्तिकारी कदम जमींदारी उन्मूलन के परिणाम को देखा जा सकता है।

आरम्भ में ही यह कदम उठाने में देर की गई थी, परन्तु इसके बावजूद हर विधान सभा से जमींदारी उन्मूलन से सम्बन्धित बिल को पारित करवा कर उन पर कार्यवाही करने में बरसों लग गये। इस देरी के कारण अधिकांश जमींदारों ने किसी न किसी तरह अपनी जमीन बचा ली, और दूसरी तरफ छोटे किसानों से, जो कि लम्बे समय से ज़मीन पर खेती करते आ रहे थे, उन्हें खेती अधिकार मिलने के डर से भूमिपतियों द्वारा ज़मीन छीन ली गई। इन्हीं कुछ कारणों से खेत मज़दूरों की संख्या भी बढ़ी, और ऐसी ही परिस्थिति में कृषि में टेक्नोलॉजी के विकास का विचार फूंक दिया गया। जिससे धीरे- धीरे ग्रामीण क्षेत्रों में विकसित टेक्नोलॉजी का अधिक हस्तक्षेप होने लगा और एक दृष्टि से बेकारी, दरिद्रता और गरीबी को बढ़ावा भी मिला।

अफसोस इन आपदाओं के बढ़ने का उतना नहीं है जितना इस बात का कि इस सारी प्रक्रिया का फायदा भी कांग्रेस ने स्वयं को गरीबों का हमदर्द कहकर, उनके खेतों और कृषि के लिये नयी तकनॉलोजी का विकासात्मक कदम कहकर, उठाया। इस सत्तारूढ़ दल की हमेशा यही नीति रही है। इसने हमेशा यह प्रचार किया है कि भारत की समस्याओं का मूल भारतवासियों का गरीब होना है। भोली-भाली जनता शाही फरमान के इस बहकावे में भी आयी। परन्तु इस सुरक्षात्मक टिप्पणी ने प्रशासनिक कमज़ोरियों पर पर्दा डाल दिया, यह किसी ने नहीं देखा। जब भी विकास या प्रगति की बात आई तो भाखड़ा बाँध, भाभा आणविक केन्द्र, जनता कार जैसे सब्जबाग दिखाकर विकास को आंकने के निर्देश दिये गये। यह कभी विचार नहीं हुआ कि स्वतन्त्रता से आज तक भारत के ओतत आदमी के जीवन स्तर में क्या परिवर्तन आया है।

एक ओर बुनियादी सवालों के प्रति ढुलमुल नीति और दूसरी ओर सत्ता के केन्द्रीकरण की जो स्थिति हम आज कांग्रेस दल में बहुत स्पष्टता से देख रहे हैं इसका आभास आजादी के थोड़े दिन बाद ही होने लगा था। इस सम्बन्ध में आलोचक **विजय कुमार** मानते हैं कि, **"पहली पंचवर्षीय योजना के बाद जब दूसरी पंचवर्षीय योजना ने भी असफल होने के संकेत दे दिये तो उसी समय जवाहरलाल**

नेहरू के भाषणों से यह तर्क प्रकट हो गया था कि लोकतान्त्रिक ढांचा द्रुत विकास के रास्ते में रुकावट है।"¹

नया कवि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य युग का मनुष्य है। इसलिए वह समाज की यथार्थताओं का चित्रण करने में कभी-कभी व्यंग्य का सहारा लेता है, क्योंकि जीवन की कुरीतियों विषमताओं आदि के चित्रण के लिए साहित्य में व्यंग्य अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। कुँवर नारायण की कविता 'बहार आई है' में शहरी सभ्यता पर किया गया व्यंग्य दृष्टव्य है :

"ये जंगली फूल जो हर साल
हल्ला बोलकर शहर में घुस जाते हैं
और राह चलते, आते जाते लोगों को
बेशर्मी से घूरते, फुसलाते हैं-
क्या इन्हें मालूम नहीं
कि शहरों में इसकी सख्त मनाही है
कि कोई किसी से बिना पहचान बोले
कोई कहे कि देखो बहार आई है।"²

सर्वेश्वर में व्यंग्य की तीक्ष्ण भावना प्राप्त होती है। उनका व्यंग्य प्रभाव उत्पन्न करता है। सौन्दर्यबोध तथा 'कलाकार और सिपाही' इन कविताओं में विरोध विशेष रूप से उभरा है। सौन्दर्य बोध में सामाजिक वैषम्य को तथा कलाकार और सिपाही में सिपाहियों के विनाश और सौंदर्य हेतु शिलाएँ काट-काट कर सड़के बनाने की प्रवृत्ति को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है:

"चन्द पैसों के वास्ते, शिलाएँ, चट्टानें
पर्वत काट-काटकर,
रसद, हथियार, एम्बुलेंस, मुर्दागाड़ियों के लिए
सड़कें बनाते हैं।"¹

¹ कुमार, विजय . साठोत्तरी हिंदी कविता : परिवर्तित दिशाएं . पृ. सं.- 19

² नारायण, कुँवर . बहार आई है . पृ. सं.- 62

नई कविता के उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समकालीन कविता नई कविता से कई दृष्टियों से प्रभावित है। नई कविता के अगले आयाम के रूप में विकसित समकालीन कविता एक प्रकार से नई कविता की सम्भावना के रूप में रेखांकित की जा सकती है।

स्वतंत्रता पश्चात भारतीय समाज सामंती-व्यवस्था और साम्राज्यवादी विचारों की जकड़ में फँसता जा रहा था। इस छटपटाहट ने कहीं विद्रोह तो कहीं अवसरवाद का रूप ले लिया। आदर्श और यथार्थ की इस असंगति ने साहित्य में हास्य और व्यंग्य रचना की प्रेरणा प्रदान की। समकालीन कवियों ने व्यवस्था जन्य सामाजिक विषमता, घोर अवसरवादिता की आलोचना की, और अपने इस दृष्टिकोण के कारण इन्होंने कविता में हास्य-व्यंग्य को भी स्थान दिया।

रघुवीर सहाय के अधिकांश कविता संग्रहों 'सीढ़ियों पर धूप', 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो' में व्यंग्य की विविधता मिलती है। उनका कथन है : "मध्यमवर्गीय और धोखा खाते रहने वाले दुलमुल यकीन को अपनी बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रह ऐसा दृष्टिकोण बनाना होगा :

"चार बुद्धिजीवी घास पर बैठे, हुई क्रान्तिवाता

हर कोई अपने को विद्रोह न करने के लिए फटकारता है।"²

कवि समाज के उन बुद्धिजीवियों की कायरता पर व्यंग्य करते हैं जो काँख भी ढकी रहे मुट्ठी भी तनी रहे की भावना लिए हुए हैं। वे व्यवस्था का विरोध करने का आडम्बर मात्र करते हैं। केवल व्यवस्था विरोध की बातें मात्र करने से ही व्यक्ति यथार्थ का चिन्तक नहीं बनता है, बल्कि उसके लिए सामान्य जन के साथ गहरा भावनात्मक लगाव व उसके संघर्ष में कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने की आवश्यकता होती है। परन्तु मध्यमवर्गीय तथाकथित बुद्धिजीवी केवल स्वयं की उन्नति के लिए मात्र आडम्बर करता है :

"हमदर्द सुनते हैं और अपनी उन्नति की सोचते रहते हैं,

उन्हें मतलब नहीं कि वक्त ने समाज के साथ क्या किया है?

वे जानना चाहते हैं कि वक्त ने जो हालत की है समाज की,

उसमें वे सबसे ज्यादा क्या पा सकते हैं?"¹

¹ सक्सेना, सर्वेश्वर दयाल . कलाकार और सिपाही . पृ. सं.- 23

² सहाय, रघुवीर . आओ रानी हम दोगेंगे पालकी . पृ. सं.- 66

समकालीन कवियों ने वर्ग संघर्ष से उत्पन्न विषम एवं विडम्बनापूर्ण जीवन स्थितियों पर तीखे और पैने व्यंग्य किये हैं। संघर्ष की प्रवृत्ति बढ़ने के साथ ही व्यंग्य की धार भी पैनी होती गई। इन कवियों में जीवन की विसंगति और बिडम्बना के तीव्र अहसास के साथ व्यंग्य की आक्रामकता है। नागार्जुन का व्यंग्यकारों में शीर्षस्थ स्थान है। समीक्षकों ने उनके व्यंग्य को कबीर के समकक्ष माना है। उनके व्यंग्यों में वैसी ही पैनी धार है जो कबीर में थी। नागार्जुन के व्यंग्यबाणों के लक्ष्य व्यक्ति, समाज, शोषक व्यवस्था के समर्थक, पूँजीपति वर्ग, हासोन्मुख सामन्ती प्रवृत्ति की शक्तियों के साथ व्यवस्थापोषक बुद्धिजीवी व रचनाकार भी हैं। 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी', 'तुम चन्दन हम पानी', 'बीते तेरह साल' आदि अनेक कविताओं में शोषक व्यवस्था के अन्तर्विरोधी चरित्र को उजागर किया है, और उस पर व्यंग्य भी किया है :

"हम भी मछली

तुम भी मछली

उपभोग की वस्तुएँ हैं।"²

नागार्जुन की कवितायें विभिन्न रंगों से भरपूर हैं। उनमें अनुभूतियाँ और संवेदनार्यें हैं। उनमें जनजीवन से पक्षधरता और जुड़ाव है, इसलिए वह जब इस व्यवस्था का चित्रण करते हैं, तो उसमें व्यंग्य की प्रधानता होती है। यह नागार्जुन की कविता की विलक्षणता है कि जब वह मंच पर प्रस्तुति देते थे, तो उनकी व्यंग्य प्रधान कविताओं पर श्रोता झूम उठते थे। उनके व्यंग्य अत्यन्त सटीक और असरकारी होते हैं। इन्होंने समकालीन कांग्रेस पार्टी और नेहरू परिवार पर भी तीव्र कटाक्ष किये हैं :

"कांग्रेसजन तो तेंने कहिए

जे पीर अपनी जाणे रे,

पर दुःख में अपन सुख साधे

दया भाव न आणे रे।"³

¹ नागार्जुन . पाँच पूत भारत माता के . पृ. सं.- 86

² नागार्जुन . आये दिन बहार के . पृ. सं.- 87

³ नागार्जुन . आधुनिक कविता – 2 . पृ. सं.- 81

नागार्जुन की कविताओं का जैसा राजनीतिक व्यंग्य और राजनीतिक कविता का विवेक अन्य किसी समकालीन कवि में देखने को नहीं मिलता है। उनकी 'सुअर' नेवला', 'सिंके हुए दो भुट्टे', 'बछेन्द्री पाल', 'शैलेन्द्र', 'भाई मोरारजी न घर के न घाट के', 'हो गये बारह महीने', 'तीन दिन तीन रात' आदि व्यंग्य प्रधान कवितायें हैं। नागार्जुन ने मैथिली भाषा में भी कवितायें लिखी हैं जिनमें 'एक फाँक आँख, एक फाँक नाक' प्रसिद्ध हैं। निम्न वर्ग के दुःखों के साथ सहानुभूति, निकटता एवं उनके दर्द को अभिव्यक्ति देने के साथ ही उन्होंने राजनेताओं, व्यवस्था व समाज की कुरीतियों पर भी व्यंग्य किये हैं। भारत में ब्रिटेन की रानी के आने पर स्वागत की धूमधाम पर व्यंग्य करते हुए **नागार्जुन** ने लिखा-

"आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी

यही हुई है राय जवाहर लाल की।"¹

नागार्जुन अवसरवादी बुद्धिजीवियों जिनकी मानसिकता व प्रवृत्ति केवल अपना हित साधने की हो गयी है, उन पर व्यंग्य करते हैं-

"पाँच पूत भारत माता के, दुश्मन था खूंखार

गोली खाकर एक मर गया, बाकी रह गये चार

चार पूत भारत माता के चारों चतुर प्रवीन

देश निकाला मिला एक को बाकी रह गये तीन...."²

'विजयी के वंशधर' कविता में कवि खोखली शान पर व्यंग्य किया है। कवि शोषित व पीड़ित जनों के साथ गहराई से जुड़कर व्यंग्य वाणों की बौछार करता है। 'घिन तो नहीं आती', 'दुखरन झा', 'प्रेत का बयान', 'तो फिर क्या हुआ', 'कवि' आदि कवितायें नागार्जुन की भाषा में व्यंग्य धर्मिता का उदाहरण है :

"श्वेत-श्याम रतनार आँखियाँ निहार के

सिण्डीकेटी प्रभुओं की पगधूर झार के

¹ नागार्जुन . आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी . पृ. सं.- 34

² नागार्जुन . पाँच पूत भारत माता के . पृ. सं.- 87

खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आये दिन बहार के।"¹

नागार्जुन की भाषा बोलचाल की भाषा है। उसमें लोकजीवन की शब्दावली बहुत है, साथ ही मिथिला क्षेत्र की स्फूर्तिमय लोकभाषा का प्रयोग भी उन्होंने अपनी कविता में किया है। समकालीन कवियों में मुक्तिबोध की भाषा में भी व्यंग्यविधान दिखाई देता है। मुक्तिबोध ने मध्यवर्गीय व्यक्ति के समझौतावादी अवसरवादी चरित्रों पर ज्यादा व्यंग्य किये हैं। उनके व्यंग्य नागार्जुन की अपेक्षा अधिक जटिल हैं :

"भयानक हाथ, अन्धा दौर
जिन्दा छातियों पर और चेहरों पर
कदम रखकर चले हैं पैर अनगिन,
अग्निमय तन-मन व आत्मायें
व उनकी प्रश्न-मुद्रायें
हृदय की द्युति प्रभायें, जनसमस्यायें।"²

मुक्तिबोध ने केवल व्यवस्था न पर और उसकी बिडम्बनाओं पर व्यंग्य किये हैं, बल्कि व्यवस्था के कुचक्र का समर्थन करने वाले सुविधाभोगी वर्ग पर भी व्यंग्य किया है।

"राजनीति, साहित्य और कला के प्रतिष्ठित महासूर्य
सर्कस के जोकर से रिझाते हैं निरन्तर
नाचते हैं, कूदते हैं,
शोषण में सिद्धहस्त स्वामियों के सामने

¹ <https://satishsatyarthi.com/poetry-of-baba-nagarjun-5/>

² मुक्तिबोध . गजानन माधव . चकमक की चिनगारियाँ . पृ. सं.- 38

चुपचाप आदर्शों को बाजू रखकर।"¹

समकालीन कवियों में केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में हिन्दी कविता के नये यथार्थवाद की शुरुआत हुई। उन्होंने हिन्दी भाषा को अनेक प्रकार से समृद्ध किया। अपनी राजनीतिक कविताओं में उन्होंने अपना व्यंग्य कौशल प्रदर्शित किया। समकालीन कवि धूमिल की कविताओं में यथार्थ की गहरी समझ है, वे यथार्थ को पहचान कर उसके प्रति उग्र विरोधभाव व्यक्त करते हैं, भाषा को रोजमर्रा के जीवन से जोड़ते हैं। 'मोचीराम' कविता में कवि ग्राहक द्वारा मोची के साथ किये गये दुर्व्यवहार पर भी व्यंग्य करते हैं :

"न कोई प्रजा है न कोई तन्त्र

यह आदमी के खिलाफ

आदमी का खुला सा षडयन्त्र है।"²

विष्णुनागर ने 'दयाराम बा' में सामंती पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि पहले जूते खो जाने, फिर टोपी और धोती के उड़ जाने पर नग्न दयाराम पर षडयन्त्र का आरोप लगाया जाता है और :

"इस असाधारण षडयन्त्र को

पुलिस नहीं दबा सकती,

इसलिए सेना आती है

सेना भी बड़ी मजेदार

पूछो तो दनाक से गोली मार दे।"³

¹ रंजन, रवि . सौंदर्यशास्त्र का मार्क्सवादी परिदृश्य और मुक्तिबोध . पृ. सं.- 61

² धूमिल, सुदामा पाण्डेय . मोचीराम . पृ. सं.- 39

³ नागर, विष्णु . दयाराम बा . पृ. सं.- 78

कवि ने मध्यम वर्ग की चारित्रिक कमजोरियों पर भी व्यंग्य किया है, और मध्यम वर्ग को कीड़े के समान कहा है, जो कि जमीन पर बिना किसी प्रतिरोध के रेंगते रहता है, और कभी भी कोई भी आसानी से उसे कुचल सकता है :

"कीड़ा अपना सहयोग जारी रखेगा

और अपने रास्ते जाता रहेगा।"¹

मंगलेश डबराल की कविताओं में सत्ता, व्यवस्था और संस्कृति पर व्यंग्य है। 'नृत्य में खाँसी' कविता संस्कृति और सत्ता के रिश्तों पर व्यंग्य है। उनकी कवितायें लयबद्ध और संगीतमयी हैं। वे बाजारवाद और उपभोक्तावाद पर भी तीखा व्यंग्य करते हैं। लीलाधर जगूड़ी की कवितायें व्यंग्य और मानवीय करूणा से ओत-प्रोत हैं। उनकी कविता 'बलदेव खटिक' में जीवन के कड़वे यथार्थ को झेलते हुए 'बलदेव खटिक' के माध्यम से कवि ने व्यवस्था की विद्रूपता पर व्यंग्य किया है :

"यह केवल अफवाह नहीं है (बल्कि जिन्दा होने की नयी शर्त है)

कि देश के कुछ लोग

पेट से ही पागल होकर आ रहे हैं।"²

अरूण कमल की 'चुप क्यों हो' कविता में कवि ने मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति पर व्यंग्य किया है कि जब समाज में इतनी विषमता और शोषण का माहौल है, तो ऐसी परिस्थितियों में वह मूल दर्शक क्यों बना है, क्यों नहीं सबके साथ मिलकर मुक्ति के लिए संघर्ष करता है :

"जहाँ कहीं मुक्ति के लिए लड़ता है आदमी

वहाँ कुछ भी नहीं है निजी, कुछ भी नहीं है गुप्त

फिर भी तुम क्यों चुप हो?"³

¹ नागर, विष्णु . नौकरी . पृ. सं.- 19

² जगूड़ी, लीलाधर . बलदेव खटिक . पृ. सं.- 102

³ कमल, अरुण . अपनी केवल धार . पृ. सं.- 19

अरूण कमल ने समकालीन समाज में व्याप्त रूढ़ियों व अन्धविश्वासों पर भी चोट की है, और ऐसी स्त्रियों का वर्णन किया है जिन्हें भरपेट भोजन तो मिलता नहीं है लेकिन वे सूर्य की परिक्रमा करती हैं, छप्पन व्यंजनों की कामना करती हैं। कवि इसके लिए पृथ्वी का उदाहरण देता है कि ज बवह जीवन पर्यन्त घूमती है, तब तो सूर्य उसकी नहीं सुनता, फिर केवल पाँच ही फेरों में क्या वह सारी आशाएँ पूरी कर देगा?

"सूर्य के चारों ओर घूमती रही

जीवन भर पृथ्वी

फिर भी चैन नहीं

तो सिर्फ पाँच फेरों से सुनेगा सूर्य कब तक

इतनी प्रार्थनायें।"¹

देवी प्रसाद भी ऐसी धार्मिक रूढ़ियों और परम्पराओं पर व्यंग्य करते हैं, जिन्होंने सदियों से सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को अपने चंगुल में बाँधकर रखा है और जिनका प्रभाव विकास की प्रक्रिया पर भी पड़ता है, क्योंकि अभी भी आदमी इन्हीं परम्पराओं व धार्मिक रूढ़ियों की गिरफ्त में है। उसके लिए अभी भी वर्षा, इन्द्र के कारण होती है, और सन्तान की उत्पत्ति अदिति के आशीर्वाद से होती है :

"इन्द्र आप यहाँ से जायें

तो पानी बरसे

अदिति आप यहाँ से चलें

तो कुछ ढंग की संततियां जन्म लें।"²

राजेश जोशी अपनी कविताओं में समकालीन समाज की विभिन्न स्थितियों को प्रकट करने के लिए व्यंग्य-विडम्बना का प्रयोग करते हैं। 'नेलकटर' के माध्यम से उन्होंने मध्यमवर्गीय निरीहता की प्रवृत्ति का उद्घाटन करते हुए उस पर व्यंग्य भी किया है :

¹ कमल, अरूण . अपनी केवल धार . पृ. सं.- 38

² मिश्र, देवी प्रसाद . अस्वीकार की अनन्य . पृ. सं.- 61

“यह नेलकटर

XXX

मुझे याद नहीं कितने बरसों से मैंने

किसी से 'नहीं' नहीं कहा।”¹

उनकी कविता ‘झींगुर’ सामाजिक विद्रूपता और अन्तर्विरोध को व्यक्त करती है। वर्तमान में जिस प्रकार विकास के नाम पर वैज्ञानिक उपकरणों व टेक्नोलॉजी का प्रसार हो रहा है, उसको आम आदमी के लिए घातक बताते हुए राजेश जोशी व्यंग्यात्मक आत्मालाप द्वारा प्रकट करते हैं :

“मैं तो इक्कीसवीं शताब्दी में जा रहा हूँ

वहाँ बहुत ज्यादा नहीं होगी आदमियों की जरूरत

वहाँ जगह कहाँ होगी हिलने डुलने की,

आयातित टेक्नोलॉजी घेर चुकी होगी सारी जगह।”²

उदयप्रकाश की कविताओं में सूक्ष्म व्यंग्य देखने को मिलता है। उन्होंने जनविरोधी ताकतों को ‘फूस की तरह उड़ते’ और ‘पटखनी खाते’ हुए दिखाया है क्योंकि सामान्य जनता अब इनकी दमनकारी शोषक नीतियों के खिलाफ प्रतिशोध करते हुए आगे बढ़ रही है, और प्रश्न भी करने लगी है :

“मालिक आखिर हवा तो आपके कहने से नहीं चलती

आपके ऊपर फुदकेंगी ही

रोशनी की नटखट चौकन्नी गिलहरियां।”¹

¹ जोशी, राजेश . नेलकटर . पृ. सं.- 56

² जोशी, राजेश . झींगुर . पृ. सं.- 21

इन पंक्तियों में कवि ने न केवल सूक्ष्म ढंग से व्यंग्य किया है बल्कि 'धूप', 'हवा' और 'रोशनी' प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। उनकी अन्य कविताओं 'राज्य सत्ता', 'चौथाशेर', 'तानाशाह की खोज' में भी तीखा व्यंग्य किया गया है। तानाशाह के चरित्र का पर्दाफाश उन्होंने व्यंग्य के माध्यम से ही किया है, वरना वह सफेद वस्त्र धारण किये हुए, शान्ति व निरस्त्रीकरण व प्रजातन्त्र की बातें तो करता था, परन्तु उसका वास्तविक चरित्र कुछ और ही था :

"उसके पास खतरनाक हथियार थे

मंच थे, तन्त्र थे

और सबसे बड़ी बात कि

उसके पास वह धर्म ग्रन्थ भी था

जिसे वह कानून की किताब कहता था।"²

इब्बार रब्बी की कविताओं में आत्मालोचना है और तीखा व्यंग्य करने की क्षमता भी। उन्होंने न केवल व्यवस्था के विद्रूप पर व्यंग्य किया, बल्कि उन लोगों पर भी व्यंग्य किया है। जो केवल कविता या शब्दों के द्वारा क्रान्ति की बात कहते हैं। देवी प्रसाद मिश्र की कविताओं में उत्सुकता, जिज्ञासा, काव्यात्मक चिंता के अलावा व्यंग्य के स्वर मुख्य हैं। उनकी कविता '**पवित्र व्याधि**' ऐसे लोगों पर व्यंग्य है, जो भलाई का आडम्बर करते हैं, परन्तु वास्तविक चरित्र कुछ और होता है :

"वे महान थे, सिद्ध और अपौरुषेय

वे घूम रहे थे और पवित्रता

पूरे गणतन्त्र में व्याधि की तरह फैल रही थी।"³

बद्रीनारायण की कविता '**प्रेमपत्र**' में कवि ने वर्तमान समाज में नयी तकनीकी सभ्यता के द्वारा किन मूल्यों की क्षति हो रही है, इस बारे में व्यंग्य के माध्यम से प्रकट किया है। उपभोक्तावाद किस तरह

¹ उदय प्रकाश . मालिक आप नाहक नाराज़ हैं . पृ. सं.- 33

² उदय प्रकाश . तानाशाह की खोज . पृ. सं.- 33

³ मिश्र, देवी प्रसाद . पवित्र व्याधि . पृ. सं.- 61

से आम आदमी के जीवन में घुसपैठ कर उसके जीवन को किस तरह प्रभावित करता है, यह कवि व्यंग्य द्वारा अभिव्यक्त करते हैं :

"सभ्यता के आईने में
दिखने लगे कालन बाघ
तो सभ्यजन क्या करेंगे,
आईना तोड़ेंगे या बाघ को भगायेंगे
कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा सभ्यजन।"¹

आधुनिक टेक्नोलॉजी किस प्रकार मनुष्य को रोबोट में बदल रही है और किस प्रकार ऐसे माहौल के साथ न चलने वाले व्यक्ति को अस्तित्वहीन या मजाक का पात्र बनाया जाता है, यह **विमल कुमार** की कविता में दिखाई देता है :

"मुझे पुरातत्व की चीज मान लिया गया था,
वह अगली सभ्यता की सुबह थी काफी भिन्न
सब हँसते मुझ पर, खुद प्लास्टिक खाते थे,
और कोई चीज सूँघकर प्यास मिटाते थे।"²

वर्तमान समय में वैश्वीकरण के नाम पर देश की प्राकृतिक सम्पदाओं पर विश्वव्यापार की कुदृष्टि व दोहन पर कवियों ने चिन्ता प्रकट की है। पेटेन्ट व औषधि निर्माण के लिए प्राकृतिक सम्पदाओं, वनस्पतियों का गैर कानूनी दोहन व उनकी कीमतों में वृद्धि को देखते हुए मदन कश्यप कहते हैं :

"हरापन चूस लेना चाहते वे

¹ बद्रीनारायण . प्रेमपत्र . पृ. सं.- 18

² कुमार, विमल . अगली सभ्यता की सुबह . पृ. सं.- 32

वे पहाड़ों को रौंदना नहीं चाहते,
उनकी हठता निचोड़ लेना चाहती है
नदियों के प्रवाह को निचोड़ लेना चाहते हैं।"¹

समकालीन कवियों की कविताओं में व्यंग्य की प्रधानता है। कवि कहीं व्यवस्था के विद्रूप पर, कहीं सामाजिक विषमताओं पर तो कहीं रूढ़ियों व परम्पराओं पर व्यंग्य करते हैं। नागार्जुन से लेकर उदयप्रकाश तक की रचनाओं में व्यंग्य के स्वर विद्यमान हैं और समाज की स्थितियों के अनुरूप व्यंग्य की धार और अधिक पैनी होती चली गयी है। गोरख पाण्डे 'जनचेतना' से सम्पन्न कवि हैं। उन्होंने देश की व्यवस्था को चलाने वाली संसद पर व्यंग्य किया है :

"सावधान' संसद है, बहस चल रही है,
जनता के नाम संदेशा है
बिल्कुल आराम से मरो तुम,
पर अपने राज को चलाने के लिए, हमें चुना करो तुम।"²

गोरख पाण्डे की कविताओं में व्यंग्य का यह तीखापन स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीति की विफलता का सूचक हैं। अतः समकालीन कवियों की भाषा में असरकारी और तीव्र व्यंग्यविधान विद्यमान है।

¹ कश्यप, मदन . चाहते . पृ. सं.- 24

² पाण्डेय, गोरख . संसद का गीत . पृ. सं.- 28

3.3 स्त्रियों के स्वर व प्रतिरोध की अवधारणा

समकालीन कविता परिदृश्य में महिला कवयित्रियों की व्यापक दुनिया के नवीकरण का दृश्य सुखद है, जो पूर्व में नहीं था। नई कविता के दौर में शकुन्त माथुर, कीर्ति चौधरी, स्नेहमयी चौधरी, अमृता भारती, इन्दु जैन, सुनीता जैन; अकविता के दौर में मणिका मोहिनी, मोना गुलाटी आदि का आगमन हुआ। अकविता आन्दोलन के दौर में उभरे स्त्री-स्वर की निजता का ही परिणाम है कि आज हिन्दी कविता में कवयित्रियों की पर्याप्त और खुली उपस्थिति है। गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका, निर्मला गर्ग, नीलेश रघुवंशी, तेजी ग्रोवर, अर्चना वर्मा, सविता सिंह, क्षमा कौल, अनीता वर्मा, इला कुमार, मधु शर्मा, वन्दना केंगरानी, स्वरांगी साने, मनीषा झा, इन्दु वैद्य, वन्दना देवेन्द्र, जया जादवानी, रंजना जायसवाल, किरण अग्रवाल, रश्मि रमानी आदि नाम अपनी विशिष्ट पहचान के साथ उभर कर आईं और समकालीन कविता की धारा को पुष्ट करने लगीं। घर, परिवार चलाते हुए जीवन यापन के सारे पहलू इनके यहाँ मौजूद हैं; ड्राइंग रूम से रसोई घर तक, क्रेच से जच्चा-घर तक, चूल्हे चौके से दफ्तर तक, मयखाने से संसद तक की स्थितियाँ अपने पूरे प्रभाव और मौलिकता के साथ इनके यहाँ दर्ज हैं। स्त्री-जीवन का मौलिक सच लेकर आई इन कवयित्रियों की कविताएँ अपनी अनूठी तस्वीर पेश करती हैं।

नहीं हो सकता तेरा भला शीर्षक कविता में कात्यायनी बेरहम व्यंग्य से अर्थ की असंख्य परतें खोलती हुई तिलमिला देती हैं; उधर अनामिका के यहाँ स्त्रियाँ 'सुनो हमें अनहद की तरह' और 'समझो जैसे समझी जाती है/नई-नई सीखी हुई भाषा' का निवेदन करती हुई पुरुषवादी अहं की सल्तनत हिला देती हैं।

समकालीन हिंदी कविता में स्त्री-लेखन का स्वर काफी मजबूती से उभरा है। स्त्री-रचनाकारों ने अपनी पीड़ा, अनुभव और आकांक्षा को बखुबी उकेरा है। स्त्री लेखन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए महादेवी वर्मा कहती हैं कि **“पुरुष के लिए नारी अनुमान है, परन्तु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सके।”**¹ समकालीन कविता में एक तरफ स्त्रियाँ अपने लेखन से अपने को अभिव्यक्त कर रही थीं, वहीं दूसरी ओर पुरुष रचनाकार भी स्त्री-जीवन को काफी संवेदनशीलता से अपनी कविताओं में चित्रित कर रहे हैं। अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता और लैंगिक भेदभाव करने वाले समाज में अपने 'स्त्री' होने के हक की माँग इन दिनों मुखर हुई है। **शैलचंद्रा** के शब्दों में –

“क्या हुआ गर स्त्रीहूँ

मुझे भी घर में थोड़ी जगह चाहिए

¹ वर्मा, महादेवी . संस्करण 2010 . श्रृंखला की कड़ियाँ . लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं- 63

स्त्रीहोने की सजा गर्भ में मुझे मत दो
हूँ जीवित प्राणी इस धरती का
मुझे भी मेरे हिस्से का थोड़ा प्यार दो
प्यार दो अधिकार दो
मुझे भी इस धरती में जीने का हक दो
हूँ जननी मैं पुरुष की
फिर क्यों जन्म से पहले ही घोंट दिया जाता है गला मेरा
इक्कीसवीं सदी में भी।”¹

ध्यातव्य है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने हितों के साथ-साथ वह दूसरों के भी हितों का ख्याल रखता है। मनुष्य और पशु में यही बुनियादी फर्क है। पशु के पास इतना उन्नत मस्तिष्क नहीं है कि वह दया, प्रेम, नफरत, ईर्ष्या आदि अनेकानेक मनोभावों को समेट सके। वह मनुष्य ही है जिसमें 'स्थैतिक सेंसिबिलिटी' होती है। कार्ल मार्क्स की यह थियरी महत्वपूर्ण है कि कौए एवं मधुमक्खी आज भी वैसे ही घोंसला एवं छत्ता बनाते हैं जैसा कि आदिम समय में बनाया था, लेकिन मनुष्य ने कंदरा, गुफाओं एवं झुग्गी-झोंपड़ियों के बाद गगनचुंबी इमारतें खड़ी कीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वह मनुष्य ही है जो सौंदर्यबोधी ताकत के आधार पर अपने 'स्टेटस' को समृद्ध करता है। गौरतलब है कि जब समाज में स्त्री की दशा अवनत हुई और उसके शोषण का इतिहास शुरू हुआ तो उन औरतों के साथ-साथ सहयोगी के रूप में एवं उद्धारक के रूप में पुरुष सामने आए। चूंकि समाज पुरुषवर्चस्वशील समाज था और इस वर्चस्व के भीतर से ही पुरुष स्त्री के हित के लिए बाहर आया। यह मनुष्य के उन्नत मस्तिष्क की उपज थी। उसने स्वीकारा कि स्त्री दासता की जंजीर से जकड़ी हुई है।

जान स्टुअर्ट मिल ने बहुत सही लिखा है कि "भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के पुर्वाद्ध से कुछ पुरुष सुधारकों ने स्त्रियों की दारुण-बर्बर स्थिति में सुधार की मांग करने की शुरुआत की और शताब्दी के अंतिम दशकों में कुछ जागरूक स्त्रियों ने भी परिवर्तन की पुरजोर आवाज उठाई। परंपरा, नैतिकता, धर्म, आचार और प्राकृतिक न्याय को लेकर बहसें चलीं। पर कहीं न कहीं विमर्श और सुधार आंदोलनों का यह पूरा परिदृश्य औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक पारिस्थितिकी से अनुकूलित था। बीसवीं शताब्दी में, राष्ट्रीय जागरण के उन्मेष में स्त्री जागृति की धारा भी शामिल थी और स्त्री प्रश्न भी नए रूप में एजेण्डे पर उपस्थित था, लेकिन राष्ट्रीय

¹ चंद्रा, शैलेश . अप्रैल 2003 . साक्षात्कार, इक्कीसवीं सदी में स्त्री . पृष्ठ सं.-48

आंदोलन की विभिन्न संघटक धाराओं की वैचारिक निर्बलताओं-विचलनों से स्त्री मुक्ति विमर्श भी मुक्त या अप्रभावित नहीं था।"¹

आंदोलन की धारा आगे बढ़ी और बड़े-बड़े चिंतक विचारक इस स्त्री आंदोलन के केंद्र में आए। स्त्री आंदोलन की शुरुआत मानव इतिहास में बिल्कुल नई है। इस आंदोलन को ठीक से समझने के लिए अनेकानेक विद्वान सामने आए। इस संदर्भ में हुए बीसवीं शताब्दी के आंदोलनों का मूल्यांकन करना जरूरी होगा। साथ ही उन्हें नए सिरे से समझने की भी जरूरत पड़ेगी। क्योंकि स्त्री आंदोलन की बनावट कुछ इस प्रकार उलझी हुई है कि उसे सहजता से सुलझाया नहीं जा सकता। क्योंकि जिस पुरुष के खिलाफ इनकी लड़ाई है वही उनके लिए पूरक भी है। इसलिए यह और भी पेचीदा इसलिए हो जाता है कि जब ये अधिकार की मांग करती हैं तो वहां इनसे प्रेम छिन जाता है और जब प्रेम को तरजीह देती है तो इनसे अधिकार छिनने लगता है।

एक सिंहावलोकन के पश्चात् हम पाते हैं कि प्रबोधन काल (एज ऑफ एबलाइटेनमेंट) और पूंजीवादी जनवादी क्रांतियों से लेकर पूरी उन्नीसवीं सदी तक के स्त्री मुक्ति विषयक विचारों और आंदोलनों में स्त्री की स्थिति समाज में दोगुने दर्जे की स्थिति है और उस स्थिति के खिलाफ खड़े होनेवाले विद्वानों, विदुषियों में हैं- जॉन स्टुअर्ट मिल, मेरी वोल्स्टन काफ्ट, चर्नी शेव्स्की, मार्क्स एंगिल्स, बेबेल आदि से लेकर लेनिन, क्लारा जेटकिन, अलेक्सान्द्रा कोलोन्ताई, सीमोन द बोड़वा, बेट्टी फीडन, जर्मन ग्रीवर आदि हैं, जिन्होंने अपने विचारों से इस आंदोलन को इसकी मंजिल की तरफ अग्रसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

गौरतलब है कि कुछ-कुछ ऐसे आंदोलन होते हैं जो बहुत अनसुलझे होते हैं। इसीलिए उन आंदोलनों को मुकाम तक ले जाना सहज नहीं होता है। इन परिस्थितियों में फिर यह जरूरी जाता है कि इन आंदोलनों की जड़ में पहुंचा जाय और उनका पुनर्मूल्यांकन किया जाय। इतिहास में लौटने के बाद पाएंगे कि बीसवीं सदी के आखिरी दौर में हिन्दुस्तान में नारी चेतना की धारा वैचारिक स्तर पर एवं आंदोलन के स्तर पर बढ़ी। और देखा जाय तो यह आंदोलन काफी मजबूत था लेकिन इसके साथ-साथ 'कन्फ्यूजन' भी कम नहीं थे, जैसा कि आज भी साफ तौर पर देख सकते हैं। इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं कि आज स्त्री आंदोलन अपनी परिपक्वावस्था में है लेकिन अभी भी इसके भीतर के विक्षम को 'इग्नोर' नहीं किया जा सकता। इसके भीतर की वैचारिक पृष्ठभूमि की कमजोरी को साफ तौर पर देखा जा सकता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्त्री आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि का अवलोकन इस प्रकार किया है "विशेष तौर पर, सामाजिक संरचना और स्त्री की स्थिति के बीच के रिश्तों को लेकर तथा वर्ग और पुरुष सत्ता के बीच के रिश्तों को लेकर नारीवाद की विविध रैडिकल बुर्जुआ धाराओं और मार्क्सवाद की विविध धाराओं के बीच तनाव और टकराव लगातार मौजूद रहे है।

¹ मिल, जे. एस. . स्त्री पराधीनता . पृ. सं.- 10

द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर धाराओं के बीच तनाव और टकराव लगातार मौजूद रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में नारीवाद की विविध सरणियों और मार्क्सवाद की विविध सरणियों के बीच लंबी बहसें चलती रही हैं जो आज भी जारी हैं। हमारे सामने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक समाजवादी प्रयोगों के दौरान स्त्रियों की जीवन स्थितियों में आए परिवर्तनों के अनुपेक्षणीय तथ्य भी हैं, कुछ अनसुलझे प्रश्न भी हैं, कुछ प्रयोग भी हैं और कुछ फूटती दिशाएं भी हैं।¹

जब मनुष्य के लिए "प्राकृतिक" अधिकार और "स्वतंत्रता-समानता-भ्रातृत्व" की घोषणाएं हुईं तो प्रबोधन कालीन आदर्शों से प्रभावित और जन आंदोलनों में सक्रिय स्त्रियों ने भी अपने लिए लागू करने की मांग की। गौरतलब है कि स्त्री मुक्ति के सवाल पर चिंतन एवं वैचारिक संघर्षों की शुरुआत अमेरिका और यूरोप के जनवादी आंदोलनों से हुई। इन्हीं जनवादी आंदोलनों के गर्भ से स्त्री आंदोलन की पैदाइश हुई। और ध्यान दिया जाय कि तब से लेकर अब तक यह आंदोलन अपने पूरे जोर पर है। चूंकि उस समय के जनवादी आंदोलनों में स्त्रियों ने बढ़चढ़कर हिस्सा लिया था। और उन स्त्रियों ने जब देखा कि पुरुष की सहूलियत के लिए तो तमाम तरह के नियम-कानून बनाए जा रहे हैं लेकिन वहीं स्त्री को बिल्कुल हाशिए पर छोड़ दिया गया है। वहीं से चेतनशील स्त्रियों ने स्त्री आंदोलन की दबी हुई आग को हवा देनी शुरू की। और साथ ही इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उन स्त्रियों के इस आंदोलन में उस समय के पुरुष चिंतकों ने भी उनका बढ़ चढ़कर सहयोग किया। दुनिया की तमाम जगहों में स्त्री पुरुष समानता के लिए हुई लड़ाइयों का इतिहास बिखरा पड़ा है।

लगातार स्त्री पुरुष समानता पर आंदोलनों एवं बहसों को बखूबी देखा जा सकता है। इतिहास में हुए आंदोलनों का एक सिंहावलोकन किया जाय तो पाएंगे कि स्त्रियों ने जनवादी क्रान्ति, सर्वहारा क्रांति, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया है। उनकी इसी भागीदारी ने उन्हें स्त्री आंदोलन के मुख्य केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया। अब थोड़ा इतिहास के मिथकों की तरफ लौटा जाए। मिथक क्या कहते हैं?? इसे प्रो० पुरुषोत्तम अग्रवाल के इस कथन के माध्यम से बखूबी समझा जा सकता है, "सीता और शंबूक के भाग्य की याद एक साथ क्यों आए ? सीता तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जीवन-संगिनी, पूज्या राजरानी, बल्कि देवी थी, और शंबूक तुच्छ शूद्र ! सीता भारतीय जीवन के सशक्त प्रतीक चरित्रों में से एक है। हर हिंदू स्त्री से उम्मीद की जाती है कि वह सीता सावित्री के चरण-चिह्नों पर चले। दूसरी ओर हमारे समाज का प्रभु-वर्ग शंबूक का नाम तक भुलाने की कोशिश करता आया है। इस दौर में भी, जबकि रामानंद सागर से लेकर लालकृष्ण आडवाणी तक अपने-अपने उल्लू सीधे करने के लिए रामभक्त बनने की कोशिश कर रहे हैं, ऐसा नहीं लगता कि शंबूक की फिक किसी को हो। शंबूक का वध स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम के कर कमलों से हुआ था, क्योंकि वह मर्यादा का उल्लंघन कर रहा था। शूद्र होकर भी मोक्ष प्राप्ति की कामना से तपस्या करने की जुरत ! इसी कारण तो राम-राज्य में यह अनर्थ हुआ कि ब्राह्मण शिशु

¹ मिल, जे. एस. . स्त्री पराधीनता . पृ. सं.- 6

अकाल मृत्यु का ग्रास बन गया। गुरू वशिष्ठ की आज्ञा से राम ने शूद्रमुनि' का सर तलवार से उड़ा दिया और अनर्थ टल गया। ब्राह्मण शिशु जी उठा, रामराज्य की मर्यादा फिर से स्थापित होकर ही रही।"¹

इतिहास में अथवा मिथक में जाने के बाद हम पाते हैं कि प्रत्येक जगह स्त्री को दोगुना दर्जे की जगह दी गई है। हमेशा उन्हें हाशिए पर ही रखा गया है। यह पूरी की पूरी पुरुषवर्चस्वशील समाज की साजिश का नतीजा रहा है। समाज का एक ऐसा तबका जिसके पास किसी को भी 'स्टेटस' देने का अधिकार प्राप्त था जिसने अपने मन मुताबिक समाज में जिसको जो जगह निर्धारित करनी थी किया। आज शूद्रों एवं स्त्रियों को जो स्थान प्राप्त है उसका एकमात्र जिम्मेदार समाज का वह संप्रभु वर्ग है जिसने स्त्री एवं शूद्र को स्थापित किया है। इस संदर्भ में पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी किताब 'संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध' में इस बात का बखूबी जिक्र किया है : "वर्चस्व के इस तंत्र का सबसे ठोस रूप है- वर्णाश्रम जो सिर्फ समाज के कुछ तबकों को 'नीच जाति' कहकर ही संतुष्ट नहीं, बल्कि जो तथाकथित 'उच्च जाति' की स्त्रियों को भी अंततः दूसरा ही दर्जा देता है। जाति एक सांस्कृतिक जीवन दृष्टि को व्यक्त करने वाली व्यवस्था है। 'धर्म की मोक्षकामी अवधारणा का अनिवार्य अंग होने के कारण यह लौकिक व्यवस्था, अलौकिक और दैवीय समर्थन हासिल कर इतना दीर्घजीवी साबित हुई है इसी अलौकिकता और दिव्यता के कारण जाति के शिकार को शिकार बनाए रखने के लिए प्रत्यक्ष बल-प्रयोग और हिंसा की जरूरत कम ही पड़ती है।"

पुरुषसत्ता के खिलाफ स्त्री का प्रतिरोध कुछ इस प्रकार का है कि अधिकार और प्रेम की दुविधा में फंसकर वह भ्रमित हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री के ऊपर जो पुरुष का अधिकार है वह बलपूर्वक नहीं बनाया गया है बल्कि अधिकार को स्त्री ने अपनी मनमर्जी स्वीकार किया है। यह स्वेच्छा से स्वीकार किया हुआ पावर भले ही समाज के द्वारा क्यों न उसके ऊपर थोपा गया हो। लेकिन वह स्वीकार तो कर ही रही है। हिंदुस्तान की पढ़ी-लिखी महिलाओं में भी यह चीज बिल्कुल साफ तौर पर देखी जा सकती है कि इतना कुछ जान लेने के बावजूद समाज के बने बनाए प्रतिमानों, मूल्यों-मानदंडों को वह बड़ी ही सहजता से स्वीकार करती है। गौर फरमाया जाय कि आज के नारी आंदोलन में वैचारिक स्तर पर जिन मूल्यों को ढहाने की बात की जा रही है क्या आज स्त्री उन मूल्यों के खिलाफ किसी तरह की सक्रियता दिखा रही है ? जवाब मिलेगा नहीं। क्योंकि समाज की संरचना कुछ इस तरह की होती है कि उसको सहजता से तोड़ा नहीं जा सकता है।

दरअसल मनुष्य के सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे के बनने की एक लंबी प्रक्रिया है। मूल्यों, संस्कारों के बनने में लंबा समय लगता है। समाज ने अपने फायदे के लिए जिन मूल्यों को स्त्रियों के ऊपर आरोपित किया उसे अपना अधिकार समझ लिया। अतः आज भी पुरुष यह मानने को तैयार नहीं

¹ अग्रवाल, पुरुषोत्तम . संस्कृति: वर्चस्व और प्रतिरोध . पृ. सं.-48

है कि बच्चे पालना, खाना बनाना, कपड़े धोना एवं घर-गृहस्थी के तमाम कार्य संभालना पुरुष का काम है। पुरुष ने तो स्त्री की भावनाओं तक को खुद ही निर्धारित किया अर्थात् पुरुष की अपेक्षा स्त्री ज्यादा दयालु होती है, कोमल हृदय होती है, शर्मिली होती है, धरती की तरह बोझ को सहन करने की क्षमता रखती है आदि-आदि इस तरह के अनेकानेक ऐसे मूल्यों को स्त्री के ऊपर थोपा गया कि वह इन्हीं मूल्यों को बरकरार रखने में अपने अस्तित्व को खत्म कर ली। पुरुष स्त्री के साथ रहते हुए उसके तन और मन पर इस कदर कब्जा करता है कि उसे पता भी नहीं चलता है कि वह गुलाम है। **जे०एस० मिल** के हिसाब से, "सामाजिक व प्राकृतिक सभी कारण मिलकर यह असंभव कर देते हैं कि महिलाएं संगठित तौर पर पुरुषों की सत्ता का विरोध कर सकें। वे इस अर्थ में अन्य पराधीन वर्गों से भिन्न स्थिति में हैं कि उनके मालिक उनसे वास्तविक सेवा के अतिरिक्त कुछ और भी चाहते हैं। पुरुष केवल महिलाओं की पूरी-पूरी आज्ञाकारिता ही नहीं चाहते, वे उनकी भावनाएं भी चाहते हैं। सबसे क्रूर और निर्दयी पुरुष को छोड़कर, सभी पुरुष अपनी निकटतम संबंधी महिला में एक जबरन बनाए गए दास की नहीं बल्कि स्वेच्छा से बने दास की इच्छा रखते हैं- सिर्फ एक दास नहीं बल्कि अपना प्रिय, अपना चहेता व्यक्ति चाहते हैं। अतः उन्होंने महिलाओं के मस्तिष्क को दास बनाने के लिए हर चीज का इस्तेमाल किया है।"¹

गौरतलब है कि यह नारी आंदोलन उपर्युक्त मानसिकता से ऊपर आने का आंदोलन है। इस आंदोलन का समाज पर इस कदर असर पड़ा कि स्त्री भले ही इन मूल्यों एवं मानदंडों को समाज में तोड़ते हुए न दिखे लेकिन उसके भीतर इस चीज का तो अवश्य ही अहसास हो चुका है कि वह गुलाम है। इसका उदाहरण आज के नारीवादी लेखन में साफ-साफ दिखाई दे रहा है। स्त्री लेखन इस बात का सबूत है कि उन्होंने अपनी संवेदनाओं को बखूबी कलम के माध्यम से उकेरा है। शुचिता के खेमे में बांधकर स्त्री का जितना नुकसान हुआ है उतना मानव सभ्यता में शायद किसी का नहीं हुआ है। पूरी तरह से इज्जत, अस्मिता से जोड़कर स्त्री को देखा गया एवं बार-बार उसकी परीक्षा ली गई। गौरतलब है कि स्त्रियों पर अधिकार जमाने के लिए किसी न किसी तरह का भय पैदा किया जाता है मसलन धार्मिक एवं सामाजिक भय। धर्म के माध्यम से नैतिकता और शुद्धता का ऐसा आवरण ओढ़ाया जाता है कि उससे बाहर वह निकल ही नहीं पाती।

"स्त्रियों के मालिक साधारण आज्ञाकारिता से कुछ अधिक चाहते थे और उन्होंने शिक्षा के पूरे बल का इस उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया है। बहुत बचपन से बहुत सी स्त्रियों को यह सिखाया जाता है कि उनका आदर्श चरित्र से ठीक विपरीत होना चाहिए। इच्छाशक्ति और आत्मनियंत्रण नहीं बल्कि समर्पण, और दूसरे के नियंत्रण के समक्ष झुक जाना उनका गुण होना चाहिए। सारी नैतिकता उन्हें बताती है कि यह महिलाओं का कर्तव्य है और सभी मौजूदा भावनाओं के अनुसार यह उनका स्वभाव है कि वे दूसरों के लिए जिएं, पूर्ण आत्मत्याग करें और

¹ मिल, जे. एस. . स्त्री पराधीनता . पृ. सं.-46

अपने स्नेह संबंधों के अतिरिक्त उनका अपना कोई जीवन न हो। स्नेह संबंधों से तात्पर्य सिर्फ उन संबंधों से है जिनकी उन्हें इजाजत है- वे पुरुष जिनसे स्त्री संबंधित हो या वे बच्चे जो पुरुष व उनमें एक अटूट व अतिरिक्त बंधन होते हैं।”¹

स्त्री-अस्मिता की समूची बनावट के पीछे जब हम इतिहास में जाकर देखते हैं तो पाते हैं कि उस जमाने में शूद्र पुरुष दास थे लेकिन लगभग समूची स्त्रियां दास थीं। कहना न होगा कि दास प्रथा एक लंबी प्रक्रिया है जिसकी मानसिकता से आज भी निकलने के लिए स्त्री और शूद्र दोनों संघर्षरत हैं। खैर समय ने करवट बदली और मनुष्य ने चेतना के स्तर पर कुछ विकास किया अर्थात् धीरे-धीरे तरक्की के पथ पर अग्रसर हुआ। चेतना की इस विकास प्रक्रिया में जब विचारकों की संख्या प्रबल हुई तो उन्होंने मनुष्यता के धरातल पर आकर उन पुरुषों के लिए कुछ सरल नियम बनाए ताकि उन दास पुरुषों के साथ पशुता का व्यवहार न किया जाय। गौरतलब है कि पश्चिम के देशों में तो दास प्रथा को बिल्कुल ही खत्म कर दिया गया है एवं स्त्रियों की दासता रूपी जंजीर को ढील दे दी गई। आज भी जो स्त्रियों की दासता का रूप परिलक्षित होता है वह आदिम संस्कृति में मौजूद दासता है। गौरतलब है कि किसी भी गुलाम मानसिकता को इतनी जल्दी खत्म नहीं किया जा सकता है। क्योंकि पिंजरे में बंद किए हुए तोते को छोड़ने के बाद वह पुनः उड़कर पिंजरे में ही आ जाता है क्योंकि जितने समय वह पिंजरे में रहा उतने समय तक उसे पंख फड़फड़ाने का एवं उड़ान भरने का मौका ही नहीं मिला। तोते के जेहन से यह बात निकल चुकी होती है कि उसे उड़ना भी आता है। ठीक यही चीज एक गुलाम अथवा एक स्त्री के साथ हुआ। बंधन से मुक्त होने के लिए गुलामी का एहसास होना बहुत जरूरी होता है। गुलाम को अगर गुलामी का एहसास ही नहीं होगा तो वह मुक्त किससे एवं कैसे होगा। आज अधिकाधिक स्त्रियों की दशा पिंजरे में बंद उस तोते की तरह है जो अपनी परवाज भूल चुका है।

गौरतलब है कि इन्हीं समूची मानसिक गुलामी की जकड़न से मुक्त होने के लिए विचारक स्त्रियों ने अपनी आवाज बुलंद की और आज समाज के गढ़े हुए मूल्यों के खिलाफ आवाज उठा रही है। पुरुष जो स्त्री को समझने का दावा करता है उनके लिए सामान्य विवेक और मानव मस्तिष्क की संरचना के आधार पर कोई भी पुरुष स्त्री के स्वभाव के बारे में जानता है या मान सकता है, जब तक उन्हें उनके वर्तमान परस्पर संबंध के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाये। यदि पुरुष इस समाज में बिना स्त्रियों के रहे होते, या महिलाएं बिना पुरुषों के रही होती, या फिर भी एक ऐसा समाज होता जिसमें महिलाएं पुरुषों के नियंत्रण में न रही होती तो स्त्री-पुरुष के बीच संभव मानसिक व नैतिक भिन्नताओं के बारे में जाना जा सकता था। आज जिसे महिलाओं का स्वभाव कहा जाता है, वह ज्यादातर एक कृत्रिम चीज है कुछ दिशाओं में जबरन दमन व कुछ में अस्वाभाविक प्रेरकों का परिणाम है।

¹ मिल, जे. एस. . स्त्री पराधीनता . पृ. सं.-47

स्त्री-अस्मिता के संदर्भ में हो रहे इस लंबे डिस्कोर्स में कथा-कहानियों, कल्पनाओं से लेकर शरीर विज्ञान तक की तमाम अवधारणाओं की छानबीन जरूरी है। गौरतलब है कि शरीर विज्ञान स्त्री की शारीरिक संरचना के आधार पर कामोद्बोध उसी तरह का मूल्यांकन किया जिस तरह से समाज की कथा-कहानियों एवं पूर्वग्रहों में व्याप्त है। यह जरूरी नहीं कि जो व्यक्ति शरीर की बारीक से बारीक चीजों के बारे में जानता है वह उनके मन की परतों को भी उभारे। और यह जरूरी नहीं कि जो शरीर-विज्ञानी होगा वह मनोवैज्ञानिक भी होगा। अब रहा सवाल मनोविज्ञान का तो किसी के मन को भलीभांति जानना भी एक जटिल काम है। क्योंकि अलग-अलग समूहों एवं लोगों के दिमाग की संरचना भी अलग-अलग होती है। जिस समुदाय की सामाजिक-राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संरचना जिस प्रकार की होगी उसी प्रकार की वहां के लोगों के मस्तिष्क की बनावट भी होगी। हम जिस समाज में रहते हैं हम खुद ही उस समाज की स्त्रियों के मस्तिष्क की बनावट बखूबी नहीं समझ पाते। मीराबाई की 'घायल की गति घायल जाने कि और न जाने कोई' की तर्ज पर कहूँ तो स्त्री के मस्तिष्क की बनावट को स्त्री ही समझती है इसीलिए तो आज जो 'मुवमेंट' दिखाई दे रहा है वह स्त्रियों की वजह से है।

स्त्रियों की मानसिक बनावट पर बात करते हुए हमें सबसे पहले उन पहलुओं को देखना होगा जहां स्त्री और पुरुष का संबंध बहुत ही गहरा होता है और इतना गहरा कि दोनों का दुख-सुख संवेदना के धरातल पर बिल्कुल एक हो जाता है। यही कुछ मौके होते हैं जहां स्त्री की मानसिक संरचना को ठीक से पढ़ा-समझा जा सकता है। प्रेमी-प्रेमिका हो अथवा पति-पत्नी इनको भरपूर मौका होता है कि ये उनकी मानसिकता की भीतरी तह में प्रवेश करें मिल ने इस संबंध में **जे. एस. मिल** ने अपनी किताब **'स्त्रियों की पराधीनता'** में लिखा है कि: **"एक स्त्री के चरित्र का अध्ययन करने के लिए एक पुरुष के पास सामान्यतः अपनी पत्नी का सबसे अनुकूल केस होता है। क्योंकि इसमें अवसर ज्यादा मिलता है और पूर्ण सहानुभूति की स्थितियां भी इतनी दुर्लभ नहीं होती। और दरअसल मेरा मानना है कि यही वह स्रोत है, जिससे इस विषय पर जितनी भी ठीक-ठाक जानकारी उपलब्ध है, प्राप्त हुई है। लेकिन अधिकतर पुरुषों को इस तरह अध्ययन करने के लिए एक से अधिक अवसर प्राप्त नहीं हुए हैं। तदनुसार, हम हास्यास्पद होने की हद तक, एक पुरुष के स्त्रियों के बारे में सामान्य विचारों से यह पता लगा सकते हैं कि उसकी पत्नी किस तरह की है। इस केस से भी कुछ नतीजा पाने के लिए पहले तो वह महिला जानने योग्य होनी चाहिए, फिर उसके पति का न सिर्फ (स्वभाव का) एक अच्छा पारखी होना आवश्यक है, बल्कि उसका अपना चरित्र इतना सहानुभूतिपूर्ण अंतर्बोध से उसके मन की बात जान ले या फिर उस पुरुष में ऐसा कुछ न हो जिसकी वजह से पत्नी कुछ भी खुलकर बताने में संकोच करे।"**¹

उपर्युक्त बातों से यह बिल्कुल स्पष्ट होता है कि स्त्री की अंतरात्मा की तह में जाने के लिए खुद भी पुरुष को इतना संवेदनशील एवं एक-दूसरे के दुख-सुख की बराबर की भागीदारी होनी चाहिए

¹ मिल, जे. एस. . स्त्री पराधीनता . पृ. सं.-55

ताकि एक स्त्री अपने विचारों को पूरी तरह से अभिव्यक्त कर सके। क्योंकि हमारे पास जो श्रोत हैं उनमें मुख्य रूप से उतने ही हैं जितने कि पुरुषों ने स्त्रियों से कहलवाए। अब यह स्रोत तो बस इसी बात पर निर्भर करेगा कि स्त्री ने किस हद तक अपने मन की गांठें खोलीं। कहने का तात्पर्य यह है कि अभी तक जो श्रोत हमारे सामने आए हैं वो फिर भी इस कदर संकुचित परिलक्षित होते हैं कि साफ-साफ दिखता है कि अभी भी बहुत कुछ जानना बाकी रह गया है। अब सवाल यह उठता है कि जब दुनिया में स्त्रियों को इस हद तक अजादी दी जा चुकी है कि वे अपनी भावनाओं को दिल खोलकर अभिव्यक्त करें तो आखिर कौन-सी ऐसी बात है जो 'फैक्ट्स' सामने नहीं आ पा रहे हैं एवं जो स्त्री लेखिकाएं है क्या उनमें भी किसी तरह का पूर्वग्रह है जो उनके मर्म को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं होने दे रहा है। स्त्री-प्रतिरोध को बारीकी से देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखेगा कि चूंकि समाज के मूल्यों एवं मानदंडों में कुछ खास फेरबदल हो नहीं रहा है और यदि हो भी रहा है तो उसकी गति बहुत धीमी है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन में जिसे सांस्कृतिक विलंबना (कल्चरल लैग) कहते हैं। समाजशास्त्रीय विचारधारा के अनुसार जब भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति में तनाव पैदा होता है तो उसे ही सांस्कृतिक विलंबना कहते हैं। स्त्रियों की दुबिधापूर्ण एवं उनके दोमुंहेपन के बारे में मिल ने बहुत सही लिखा है "महिलाएं जो कुछ महिलाओं के बारे में लिखती हैं उसका अधिकतर भाग महज पुरुषों की चापलूसी होता है। अविवाहित महिलाओं की स्थिति में, अधिकतर लेखन पति पाने के अवसर बढ़ाने के उद्देश्य से होता है। विवाहित व अविवाहित महिलाओं- दोनों में से अनेक, हद पार कर जाती हैं और किसी भी पुरुष की इच्छा या सुख के परे की चापलूसी खुद में विकसित कर लेती हैं। अब यह इतना आम नहीं है, जितना कि कुछ समय पहले तक था। साहित्यिक महिलाएं अब अधिक मुखर हो गई हैं और अपनी वास्तविक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए पहले से अधिक इच्छुक हैं। दुर्भाग्यवश, खासकर हमारे देश में, स्वयं महिलाएं ही इतनी कृत्रिम होती हैं कि उनकी भावनाओं में उनके निजी अनुभव चेतना का भाग बहुत छोटा और अधिकतर उनके संबंधों से प्रभावित होता है। यह धीरे-धीरे कम होता जाएगा लेकिन जब तक सामाजिक प्रथाएं महिलाओं को अपनी मौलिकता विकसित करने की उतनी आजादी नहीं देती जितनी कि पुरुषों को प्राप्त है, तब तक ऐसा ही रहेगा और जब वह वक्त आएगा तो हम महिलाओं के स्वभाव के बारे में जितना जानना आवश्यक है, उसे न केवल सुनेंगे बल्कि देखेंगे भी।"¹

मिल की उपर्युक्त पंक्तियों से यह साफ जाहिर होता है कि वे स्त्रियों की ताकत का अंदाजा लगाते हुए उनके भीतर की ग्रंथि को खोलने की बात करते हैं क्योंकि कथा कहानियों से लेकर विज्ञान तक ने तो यही घोषित कर रखा है कि स्त्री वह सारे काम नहीं कर सकती जो पुरुष कर सकता है। इसलिए कुल मिलाकर मिल ले स्त्रियों का पक्ष लेते हुए यह बताने की कोशिश की है कि बस वे अपने स्व को जागृत कर लें तो वे विजयी घोषित हो जाएंगी। इतिहास गवाह है कि जब-जब राजनैतिक धरातल पर

¹ मिल, जे. एस. . स्त्री पराधीनता . पृ. सं.-57

स्त्रियों ने शासन की बागडोर हाथ में ली है तब-तब उन्होंने अपनी ताकत का ऐसा लोहा मनवाया है कि बस दुनिया देखती रह गई पुरुषवर्चस्वशील समाज में वैसे भी स्त्रियों को इतिहास में 'पावर' इस्तेमाल करने का कम ही मौका मिला है लेकिन जितना मिला है उतना ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में दर्ज है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्त्रियों को शासन की बागडोर तभी संभालनी पड़ी है जब वहां बिल्कुल आपात स्थिति आ गई थी। राजाओं की अपेक्षा रानियों ने तो बहुत कम शासन किया है लेकिन उन्हें शासन चलाने का मौका तभी मिला है जब या तो राजा की मृत्यु हुई है अथवा राजा की वही उत्तराधिकारी रहीं हैं। रजिया सुल्तान, लक्ष्मीबाई, इंदिरागांधी, जयललिता से लेकर आज की मायावती तक ने अपनी वैचारिक ताकत से बता दिया है कि लिंग के आधार पर किया गया भेदभाव झूठा एव साजिश के तहत था। प्रतिस्पर्धा के तमाम क्षेत्रों में स्त्रियों ने हिस्सेदारी ली है और न सिर्फ हिस्सेदारी ली है बल्कि उन्होंने अपनी प्रतिभा के बलबूते पुरुषों को घुटने टेकवा दिए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रियों को लेकर जो मुहावरेदानी गढ़ी गई है वह नितांत पुरुषवादी मानसिकता की उपज है। समाज भला क्यों चाहे कि औरत घर से बाहर निकलकर स्वच्छद विचरण करे एवं पुरुषों के बीच में बैठकर उनके साथ बराबरी में बातें करे। पुराने जमाने में इंग्लैंड में भी पति पत्नी का मालिक (स्वामी) समझा जाता था एवं पति की हत्या को राजद्रोह माना जाता था भले ही पति कितना भी हिंसक क्यों न हो। पति को मार डालने का दंड या पत्नी को जलाकर मारना। इस तरह के हिंसक नियम-कानूनों के घेरे में कैद थी स्त्री। इस प्रकार से हम देखते हैं कि पुरुषवर्चस्वशील समाज ने तमाम तरह के पूर्वग्रहों के माध्यम से स्त्री को नीचे गिराने की पुरजोर कोशिश की। समाज में व्याप्त गालियों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों से यह साफ झलकता है कि स्त्री को नीचे गिराने की समाज ने साजिश की है।

आज की कविता में मध्यवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय लड़की, प्रेम और परिवेश, आम औरत और उसके भीतरी संघर्ष, ऐसे विषय हैं जिन पर अलग से विचार करना आवश्यक हो जाता है। इन विषयों के संदर्भ में समकालीन कविता को देखे बिना समकालीन कविता पर समग्र रूप से कोई टिप्पणी करना संभवतः दुष्कर और गैर व्यवहारिक है। जब उक्त विषयों को दृष्टिगत रखते हुये हम समकालीन कविता को देखते हैं तो पाते हैं कि इन सभी विषयों के प्रति आज के कवि की विशेष रुचि है। समकालीन कविताओं में अच्छा खासा जखीरा इन विषयों से सम्बन्धित कविताओं का है, साथ ही इनके प्रति लगभग हरेक समकालीन कवि का अपना दृष्टिकोण है, विशेषतः प्रेम और स्त्री के संदर्भ में।

लगभग सम्पूर्ण समकालीन साहित्य में निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय मानसिकता और भावना को मुखर करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, परन्तु फिर भी जिस संवेदना, सूक्ष्मता और नवीनता से समकालीन कविता में निम्नमध्यवर्ग और मध्यवर्ग आये हैं उसे अपूर्व माना जा सकता है। समकालीन कविता में एक विशेष प्रकार का मोह इन वर्गों के प्रति पाया जाता है। समकालीन कवियों ने अनेक स्थानों पर अपनी कविता के लिये उक्त वर्गों की विशिष्ट एवं केन्द्रीय स्थितियों से जुड़े हुये प्रतिनिधिक पात्रों को चुना है और उनकी भावनाओं और विचारों को बड़े सधे हुये ढंग से प्रस्तुत किया है। इन्हीं

प्रतिनिधि पात्रों में व्यापक दृष्टि से एक है निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय लड़की, जो समकालीन कविता में कहीं केवल स्त्री है, कहीं बहन और कहीं प्रेमिका है। लेकिन जो भी है, अपने इन अलग-अलग चरित्रों में भी वह समसामयिक कविता में अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के घेरे में है। जहां साधारण या उक्तवर्ग की स्त्रीको स्वस्थ दृष्टि से कविता का विषय बनाना एक तरह से समकालीन कवि की विशिष्टता कही जायेगी, वहीं दूसरी ओर, उसके बाहर की खींचा तानी और भीतर के तनाव को सूक्ष्मता से पकड़ते हुये व्यक्त करना भी उसकी उपलब्धियों में गिना जा सकता है। मध्यवर्ग हमारी सामाजिक व्यवस्था में सबसे अधिक तनावग्रस्त रहने वाला और पिसने वाला वर्ग है, इस वर्ग की स्त्रीकी स्थिति निःसंदेह विचारणीय थी। समकालीन कवि ने इस बात को समझते हुये, इस सदर्थ में गंभीरता से अपना दायित्व निभाया है।

समसामयिक कविता का अनुशीलन करते हुये, समकालीन कवियों द्वारा व्यक्त निम्न मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय स्त्री के चरित्र के कुछ विशेष गुण बड़ी सहजता से सामने आ जाते हैं। जैसे इस स्त्री की महत्वाकांक्षा, घरेलू और सामाजिक संघर्ष, प्रवृत्ति की रहस्यात्मकता, और इन सबके अलावा उसकी बहुत सारी मजबूरियाँ आदि। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी जरूरी लगता है कि जहां-जहां समकालीन कवि ने स्त्री की महत्वाकांक्षा को व्यक्त किया है वहां ऐसे अनुभव होता है जैसे कवि उसके इस महत्वाकांक्षी होने के प्रति संदेहपूर्ण है। संदेहपूर्ण इस दृष्टि से नहीं कि वह महत्वाकांक्षी है या नहीं है बल्कि इस लिहाज से कि क्या वह अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा कर पायेगी? वह यह भी सोचता हुआ लगता है कि क्या इस तरह महत्वाकांक्षी होना उसके तनावग्रस्त और दुःखी रहने का कारण नहीं है? क्या ऐसी स्थिति में वह स्वयं को असामान्य सी महसूस नहीं करती ? परोक्ष रूप से इस तरह का प्रश्नाकुल दृष्टिकोण वहां प्रायः दिखायी दे जाता है जहाँ कवि स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से उसके महत्वाकांक्षी होने की बात करता है। इस सम्बन्ध में चर्चा बढ़ाने से पहले रघुवीर सहाय की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखते हैं :

“मगर यह लड़की गरीब घर की है

यह स्वीकृत वर्ग में शामिल होना चाहती है

और उस वर्ग की लड़कियां जो लड़का बनती हैं

उनकी तरह बनने की इसकी कोशिश एक दुःखभरी कोशिश है

क्योंकि वह चेहरा बदलकर अपने वर्ग का ही लड़का बनेगी।”¹

¹ सहाय, रघुवीर . 1982 . लोग भूल गये हैं . राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, . पृ. सं.- 61

उक्त कविता में एक निम्नमध्यवर्गीय लड़की प्रचलित फैशन की रौ में बहने वाली उच्च मध्यवर्गीय लड़की बनना चाहती है, लड़कों से फैशन करना चाहती है। स्त्री की इस महत्वाकांक्षा के प्रति कवि की राय है कि यह उसकी 'एक दुःख भरी कोशिश' है। यानि निम्नमध्यवर्गीय लड़की की महत्वाकांक्षा का प्रतिफलन भी उसे संतोष और खुशी देगा इसके प्रति यहां कवि पूरी तरह से आश्वस्त नहीं है। पहले तो लड़की की महत्वाकांक्षा के प्रति शंका भाव और फिर उसके बाद यह संदेह कि महत्वाकांक्षा पूरी होने पर क्या वह होगा जो यह चाहती है? क्या वह सामान्य रह पायेगी ? यहां यह शंका-संदेह समकालीन कवि की दृष्टि से निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय स्त्री की कमजोरी को भी व्यक्त करता है। इसी संदर्भ में एक समकालीन कविवत्री का निम्नलिखित काव्यांश देखना भी उचित होगा :

**“हड़बड़ाकर चढ़ाती है वह आखों पर शीशे
माथे पर उसकी बिन्दी अजीब सी लगती है
हाथों में चूड़ियां अटपटी सी
ऐनक में चेहरा हास्यास्पद-सा
लेकिन आजकल वह जिद में है
अपने देह का सादापन धीरे-धीरे उखाड़ती हुई”¹**

यहां भी लगभग वैसा ही भाव है जैसा पिछले उद्धरण में था। अन्तर केवल इतना है कि पिछले काव्यांश में लड़की लड़का बनकर उच्चमध्यवर्ग में शामिल होना चाहती थी जबकि इस काव्यांश में वह, 'सादापन धीरे-धीरे उखाड़ती हुई' उच्चमध्यवर्ग में प्रवेश पाना चाहती है। वह बिन्दी लगाती है, चूड़ियाँ पहनती है, ऐनक लगाती है तथा और भी कई तरह से स्वयं को श्रृंगारती है परन्तु यहाँ भी निम्न मध्यवर्गीय मानसिकता काम कर रही है उसके आँखों पर शीशे चढ़ाने में हड़बड़ी है, माथे पर बिन्दी के होने में एक अजनबीपन है, हाथों की चूड़ियों में अटपटाहट है और 'ऐनक में चेहरा हास्यास्पद सा' लगता है, यानि यह साधारण और सामान्य सी चीजें भी उसके लिये व्यवहार में लाये जाने पर असाधारण और असामान्य सी हो गई है। समकालीन कविता उक्त प्रकार की कविताओं के माध्यम से शायद यह भी स्पष्ट करना चाहती है कि निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय लड़कियां भी अपने वर्ग की प्रवृत्ति के अनुकूल दोहरा जीवन जी रही हैं, परन्तु यहाँ दिखावे और असलियत का दोहरापन नहीं है बल्कि इच्छाओं और आज्ञादी का दोहरापन है। स्त्री घर से बाहर आती है तो तेज रफ्तार ज़िन्दगी देखती है, चकित करने वाली ऊंची

¹ गिल, गगन . एक दिन लौटेगी लड़की . पृ. सं.- 14

और बेखौफ़ उड़ाने देखती है अपने हमउम्रों की, वो भी चाहती है- चिड़िया बनूँ और उड़ती फिरूँ परन्तु घर लौटने पर पंख कटे हुये पाती है। यानि उसकी इच्छाओं के अनुसार जितनी आज़ादी की उसे आवश्यकता है उतनी उसके पास नहीं है। इसे वह बिन्दु माना जा सकता है जहां से उसकी इच्छाओं का दमन होना शुरू हो जाता है।

समकालीन कविता में उक्त प्रकार की स्त्री की विभिन्न तरह की इच्छाओं के दमन की व्याख्या भी देखने को मिलती है। यह भी देखने को मिलता है कि इच्छाओं के दमन के संदर्भ में समसामयिक कविता में विशेष रूप से प्रेम, विवाह और मा बनने की इच्छाओं को ही अभिव्यक्ति मिली है। इस तथ्य को आधार प्रदान करने के लिये हम दो तीन काव्यांश प्रस्तुत करते हैं। पहला **असद ज़ैदी** की '**आयशा के लिये चौदह कविताएँ**' में से नौवीं कविता का यह काव्यांश जिसमें कवि स्वयं को आयशा के शरीर का हिस्सा बताने के बाद लिखता है :

“मैं कभी न पहचाना पाया चोर हूँ भीड़ में व्याकुल

छिपकली की कटी हुई पूँछ हूँ

दीवार पर भटकती हुई

तुम्हें न स्वीकार करने दी गई वास्तविकता हूँ।”¹

इस काव्यांश में यह ध्यान देने योग्य पंक्ति है कि 'तुम्हें न स्वीकार करने दी गई वास्तविकता हूँ।' यानि वो (जो भी था) वास्तव में था, परन्तु स्त्री को यह बात स्वीकारने नहीं दी गई कि वह वास्तव में है (जो भी है)। एक प्रकार से यह एक थोपा गया फैसला था, जिस तरह से वह उसे स्वीकारना चाहती थी उस तरह से उसे 'उसको' नहीं स्वीकारने दिया गया। स्त्री के स्वयं के निर्णय को निदारद करते हुये उस पर कोई निर्णय बलात् थोपा जाना, उक्त कविता के प्रसंग में, स्त्री की इच्छाओं का दमन ही कहा जायेगा। दमन के दूसरे बिन्दु अर्थात् विवाह इच्छा के दमन का उदाहरण समकालीन युवा कवि **विमल कुमार** की अधोलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत करती हैं :

“वह अकेले में खुद से बातें करती रही

अन्धेरे में कल्पना के पुरुषों को चूमती रही

¹ ज़ैदी, असद . बहनें और अन्य कविताएँ . पृ. सं.- 41

लेकिन जीवन साथी नहीं चुन सकी
उसकी ढलती उम्र पर सब फलियां कसते रहे
वह एक गरीब पिता की बेटी थी
दिव्य प्रेम ही कर सकती थी ¹

यहाँ भी निम्नमध्यवर्गीय स्त्री की इच्छाओं के दमन का ही चित्र है। चाहे 'अन्धेरे में कल्पना के पुरुषों को चूमने' और 'जीवन साथी न चुन सकने का कारण' 'गरीब बाप की बेटी' होना ही क्यों न हो, मगर फिर भी उसकी इच्छाओं का दमन तो कहा ही जायेगा। उक्त काव्यांश में कवि ने परोक्ष रूप से स्त्री की मजबूरियों की ओर भी संकेत कर दिया है जिनके कारण उसकी इच्छाओं का दमन हुआ। यहां इस प्रश्न को उठाना भी शायद ठीक रहेगा कि समकालीन कविता में पर्याप्त रूप से विषय बनी इस ढलती उम्र की युवती को लड़की मानना क्या संगत है ? जवाब में यह कहा जा सकता है कि समसामयिक कविता में विशेष रूप से लड़कियों के दो ही वर्ग मिलते हैं एक तो वे हैं जो जवान हैं और दूसरी वे जो जवानी पार कर चुकी हैं परन्तु अविवाहित हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन कविता में महिला वर्ग में बच्ची, पत्नी या मां और दादी आती हैं। जब समकालीन कवि ढलती उम्र की युवती को लड़की मान रहा है तो हमें भी उसे शायद उसी रूप में देखना और लेना चाहिये।

समकालीन कविता में विवाह की इच्छा के दमन के साथ मां बनने की इच्छा का दमन भी स्वयमेव जुड़ गया है। कहा जा सकता है कि प्रत्येक स्त्री का सपना सम्पूर्णता को पहुंचने का अर्थात् माँ बनने का होता है, परन्तु इस सपने की टूटन कभी-कभी ग्रन्थि बन जाती है। 'एक इच्छा स्त्री की चूड़ियां में चलती है/पहले वह टूटें उसके बिस्तर पर फिर टूटें उसकी चौखट पर' - लिखने वाली समकालीन कवियत्री गगन गिल की निम्नलिखित पक्तियां मध्यवर्गीय लड़की की मां बनने की इच्छा को व्यक्त करती हैं :

“सारी दुनिया की किताबें जब पढ़ चुकेंगे तुम्हारे पापा
लौट ही आयेंगे आखिर
तब तक बेटे, तुम यहीं रहना, यूँ ही
बाँझ, कुँआरी माताओं की प्रेत-इच्छा में

¹ कुमार, विमल . सपने में एक औरत से बातचीत . पृ. सं.- 11

जैसे रहते हैं बच्चे –

अच्छे बच्चों की तरह “¹

अब यहां कवियत्री हालांकि स्वयं कल्पना में अपने बच्चे से बातें कर रही है (वास्तव में यह एक ढलती उम्र की स्त्रीका चरित्र है) परन्तु फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से 'बांझ कुँआरी माताओं की प्रेम-इच्छाओं में' रहने की बात करना दमित इच्छाओं की ओर संकेत करना ही कहा जायेगा। इसी संदर्भ में **तेजी ग्रोवर** की एक गद्य कविता का निम्न काव्यांश देखिये :

“पार्क में अकेला खड़ा लोहे की तारों का बना

एक खाली हाथी है। बस चार पत्ते हैं उसकी

देह पर जो उसके पांव को रस्ते ऊपर चढ़

रहे हैं। यही एक दृश्य है जो मेरे अजन्मे

शिशुओं की तरह मेरे पीछे-पीछे घूमता है”²

यहां तो कवियत्री ने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है कि '**मेरे अजन्मे शिशु**' '**मेरे पीछे-पीछे घूमते**' हैं। यानि वहीं मां बनने की इच्छा है जो लगातार पीछा करती है। पहले उद्धरण में कल्पना में अपने बच्चे से बातें करना है और दूसरे उद्धरण में यह स्वीकारोक्ति है कि अजन्मे बच्चे पीछे-पीछे घूमते हैं। इस प्रकार की कवितायें लड़की की मां बनने की दमित इच्छाओं को ही व्यक्त करती हैं।

निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय लड़की के संघर्षों की चर्चा भी इधर की कविता में काफी मिलती है। यह संघर्ष दो प्रकार के हैं: घर में रहकर होने वाला संघर्ष और समाज में रहकर होने वाला संघर्ष। घरेलू संघर्ष से दो चार होती निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय लड़की को विषय बनाकर लिखी गई कविताओं में असद जैदी की '**बहनें**', उदय प्रकाश की '**नींव की ईंट हो तुम दीदी**' और गगन गिल की '**बहन होगी उसकी तब भी चुप**' आदि जैसी कविताओं को, और सामाजिक संघर्ष में ऐसी कविताओं को रखा जा सकता है जिनमें नौकरीपेशा लड़कियों की व्यथा कही गई है जैसे रघुवीर सहाय की '**बैंक में लड़कियां**', गगन गिल की '**दफ्तर में ऊँघती लड़कियां**' और कात्यायनी की '**सपने में तैरते हुए**' आदि। यहां हम यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि समकालीन कविता में व्यक्त नौकरीपेशा स्त्री का

¹ गिल, गगन . एक दिन लौटेगी लड़की . पृ. सं.- 23

² साक्षात्कार 177/178 . तेजी ग्रोवर की गद्य कवितायें . पृष्ठ सं- 40

सामाजिक संघर्ष तथाकथित परम्परागत ढंग से परिभाषित होने वाला सामाजिक संघर्ष नहीं है। इसे हम सामाजिक संघर्ष इसलिये कह रहे हैं क्योंकि यह संघर्ष स्त्री घर से बाहर रह कर करती है, एक विशिष्ट और अलग ढंग से, जिसकी चर्चा हम इस संदर्भ में आगे बात करते हुये करेंगे। यहां समकालीन कविता में स्त्री के घरेलू संघर्ष पहले आते हैं। उदाहरणार्थ :

**“यह लकड़ी नहीं जलेगी किसी ने
यों अगर कहा तो हम बुरा मान लेंगी
किसलिये आखिर हम हुई हैं लड़कियां
लकड़ियां जलती हैं जैसे हम जानती हैं तुम जानते हो
लकड़ियां हैं हम लड़कियां”¹**

स्त्री होने के कारण घरवालों का उसके प्रति जिस तरह का रवैया है, इन पंक्तियों में वही व्यक्त हुआ है। स्त्री स्वयं स्वीकार करती है कि 'लकड़ियाँ हैं हम लड़कियां' अर्थात् जिस प्रकार लकड़ी का भाग्य दूसरों की आवश्यकता के लिये जलना है उसी प्रकार स्त्री की नियति भी औरों को जिलाने के लिये स्वयं होम होने की है। एक प्रकार का त्याग से आवेष्टित संघर्ष है जो स्त्री घर में रह कर करती है। उद्धृत काव्यांश यह भी स्पष्ट कर रहा है कि स्त्री होने और घरेलू आदरक्रम में द्वितीय श्रेणी की होने की भावना भी आज की परिस्थितियों में स्त्री को सभवतः अपने घर से ही मिल रही है।

यहां एक यह बात भी गौरतलब है कि उक्त प्रकार से समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं में अप्रत्यक्ष रूप से कहीं-कहीं ऐसी पंक्तियाँ लिखी है जिनसे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि स्त्री को स्त्री होने का दुःख है (या यूँ मानिये कि वह दया की पात्र है) परन्तु गगन गिल, कात्यायनी और तेजी ग्रोवर आदि समकालीन कवियत्रियों में ऐसी भावना कहीं नहीं दिखाई देती बल्कि वहां स्त्री होते हुये भी अनेक प्रकार की ज्यादातियों के प्रति संघर्ष ही मिलता है जैसे गगन गिल की '**स्त्री अभी उदास नहीं है**,' कात्यायनी की '**अपराजिता**', '**वह रचती हैं जीवन और**' तथा तेजी ग्रोवर की '**ऐन उस वक्त**' आदि कविताओं में है। परन्तु इन कवियों और कवियत्रियों द्वारा चित्रित स्त्री के संघर्ष में कोई विशेष अन्तर नहीं, वैसे ही है, घरेलू और सामाजिक। यहां हम घरेलू संघर्ष को व्यक्त करता एक और काव्यांश प्रस्तुत करते हैं :

¹ ज़ेदी, असद . बहनें और अन्य कवितायें . पृ. सं.- 24

**“ढिबरी थीं दीदी तुम
हमारे बचपन की
अचार का तलछंट तेल
अपनी कपास की बाती में सोखकर जलती रहीं।”¹**

कवि यहां भी स्त्री के 'जलने' यानि उसके संघर्ष और त्याग की बात कर रहा है। अन्तर यही है कि यहां स्त्री लकड़ी नहीं है 'कपास की बाती' और 'अचार का तलछंट तेल' है। इस प्रकार के घरेलू संघर्ष के अलावा, विभिन्न प्रकार की नौकरियां करने वाली लड़कियों का बाहरी संघर्ष जिसे पीछे समाज में रह कर किया जाने वाला संघर्ष कहा है, भी समकालीन कविता में मिलता है। समकालीन कवि ने जहां भी नौकरी पेशा स्त्री को देखा है वह उसे मजबूर, लाचार, थकी, अतिरिक्त रूप से गम्भीर और दया की पात्र ही लगी है। हालांकि इस प्रकार की निर्णयात्मक और पूर्वाग्रही दृष्टि आज के कवि से कुछ प्रश्नों के जवाब तलब कर सकती है, लेकिन फिर भी निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय नौकरी पेशा स्त्री के प्रति यह उसकी अपनी 'एप्रोच' कही जा सकती है। यह भी है कि ऐसी कविताओं के भीतर ही समकालीन कवि ने कुछ तथ्यात्मक सत्य भी उद्घाटित कर दिये हैं :

**“बैंक में लड़कियां
बड़ी होती जाती हैं
और इतनी भीड़ से घिरी हुई एकाकी”²**

उक्त उद्धरण नौकरीपेशा लड़कियों के बढ़ती उम्र के दर्द को व्यक्त करता है। यानि भिन्न-भिन्न तरह के लोगों की भीड़ से घिरे रहने के बावजूद उन्हें अकेलेपन का एहसास कचोटता रहता है, कवि मानता है कि उनका यह एकाकीपन दिन-ब-दिन बढ़ता जाता है। नौकरीपेशा जीवन की नीरसता और कार्यक्षेत्र में दिनोंदिन बढ़ता ऊब का एहसास मुख्य रूप से आज की कविता में विषय के रूप में मिलते हैं। इसी संदर्भ में एक और काव्यांश प्रस्तुत है :

¹ प्रकाश, उदय . अबूतर कबूतर . पृ. सं.- 13

² सहाय, रघुवीर . लोग भूल गए हैं . पृ. सं.- 74

“सूरज चमकता है उनके दफ्तरों के बाहर
मौसम बदलते हैं उनकी खिड़की से दूर
हवा नहीं छूती उन्हें कितने ही साल
पकते हैं बाल धूप के बिना ही
दफ्तरों में कैद लड़कियों के”¹

इस प्रकार के काव्यांश जहां नौकरीपेशा लड़कियों के जीवन की नीरसता को व्यंजित करते हैं वहीं स्त्री जाति की आर्थिक आत्मनिर्भरता और आर्थिक स्वतन्त्रता की विचारधारा को भी एक अलग कोण से देखने के लिये बाध्य करते हैं, यानि, नौकरी जहां आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है वहीं वह दूसरी दृष्टि से परतन्त्र भी करती है। नीरसता, ऊब और अनचाहे काम को करने की बाध्यता आर्थिक स्वतन्त्रता के दूसरे पहलू को प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'बनानी बनर्जी' को भी देखा जा सकता है, काव्यांश है :

“वह सो गई है बनानी बनर्जी !
लम्बी रात के इस ठहरे हुये निशीध-क्षण में
झुबी हुई है अपने अस्तित्व के सघन अरण्य में एक भटकी हुई
मुस्कान खोजने
कमरे के एक कोने में टेबुल पर रखे उसके बैग में
छोटे गोल आईने कंघी और लिपस्टिक से
लिपट कर सोई है उसकी हँसी दिन भर हँस-हँस कर थकी हुई”²

इस काव्यांश में 'उसकी हँसी दिन भर हँस-हँस कर थकी हुई' पंक्ति नौकरी पेशा स्त्री की अनचाहे काम को करने की बाध्यता व्यंजित करती है। इसी संदर्भ में एक दृष्टि से कात्यायनी की कविता 'सपने में तैरते हुये' भी देखी जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालीन कविता में

¹ गिल, गगन . एक दिन लौटेगी लड़की . पृ. सं.- 25

² ज्ञानेन्द्रपति . शब्द लिखने के लिये ही यह कागज़ बना है . पृ. सं.- 31

निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय स्त्री की उपस्थिति अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। आज कवि ने उक्त वर्ग की स्त्री को महत्वाकांक्षी, संघर्षरत और मजबूरियां से घिरी हुई पाया है। उसे यह स्त्री अपनी इच्छाओं को दबाती हुई मिली है, कहीं-कहीं कवि ने उसमें स्त्री सुलभ त्याग का भाव भी देखा है। उनके कवियों ने स्त्री के उपर्युक्त गुणों और विशिष्टताओं को अभिव्यक्ति दी है, इनमें रघुवीर सहाय की 'नन्हीं लड़की', 'प्रेम', 'चेहरा', 'संघर्ष', 'बैंक में लड़कियां', 'मेरी बेटी', 'गदराई लड़कियों', गगन गिल की 'स्त्री अभी उदास नहीं है', 'चौबीस पार करती लड़की', 'एक इच्छा चूड़ियों में', 'उदासियां तब कितनी अलग होती', 'बहन होगी उसकी तब भी चुप', 'मर्सिया', 'दफ्तर में ऊँघती लड़कियां', 'स्त्री बैठी है हँसी के बारुद पर', 'उदय प्रकाश की 'नींव की ईंट हो तुम दीदी', कुमार अंबुज की 'काली लड़की', असद जैदी की 'बहनें', 'आयशा के लिये चौदह कवितायें, राजेश जोशी की 'मां की याद', 'लाल्टू की 'छोटे शहर की लड़कियां', 'बड़े शहर की लड़कियां', विमल कुमार की 'दिव्य प्रेम', 'लड़कियां', और इनमें विशेष रूप से आलोक धन्वा की 'भागी हुई लड़कियां' आदि कवितायें देखी जा सकती हैं। हालांकि इस सन्दर्भ में एकांत श्रीवास्तव की 'निला बीनती लड़कियां', 'कार्तिक स्नान करने वाली लड़कियां', 'बहनें' विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की 'प्यार मैंने भी किया है' और राजेश जोशी की 'तितलियाँ' आदि कविताओं का जिक्र भी किया जा सकता है, परन्तु इन तथा अन्य इसी प्रकार की कविताओं में तथ्यात्मकता या वैचारिकता की बनिस्बत चित्रात्मकता अधिक है।

हमारे समाज में जबसे आदमी और औरत के अधिकारों की समानता की बात आरम्भ हुई है तब से औरत का साहित्य में एक विशेष प्रकार का स्थान बन गया है। इससे पहले या तो औरत साहित्य में प्रासंगिक रूप से आती थी या फिर केवल सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति 'पद्मिनी नायिका' के रूप में। बराबरी की चर्चित विचारधारा के सूत्रपात के बाद यह एक सुरता टूटी है और आज, **"समकालीन साहित्य में नारी पात्रों एवं व्यक्तित्वों से सम्बन्धित अस्तित्व के तीन स्तर मिलते हैं एक स्तर वहां, जहां परम्परागत धारणाओं की मूल्यगर्भित, संकुल, सीमित परिधि में उसका स्वरूप रुपायित होता है। दूसरा वहां, जहां सामाजिक परिधियों से उसका संघर्ष सीधे टकराव के रूप में उभरता है और वह स्थितियों को अस्वीकार करने की क्षमता जुटा लेती है। तीसरा स्तर वहां, जहां संघर्ष के संदर्भों को पार कर निर्णय लेने की क्षमता अर्जित करती है।"**¹

जहां नारी का स्वरूप परम्परागत धारणाओं का वहन करता है वहां तो साहित्य में नारी अत्यंत सहज ढंग से आयी है, परन्तु, जहां उसका संघर्ष सीधे टकराव के रूप में उभरता है या उसमें निर्णय लेने की क्षमता आती है यहां साहित्य में उसका आगमन सहज नहीं है बल्कि मय संघर्ष है। कभी यह संघर्ष भीतरी है कभी बाहरी, समसामयिक साहित्य में व्यक्त औरत के भीतरी बाहरी संघर्ष कहीं-कहीं इतने घुलमिल गये हैं कि हम उन्हें सहज-सीधी रेखा खींचकर या कोई मापदण्ड बना कर विलगा नहीं सकते। विशेषतः इधर की समकालीन कविता के बारे में यह बात अवश्य कही जा सकती है। आज के कवियों ने

¹ विनय . समकालीन उपन्यास में नारी पात्र . आजकल, जुलाई 93 . पृ. सं.- 26-27

जब भी नारी संघर्ष की बात की है तो वह किसी घरे में नहीं बंधा है। आज औरत के अन्तः संघर्ष से सम्बन्धित कविताओं में प्रत्यक्ष संघर्ष के बीज और बाह्य संघर्ष सम्बन्धी कविताओं में भीतरी लड़ाई का सार मिल जाता है। हालांकि आलोचकों द्वारा समकालीन कविता में व्यक्त स्त्री चरित्रों पर यह आरोप लगाया जाता है कि, "छायावादी कविता में जिस तरह कवि स्त्री में प्रेयसी का रूप ढूंढकर अपने भाववाद का आरोपण करता था, बीसवीं सदी के इस आस्थिरी दशक में हमारे ज्यादातर साथी युवा कवि भी शोषित स्त्री के चित्रों की महज़ फोटोग्राफी कर रहे हैं। घर-ग्रहस्थी, हाट बाज़ार में एक शोषित स्त्री दिखाई देती है और यह उस पर अपने भाववाद का आरोपण कर देते हैं। कविता में कवि का मन हर जगह है, इस स्त्री का मन कहीं नहीं दिखता।"¹

लेकिन यह बात बीसवीं सदी के आखिरी दशक के सभी कवियों पर लागू नहीं होती। इस आखिरी दशक में भी कवियों ने ऐसी अनेक कवितायें लिखी हैं जिनमें तथ्यात्मकता और विचारात्मकता है न कि चित्रात्मकता। समकालीन आलोचक की उक्त टिप्पणी को मानना एक तरह से स्त्री सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण कविताओं को खारिज करना होगा, ऐसी कविताओं को जिनमें समकालीन कवि ने स्त्री के आन्तरिक और बाह्य संघर्ष को बरखूबी कविता में निभाया है। जैसा कि हमने पहले कहा कि इधर की समकालीन कविता में औरत के आन्तरिक और बाह्य संघर्ष घुलमिल गये हैं, जिसे साकारात्मक सोच का परिणाम ही कहा जायेगा। समकालीन कविता में व्यक्त औरत के अन्तः संघर्षों में परिवारिक, सामाजिक पुरुष की अधीनता, जिसे एक सीमा तक पुरुष दमन की संज्ञा भी दी जा सकती है, तथा अन्य गैरबराबरियों आदि से उपजे अन्तः संघर्ष मुख्य रूप से उभरे हैं।

यहां यह बात भी उल्लेख करने योग्य है कि इन सभी प्रकार वो अन्तः संघर्षों पर आर्थिक संघर्ष की एक छाया सी भी देखने को मिलती है। इस सम्बन्ध में हम इस सदी के अन्तिम दशक में कविता कर रहे युवा कवि विमल कुमार की एक कविता 'छिपी हुई औरत' का जिक्र करना चाहेंगे, जिसमें कवि अपने मित्र के घर जाता है। सारा वक्त, मित्र से बातें करते हुये, उसके घर में रहता है। मित्र की पत्नी ओट में रहकर उसकी खूब आवभगत करती है। पर वह इस दौरान कभी भी भीतर के कमरे से निकल कर सामने नहीं आती। काव्यांश इस प्रकार है :

“मैं जानता था गुसलखाने के पानी ने ही

उसे छुपने के लिये मजबूर किया होगा

जिसे वह ढो-ढोकर लायी थी नीचे नल से

मैं जानता था

¹ कुमार, विजय . 1994 . कविता की संगत . आधार प्रकाशन, पंचकूला . पृ. सं.- 162

जब वह सब्जी लेने बाज़ार गई थी
वहीं उसके मन में छिपने का ख्याल आया होगा
मैं जानता था जो चादर उसने बिछाया था मेरे लिये
उसने कहा होगा - तुम इसी तरह छिपी रहो
इसी में तुम्हारी मुक्ति है
लेकिन मैंने गुत्तलखाने में नहाते समय देख लिया
बाल्टी के पानी में उसका चेहरा जिस पर संघर्ष की रेखायें थीं।¹

अब इस कविता में यह आम औरत की घरेलू मुशक्कत का संघर्ष शायद नहीं है और न ही यह 'छिपना' केवल पर्दे या ओट में रहना है। हमारी दृष्टि से यह भौतिक मजबूरियों का उत्पीड़न है जो उसे अपने खोल से बाहर आने की मोहलत नहीं दे रहा है। एक निजी किसम का आन्तरिक संघर्ष है जो हर कार्य की अन्विति में उसके साथ है। इसी संदर्भ में एक और युवा कवि एकांत श्रीवास्तव की कविता 'मां का पत्र' भी देखी जा सकती है जिसमें मूर्त रूप से घर की खस्ता हालत का जिक्र करते हुये कवि 'मां' के भीतरी उत्पीड़न और संघर्ष को परोक्ष रूप से अभिव्यक्ति देता है, काव्यांश प्रस्तुत है :

“झर रही होंगी नीम की पत्तियां
और एक उदास पीला दिन
उत्तर रहा होगा मां के भीतर
मां खुद भूखी रहकर
बिखेर देती है चिड़ियों के लिये दाने”²

इस कविता में भी कवि ने स्पष्ट रूप से आर्थिक मन्दहाली की चर्चा के साथ-साथ अप्रत्यक्ष रूप से एक औरत के अन्तः संघर्ष को उजागर करने का प्रयास किया है। ध्यान देने योग्य पंक्ति है कि- 'एक उदास पीला दिन उत्तर रहा होगा मां के भीतर' यानि प्रतीकात्मक रूप से कवि 'मां' के भीतरी संघर्ष

¹ कुमार, विमल . सपने में एक औरत से बातचीत . पृ. सं.- 48

² श्रीवास्तव, एकांत . अन्न हैं मेरे शब्द . पृ. सं.- 51

और अवसाद को व्यक्त करना चाहता है। वहीं समकालीन कवियों के बारे में एक और तथ्य भी गौरतलब है कि शायद ऐसा कोई विरला ही समकालीन कवि होगा जिसने 'मां' को विषय बनाकर कविता न लिखी हो या उसकी कविता में मां न आयी हो। यह सोचा जा सकता है कि इसका कारण क्या है ? हमारे विचार से अनेकानेक अन्य कारणों के अतिरिक्त एक कारण यह भी माना जा सकता है कि समकालीन कवि को आन्तरिक और बाहरी संघर्ष से दो-चार होती सबसे करीबी औरत मां ही दिखाई दी जिसके साथ वह पूरी तरह से एक भावनात्मक रिश्ता साध सके। शायद इसी दृष्टि ने उसे घरेलू औरत के आन्तरिक संघर्षों को अभिव्यक्त करने के लिये प्रेरित किया है। 'मां' ने समकालीन कविता में पूर्व काव्य धाराओं की बनिस्बत कहीं अधिक महत्त्व पाया है। समकालीन कविता के संदर्भ में यह बात भी गौर करने योग्य है कि समसामयिक कविता में आयी आम औरत, जो बेशक घरेलू औरत है, के आन्तरिक संघर्ष का बहुत सा हिस्सा उसे घर से ही मिलता है। ऐसी सभी तल्लू सच्चाइयों को जानते बूझते हुये भी वह घर की नींव की ईंट बनना पसन्द करती है। हो न हो इसका एक कारण परम्परागत भारतीय आत्म छवि भी है।

विशेषतः औरतों का पत्नी और मां का रूप, जिनकी प्रायः इच्छाएं निजी नहीं बल्कि परिवारिक होती हैं। और इन इच्छाओं का न पूरा होना भी कई बार परिस्थितिवश आन्तरिक उत्पीड़न और संघर्ष का कारण बन जाता है जैसा कि नवल शुक्ल की कविता '**औरतों को नहीं चाहिये बहुत सारी चीजें**' या कुमार अंबुज की '**त्योहार और स्त्रियां**' में आया है।

आज की कविता में, गैरबराबरी से उत्पन्न (एक तरह की) पीड़ा के कारण उपजे अन्तः संघर्ष से गुज़रती आम औरत भी मिलती हैं। यहीं कहीं-कहीं, इस प्रकार की कविताओं में कवि ने औरत के संदर्भ में पुरुष अधीनता और पुरुष दमन के कारण उपजी बेचैनी को भी अभिव्यक्ति दे दी है। इस सन्दर्भ में दो-चार उदाहरण प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा। सर्वप्रथम **मंगलेश डबराल** की कविता '**एक स्त्री**' की चर्चा करते हैं जिसमें मंगलेश ने 'एक स्त्री' की पुरुष पर निर्भरता और अधीनता को अभिव्यक्ति दी है; विस्तृत व्याख्या से पहले कवितांश प्रस्तुत है :

“एक आदमी के पीछे

चुपचाप एक स्त्री चलती है

उसके पैरों के निशान पर

अपने पैर रखती हुई

रास्ते भर नहीं उठती निगाह¹

यानि आधुनिक भारतीय समाज में भी स्त्री पूरी तरह से पुरुष पर निर्भर पाई जाती है। अपनी दृष्टि से काम न लेते हुये वह पुरुष की दिखायी दिशा में चलती है जिसके कारण पराश्रितता का भाव कहीं उसके भीतर उत्पन्न हो जाता है। यहीं गैरबराबरी का बोध भी उसे तकलीफ पहुँचाता है। गैर बराबरी के बोध तथा उससे उत्पन्न आम औरत के लिये तकलीफदेय स्थिति का ब्यान **रघुवीर सहाय** की कविता 'औरत का सीना' भी करती है। कविता में एक स्थान पर कवि लिखता है कि :

“यह जवान भी उसके जिस्म में जान भी
पर क्या चीज टूटी पड़ी थी उसके चेहरे में
थोड़ा-सा गोश्त और वह ज़रा ताकतवर हो जाती
देह से
खूनी नाखून गदेली में समेटते हुये
पुरुष के मुकाबले
पर उसके गाल भरे तक नहीं थे
उन पर चित्तियां थीं।”²

ध्यान देने योग्य पंक्ति है 'क्या चीज़ टूटी पड़ी है उसके चेहरे में' शायद यह गैरबराबरी से उत्पन्न उत्पीड़न ही है। क्योंकि इसी कविता में आगे कवि ने भाव व्यक्त किये हैं कि कवि को उस औरत को अपने करीब पाकर एक अजीब सा दर्द अनुभव हुआ, यहां इसे असमता का दर्द माना जा सकता है क्योंकि कवि कविता के अन्त में कहता है कि 'गैरबराबर औरत का वह सर्वस्व था' अर्थात् एक औरत का सीना था जिसमें गैरबराबरी का दर्द था।

आम औरत के सम्बन्ध में रघुवीर सहाय, कुमार अंबुज और नवल शुक्ल आदि कई समकालीन कवियों की कविताओं में कहीं-कहीं हल्का सा यह विचार भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यजित होता है

¹ डबराल, मंगलेश . पहाड़ पर

² सहाय, रघुवीर . लोग भूल गए हैं . पृ. सं.- 45

कि कई स्थानों और परिस्थितियों में नारी आज भी नारकीय जीवन बिता रही है, उदाहरणार्थ **नवल शुक्ल** का निम्न काव्यांश लेते हैं :

“उन्हें यह पृथ्वी और स्वर्ग-नरक नहीं चाहिये

नरक के बारे में तो सोचती भी नहीं औरतें

नरक में रहते हुये भी”¹

यह समकालीन कवि का विचार है वह मानता है कि जहां पग-पग पर औरत को तिरस्कृत किया जा रहा हो, उसके अस्तित्व को महत्वहीन समझा जा रहा हो, वह नरक है। परन्तु औरत का फिर भी प्रयास रहता है इस नरक को स्वर्ग बनाने का। जिसमें औरत का एक दूसरी तरह का संघर्ष निहित रहता है। औरत यहां अलग तरह का दबाव और बंदिशें अनुभव करती है। समकालीन कवि मानता है उसके आड़े वही लोग आते हैं जिनकी मुश्किलों को दूर करने में वह स्वयं को दाव पर लगाये रखती है। वही उसे खींचते नोचते रहते हैं जिनकी वह हित अभिलाषी है। इस सन्दर्भ में निम्नकाव्यांश प्रस्तुत है :

“‘नोचना’ जगीरों के लिए मात्र एक शब्द नहीं-

उसकी व्यथा गाथा का मर्म भाव है

उसकी जिन्दगी का सबसे गहरा घाव है

जिसे उसने भेड़िये से लेकर खरगोश तक से पाया है”²

यह औरत का उसके अपने घर में ही होने वाले शोषण का चित्रण है, जिसे पुरूष दमन का एक रूप भी माना जा सकता है। घर अधिकार स्वरूप उस पर प्रभावी होने का प्रयास करता है। एक आम औरत कब तक इस प्रकार के शोषण को प्रेम, फर्ज और ममत्व का मुलम्मा चढ़ा कर देखती रहे। आखिरकार वो स्वयं को प्रत्यक्ष रूप से उत्पीड़ित अनुभव करती है और आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया से गुजरते हुये पाती है। समकालीन कवि मानता है कि ऐसी स्थिति में औरतें स्वयं को औरतें भी नहीं मान

¹ शुक्ल, नवल . दसों दिशाओं में . पृ. सं.- 72

² विकल, कुमार . रंग खतरे में हैं . पृ. सं.- 48

पाती, एक युवा कवि एक ऐसी स्थिति को रेखांकित करता अन्तः संघर्ष से गुजरती औरतों का बियान दर्ज करता हुआ लिखता है कि ऐसी औरतें मानती हैं :

“हम हैं सूचे हुए पपोटे
प्यार किये जाने की अभिलाषा
सब्जी काटते हुये भी
पार्क में अपने बच्चों पर निगाह रखती हुई
प्रेतात्माएँ”¹

एक आम औरत का स्वयं को 'सूजे हुए पपोटे', 'प्यार करने की अभिलाषा', 'प्रेतात्मा आदि की संज्ञा देना उसकी भीतरी कुढ़न और उत्पीड़न के भाव को ही बताता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि समकालीन कविता में आम औरत के अन्तः संघर्षों को अभिव्यक्ति ही नहीं मिली है बल्कि उन्हें अलग-अलग दृष्टियों से देखा भी गया है। आज कवि ने अपनी सूक्ष्म एवं संवेदनात्मक दृष्टि का प्रयोग करते हुये उन स्थानों को खोजने का प्रयास किया है जहां से यह उत्पन्न होते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से कवि ने इनके कारणों को भी अपनी कविता में स्थान दिया है। इधर की समकालीन कविता में आम औरत के परिवारिक, सामाजिक, पुरुष अधीनता, पुरुष दमन और गैरबराबरी आदि से सम्बन्धित अन्तः संघर्ष ही मुखर हुये हैं।

¹ डंगवाल, वीरेन . इसी दुनिया में . पृ. सं.- 90

3.4 भूमण्डलीकरण का प्रभाव एवं पर्यावरणीय चेतना

साम्राज्यवाद-बाजारवाद-पूंजीवाद की पोषक सत्ता प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए न सिर्फ प्राकृतिक परिवेश को छिन्न-भिन्न कर रही है बल्कि इसका विरोध कर रहे लोगों को भी तरह-तरह से निशाना बना रही है। इसके लिए उसने सीधे-सीधे प्रभावित लोगों को प्रताड़ित करने के साथ-साथ विकास का एक विमर्श भी छेड़ रखा है, जो वर्चस्ववाद का ही विस्तार है। चूँकि समकालीन हिंदी कविता का मूल स्वभाव राजनीतिक है और यह राजनीति कमज़ोर व्यक्ति की राजनीति है, लिहाजा आज पर्यावरण रक्षा का यह संघर्ष हिंदी कविता में प्रमुखता से जगह पा रहा है।

समकालीन हिंदी कविता में वैश्विक पर्यावरण परिदृश्य का विश्लेषण अत्यंत महत्व रखता है। तरह हमारे सामने हैं लेकिन उसके एक - एक तत्व की हमारे जीवन में व्याप्ति उस पर हमारी आश्रितता एक अलग ही आत्मीय रिश्ता बनाती है। मानवी जीवन का संचालन उसके पर्यावरण पर ही निर्भर करता है। पर्यावरण ही उसका निर्माण करता है। मानव जीवन एवं पर्यावरण एक दूसरे के पर्याय हैं। जहां मानव का अस्तित्व पर्यावरण से है वहीं मानव द्वारा निरंतर किए जा रहे पर्यावरण के विनाश से हमें भविष्य की चिंता सताने लगी है। हमारे प्राचीन वेदो ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में पर्यावरण के महत्व को दर्शाया गया है। हिंदी साहित्य में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक प्रकृति को हमेशा विशिष्ट स्थान मिला है। पर्यावरण चेतना की समृद्ध परंपरा हमारे साहित्य में रही है, वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है प्रसिद्ध कवि **रूपेश कन्नौजिया** की पंक्तियां हैं-

“प्रकृति तो हमेशा ही मेरी सुंदर मां जैसी है,
गुलाबी सुबह से माथा चूम कर हंसते हुए उठाती है,
गर्म दोपहर में ऊर्जा भर के दिन खुशहाल बनाती है,
रात की चादर में सितारे जड़कर मीठी नींद सुलाती है,
प्रकृति तो हमेशा ही मेरी सुंदर मां जैसी है..”¹

समकालीन हिंदी कविता विशेष रूप से भारतीय साहित्य में एक महत्वपूर्ण अध्याय है। इसका उद्देश्य आधुनिक समाज की चुनौतियों, विचारधाराओं, और पर्यावरण के मुद्दों को कविता के माध्यम से व्यक्त करना है। पर्यावरण एक महत्वपूर्ण विषय है जो हम सभी के जीवन को प्रभावित करता है।

¹ <https://www.bharaticollege.du.ac.in/bc/blogcategory/commentary>

आजकल, प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन, वनस्पति और जीव-जंतु जीवन की संरक्षा, और अन्य पर्यावरण से संबंधित मुद्दे हमारे समाज के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

समकालीन हिंदी कविता में पर्यावरण से जुड़ी समस्याओं को व्यक्त करने के लिए कवियों ने विभिन्न दृष्टिकोण और भावनाओं का उपयोग किया है। इसमें प्राकृतिक सौंदर्य, प्रदूषण, वन्यजीवों की संरक्षा, और जलवायु परिवर्तन जैसे विषयों पर विचार किए गए हैं। पर्यावरण से जुड़ी समस्याएँ कविता में विभिन्न रूपों में व्यक्त होती हैं: विरोध, समर्थन, चिंता, आशा, और जागरूकता। यह कविता के माध्यम से समाज को जागरूक करने का एक महत्वपूर्ण तरीका है।

हाल के दशकों में हिंदी कविता का दायरा विस्तृत हुआ है और इसमें बड़ी संख्या में आदिवासी कवि उभरकर आए हैं और 'हिंदी आदिवासी कविता' के रूप में एक विशिष्ट धारा हिंदी कविता की व्यापक धारा का हिस्सा बनी है। इन कवियों ने जल, जंगल ज़मीन के संघर्ष को करीब से देखा है इसलिए उनकी कविताओं में इस लड़ाई के बेहद प्रामाणिक चित्र आये हैं। उनकी कविताओं में विकास को लेकर जहाँ तीखी बहस मिलती है वहीं नष्ट होती प्रकृति का हाहाकार भी मिलता है। कवि के भीतर व्याकुलता रहती है कि प्रकृति का सौंदर्य पता नहीं कितने दिन बचा रहेगा।

सभी आदिवासी कवियों ने प्रकृति के साथ अभिन्न रूप से जुड़े अपने जीवन के प्रति गहरा लगाव, आत्मीयता और अपने जीवन मूल्यों के प्रति गहरी प्रतिबद्धता दर्शायी है। **वंदना टेटे** लिखती हैं :

“हम सब
इस धरती की माड़
इस सृष्टि के हाड़
हमारी हड्डियाँ
विंध्य, अरावली और नीलगिरि
हमारा रक्त
लोहित, दामुदह, नरमदा और कावेरी
हमारी देह
गंगा-जमना-कृष्णा के मैदान....”¹

महादेव टोप्पो बताते हैं कि प्रकृति से ही आदिवासियों ने जीवन का ज़रूरी पाठ सीखा है। बहुत सारी कविताओं में प्रकृति बस स्मृति के रूप में आती है क्योंकि वह लगातार नष्ट हो रही है। युवा कवयित्री **जसिंता केरकेट्टा** की यह कविता इसका एक उदाहरण है:

¹ टेटे, वंदना . 2017 . हम धरती की माड़ हैं . पृष्ठ सं. 28

“मैंने नन्ही पीढ़ी से कहा,
देखो, यही थी कभी गाँव की नदी।
आगे देख ज़मीन पर बड़ी-सी दरार
मैंने कहा, इसी में समा गए सारे पहाड़।”¹

ये पंक्तियाँ एक भयावह भविष्य की ओर इशारा करती हैं। इनमें यह आशंका व्याप्त है कि कहीं आज जो कुछ बचा है, वह भी नष्ट न हो जाए। आदिवासी कवियों ने प्रकृति के साथ अपने जीवन की विडम्बनाओं के भी मार्मिक चित्र खींचे हैं। अपनी एक कविता में निर्मला पुतुल लिखती हैं :

“तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते हैं पेट हज़ारों
पर हज़ारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट
कैसी विडम्बना है कि
ज़मीन पर बैठ बुनती हो चटाईयाँ
और पंखा बनाते टपकता है...”²

यह पूरी अर्थव्यवस्था और विकास पर एक सवाल है। आखिर आज़ादी के इतने वर्षों के बाद भी देश के एक बड़े तबके को जीवन की बुनियादी सुविधाएँ भी मयस्सर नहीं हैं, जबकि यह तबका अपने श्रम से दूसरों के लिए तमाम सुविधाएँ जुटा रहा है। जाहिर है आदिवासी कविताओं में पर्यावरण को लेकर एक आक्रामक रवैया दिखता है, जो निश्चय ही उनके अनुभव की देन है। शोषण के अंतहीन सिलसिले और लगातार हो रहे वैचारिक हमले ने उन्हें यह रवैया अख्तियार करने पर विवश किया है। इसमें कोई दो मत नहीं कि पर्यावरण रक्षा की असली लड़ाई आम जनता ही लड़ेगी, जिसकी अगुआई आदिवासी समुदाय ही करेगा।

भूमण्डलीकरण एक विशेष प्रकार की आर्थिक दृष्टि है, जो आमतौर पर विश्वग्राम का एक स्वप्न दिखाती है, जबकि हकीकत में यह एक ऐसी विश्व अर्थव्यवस्था का विचार है जो उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद से संबंधित है। कभी मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में कहा था “अपने मालों के लिए लगातार फैलते बाज़ार की जरूरत पूंजीपतियों को सारी दुनिया में दौड़ाती रहती है। यह हर जगह अपने पाँव जमाता है और हर जगह से संबंध कायम करता है।” इसके एक दशक बाद मार्क्स ने लिखा “पूंजीवादी समाज का ऐतिहासिक कार्यभार है विश्व व्यापार की स्थापना जो उसकी बुनियाद पर टिकी होती है।” अपने शुरूआती व्यापारिक अभियानों और उपनिवेशों पर विजय के रूप में

¹ केरकेट्टा, जसिंता . 2020 . नदी पहाड़ और बाज़ार . पृ. सं.- 29

² पुतुल, निर्मला . 2015 . बाहामुनी . पृ. सं.- 31

भूमण्डलीकरण का आरम्भ महाजनी पूंजीवाद के दौर में 1870 में ही हो गया था। 1870 से 1913 तक इसके आरम्भिक दौर में सामान श्रमिक व पूंजी के आवागमन पर सरकारी हस्तक्षेप नगण्य था। सम्पूर्ण विश्व पर ब्रिटेन के शासन का यह दौर हॉब्सबाम के शब्दों में एज ऑफ एम्पायर था, बीसवीं सदी में 70 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका के एक महाशक्ति के रूप में उभार के साथ भूमण्डलीकरण का दूसरा दौर आरम्भ हुआ।

सोवियत रूस के साथ ही साम्यवाद के भी विघटन के साथ इसका समापन हुआ, और एकमात्र शक्ति के रूप में अमेरिका बचा रहा। फिर भूमण्डलीकरण का तीसरा दौर आरम्भ होता है, इस नये दौर में विकासशील देशों के अर्थतंत्र, सेवाक्षेत्रों व ज्ञान अर्थ तंत्र पर विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आईबीआरडी, विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाओं द्वारा नियंत्रण हासिल करने की कोशिशें भूमण्डलीकरण के इस नये दौर की विशेषताएँ हैं। इसके अलावा इस दौर में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों निगम काफी मजबूती पा गये राष्ट्र राज्यों की सीमाओं, सम्प्रभुताओं को छिन्न-भिन्न करते हुए इन्होंने एकीकृत विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए जमीन साफ की है। सोवियत संघ के विघटन के बाद इसे चुनौती देने वाली कोई शक्ति शेष नहीं रही। चंद वित्तीय अर्थतंत्र वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की हर प्रमुख शाखा में बाजार के बड़े हिस्सों का नियंत्रण कर रहे हैं। बहुराष्ट्रीय चंचल, आवारा, वेश्यापूंजी का विश्वभर में अबाध रूप से नृत्य करना इस दौर की एक अन्य विशेषता है। यह आवारा पूंजी किसी उद्योग में न लगकर सट्टेबाजी में लगती और रातों रात शेयर बाजारों में उछाल और गिरावट पैदा कर देती है। विज्ञान तकनीकी में प्रगति से संचार और दूरसंचार की अत्याधुनिक प्रणालियों का जो विकास हुआ है, उसने उत्पादन से अधिक इस सट्टेबाज पूंजी को लाभ पहुँचाया है। अकल्पनीय ढंग से विश्व अर्थतंत्र में घूमती यह पूंजी रहस्यमय ढंग से देशों की मुद्राओं के मूल्यों में, शेयर कीमतों में गिरावट ले आती है और संकट का आभास होते ही पलायन कर जाती है।

भूमण्डलीकरण की इस नई प्रणाली को स्थायित्व दिलाने में अमेरिका महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। विकासशील देशों में राष्ट्रीय संस्थाओं के निजीकरण और उदारीकरण को इसने अपना हथियार बनाया है, लेकिन सिर्फ यहीं खुले व्यापार विनिवेश और आर्थिक क्षेत्र तक ही भूमण्डलीकरण की भूमिका सीमित नहीं है। इससे आगे वह विकासशील देशों की प्राकृतिक सम्पदाओं और बौद्धिक सम्पदाओं पर भी नियंत्रण का स्वप्न लिए है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तरह अमेरिका साम्राज्यवाद मूर्त नहीं है, बल्कि अमूर्त है, इसकी पहचान मुश्किल होती जाती है। भूमण्डलीकरण देशों के मध्य व्यापार के लिए राष्ट्रों द्वारा लगाये सीमाओं के प्रतिबन्ध व राष्ट्रों के भीतर देशी बाजार से प्रतियोगिता के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर लगे नियम शर्तों को हटाने की मांग करता है, यह एक विश्वग्राम की बात करता है, जहाँ पूंजी का निर्बाध चलन एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को हो पाये, जाहिर है इसमें कम उन्नत देशी बाजारों पर मल्टीनेशनल कम्पनियों को आसानी से वर्चस्व मिल जायेगा।

हिन्दी कविता में इसका स्पष्ट प्रतिरोध किया गया है। हिन्दी के समकालीन कवि भूमण्डलीकरण और विश्वग्राम की इस अवधारणा के पीछे बदनीयता को पहचानते हैं, तभी **वीरेन डंगवाल** अपनी कविता में लिखते हैं:

**"दुनिया एक गाँव तो बने,
लेकिन सारे गाँव बाहर रहे उस दुनिया के।"¹**

असल में यह विश्वग्राम की अवधारणा तमाम स्थानीय विशेषताओं को, संस्कृतियों को निगलते हुए एक संस्कृति बाजार की संस्कृति को स्थापित करना चाहती है। 1985 से भारत में भूमण्डलीकरण के प्रभाव दिखने आरम्भ हो गये थे। जब 80 के दशक में विश्वबैंक व आईएमएफ ने ढाँचागत समयोजन कार्यक्रम भारत में आरम्भ किये थे और अनेक कड़ी शर्तों वाले समझौतों पर भारत की जनता की चिन्ता किये बगैर हमारे प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये थे। इस तरह के समझौतों में हमारा भविष्य गिरवी रख दिया गया। **एकान्त श्रीवास्तव** की एक कविता है '**हस्ताक्षर**' जहाँ वे इसे व्यक्त करते हैं :

"सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है/ और छिन जाती है हमारी आँखें/कट जाते हैं हमारे हाथ हस्ताक्षर करना अपना देश खो देना है/ सिर्फ हस्ताक्षर किये जाते हैं और खो देते हैं हम अपना देश।"²

भूमण्डलीकरण स्थानीय पहचानों का शत्रु है। एक दौर था जब त्रिलोचन कहते थे "**उस जनपद का कवि हूँ**" या नागार्जुन अपने '**तरौनी ग्राम**' को याद करते थे। अब देश-प्रदेश नगर-ग्राम सब तेजी से बदलते जा रहे हैं। आलोक धन्वा जिसका जिक्र करते हैं :

"लखनऊ में बहुत कम बच रहा है लखनऊ / इलाहाबाद में बहुत कम इलाहाबाद / कानपुर और बनारस और पटना और अलीगढ़ / अब इन्हीं शहरों में/ कई तरह की हिंसा कई तरह के बाजार कई तरह के सौदाई/इनके भीतर इनके आस-पास।"³

¹ डंगवाल, वीरेन . दुष्चक्र में सृष्टि . पृ. सं.- 19

² श्रीवास्तव, एकांत . कहीं थरथराता है उम्मीद का जल . पहल 88 . पृ. सं.- 261

³ धन्वा, आलोक . सफेदरात दुनिया रोज़ बनती है . पृ. सं.- 93

सारी दुनिया एक बाजार में तब्दील होती जा रही है। बाजार भी ऐसा जिसमें हमारी जरूरत रोटी, कपड़ा, मकान से ज्यादा सुविधा की वस्तुएं भरी हों। राजेश जोशी की एक कविता में :

"जहाँ कभी अहद होटल था/अब वहाँ चमचमाते जूतों की एक आलीशान दुकान है।"¹

राजेश जोशी इसे हमारे समय का एक सबसे पूरा बिम्ब एक दिलचस्प प्रहसन भी कहते हैं:

"कि जो जगह भरी होती है कभी खूबसूरत शब्दों से वहाँ अब चमकदार जूते मरे हैं और उनमें न किसी यात्रा की धूल है/न किसी पाँव के पसीने की गंध।"²

समकालीन कविता में बाजार के विविध बिम्ब मिलते हैं। बाजार पर कोई अंकुश नहीं है न मुनाफे की सीमा :

**"चार रूपये का आंवला बिक रहा है सौ रूपये में
और चरक घूम रहे हैं बौखलाये हुए पठारों पर
पूछते हुए नीम का पता।"³**

भूमण्डलीकरण ने एक साथ घर और पृथ्वी पर आक्रमण किया है। घर का अब पुराना अर्थ नहीं रह गया। कवि घर से विस्थापित हो चुका है। तभी राजेश जोशी को 'घर की याद' आती है तो मंगलेश डबराल भी 'घर का रास्ता' ढूँढते हैं। इन सभी कवियों के यहाँ घर के बिम्ब अलग-अलग हैं। नगरों महानगरों में रहने वाली कवियों से गाँव-कस्बों में रहने वाले कवियों की घर को लेकर भिन्न चिन्ता करते हैं :

**"साथी अपना गाँव रखाना /....चौकस इस दुर्दान्तकाल का कोई नहीं ठिकाना / पंच
सितारों की चकमक में घर को भूल न जाना।"¹**

¹ जोशी, राजेश . भूमण्डलीकरण और हिंदी कविता . पृ. सं.- 60

² जोशी, राजेश . भूमण्डलीकरण और हिंदी कविता . पृ. सं.- 60

³ अम्बुज, कुमार . आयुर्वेद . पृ. सं.- 60

भूमण्डलीकरण से सावधान रहने की चेतावनी **वीरेन डंगवाल** भी देते हैं। वे बाजार की इस आधी में न उड़ने की चेतावनी देते हैं :

"देश विराना हुआ मगर इसमें ही रहना है/कहीं न छोड़ के जाना है इसे वापस भी पाना है/बस न तू आँधी में उड़ियो/मती ना आंधी में उड़ियों आँधी में उड़ियो न सखी, मत आंधी में उड़ियों।"²

वित्तीय पूंजी की इस आंधी में जब सब उड़ रहे हैं, तब कवि देखता है – एक ओर **"प्राथमिकशाला के प्रांगण में / नाच रहा है विभोर विश्व बैंक का कार्याधिकारी।"**³

वहीं दूसरी ओर **'भीषणतम मुश्किल में है दीन और देश'।**⁴ लेकिन क्या अब कोई रास्ता नहीं बचा जिससे दीन और देश को बचाया जा सके। अब भी कवि उम्मीद नहीं खोता, उसका विश्वास है कि, **"आयेंगे.... उजले दिन जरूर आयेंगे।"**⁵ ज्ञानेन्द्रपति के काव्य संकलन 'गंगातट' में भी बहुराष्ट्रीय साम्राज्यी पूंजीवाद की चिन्ता दिखाई देती है :

"एक नीली साबुन-बट्टी/यह एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी का/बहुप्रचारित साबुन है।"⁶

ज्ञानेन्द्रपति गंगा के पार धुआँ उगलने वाली चिमनी को साम्राज्यी पूंजीवाद के दैत्यमुंह में दबा हुआ चुर्रुट कहकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के शोषण को ही स्पष्ट करते हैं तो **विनोद कुमार शुक्ल** की कविता जंगल के दिन भर के सत्राटे में आदिवासी लड़की महुवा लेकर गीदम के बाजार जाने से डरती है, वह जंगल में बाघ शेर से नहीं डरती, शोषण और मुनाफे पर टिके बाजार से डरती है। हर जगह यह भय ही नहीं है बाजार के लुभावने प्रलोभन भी जिनकी दुर्लभ स्वीकृतियाँ भी समकालीन हिन्दी कविता में है :

¹ शुक्ल, अष्टभुजा . साथी अपना गाँव रखाना . पृ. सं.- 61

² डंगवाल, वीरेन . दुष्पक्र में स्रस्टा . पृ. सं.- 109

³ डंगवाल, वीरेन . रातगाड़ी . पृ. सं.- 109

⁴ डंगवाल, वीरेन . रातगाड़ी . पृ. सं.- 80

⁵ डंगवाल, वीरेन . आयेंगे उजले दिन जरूर आयेंगे . पृ. सं.- 27

⁶ ज्ञानेन्द्रपति . नदी और साबुन गंगा तट . पृ. सं.- 56

**"उन खुशबुओं से कोई एतराज नहीं मुझे
जो वैश्वीकरण के इन दिनों इतनी भरपूर है
कि उसावस भरी बसों में भी / गला दबोच लेती हैं
झूठ क्यों बोलूं उनमें से कई तो काफी मनभावन भी हैं
सौम्य पाश्चात्य संगीत की तरह।"¹**

लेकिन कवि इसके बजाय पोदीने की, नींबू की, स्थानीय गंधों के साथ खड़ा होता है। पिछले पचास वर्षों में तेजी से इन स्थानीय संस्कृतियों को बाजार लीलता आया है। इनकी जगह बाजार ने नई जरूरतें निर्मित की, उनका नया बाजार गढ़ा। **विष्णु खरे** की एक कविता है '**स्वर्ण जयंती में एक स्मृति**', आजादी के पचास सालों में इस नये बाजार के खड़े होने को वे रेखांकित करते हैं :

**"पिछले पचास वर्षों में कुछ दूसरी चीजों की लूट हुई है जो उसमें शामिल हैं वे उसे
शौकिया खाते हैं। माइकेल जैक्सन और रीतू बेरी के शोज में।"²**

मध्ययुग के बाद आधुनिकता का आरम्भ हुआ था, सामंतवाद के बाद के दौर में आधुनिकता ने वैज्ञानिक दृष्टि से परंपरागत समाजों का विरोध किया ज्ञानोदय ने नवजागरण और पुनर्जागरण को जन्म दिया। लोकतांत्रिक समाजों का उदय हुआ। साथ ही मजदूर और पूंजीपति वर्ग का जन्म हुआ। पश्चिमी सभ्यता 20 वीं शताब्दी में नए युग में प्रवेश करती है। जहाँ प्रबोधनयुगीन विवेकवाद के हास एवं बौद्धिकतावाद विरोधी दृष्टिकोण को साहित्य में अधिक अभिव्यक्ति मिलना आरम्भ होता है। नए चिंतक आधुनिकता के भीतर छिपी बर्बरताओं को उजागर करते हैं और बताते हैं कि आधुनिकता आगे की ओर जाने के बजाय पीछे मध्ययुग की ओर लौट रही है। साथ ही भूमण्डलीकृत होते विश्व में वह स्थानीयताओं, मौलिकताओं, हर समाज की निजी विशेषताओं के अन्त के लिए तर्क गढ़ती है। इसलिए 20वीं व 21वीं सदी में आये बौद्धिक, आधुनिकता की उपलब्धियों के अंत के साथ स्वयं के उत्तर आधुनिक होने की घोषणा करते हैं। पश्चिमी ज्ञानोदय के नकारात्मक पहलुओं पर वे प्रहार करते हैं और किसी एकल सत्य के लिए विविधताओं को नष्ट करने का विरोध करते हुए बहुलता पर बल देते हैं।

आधुनिक औद्योगिक समाजों में जहाँ एक ओर मजदूरों, किसानों, स्त्रियों दलितों के अंतहीन शोषण और यातनाओं का सिलसिला शुरू हुआ वही इसके विरोध में सुनिश्चित अनुशासित संवादों का जो

¹ डंगवाल, वीरेन . पोदीने की बहक, दुष्यक्र में स्रस्टा . पृ. सं.- 87

² खरे, विष्णु . स्वर्ण जयंती में एक स्मृति . पृ. सं.- 60

सिलसिला शुरू हुआ था, उसने अंततः पूंजीवादी प्रभुत्व और नियंत्रण के विरोध के बजाय उसे बनाए रखने में ही मदद की। एडवर्ड सईद ने 'ओरिएंटलिज्म' नामक पुस्तक में बताया है कि साम्राज्यवाद ने ओरिएंटलिज्म के नाम पर आध्यात्मवाद पर जोर दिया था, हिन्दी में ग्रियर्सन ने इसी को रहस्यवाद के जरिए उभारा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से इस रहस्यवाद आध्यात्मवाद के खिलाफ अभियान चलाया गया, इस आध्यात्मवाद, रहस्यवाद और आधुनिकतावाद का सामाजिक आधार भारत के सामंतवादी पृष्ठभूमि वाले मध्यवर्ग में था, अज्ञेय, निर्मल वर्मा और लक्ष्मीकांत वर्मा इसी आधुनिकतावाद की वकालत करते हैं।

इसी आधुनिकतावाद की प्रवृत्ति राजनीति में सांप्रदायिकता के रूप में उभरी। बीसवीं शताब्दी में भी ये रहस्यवादी-आध्यात्मवादी-आधुनिकतावादी प्रवृत्तियाँ कमजोर नहीं हुई, उच्च प्रौद्योगिकी सूचना व सांस्कृतिक विस्फोट के साथ और ताकतवर होती गयी है। दिनकर का काम आध्यात्म, जो उर्वशी में अपने चरम पर पहुँचा, अज्ञेय की आँगन के पार द्वार, और निर्मल वर्मा की कब्बे और काला जल' में ये आधुनिकतावादी रूझान ही काम करता है। नेहरू की मृत्यु के बाद इतिहास परंपरा का निषेध करते बीटनिकों, अकवितावादियों का आना, प्रतिक्रियावादी राजनीति द्वारा हिंदू मुस्लिम सांप्रदायिक ताकतों के हाथ मजबूत होना और उत्तर आधुनिकता का आरम्भ भारत में हुआ। हमारी अर्थव्यवस्था उदारीकरण, की दिशा में बढ़ चली। जीवन शैली, संस्कृति, उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्रों में ज्यादा विकल्प आ गये और जोर दिया जाने लगा कि हम अपना विकल्प चुनें। 'चयन की आजादी' उत्तर आधुनिकता का नारा बन गयी एक प्रकार से उत्तर आधुनिकता ने मुक्ति की ओर हमें धकेलना आरम्भ किया जैसा कि वाल्टर एंडरसन कहते हैं 'यह सतत चयन का समय है सवाल यह उठता है कि यह चयन की आजादी' हम पर कौन थोप रहा है ? हमारे चयन का फैसला कौन करेगा? हम किस पर विश्वास करें और जियें यह कौन तय करेगा ? इसका जवाब उत्तर आधुनिकता नहीं देती।

दरअसल यह 'चयन की आजादी' भी उनके लिए है जो इस भूमण्डलीकृत विश्व में उपभोक्ता के तौर पर भुगतान की स्थिति में है वे करोड़ों खेत मजदूर, किसान, गरीब लोग जो दो वक्त की रोटी के भी मुहताज हैं जिनके सिर पर छत भी नहीं उनके पास क्या विकल्प है? उन्हें परंपरागत ढंग से जीवन जीने को अधिकार नहीं है। उनकी प्राकृतिक जीवन शैली को दबाकर ही नई संस्कृति खड़ी हुई है, उनका निरन्तर भूमंडलीय आर्थिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ शोषण कर रही है। यद्यपि उत्तर आधुनिकतावाद बहुलतावाद की वकालत करता है लेकिन सार रूप से वह मोनोलैथिक ही है। जिस अन्य की बात वह करता है उसके प्रति घृणा उसके भीतर है। गैर पश्चिमी मुल्कों के शोषण के लिए वृद्ध पूंजीवाद के पेट से जन्मा वह नया सिद्धांत है। जो तर्क द्वारा सिद्ध करता है कि पश्चिमीकरण बुरी बात नहीं है। गैर पश्चिमी मुल्कों के पास मानवीय गरिमा को ऊँचा उठाने का कोई विचार-संस्कार नहीं है इसलिए उन्हें पश्चिम से सीखना चाहिए। सभ्य मानने वाले एलीट तबकों की छोटी-छोटी भद्रताओं में नैसर्गिकता का जीवन की

लय का टूटना कवि ने देखा है तभी तो 'पी. टी. उषा' कविता में वीरेन डंगवाल सावधान करते हुए कहते हैं :

“मत बैठना पी. टी. उषा/इनाम में मिली उस मारुति पर

मन में भी इतराते हुए / बल्कि हवाई जहाज में जाओ

तो पैर भी रख लेना गद्दी पर

खाते हुए मुँह से चपचप की आवाज होती है?/ कोई गम नहीं

वे जो मानते हैं बेआवाज जबड़े को सभ्यता

दुनिया के सबसे खतरनाक खाऊ लोग हैं।”

पश्चिम की श्रेष्ठता और सभ्यता के मिथकों ने एक जमाने में पूरब के भारत जैसे देशों को गुलाम बनाए रखने में बड़ी मदद की थी, आज भूमण्डलीकरण के दौर में जब हमारे अनजाने ही सभ्य बनने का एक दबाव हम पर हावी होता जा रहा है तो थोड़ा एक कर इन विचारों के मूल स्त्रोतों को देख लेना जरूरी है। इस सभ्यता के पीछे बर्बरता का गंधाता एक इतिहास है, जो कहीं न कहीं ये हमारे बोध को बदलने की कोशिशों से जुड़ा है। समानता के नाम पर एकतरफा पश्चिमी विचार बहुराष्ट्रीय समाचार एजेंसियों व संचार कंपनियों के उपग्रह चैनलों के द्वारा गैर पश्चिमी मुल्कों को मिल रहे है। पश्चिमी मालों से गैर पश्चिमी बाजार पट रहें हैं। भूमण्डलीकरण के लिए उत्तर आधुनिकता तार्किक आधार उपलब्ध कराती है। जबकि जिस समानता की बात ये कहते हैं। वह संभव नहीं है। ताकतवर और कमजोर के बीच कोई सिंथीसिस नहीं बन सकती। एक प्रकार से समानीकरण के नाम पर दुनिया भर में पश्चिमी संस्कृति का जो एकछत्र दबदबा बना है. उत्तर आधुनिकता उसे बनाए रखने का काम करती है।

मानव-सभ्यता के विकास के इस दौर में राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उदारवाद एक बहुत बड़ा सच है। यह विकास की तेज प्रक्रिया का ही परिणाम है कि विश्व-ग्राम की विचार धारा विकसित हो चली है। आज जिस तरह आवागमन के साधनों का आश्चर्यजनक विकास हुआ है, जिस तरह पूरी पृथ्वी का मानचित्र हमारी आँखों के सामने साक्षात् घूमता दिखाई देने लगा है उससे यह स्वाभाविक है कि पृथ्वी को वैश्विक आँखों से देखें। परन्तु यह उदारता भावनात्मक स्तर पर नहीं, न ही बौद्धिक स्तर पर है बल्कि इसके कारण कूटनीतिक हैं। देशों का आपसी स्वार्थ उन्हें करीब लाने और भूमण्डलीकरण का नारा लगाने को प्रेरित कर रहा है। अब राष्ट्राध्यक्ष अन्य देशों की दम-पर-दम यात्राएँ कर रहे हैं, आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक क्षेत्रों में आदान-प्रदान के शिखर समझौते हो रहे हैं और एक देश से

दूसरे देश में आने-जाने और रहने के नियमों को आसान बनाया जा रहा है। देखा जाय तो २१वीं सदी विश्व के आर्थिक एकीकरण की अभूतपूर्व सदी है। चाहे सूचना तकनीकों का क्षेत्र हो, चाहे जैव प्रौद्योगिकी का क्षेत्र हो या फिर चिकित्सा, कृषि, शिक्षा इत्यादि के विकास का प्रश्न, सब इस उदारवाद के अन्तर्गत आ रहे हैं। निश्चित रूप से उदारता के इस झोंके में कई देशों का अत्यन्त तीव्र उत्थान हुआ है, और सुविधाओं के विकास की गति जो अपने संसाधनों तक सीमित रह जाने कारण धीमी थी, विद्युतीय हो गयी है। इस भूमण्डलीकरण के फायदे और नुकसान दोनों हैं। इसे न तो पूर्णता खारिज किया सकता है, न ही स्वीकार।

इस भूमण्डलीय और आर्थिक उदारीकरण का सबसे घातक पहलू कृषि-सभ्यता का संकट ग्रस्त हो जाना है। विगत दस वर्षों के भीतर कृषि-संस्कृति का कई शताब्दियों पुराना ढाँचा ही चरमरा गया है। कृषक जीवन और कृषि-उत्पादों पर ऐसा अप्रत्याशित संकट कभी नहीं रहा। आन्ध्रप्रदेश, उड़ीसा, महाराष्ट्र और पंजाब में हजारों किसानों द्वारा की गयी आत्महत्याएँ और उत्तरप्रदेश के कई जिलों में भूख से हुई मौतें इस विश्वग्राम के नारे का खोखलापन सिद्ध कर देती हैं। वस्तुतः यह विकास महानगरीय है, ऊपर ऊपर है मात्र सम्पन्न वर्ग के लिए है। कम्पनियों के उत्पाद सबसे पहले और सर्वाधिक उच्च-सम्पन्न वर्ग के घरों में पहुँचते हैं। अमेरिका, लंदन, पेरिस और दुबई में बसने का अवसर सर्वाधिक इसी वर्ग को मिलता है। उच्च वर्ग का जीवनस्तर कल्पनातीत ढंग से आगे बढ़ रहा है, किन्तु पिछड़े और अविकसित समाज की दुश्वारियाँ भी दिनोंदिन उसी अनुपात में बढ़ रही हैं। बाहर से दिखते हुए इस लाइलाज संकट के पीछे कारण इतने ऊपरी और तुरन्त पकड़ में आ जाने वाले नहीं हैं, बल्कि बहुत गहरे हैं। जरूरत है इस महाविकास और महाअवनति के बीच मूल कारणों के खोज करने की और उसकी तार-तार व्याख्या करने की। विख्यात पर्यावरणविद् **बन्दना शिवा** इस संदर्भ में लिखती है **"विश्वव्यापार संगठन के तीन समझौते अन्न से सीधे तौर पर जुड़े हैं व्यापार से संबन्धित सम्पदा अधिकार समझौता, कृषि पर समझौता तथा स्वच्छता एवं वानस्पतिक स्वच्छता समझौता। लेकिन इन समझौतों में अन्तर्निहित कानून किसानों, हमारी पृथ्वी, हमारे स्वास्थ्य के खिलाफ जाते हैं। ये ऐसे नियम-कानून हैं, जो छोटे किसानों, खेती के देशज तरीकों तथा सांस्कृतिक एवं लोकतान्त्रिक तरीकों से निर्धारित खाद्य सुरक्षा चक्र को नष्ट करने के लिए बने हैं।"**¹

वन्दना जी के वक्तव्य से स्पष्ट है कि किसानों के संकट का सूत्र कहाँ है ? कृषि का स्वाभाविक ढाँचा टूटने से किसान क्यों हताश हैं? ये क्यों आत्महत्या करने को विवश हैं? जब तक इन बड़े-बड़े आर्थिक-व्यापारिक समझौतों को विश्व की आम जनता के हितों के अनुकूल नहीं बनाया जाता, तब तक उदारवाद और भूमण्डलीकरण निदर्दोष मौतों के ऊपर खेलती दानवी राजनीति के रूप में देखा जाता रहेगा और बौद्धिक क्षेत्र में इसका निरन्तर विरोध भी तय है। जरा गौर करें, समकालीन कविता के सशक्त कवि **भगवत रावत** किन शब्दों में इस छद्म-भूमण्डलीकरण के प्रति हमें सचेत करते हैं :

¹ शिव, वंदना . मार्च, 2005 . समयांतर . पृ. सं.- 39

**“प्रिय नागरिकों एक बार / बस एक बार / इस विश्व- हितकारी विश्वव्यापी कंपनियों को पूरी तरह
सत्ता में आ जाने दो। थोड़ी उदारता से काम लो / फिर धर्म और अधर्म में / फर्क ही नहीं रह
जाएगा।”¹**

समकालीन कविता में प्राकृतिक संदर्भ को लेकर जैसी शिद्धत शहर, स्थानिकता और प्रेम आदि के विषयों में पायी जाती है वैसी तीव्रता और फिक्रमन्दी पर्यावरण के सम्बन्ध में दिखायी नहीं देती। हालाँकि पेड़, चिड़िया, नदी, पहाड़ और खेत समकालीन कविता में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और इनके प्रति कवि का दृष्टिकोण भी भावनात्मक है, परन्तु फिर भी कवि की इस भावना में इनके असुरक्षित होने का डर और दर्द नहीं छिपा हुआ। कहा जा सकता है कि समकालीन कविता में यह सब चीजें या तो अतीत के संदर्भ में आती हैं या फिर बिल्कुल प्रतीकात्मक ढंग से प्रश्न उठता है कि समकालीन कवि पर्यावरण के बारे में उस तरह से फिक्रमन्द क्यों नहीं हैं जिस तरह कि उन्हें होना चाहिये जबकि पर्यावरण आज के दौर की गम्भीर समस्या मानी जाती है। हमारे विचार से इसके दो कारण हो सकते हैं- पहला तो यह कि शायद आज के कवि की विषयों की प्राथमिकता की सूची में पर्यावरण का स्थान काफी पीछे हो, यानि यह समस्या उसे उतनी गम्भीर न लगती हो कि जिसे कविता का विषय बनाया जा सके और दूसरा यह कि पर्यावरण के अंगों व प्रभागों को, यानि पेड़, पहाड़, चिड़िया आदि को कविता का विषय बनाकर उसने पाठक समाज और पर्यावरण के बीच शायद एक भावनात्मक सम्बन्ध का सूत्रपात करने का प्रयास किया हो और उसने इसे उथले प्रचार से बेहतर समझा हो।

जहां तक पहले विचार का प्रश्न है कि कवि पर्यावरण के सम्बन्ध में सचेत नहीं है, इसे तो शायद कतई नहीं माना जा सकता (यह अलग बात है कि उसकी सचेतता में तीव्रता नहीं) क्योंकि अग्रलिखित काव्यांश भी समकालीन कवि का ही है :

“किस ऋतु का फूल सुन्धू

किस हवा में सांस लूं

किस डाली का सेब खाऊं

किस सोते का जल पिऊं

पर्यावरण वैज्ञानिको ! कि बच जाऊँ।”¹

¹ रावत, भगवत . 2006 . समकालीन सृजन (कविता इस समय) . पृ. सं.- 112

अब रही बात दूसरे विचार की यह किसी सीमा तक ठीक हो सकता है। आज के कवि ने प्रकृति, पर्यावरण के साथ मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है और इसी रागात्मकता के पीछे सीधी सचेतना (डायरेक्ट कांशियसनेस) की तीव्रता छुप गई है। कहा जा सकता है कि उपर्युक्त काव्यांश पर्यावरण और प्रकृति के सम्बन्ध में उतना प्रभावपूर्ण नहीं बन पाया जितना कि यह :

“यों सब एक है
पाना भी
खोना भी
मेरी सारी कोशिश
बस इतनी सी है
कि बची रहे धूप !”²

जहां (भावनात्मक) सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास भी हो और तपाक शैली (डायरेक्ट एप्रोच) से बचने का प्रयत्न भी हो वहां तीव्रता का ह्रास होना स्वभाविक है। परन्तु फिर भी यह माना जा सकता है कि तीव्रता से न सही सहजता और स्वभाविकता से ही सही, आज की कविता में पर्यावरण सम्बन्धी सोच विद्यमान है।

कहा जाता है कि, “एक कदम आगे, दो कदम पीछे, इस तरह हम अपनी ‘जैविक भिन्नता के संरक्षण’ के लिये प्रयासरत हैं।”³ जैविक भिन्नता के संरक्षण के लिये हमारी कोशिशें पूरी ईमानदारी के साथ नहीं हो रही हैं ऐसा माना जाता है। यहां यह भी कहा जा सकता है कि यह कोशिशें चाहे उथली ही हैं, परन्तु हो सभी क्षेत्रों से रही है, इस जीवन वैविध्य को बचाने के बारे में आज का कवि भी सोचता है। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और मनुष्य यानि जो भी संसार में सजीव है उन्हें यथावत् सुरक्षित रखने का आह्वान करता है। संभवतः जब से विज्ञान ने प्रकृति के सजीव होने की अवधारणा को स्पष्ट किया तभी से साहित्य में उसका मानवीकरण होना आरम्भ हो गया। सहृदय प्रकृति को पूर्णतः मनुष्य मात्र के रूप में देखने

¹ श्रीवास्तव, एकान्त . अन्न हैं मेरे शब्द . पृ. सं.- 104

² सिंह, केदारनाथ . अकाल में सारस . पृ. सं.- 65

³ ‘द’ पायनियर . 17 मार्च, 1994 . पृ. सं.- 6

लगा। उसे प्रकृति हँसती, नाचती, खेलती, बोलती, रोती हुई नज़र आने लगी। यहां वह भी माना जा सकता है कि अलग-अलग युग में प्रकृति के मानवीकरण का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न था। आज के कवि ने जब प्रकृति का मानवीकरण किया तो उसके हँसने - खेलने के साथ-साथ उसके दर्द को भी अनुभव किया। प्रकृति का दर्द अनुभव होना और प्रकृति का रोती हुई अनुभव होना दो अलग बातें हैं। पहला एक ठोस अनुभव है और दूसरा काल्पनिक अनुभव कहा जा सकता है जो कि अधिकतर वियोग शृंगार की श्रेणी में आता है। पहले में प्रकृति को फूलों, डालियों आदि के बिछड़ने का, टूटने का वास्तविक दर्द है जैसा कि किसी माँ को अपनी संतान के जुदा होने का हो। यह दर्द केवल कवि नहीं बल्कि प्रकृति स्वयं भी अनुभव करती लगती है। जैसा कि समकालीन कवि की निम्न पक्तियों से दृष्टव्य है :

**“इतने सारे फूल हैं
और पौधे की जड़ों में बसा है
एक फूल के झड़ जाने का दर्द।”¹**

कहा जा सकता है कि पुरानी कविता की तरह यह वसन्त रूपी प्रेमी के विरह का दुःख नहीं है अपितु यह खालिस आज का फूल के झड़ जाने का पर्यावरणिक दर्द लगता है। जिसके लिये मनुष्य जिम्मेवार है, यानि हम और आप जिम्मेवार हैं :

**“क्या आप महसूस करते हैं
एक समूचे पेड़ का दर्द
जो उसकी जड़ों से लेकर
फुनगियों तक बह रहा है ?”²**

संभवतः जो उसे फूल के अड़ जाने से, डाली के टूटने या तने के कट जाने से हुआ होगा। कहना चाहिये कि यह कवि का प्रश्न भी है और एक सीमा तक उसकी पर्यावरण के प्रति सचेतता का प्रमाण भी है। पर्यावरण के सम्बन्ध में कवि की तीव्रता को लेकर यह बात कहीं जा सकती है कि आज के कवि ने पर्यावरण के मुद्दे को व्यवहारिक ढंग से उठाया लगता है शायद इस कारण भी भाव की तीव्रता में कमी

¹ श्रीवास्तव, एकान्त . अन्न हैं मेरे शब्द . पृ. सं.- 59

² श्रीवास्तव, एकान्त . अन्न हैं मेरे शब्द . पृ. सं.- 94

आ गई हो। हालाँकि कहीं-कहीं उसने अपनी इस चिन्ता को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में भी अभिव्यक्ति दी है। इस संदर्भ में हम यहां विनोद कुमार शुक्ल और केदारनाथ सिंह का एक-एक काव्यांश प्रस्तुत कर रहे हैं, पहले **विनोद कुमार शुक्ल** का निम्नलिखित काव्यांग :

“एक हरे पेड़ को
देखने में लगता है डर पूरा
दस हरे पेड़ों को देखें तो दस गुना
डर एक-एक पेड़ों के कट जाने का इस वक्त”¹

यहाँ कवि ने प्रकट रूप से पर्यावरण का मुद्दा सामने रखते हुये पेड़ों के कटने की बात की है और परोक्ष रूप से पेड़ों के कटने से आने वाली समस्याओं से डरने का भाव भी है और यह डर इसलिये भी है कि यह पेड़ कट जायेंगे यानि सीधे तौर पर किसी अमूल्य चीज के न रहने का डर भी है। इसी संदर्भ में केदारनाथ सिंह का यह काव्यांश प्रस्तुत है :

“हरा पत्ता
कभी मत तोड़ना
और अगर तोड़ना तो ऐसे
कि पेड़ को जरा भी
न हो पीड़ा”²

सांकेतिक रूप से कवि यही कह रहा है कि प्राकृतिक स्रोतों का दोहन उसी सीमा तक हो जहाँ तक उचित हो। पेड़-पौधों के कटने से और जगलों के घटने से जिस प्रकार की समस्याएँ पैदा हो रही हैं वह किसी से छुपी नहीं हैं। एक शोध रपट के अनुसार, “सन् 2030 तक कुल वार्षिक तापमान 1.8° सेल्सियस तक बढ़ेगा तथा समुद्र की सतह 15 सें. मी. तक ऊँची हो जायेगी और वातावरण में कार्बनडाइऑक्साइड निकासी दुगुनी हो जायेगी। सन् 1700, जबसे औद्योगीकरण आरम्भ हुआ है,

¹ शुक्ल, विनोद कुमार . 1992 . सब कुछ होना बचा रहेगा . राजकमल प्रकाशन, दिल्ली . पृ. सं.- 44

² सिंह, केदारनाथ . अकाल में सारस . पृ. सं.- 18

वातावरण में कार्बन डाईआक्साइड निकासी 25 प्रतिशत तक बढ़ गई है और समुद्री सतह लगभग 10 सें.मी. ऊपर उठ गई है, प्रमाण बताते हैं कि पिछले छः वर्ष अपूर्व रूप से गर्म थे तथा वर्ष 1988 अब तक का, जबसे मौसम विभाग ने हिसाब-किताब आरम्भ किया है, सबसे गर्म वर्ष था।¹ इस प्रकार की शोध रपटें मनुष्य को पर्यावरण के प्रति एक विशेष सुरक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिये बाध्य करती हैं। संभवतः संस्कृत काव्य से लेकर आज से पहले की कविता तक काव्य में प्रकृति केवल प्रकृति है, परन्तु आज काव्य में प्रकृति एक समस्या भी है। कहना चाहिये कि प्रकृति को समस्या के रूप में प्रस्तुत करना समकालीन कवि का प्रयोग नहीं अपितु मजबूरी है, क्योंकि शायद समकालीन कवि का प्रकृति सम्बन्धी संवेदात्मक धरातल समय की मांग के अनुसार बदल गया है। वह मनुष्य के प्रकृति के प्रति व्यवहार पर तो आँख धरे ही हुये हैं, मौसमों का व्यवहार भी उससे छिपा नहीं है :

“एक अदृश्य सलेटी ठण्डा हाथ

पेड़ से लगातार पत्तियां तोड़े चला जा रहा है

यह कैसा मौसम है”²

यहां पतझड़ में पेड़ों से पत्ते अड़ने के प्रति भी कवि कुछ शंकालु है। वह इनके झड़ने में भी टीस अनुभव करता है क्योंकि पत्तों के टूटने के पीछे उसे कोई ठोस कारण दिखायी नहीं देता। वह जानता है कि (उक्त कविता के संदर्भ में) मुनीर मियां तो पत्ते अपनी बकरी के लिये तोड़ते हैं यानि उनके पत्ते तोड़ने के पीछे तो कोई ठोस कारण है मगर मौसम को पत्ते तोड़ने की क्या आवश्यकता आन पड़ी ? समकालीन कवि के साथ यहां 'दूध के जले' वाली स्थिति है। वह इस प्रक्रिया के प्रति भी इसीलिये सशंक है क्योंकि शायद यह जानकारी रखता है कि आज लगभग सभी प्राकृतिक विपदाओं का कारण पेड़ों-पहाड़ों का हरियाली से विहीन हो जाना है। यहां इस सम्बन्ध में 'इब्बा रब्बी' की कविता का निम्न कवितांश देखना उचित होगा:-

“पेड़ को पेड़ काट रहा है

गोश्त का पेड़ एक

वनस्पति का दूसरा

¹ 'द' पायनियर . मार्च 3 1994 . पृ. सं.- 6

² जोशी, राजेश . एक दिन बोलेंगे पेड़ . पृ. सं.- 20

ठेकेदार ने हाथ पैर काट दिये
उराँव और संथाल भाईयों के
कटा हुआ आदमी पेड़ काट रहा है
एक अधूरा
रहने नहीं देगा दूसरे को पूरा”¹

क्योंकि कवि के अनुसार स्वयं को पूरा करने के लिये, अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अधूरापन सम्पूर्णता को नष्ट करने पर तुला है।

‘द पायनियर’ की एक रपट के अनुसार “सेना कर्मियों और ‘इण्डियन’ असन्तुष्टों के बीच की लड़ाई रहे-सहे लॉकेन्डन वनों के लिये खतरा बनी हुई है।”² यह उद्धरण इस बात को स्पष्ट करने के लिये है कि आवश्यकतायें चाहे सियासी हों या व्यक्तिगत किसी न किसी रूप में लक्ष्य अन्ततः प्रकृति ही बनती लगती है। जंगलों के खत्म होने से कहीं भूमि का कटाव हो रहा है, कहीं भूचाल आ रहे हैं, कहीं बाढ़ तो कहीं अकाल का ताण्डव हो रहा है, समकालीन कवि यह सब जानता है। अकाल आदि प्रकोप की स्थिति में भी वह कभी-कभी आश्वस्त प्रतीत होता है। जैसा कि यह पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं :

“लौटकर यह खबर
देता हूँ पिता को
अन्धेरे में भी
दमक उठता है उनका चेहरा
‘है-अभी बहुत कुछ है
अगर बची है दूब’
बुदबुदाते हैं वे!”³

¹ रब्बी, इब्बार . लोगबाग . पृ. सं.- 39

² ‘द’ पायनियर . मार्च 3 1994 . पृ. सं.- 8

³ सिंह, केदारनाथ . अकाल में सारस . पृ. सं.- 21

यह अकाल के बाद दूब के मिलने पर कवि द्वारा व्यक्त भाव है। यहां सांकेतिक अर्थ में कवि ने शायद यह भी व्यक्त करने का प्रयास किया है कि सब कुछ समाप्त होने के बाद कुछ जरूर चाहिये जिससे पुनः सृष्टि का निर्माण हो सके। दूब यहां उस विश्वास का प्रतीक भी माना जा सकता है जो हर स्थिति में बना रहता है।

प्रकृति और पर्यावरण के सम्बन्ध में एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि अन्य मुद्दों की तरह इस सम्बन्ध में भी सरकार की नीति दोगली रही है। मिसाल के तौर पर, एक तरफ तो देश का प्रधानमन्त्री ऐसे बयान देता रहा है कि, "गंगा हमारी आध्यात्मिकता, हमारी परम्परा, हमारी सहनशीलता और हमारी शुद्धता का प्रतीक है। लेकिन अब यह शहरों और उद्योगों से कचरा फेंक देने के कारण सबसे प्रदूषित नदी हो गई है। अब हमें यह सब रोकना होगा।"¹ यानि स्वाभाविक रूप से नदियों के प्रति फिकरमन्द महसूस होता है। उन पर निर्भर जन जीवन के प्रति सधा हुआ दृष्टिकोण रखता प्रतीत होता है और दूसरी ओर सरकारी नीतियों और योजनाओं के कारण मेधा पाटकर जैसी शास्त्रियतों को 'नर्मदा बचाओ' जैसे अभियान चलाने पड़ रहे हैं ताकि सैंकड़ों आदिवासियों को बर्बाद होने से बचाया जा सके। समकालीन कवि इन सारी परिस्थितियों से भी अनभिज्ञ नहीं है :

“इसकी गहरी घाटियों में

गूँजती है सोन की पुकार

नर्मदा ओ...

नर्मदा ओ...

नर्मदा ओ... !”²

इस प्रकार के काव्यांश भले ही आज के कवि की प्रकृति और पर्यावरण के प्रति जागरुकता को व्यक्त करते हों परन्तु इस संदर्भ में उसकी तीव्रता को व्यंजित नहीं करते। इसका एक और कारण भी दृष्टिगत होता है कि संभवतः समकालीन कवि प्रकृति, पर्यावरण के प्रति फिकरमन्द होते हुये भी आश्वस्त दिखायी देता है, वह कहीं न कहीं ऐसी जगह ढूँढ लेता है या कोई न कोई ऐसा वक्तव्य दे देता है जिससे कि प्रकृति, पर्यावरण के सम्बन्ध में चिन्ता और इस विषय की तीव्रता कम होती लगती है। उदाहरणार्थ निम्न कवितांश देखा जा सकता है :

¹ 'द' पायनियर . मार्च 17 . पृ. सं.- 6

² श्रीवास्तव, एकांत . अन्न हैं मेरे शब्द . पृ. सं.- 90

**“मुझे विश्वास है
यह पृथ्वी रहेगी
यदि और कहीं नहीं तो मेरी हड्डियों में
यह रहेगी जैसे पेड़ के तने में
रहते हैं दीमक”¹**

कहना चाहिये कि यहां प्रकृति, पर्यावरण की चिन्ता है, पृथ्वी के जीवन विहीन (जो कि प्रकृति है) हो जाने का फिक्र है परन्तु फिर भी उसके कहीं न कहीं सुरक्षित पड़े रहने का आश्वासन भी है। यह अलग बात है कि वह स्थान कौन सा है। इन सारी चर्चा के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आज के कवि द्वारा पर्यावरणिक विषयों पर लिखी गई कविताओं में तुलनात्मक रूप से भाव की तीव्रता और शिद्दत कम है। हालांकि यह बात भी है कि इस विषय को देखने में भी अन्य विषयों की तरह कवि की दृष्टि में व्यापकता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण अध्ययन के बाद निष्कर्ष रूप में यही तथ्य सामने आते हैं कि आज के कवि का शहर में रहते हुये प्रकृति के प्रति प्रेम संभवतः जटिलता से सरलता की ओर जाने का प्रयास है यानि समसामयिक शहरी समस्याओं से एक प्रकार से छुटकारा टकारा पाने का प्रयास लगता है। इसके बावजूद समकालीन कवि के प्रकृति चित्रण में एक पक्षीयता नहीं है अर्थात् कवि समय रूप से (केवल) प्रकृति में लीन नहीं हो गया है बल्कि उसने एक आँख प्रकृति पर रखी है और दूसरी समसामयिक समस्याओं पर। प्रकृति के संदर्भ में इधर की कविता के अनुशीलन पर हम यह भी पाते हैं कि आज का कवि प्रकृति की व्यापकता के प्रति उतना आकृष्ट होता दिखाई नहीं देता जितना उसके दृश्यों की सम्पूर्णता पर मुग्ध लगता है। प्राकृतिक दृश्यों को जब वह 'लैंडस्केप फोटोग्राफी' की तरह कविता में लाता है तो दृश्य को सम्पूर्ण बनाने का प्रयास भी करता है। नदी का ज़िक्र करता है तो उसकी कलकल, लहरों की अठखेलियों, जल की शीतलता की भी बात करता है, सूर्य की चर्चा करता है तो धूप, सुनहरी छटा और किरणों का जिक्र भी करता है इसी तरह पहाड़ों आदि की बात करते हुये ऊँचाई और हरियाली की ओर भी संकेत करता है।

कहा जा सकता है कि समकालीन कविता में आये पहाड़ों के स्तुति वाक्य वास्तव में मैदानों की विरोध उक्तियां हैं। शहर में प्रकृति की चर्चा लगभग वैसी ही है जैसी शहर में गांव की चर्चा यानि एक

¹ सिंह, केदारनाथ . यहाँ से देखो . पृ. सं.- 25

प्रकार से यह भी कविता की जड़ों की ओर वापसी ही है। आज की कविता के अनुशीलन पर यह तथ्य भी सामने आता है कि आज कवि ने मानवीय सौन्दर्य और प्राकृतिक सौन्दर्य को यौगिक के रूप में देखा है। प्रकृति के माध्यम से प्रेम की चर्चा करते हुये पारिवारिक प्रेम को कविता में लाना भी आज कवि की प्रमुख विशिष्टता है। प्रकृति को समस्या यानि पर्यावरणिक समस्या के संदर्भ में देखना भी आज की कविता की विशेषता है। उक्त लगभग सभी तथ्य समकालीन कविता को परम्परागत कुदरती हवालों से अलग करते हैं।

पारिस्थितिकीय तंत्र का असन्तुलन आज एक विश्वव्यापी समस्या हो गई हैं। समकालीन कविता समय की नब्ज पकड़नेवाली कविता हैं। नए युग में अनगिनत समस्याओं के चित्रण के साथ-साथ धरती पर मानव के अमंगल क्रियाकलापों का चित्रण भी समकालीन कवि ने पारिस्थितिकी की समस्याओं को बहुत वैचारिक ढंग से अभिव्यक्त करने का श्रम करते हैं। समकालीन कविता की खूबी यह है कि पर्यावरण और प्रकृति के लिए यहाँ स्थान नहीं बनाया जाता है, बल्कि वह काव्य का एक अनिवार्य तत्व बनकर अपना स्थान ग्रहण करती हैं। वर्तमान में इक्कीसवीं शताब्दी में पर्यावरण, मानव का मूल्य, जीवन का संतुलन, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, नैसर्गिक सौंदर्य को बचाने के लिए कई आंदोलन और अभियान चलाये जाते हैं, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठीयाँ, सम्मेलनों किए जाते हैं। अनेक प्रोटोकॉल-अधिनियम नियमित किये जाते हैं, फिर भी वह क्या बच सकेंगे? क्या पृथ्वी का अस्तित्व कायम रह सकेगा? पर्यावरण की समस्याओं का अंत आयेगा? 1972 से लेकर आज तक अनेकों वैश्विक सम्मेलन आयोजित हुए, पर क्या पारिस्थितिकीय के एक भी तत्व प्रदूषण मुक्त हो पाया है? नहीं। तो क्या पारिस्थितिकी को लेकर ऐसे ही कार्यक्रम होते रहे, जिससे कोई निवारण नहीं निकल सकता? समाधान नहीं हो सकता? आदि प्रश्नों को समकालीन कवि ने कविता में वर्णित किया गया है। **स्वप्निल श्रीवास्तव** ने कविता में प्रश्नांकित किया है :

“इस शताब्दी मे चीजों के

बचाने के लिए अभियान चलाये जा रहें है,

ताज्जुब यह हैं की बचाव की इतनी कोशिशो के बावजूद,

न आदमी बच रहा हैं, न जंगल

परिंदो की बात तो दूर है,

सबसे ज्यादा खतरे में तो आदमी के विचार हैं,

यदि वे नहीं बचे तो कुछ भी

नहीं बचाया जा सकता हैं।”¹

आज की इसी वास्तविक वैश्विक समस्याओं के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए और आने वाले समय में उसकी भयावहता से आगाह करते हुए एडवर्ड गोल्डस्मिथ ने कहा है कि “धरती पर तीसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हो चुका है। यह युद्ध प्रकृति के खिलाफ है। आज हम वनस्पति जगत की मृत्यु देख रहे हैं। अफ्रीका तो अब मृत्यु के निकट है। लेकिन अब यही युद्ध भारत, श्रीलंका, दक्षिण एशिया और दक्षिण अमरीका में चल रहा है। यहाँ विस्तृत मैदान रेगिस्तान में बदल रहे हैं।”²

¹ श्रीवास्तव, स्वप्निल . मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए – बचाव . पृ. सं.- 54

² <https://ginajournal.com/samkalin-hindi-kavita/>

3.5. यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक विभिन्नता

समकालीन कविता में नयी-पुरानी पीढ़ी के सभी कवि एक साथ, एक स्वर से सत्ता-विरोध की कविताएँ रचते हैं जिनमें राजनीतिक विकृतियों से उत्पन्न नरक का गहराई से अहसास कराने वाली चेतना प्रबल है। राजनीतिक-सांस्कृतिक चिन्ताओं-पीड़ाओं की चीख-पुकार का स्वर इतना तगड़ा है कि काव्य-सृजन, चीख-चिल्लाहट, गुराहट-विद्रोह की अर्थ ध्वनियों से कोलाहलमय सुनाई देता है। यहाँ नयी कविता का व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाला, शीत-युद्ध की वेदनावाला संसार गायब हो जाता है और पूरी कविता राजनीतिक, सांस्कृतिक संकटों के समूचे बोध से भर जाती है। नेहरू-युग की राजनीति ने जीवन के सभी मूल्यों को इतना मलिन-खोखला और धूमिल कर दिया था कि समकालीन कविता के प्रवर्तक कवि सुदामा पाण्डे ने अपना नाम ही “धूमिल” रख लिया।

उदारीकरण और विश्वयारी के चक्कर में “ग्लोबल मैन” “ग्लोबल विलेज” और “ग्लोबलाइजेशन” के मोह और भ्रमक स्वर तीव्र हुए। नव्य साम्राज्यवाद-नव्य उपनिवेशवाद के “उत्तर-आधुनिकतावादी” परिदृश्य ने पुरानी सभी विचारधाराओं को अप्रासंगिक निरर्थक घोषित कर दिया। उत्तर आधुनिकतावादियों के अनुसार इतिहास परम्परा की पुरानी भूमिकाओं का अन्त हो चुका है। मनुष्य से संबंधित सभी सरोकार अब अपनी केंद्रीयता खो चुके हैं इसका कारण है विचारधाराओं के केंद्रवाद को तोड़ना। उपभोक्तावादी संस्कृति ने “सांस्कृतिक जागरण” की चेतना को ध्वस्त करते हुए एक विराट विखण्डनवाद को जन्म दिया। इसी में से जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद का जहर राजनीति में आया और पूरे देश को तोड़-फोड़ की घटिया और मानवद्रोही राजनीति के हाथों तबाह कर दिया। इसी तबाही को केदारनाथ सिंह ने “उत्तर कबीर तथा अन्य कविताएँ” तथा “बाघ” जैसे काव्य-संग्रहों की कविताओं में उजागर किया है। उत्तर-आधुनिकतावादी स्थितियाँ हमारी जातीय-स्मृति को मिटाने का हर संभव यत्न कर रही हैं। इस समूची पृष्ठभूमि ने समकालीन काव्य सृजन को एक बिल्कुल भिन्न परिस्थिति के हवाले कर दिया है। हालत यह है कि जटिल होती संवेदना और कठिन होते कवि कर्म ने “काव्यात्मकता” का अर्थ ही तहस-नहस कर दिया है। कवि के सामने प्रमुख प्रश्न आशावाद और निराशावाद का नहीं है अपितु जीवन को भीतर बाहर से पहचानने का है।

नकलची, उधारभोगी उपभोक्तावादी संस्कृति ने सभी मूल्यों को चौपट कर दिया और क्रान्ति के नाम पर यौनक्रान्ति को बढ़ावा मिला। अकविता आन्दोलन के सभी कवियों ने (जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन आदि) यौनक्रान्ति को रचनाशीलता में स्थान दिया। नैतिक रूप से पतित व्यवस्था ने “सेक्स, अपराध और हिंसा” को सत्ता में रहने का साधन बना लिया। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद पैदा हुई पीढ़ी ने चार-पाँच चुनावों के माहौल को देखा और अनुभव किया कि सिद्धान्तहीन राजनीति उसका और उसके समाज का संहार कर रही है।

फलतः इस पीढ़ी के पल-पल कठिन संघर्षों में तीव्रता आई। सौमित्र मोहन 'लुकमान अली' नामक लंबी कविता में जनता के इस दर्द को लिखते हैं :

“लुकमान अली के लिए स्वतंत्रता उसके कद से केवल तीन इंच बड़ी है।

वह बनियान की जगह तिरंगा पहनकर कलाबाजियाँ खाता है।

वह चाहता है कि पाँचवें आम चुनाव में बौनों का प्रतिनिधित्व करे।

उन्हें टाफियाँ बाँटे।

जाति और भाषा की उन्हें कसमें खिलाए

वह आज, नहीं कल, नहीं तो परसों, नहीं तो किसी दिन

फ्रिज में बैठकर शास्त्रों का पाठ करेगा।”¹

हिन्दी में एक अनुवादजीवी संस्कृति का जन्म हुआ जो अपने मौलिक चिन्तन के बुनियादी सरोकारों से कटती गई। यहाँ अनुवाद जीवी संस्कृति का अर्थ है अपने मूल को गँवाकर पराई भाषा, पराये विचार पर निर्भरता। अपने चिन्तन की मूलगामी बुनियादों से विच्छिन्न हो जाने के कारण हिन्दी प्रदेशों में वैचारिक आन्दोलन नहीं उठा। केवल मन्दिर-मस्जिद की सत्यानाशी राजनीति ने अलगाववाद, धर्मवादी घृणा-भाव के बीज बोए और “हिन्दुत्व” की राजनीति ने देश में साम्प्रदायिकता को खुलकर खेलने का अवसर दिया। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर पनपा क्या-फासिस्टवाद। जीवन को हर स्तर पर झूठ, पाखण्ड, छलकपट, चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार से पाट दिया गया। समकालीन कविता सर्जनात्मक स्तर पर इस पूरे “परिवेश” से साक्षात्कार की कविता है। रघुवीर सहाय ने इसी स्थिति की पीड़ा से भरकर लिखा :

“बीस वर्ष

खो गए भरमे उपदेश में

एक पीढ़ी जन्मी पली-पुसी क्लेश में

बेगानी हो गई अपने ही देश में”¹

¹ मोहन, सौमित्र . 2021 . लुकमान अली . पृ. सं. 87

आज के समाज की कोई एक निश्चित दिशा न होने से समाज एक सामूहिक सत्य की तलाश नहीं करता, बल्कि आज का दौर समूह में विश्वास जैसी किसी पुरातन मान्यता को स्वीकार ही नहीं करता। सब अज्ञेय के नदी के द्वीप हैं। साथ दिखते हैं पर सब अलग-थलग। अस्मिताओं के इस दौर में सब एक दूसरे से बचने और टकराने की जद्दोजहत में जी रहे हैं। आजादी की लड़ाई कितनी भी कठिन सही, पर सामूहिक स्वप्न की लड़ाई थी। आज ऐसे किसी स्वप्न के लिए अवकाश नहीं। ऐसे में व्यक्तिगत अनुभवों से कविता उभर रही है। मैं, मेरा और मुझसे इस कविता के केन्द्र में है :

“जब उसने कहा
कि अब सोना नहीं मिलेगा
तो मुझे कोई फर्क नहीं पड़ा
पर अगर वह कहता
कि अब नामक नहीं मिलेगा
तो शायद मैं रो पड़ता”²

इसे उचित-अनुचित की श्रेणी में व्याख्यायित करना यहाँ महत्वपूर्ण नहीं है, पर यह प्रवृत्ति कविता में लगातार बढ़ रही है, जिस ओर आलोचकों को ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। मंगलेश डबराल अपनी एक कविता में इसी अकेलेपन को स्वर देते हैं :

“फटे हुए दिन को खबरों से ढककर
मैं एक भीड़ की और फेंकता हूँ
और अपने अकेले घर
और अकेले शब्दों के बीच
आदत की तरह लौट आता हूँ
चुपचाप और चुपचाप।”³

समकालीन कविता समाज की मृत मान्यताओं, टूटती हुई परम्पराओं और सामाजिक, राजनीतिक भ्रष्टाचार से क्षुब्ध युवा-मानस की अभिव्यक्ति है। यदि यह जुलूस, नारे, लाठी-चार्ज, कफ़्फ़ू,

¹ सहाय, रघुवीर . 1967 . आत्महत्या के विरुद्ध . पृ. सं- 18

² जगूड़ी, लीलाधर . 2009 . नाटक जारी है . पृष्ठ सं- 22

³ डबराल, मंगलेश . 2013 . नए युग में शत्रु . पृष्ठ सं.- 77

मतदान, भीड़, संसद की बात करती है, तो इसलिए कि वह मनुष्य को सही परिवेश में रखना चाहती है। समकालीन रचनाकार सामाजिक और राजनीतिक विद्रूपताओं के प्रति अपना गहन आक्रोश अभिव्यक्त करता है। समाज का ऐसा चित्रण करता है, जो मनुष्य के हृदय को झिंझोड़ता, कोंचता और तिलमिलाने के लिए मजबूर करता है। समकालीन कवि राजनीतिक विसंगतियों के प्रति व्यंग्यात्मक रूप में ऐसी अभिव्यक्ति करने में सक्षम हैं, जो मन को झिलाती है तथा त्रासद बनाती है। वह तनावग्रस्त वातावरण से व्यक्ति और समाज के संबंधों पर पड़े प्रभाव को परखता है। आधुनिक व्यक्ति के आत्मसंघर्ष और द्वंद्वात्मकता को समकालीन कवि सामाजिक चेतना की स्वराभिव्यक्ति में मथ कर प्रस्तुत करता है।

समकालीन कविता के प्रायः सभी महत्वपूर्ण कवियों ने समय-समाज की चुनौतियों से उपजी बौद्धिक चिन्ताओं का सृजनशीलता से सीधा रिश्ता कायम किया। इन सभी कवियों ने अपनी काव्य-संवेदना को इतना धारदार, निर्भय और व्यापक बनाया कि उसमें न केवल राजनीतिक आर्थिक क्षेत्रों के भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता पर तेज टिप्पणियाँ, व्यंग्यवक्रोक्तियाँ, खीझ आक्रोश, गुस्सा-विद्रोह की मुद्राएँ हैं – वरन् मानवीय सार्थकता के सभी सरोकार सक्रिय हैं। समय और समाज के जटिल यथार्थ को उजागर करने के लिए इन सभी काव्य-धाराओं-आंदोलनों-प्रवृत्तियों के कवियों ने अपनी गहरी सामाजिक सांस्कृतिक जागरूकता का अहसास कराया। जीवन जगत के व्यापक प्रश्नों को उठाने के कारण इस काव्यभूमि की अर्थ-चेतना का विस्तार हुआ है।

समकालीन काव्य की अन्तर्वस्तु अत्यंत व्यापक है। इतनी व्यापक है कि पूरे देश की जनता के दुःखते-कसकते अनुभव इस सृजन में व्याप्त हैं। देश की राजनीतिक-सामाजिक, आर्थिक-सांस्कृतिक, धार्मिक-नैतिक सभी समस्याओं-प्रश्नाकुलताओं को इन रचनाकारों ने निर्भय भाव से अभिव्यक्त किया है। लोकतंत्र का भीतरी खोखलापन, कांग्रेसी समाजवाद का ढोंग और छल, पूँजीपतियों से साँठ-गाँठ की चरित्रहीनता, जनता र भंयकर शोषण, श्रम का परायापन, आत्मनिर्वासन, अमानवीयकरण, भाषा नीति के साथ दगा, हरित क्रांति की असफलता, आपातकाल की क्रूरता और पागलपन, लोकनायक जयप्रकाश नारायण की लोक क्रांति, अमेरिकी भीख पर बढ़ती निर्भरता, साम्प्रदायिक शक्तियों का उभार, जातिवाद, प्रदेशवाद, नस्लवाद, घटिया-आधुनिकतावाद, व्यक्तिवाद और मार्क्सवाद की टक्कर, युवा-पीढ़ी के विद्रोह के अनेक पक्ष, हताशा के गहरे घाव आदि, सभी परिस्थितियों का चित्रण किया गया है।

नेता, संसद, समाजवाद और स्वतंत्रता पर समकालीन कविता ने जो स्वर अपनाया है वह स्वाधीन भारत का काला इतिहास है। कौए, गिद्ध, गुबरैले, भेड़िये, तेन्दुए, साँड, शेर इस कविता में पाशविक ताकतों की रक्तखोर मानसिकता को सामने लाते हैं। सर्वेश्वर की कविताओं में काली चट्टानों पर अंगड़ाई लेता काला तेन्दुआ सत्ता की बर्बरता का प्रतीक है तथा संसद धूमिल के शब्दों में तेली की वह घानी है जिसमें “आधा तेल है आधा पानी है” स्वतंत्रता कहने भर को है। हर तरह की पराधीनता का नरक देश भोग रहा है। न आदमी स्वतंत्र है, न भाषा, न अर्थ-व्यवस्था और न बुद्धजीवी। यहाँ “नेता” शब्द अवमूलित होकर लुटेरे-हत्यारे-गुंडे-नंगई पर आमादा मुस्तंडे का अर्थ सन्दर्भ पा गया है। सौमित्र

मोहन की लम्बी कविता "लुकमान अली" धूमिल की लंबी कविता "पटकथा" और "मोचीराम" नागार्जुन की लम्बी कविता "हरिजन गाथा", पूरे राजनीतिक पतन की त्रासदी का खुलासा हैं।

समकालीन कविता का मूल स्वर व्यक्तिवाद का है। अपनी अनुभूतियों और मान्यताओं का प्रकाशन करना ही प्रयोगवादी कवि अपना चरम लक्ष्य मानते हैं। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण ही प्रयोगवादी कविताओं में अनास्था, कुण्ठा, पराजय आदि के स्वर मुखर हुए हैं। छायावादी युग की रचनाओं में भी वैयक्तिकता का स्वर मुखर उठा हो, लेकिन समकालीन कविता में यह अत्यन्त वैयक्तिक बन गया है। इसका मुख्य कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की कठिन परिस्थितियाँ थीं। जिन्होंने मध्य वर्ग को अत्यधिक आत्म केन्द्रित बना दिया था। समकालीन कवियों की इस वैयक्तिकता का दूसरा कारण उस समय की जनता की मानसिक दासता भी थी। छायावादी कविता में व्यंजित वैयक्तिकता में कल्पना का प्राचुर्य था तो प्रयोगवादी कविता में अभिव्यक्ति वैयक्तिकता में कल्पना का नहीं, यथार्थ का प्राधान्य है। समकालीन कवियों ने अहंग्रस्त व्यक्ति और उसकी अनुभूतियों का यथार्थवादी वर्णन किया है। समकालीन कविता की व्यक्तिवादिता के उदाहरण स्वरूप ये पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं :

"शक्ति असीम है,
मैं भी शक्ति का एक अणु हूँ,
मैं भी असीम हूँ,
एक असीम बूँद।"¹

धर्मवीर भारती ने लघुमानव के व्यक्तित्व का अंकन 'टूटा पहिया' में किया है। प्रयोगवादी कवि मनुष्य को उसकी पूरी कमजोरियों के साथ देखना चाहता है। वह दलित व शोषित व्यक्ति की वास्तविक दशा को अंकित करने में संकोच नहीं करता। प्रयोगवादी कविता का मुख्य स्वर निराशा और दुःख का है। समकालीन कविता पीड़ा बोध से ओत-प्रोत है। पीड़ा-बोध से संयुक्त समकालीन कवि पीड़ा को चिरन्तन सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं :

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ,
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति

¹ अज्ञेय . इत्यलम . पृ. सं.- 86

सहसा झूठी पड़ जाने पर क्या जाने

सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।"¹

समकालीन कविता में पीड़ा की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रयोगवाद में पीड़ा की अनुभूति को एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया है। जीवन की अनेक प्रकार की दुःखद समस्याओं के प्रतिक्रिया स्वरूप ही प्रयोगवादियों के काव्य में पीड़ा की अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। सामान्य जन-जीवन कठोर सामाजिक बन्धनों एवं आर्थिक वैषम्यों का सामना करके पराजय के मनोभाव से कुण्ठाग्रस्त हुआ था। इस पीड़ा-बोध ने प्रयोगवादियों में इतना गहरा प्रभाव डाला कि वे उसे चिरन्तन सत्य मान बैठे :

"सृष्टि प्रिया पीड़ा है

कल्पवृक्ष-

दान समझ, शीश झुका

स्वीकारो -

ओ मन करपात्री।

मधुकरी स्वीकारो, बहन करो,

सहन करो, ओ मन। वरण करो पीड़ा।"²

समकालीन कविता में अभिव्यक्त यथार्थ व्यक्तिपरक यथार्थ है। अर्थात् समकालीन कवि अपने व्यक्ति जीवन में जिस यथार्थ से गुजरता है, उसका चित्रण वह करता है। समकालीन कविता में यथार्थ के धरातल पर जीवन के सुन्दर और असुन्दर दोनों पक्षों को ग्रहण किया गया है। इसमें जीवन के सुन्दर पक्ष की अपेक्षा असुन्दर पक्ष अधिक उद्घाटित हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियों में नारी को पाने की बलवती आकांक्षा दृष्टव्य है :

"आह मेरा श्वास है उत्तप्त

¹ भारती, धर्मवीर . सात गीत वर्ष . पृ. सं.- 93

² मेहता, नरेश . बनपाखी सुनो . पृ. सं.- 9

ध्वनियों में उमड़ आई है लहू की धार

प्यार है अभिशप्त

तुम कहाँ हो नारी ?"¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालीन काव्य में वैयक्तिक यथार्थ का चित्रण हुआ है और कवि के जीवन में अनुभूति सघन अद्वितीय क्षणों को वाणी मिली है। कविता जीवन-सत्य की ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अभिव्यक्ति होती है। कविता का आधार भाषा है। भाषा मनुष्य की रचनाक्षमता का सबसे बड़ा प्रमाण है। संसार की प्रत्येक भाषा की अपनी विशेषतायें हैं, भाषा का विकास उत्तरोत्तर होता ही रहा है। भाषा के बिना न विचार सम्प्रेषण हो सकता है, न साहित्य की रचना। भाषा की प्रवृत्ति साहित्य के अनुसार बदल जाती है। गद्य व काव्य प्रत्येक का अपना शिल्प होता है। कविता के सन्दर्भ में शिल्प अधिक महत्वपूर्ण है। साहित्य के रूपों की भाँति शिल्प के भी रूप होते हैं। शिल्प के विकास की गति को जानना कठिन है। शिल्प का विकास अलग-अलग देश, जाति के हिसाब से अलग-अलग प्रकार से हुआ।

डा० रेवती रमण ने समकालीन कविता का कथ्य, शिल्प स्थापत्य लय, मुहावरा को विस्तार से विश्लेषित किया है। कविता की आंतरिक व बाह्य संरचना के साथ-साथ कवि के व्यक्तित्व का भी उद्घाटन किया है। समकालीन कवियों ने कविता की अन्तर्वस्तु में नया मोड़ लाने के लिए अनेक नवीन शिल्पगत प्रयोग किये, जिससे कविता को एक नयी पहचान मिली। भाषा, प्रतीक, बिम्ब आदि अन्य युगों की कविताओं से अलग हैं। समसामयिक यथार्थ की अनुभूति ने कवि को नवीन बिम्बों और नवीन प्रतीकों के चयन हेतु प्रेरित किया। **गिरीजा कुमार माथुर** ने कहा- **“विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टैक्नीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है।”** समकालीन कवियों ने पश्चिम के प्रतीकवाद और अभिव्यञ्जनावाद के आधार पर मुक्त आसंग शैली को अपनाकर कवितायें लिखीं, जिसको लेकर आगे शमशेर बहादुर सिंह ने अतिथार्थवादी शैली में प्रयोग किया। मुक्तिबोध ने भी अपनी कविताओं अति यथार्थवादी शैली का प्रयोग किया।

मुक्तिबोध ने लिखा है- **“काव्यरचना केवल व्यक्तिगत, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है, उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज या वर्ग की देन हैं।”²**

¹ अज्ञेय . तारसप्तक . पृ. सं.- 276

² मुक्तिबोध . नयी कविता का आत्मसंघर्ष . पृ. सं.- 90

मुक्तिबोध मध्यवर्ग की कमजोरियों को पहचानते हैं। वे संशय द्वन्द्व व चेतना से उबरते हुए जनशक्ति के साथ मिलकर आत्मसंघर्ष और उससे मुक्ति के विकल्प खोजते हैं। मुक्तिबोध की अतिथार्थवादी शैली में लिखी 'अंधेरे में' कविता के अंश इसका उदाहरण हैं :

**"एकाएक फिर स्वप्न भंग
बिखर गये चित्र कि मैं फिर अकेला,

मैं उन सपनों का खोजता हूँ आशय
अर्थों की वेदना घिरती है मन में
अजीब झमेला ।"¹**

समकालीन कवियों ने सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्रण के लिए पौराणिक मिथकों का आश्रय लेते हुए अभिव्यक्ति का माध्यम मिथकीय शैली को बनाया। समकालीन कवियों में ऐतिहासिक चेतना भी है क्योंकि, ऐतिहासिक चेतना से शून्य समाज की गत्यात्मकता एवं सृजनात्मकता समाप्त होती जाती है। इसलिए अपने गहरे इतिहास बोध के कारण कवियों ने ऐतिहासिक मिथकों का चुनाव काव्याभिव्यक्ति के लिए किया।

साहित्य के बारे में हमारी दृष्टि (पिछले विवेचन से) स्पष्ट हो गई है, अब यह जानना है कि संस्कृति किसे कहते हैं ? माना जाता है कि किसी समाज के जीवन के सारे धर्मों की गुणों और अवगुणों की- समष्टि का नाम संस्कृति है और, "एशियाई देशों के लोगों के लिये, संस्कृति उनकी जीवन शैली की लगभग सम्पूर्णता है, अस्तित्व की एक पूर्ण पद्धति, भूतकाल की जीवन परम्पराओं का विस्तार, वर्तमान सार्थक जीवन और भविष्य की शानदार संभावना है।"²

वास्तव में संस्कृति शब्द उन लोक रुचियों का बोध करवाता है जिनका मूल उत्स हमें ठीक तरह से ज्ञात नहीं और जो हमारे जन्म के साथ ही जन्म लेती हैं। यदि 'संस्कृति' शब्द का पूर्णतः प्रचलित अर्थ लें तो, "यह सभ्य समाज की इकाइयों के कार्यकलाप का वह अंग है जो कल्पना प्रसूत है और जिस का लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि है। काव्य, साहित्य, ललित कलाये, नृत्य और नाट्य आदि

¹ मुक्तिबोध . अंधेरे में . पृ. सं.- 96

² किरपाल, प्रेम . 1976 . यूथ एंड एस्तैबलिस्ट कल्चर . स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड . पृ. सं.- 11

सब इस परिभाषा के घेरे में आते हैं¹ तथा सांस्कृतिक प्रक्रिया लोक रूचियों के विकास अथवा हास को रेखांकित करती है। किसी रूचि का विकास होना असल में मानव की स्वतन्त्रता का विकास होना है, उसके चिन्तन, उसकी उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता का विस्तार होना है। यह बात अज्ञेय भी स्वीकार करते हैं कि, **"सांस्कृतिक प्रक्रिया या सांस्कृतिक विकास व्यक्ति स्वतन्त्र का ही विकास है अथवा व्यक्ति - स्वतन्त्र का विकास ही सांस्कृतिक विकास की कसौटी है।"**²

इसमें सदेह नहीं कि संस्कृति और साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह तय कर पाना सहज नहीं है कि इन दोनों में से कौन अधिक व्यापक है। साहित्य या संस्कृति ? यदि संस्कृति व्यापक है तो साहित्य उसका भाग है और इनमें अंग और अंगी का सम्बन्ध हुआ और यदि साहित्य व्यापक है अर्थात् अंग है तो उसमें संस्कृति के दर्शन होने चाहिये। संस्कृति में जिस प्रकार की प्रक्रियायें होती हैं या जो उत्तर-चढ़ाव आते हैं वह साहित्य में अधिकतर दृष्टिगत हो जाते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृति साहित्य के भीतर पूरी तरह आ जाती है तो साहित्य संस्कृति का ही अंग परन्तु फिर भी वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संस्कृति पर दृष्टि रखे रहता है और इनमें प्रक्रिया या विकास निरन्तर चलता रहता है। **"सांस्कृतिक विकास के दो पहलू हैं- भौतिक विकास और आध्यात्मिक या चिन्तन का विकास भौतिक-आध्यात्मिक पक्ष समन्वित सामाजिक चिन्तन को सांस्कृतिक चिन्तन कहा जाता है। साहित्यकारों के सांस्कृतिक चिन्तन में यह देखने की कोशिश की जाती है कि उन्होंने देश जीवन - पुराने विविध सांस्कृतिक अनुष्ठानों से क्या कुछ ग्रहण किया है? उन्होंने देश की सांस्कृतिक परम्परा की धारा में से किन-किन तत्त्वों को अपनाया है और किस रूप में अपनाया है।"**³

समाज और सामाजिक के सम्बन्ध की तरह समाज और संस्कृति का सम्बन्ध भी अमूर्त है। जिस प्रकार समाज में विकास या प्रक्रिया समाज के विभिन्न धरातलों पर घटित होती है उसी प्रकार सांस्कृतिक प्रक्रिया भी अनेक धाराओं का मेल होती है। जैसा कि तारकनाथ बाली ने कहा है, **"किसी समाज की सांस्कृतिक प्रक्रिया कोई एक समरस, नित्य, विकासशील और शान्तिमय धारा नहीं होती। वरन् उसमें विविध धाराओं की सत्ता होती है। नयी धारायें उठती, गिरती, मिटती रहती हैं। विभिन्न दृष्टियां विभिन्न प्रयासों को जन्म देती हैं। इस विभिन्नता की कोख से संघर्ष का जन्म होता है और इस संघर्ष का साहित्य पर और साहित्य का संघर्ष पर अत्यन्त प्रभाव पड़ता है।"**⁴ आज भी भारतवर्ष में एक सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा है क्योंकि आज का हमारा सांस्कृतिक जीवन बिखरा हुआ है, उसमें अनेकानेक अभाव हैं। परन्तु ऐसी शक्तियां भी समाज में दिस्वाई देती हैं जो फिर से अपने सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं। इस दिशा में साहित्य भी यथासंभव प्रयासरत्

¹ अज्ञेय . 1977 . अद्यतन . सरस्वती विहार, नयी दिल्ली . पृ. सं.- 92

² अज्ञेय . 1977 . अद्यतन . सरस्वती विहार, नयी दिल्ली . पृ. सं.- 93

³ अज्ञेय . 1977 . अद्यतन . सरस्वती विहार, नयी दिल्ली . पृ. सं.- 94

⁴ मैनी, धर्मपाल (अनुवादक) . 1968 . संस्कृति पर कुछ टिप्पणियाँ . साहित्य रत्न माला

है। यही कारण है कि समकालीन हिन्दी साहित्य में एक विरोधता का भाव भी मिलता है, पुनर्निर्माण का साहस भी और सांस्कृतिक उत्थान का प्रयत्न भी ।

अंततः इन सम्पूर्ण बिन्दुओं को दृष्टिगत रखते हुये अध्याय के निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि साहित्य सामाजिक जीवन की ऐसी कलात्मक अभिव्यक्ति होती है जो उदात्तगुण सम्पन्न और सर्वहितकारी होती है तथा जिसमें किसी न किसी रूप में किसी न किसी प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता होती है। समय साहित्य का पोषक होता है, वह समाज की अन्तः स्थिति और सामाजिक की मनः स्थिति को व्यजित करता है तथा एक ही काल में विभिन्न समय हो सकते हैं। समाज स्वतः निर्मित एक ऐसी अमूर्त, परिवर्तनशील और कालातीत व्यवस्था है जो अस्वण्ड नहीं है और सामाजिक को एक सीमा तक नियन्त्रित करती है। साहित्य समाज की परिस्थितियों को आकता है, सामाजिक की मानसिक अवस्थाओं का चित्रण करता है, काल की विषमताओं और विसंगतियों से परिचित और समय से साक्षात्कार करवाता है । साहित्य, समय और समाज अन्योन्याश्रित हैं और अविभाज्य हैं। इन तीनों का सम्बन्ध लगभग वही है जो त्रिकोण के तीनों कोणों का होता है। किसी एक को स्वयं में पूर्ण होने के लिये दूसरों की सहायता लेनी ही पड़ेगी । साहित्य, समय और समाज एक ही सूत्र में बंधे हैं और इन्हें एक ही सूत्र में बांधने का साधन अनुभव है ।

किसी भी देश का ऐसा अलग-थलग अस्तित्व नहीं है, कि उस पर किसी अन्य देश के तौर-तरीके, फैशन ओर आचार-व्यवहार का असर न पड़े। भौगोलिक सीमाओं को पार करती हुई संस्कृतियों की आवाजाही कोई नयी बात नहीं है। अब कोई भी देश यह दावा नहीं कर सकता कि उसकी संस्कृति विशुद्ध रूप से अपनी है और उसमें किसी बाहरी तत्व का प्रभाव नहीं है। यदि ऐसा है भी तो उस देश के मानसिक विकास के लिए बेहद घातक है। जब कोई चलन, मूल्य या नीति किसी देश के व्यापक जीवन में प्रवेश करती है तब पुराने मूल्यों, मान्यताओं और आदतों से उसकी टकराहट होती है जो लम्बे समय तक खिचती रहती है। यदि नये विदेशी चलन में टिकने का दम है तो पुरानेपन को स्थगित कर देती है और धीरे-धीरे वहाँ के लिए स्वाभाविक बनने लगती है। एक समय था-जब भारत में समुद्र-यात्रा को नीचकर्म माना जाता था, किन्तु अब वही आधुनिक उन्नति का दौलत-मार्ग बन चुका है। विदेश यात्रा को अब अपनी प्रगति का पैमाना माना जाता है। बहुत पहले विवेकानन्द ने ठीक ही कहा था कि यदि हमें पूर्ण भारतीय मनुष्य का निर्माण करना है तो पाश्चात्य जगत के विज्ञान और यथार्थवादी चिन्तन को अपनाना ही पड़ेगा, यद्यपि इसी क्रम में उन्होंने अध्यात्म एवं धर्म को भी अपनाने की बात कही, जो वर्तमान युग में अपनी उपयोगिता खो रहे हैं।

भारतीय संस्कृति के नाम पर हमारे पास गर्व करने लायक क्या है? दर्शन के क्षेत्र में बौद्ध, जैन, लाकायत और गाँधीवाद को बड़ी अहमियत है, किन्तु सही मायने में आज तक यह देश एक महान भौतिकवादी विचारक नहीं पैदा कर सका। साहित्य अथवा चिन्तन के क्षेत्र में आज जितने भी नाम मिलते हैं उन पर पाश्चात्य दार्शनिकों कार्ल मार्क्स, फ्रायड, रुसो, कांट, बेंथम और सात्र का बहुत बड़ा ऋण है।

इसी तरह साहित्य के क्षेत्र में आधुनिकता का सूत्रपात पाश्चात्य साहित्य के परिणाम स्वरूप हुआ। जब यहाँ का हिन्दी साहित्य रीतिकाल में उलझा हुआ था, पश्चिम के उपन्यास-जगत में यथार्थवादी दृष्टिकोण का जन्म हो चुका था, जिसने आगे चलकर भारत सहित शेष दुनिया के कथा-साहित्य को गहराई से प्रभावित किया।

संस्कृति अपने आप में ऐसी कोई आदर्श और पवित्र चीज नहीं है, जिसकी सुरक्षा के लिए भाजपाई अंदाज में लाठी-डण्डा उठा लिया जाय। सच तो यह है कि संस्कृति में खुद को सन्तुलित करने को भी शक्ति होती है। शुरुआत में पुराने और नये की टकराहट के कारण उथल-पुथल तो होता है, किन्तु कुछ समय बाद उसमें स्थिरता भी जाती है, स्वच्छ प्रवाह ऊपर पारदर्शों दिखाई देने लगता है, और अनर्गल वस्तुएँ नीचे जाकर बैठ जाती है। यह अपने आपमें इतना बड़ा अस्तित्व है कि इसको एक ढंग से, एक नियम से या एक तौर-तरीके से संचालित करने की बात सोची हो नहीं जा सकती। यह हमारे पसन्द-ना-पसन्द का मंच नहीं है, बल्कि हजारों वर्षों से प्रवाहित होती हुई मानव कर्म, स्वभाव और दोषों की धारा है। जो न तो पूर्णतः बेहतर है और न ही निकृष्ट। यह प्रबुद्ध मनुष्य ही है जो खतरनाक दिशा में मोड़ लेती संस्कृति पर लगाम कसता है, और उसकी आलोचना करके सही रास्ते पर ले जाता है। एक ढाँचे में अनादि काल से दिखता हुआ मनुष्य जैसे निरन्तर बदल रहा है, वैसे ही हजारों वर्षों से मानवता की सीमा में बहती हुई यह संस्कृति नये-नये मोड़ ले रही है। जब मानव के स्वभाव में परिवर्तन को नहीं रोका जा सकता तो संस्कृति में आए नये मोड़ को रोकना कैसे सम्भव है ?

इस संदर्भ में हमारा दायित्व बस इतना है कि संस्कृति मानवता के खिलाफ न जाने पाए। उसमें मनुष्यता-विरोधी तत्व न पनपने पाएँ, वह मानव के भौतिक, आत्मिक और बौद्धिक उत्थान में तरंगें पैदा करने वाली हो। नये बदलावों के झोंके एक साथ युग को बेहतर बनाने और उसका नुकसान करने के गुणों से पूर्ण होते हैं, इसीलिए इन झोंकों में बहने या उड़ने के बजाय संभलकर तेज चलने की जरूरत है। बदलावों की प्रवृत्ति को परखना ज्यादा महत्वपूर्ण है। बजाय इसके कि हम उसे सीधे-सीधे अपना लें, या उसके समक्ष मारे उत्साह के समर्पण कर दें।

संस्कृति को किसी देवी-देवता की तरह पूजने के बजाय, उसको वस्तुनिष्ठ होकर देखने और परख कर अपनाने की जरूरत है। अपना निजी संस्कार पूर्णतः बेहतर नहीं है, और बाहर की परायी संस्कृति पूर्णतः गलत नहीं है इस उदार सोच के तहत संस्कृति को देखना चाहिए, और त्यागने अपनाने का स्वभाव भीतर से कभी मरने नहीं देना चाहिए। सुप्रसिद्ध विचारक **पुरनचन्द्र जोशी** ने पश्चिमी संस्कृति के प्रति दृष्टिकोण के संदर्भ में गाँधी और टैगोर के बीच संवाद को याद करते हुए लिखा है : **"पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को मॉडल मानकर अपनी सभ्यता और संस्कृति को उसी के अनुरूप ढालने की प्रक्रिया नयी नहीं है। यह प्रक्रिया औपनिवेशिक शासन के दौरान हो शुरू हो गयी थी, और इस पर हमारे स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक नेताओं में बड़ी गंभीर बहस चली थी। इस संदर्भ में हम गाँधी जी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बीच**

को बहस को याद कर सकते हैं उस बहस में गांधी जी ने कहा था मियर इमीटेटर्स नोट क्रिएटर्स (महज नकलची कभी सृजनशील नहीं होते)। हमारी संस्कृति महज पश्चिम का अनुकरण नहीं होगी।”¹

भारत की संस्कृति के संदर्भ में यह गांधी की इच्छा थी, वे ऐसा चाहते थे कि अपनी संस्कृति किसी अन्य देश की संस्कृति की अनुगामी न बने, बल्कि उसके उत्तम गुणों को अपने स्वभाव में ढालकर उसे भारतीय आत्मा प्रदान करें। वस्तुतः संस्कृति के किसी नये तत्व का आगमन लगभग शासन जमाने के अंदाज में होता है। आते ही यह जनमानस पर छा जाती है यद्यपि नव-संस्कृति के विस्तार की इस प्रक्रिया के दौरान जगह-जगह से विरोध और अघोषित संघर्ष भी शुरू हो जाता है। मनुष्य के भीतर नवीनता के प्रति यह अनिवार आकर्षण हो नये चालन का दीवाना बना देता है। जीवन में उसका व्यवहार करने के दौरान ही मनुष्य उसके हानि-लाभ और अन्तर्निहित गुण-दोष से परिचित होता है, फिर धीरे-धीरे उससे एक तटस्थता बनाने का अभ्यास शुरू होता है। हाँ, यह अवश्य है कि जब नव-संस्कृति के प्रति एक ठण्डापन, उदासीनता और सजगता का भाव पैदा होता है, तब तक उसकी बहुत सारी विशेषताएँ जन मानस में अपनी गहरी जड़ें जमा चुकी होती हैं और वे कभी निकाले नहीं निकलती। यही विशेषताएँ आगे चलकर देशज संस्कृति का परिष्कार करती हैं उसे अनिवार्यता बदलती हैं, उसे युग के अनुकूल और उदार भी बनाती है।

किसी देश में सांस्कृतिक परिवर्तन की लहर युवावर्ग के माध्यम से अक्सर आती है। यह युवावर्ग देशज परम्पराओं का आलोचक होता है, उसमें नये के प्रति उत्साह और पुराने के प्रति असंतोष का भाव होता है। कुछ नया करने की तरंगें उसके भीतर जोर मारती रहती हैं, इसीलिए अपने नवीनवादी हृदय के अनुकूल उसे जहाँ भी, जा कुछ नया दिखाई पड़ता है युवा वर्ग दौड़ पड़ता है उस तरफ। 14 फरवरी का 'वैलेन्टाइन डे' शुद्ध विदेशी फैशन है, लेकिन इसी युवावर्ग ने इस चलन को इतना लोकप्रिय बना दिया है कि अब परम्परागत घर परिवार में रहने वाले पति-पत्नी इसे मनाने से नहीं चूकते। इसी तरह नववर्ष को एक उत्सव के रूप में मनाने का फैशन। संस्कृति सबसे पहले एक फैशन के रूप में शुरू होती है। फिर वह उत्सव और प्रचलन का रूप धारण करती है, ओर अन्त में जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन जाती है। फैशन से संस्कृति तक की इस यात्रा में उसे परम्परागत सोच-विचार, आचरण-व्यवहार और देशी रीति-रिवाज से बहुत जूझना पड़ता है। काफी उठापटक, उतार-बड़ाव और स्वीकार इंकार के बाद कोई नवीन जीवन पद्धति संस्कृति का अभिन्न हिस्सा बन पाती है। इसलिए जहाँ यह सोचते हैं कि पश्चिमी संस्कृति अपनी भाषा, सोच और उच्च जीवन स्तर के बल पर यहाँ कब्जा जमा लेगी, वे अतिरिक्त रूप से डरे हुए हैं। बदलाव हो रहा है और होगा, लेकिन वह पश्चिमी सभ्यता की फोटोकापी नहीं, बल्कि पश्चिमी रंग का भारतीय मॉडल होगा, अर्थात् ढाँचा तो भारतीय होगा, किन्तु पहनावा देखने में पश्चिमी लगेगा। आज शूट-बूट और टाई में कहाँ जनवादी संवेदनशील मन छिपा हुआ है। बता पाना बहुत मुश्किल नहीं।

¹ जोशी, पूरनचन्द्र . 2006 . संस्कृति और व्यावसायिकता . पृ. सं.- 28

यही शिखर आलोचक **नामवर सिर** की एक टिप्पणी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है "हमारे यहाँ यूरोप और अमेरिका को नकल करने वाले लोग बराबर रहे हैं। वे वहाँ से चीजें ले लेते हैं और यहाँ आतंक जमाने की कोशिश करते हैं। यह दिखाने के लिए कि हम परम आधुनिक हैं। और नयी चीज को जानते हैं। जहाँ तक उत्तर आधुनिकता की बात है. सवाल यह है कि उसमें हमारा अपना कमाया हुआ सत्य क्या है ?"¹

पश्चिमी संस्कृति ही क्यों, अपनी पूर्वी या दक्षिणी (दक्षिणपंथी) संस्कृति के प्रति भी हमेशा विश्लेषण, शोधक और आलोचक का दृष्टिकोण होना चाहिए। सम्पूर्ण स्वीकार न तो पश्चिमी सभ्यता का उचित है, न ही अपनी पृथ्वी संस्कृति का। हम जहाँ के हैं वहाँ की छाप तो जन्म-जन्मान्तर तक रहेगी, जहाँ के हम नहीं हैं उसके उत्तम को अपना बनाने में अनुचित क्या है? आज जबकि देश की सीमाएँ खुलने लगी हैं, लोग अभूतपूर्व मात्रा में एक देश से दूसरे देश को जा रहे हैं, वहाँ जीवन का बड़ा हिस्सा व्यतीत कर दे रहे हैं तब क्या अब यह समीचीन है कि पश्चिमी दुनिया के सांस्कृतिक दुर्गुणों का रोना रोते रहें। जिस तरह भारत को अपने अध्यात्म और मानवसेवा पर गर्व है उसी तरह यूरोप को अपने विज्ञान और भौतिक उपलब्धियों पर गर्व है। जिस तरह हम उन्हें भोगवादी कहकर मजाक उड़ाते हैं, उसी तरह वे हमें जादू-टोने और सपेरो के देश का नागरिक कहकर पिछड़ा-पोंगापंथी कहते हैं। अपनी संस्कृति पर गर्व करना और दूसरी संस्कृति को दुश्मन के नजरिए से देखना लगभग प्रत्येक देश के मनुष्य की आदत है, जबकि दोनों दृष्टिकोण गलत हैं।

दरअसल संस्कृति पर गर्व करने के बजाय, उसकी शक्ति पर विश्वास रखना चाहिए। गर्व करने से उसके दोष आँखों से ओझल हो जाते हैं, और उस पर विश्वास रखने से उसके उत्तम विकास को कोशिशें तेज करते हैं। हमारी संस्कृति इतनी श्रेष्ठ नहीं कि पश्चिमी सभ्यता को कमतर आंके और वह इतनी हीन भी नहीं कि उसको छोड़कर हम पलायन कर जायें, और पश्चिमी संस्कृति को साष्टांग दण्डवत् कर लें।

¹ सिंह, नामवर . 2004 . नयेपन की अवधारणा . पृ. सं.- 22

3.6. महामारी में समकालीन हिंदी कविता

सन् 2020 से लेकर 2023 तक पूरा विश्व कोरोना महामारी की चपेट में रहा है और अब तक पांच लाख से ज़्यादा लोगों की इससे मौत हो चुकी है। एक तरफ़ जहाँ हम इस महामारी से जूझ रहे हैं वहीं लगता है कि हम पुराने अनुभवों से सीख नहीं लेते हैं। हर महामारी के दौरान एक ऐसी गंभीर स्थिति आती है जब हम मौत, बेरोज़गारी और बदहाल अर्थव्यवस्था को आंकड़ों में गिनना शुरू कर देते हैं। सन 2020 में एक वाक्य और आम हो गया है जिससे हम सिहर उठते हैं और वो है, “पॉज़िटिव केसों की संख्या”।

महामारी में जैसे मौत वास्तविकता है वैसे ही इसका भावनात्मक प्रभाव भी वास्तविक है जो विदेशी और भारतीय लेखकों दोनों के महामारी साहित्य विधा में सामने आया है। ये सिलसिला 200 या इससे अधिक समय से जारी है। भारत में हिंदुस्तानी साहित्य में फणीश्वर नाथ रेणु, मास्टर भगवान दास, राजेंद्र सिंह बेदी, पांडे बेचैन शर्मा और हरिशंकर परसाई जैसे बड़े लेखकों की रचनाओं में महामारी और संक्रामक रोग का उल्लेख देखा जा सकता है। इन लेखकों ने वैश्विक महामारी के दौरान सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में आम लोगों के जीवन की झलक दिखाई है।

कोरोना-जनित वर्तमान महामारी ने विभिन्न क्षेत्रों से संबद्ध विद्वानों को अपने विषय पर, जिसे वो दशकों से पढ़ते-पढ़ाते आ रहे हैं, नए सिरे से सोचने पर विवश किया है। नतीजतन पिछले दो वर्षों में महामारी को केंद्र में रखकर लिखे गए आलेखों एवं पुस्तकों की बाढ़ सी आ गयी है। ‘महामारी और कविता’ नामक पुस्तक कोरोना महामारी द्वारा बौद्धिक जगत में मचायी गयी इस खलबली का ताजा उदाहरण है। इसे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से संबद्ध श्रीप्रकाश शुक्ल, जो मूल रूप से हिंदी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से जुड़े हुए हैं, ने एक ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि के तहत लिखा है।

यहाँ यदि हम बात करें इतिहास और साहित्य के बीच के अन्तर्सम्बंधों पर तो समय-समय पर कई विद्वानों ने इस विषय पर काफी कुछ लिखा एवं कहा है। सुप्रसिद्ध उत्तर-आधुनिक चिंतक **हेडेन वाइट** का तो यहाँ तक मानना था कि इतिहास एवं साहित्य के मध्य कोई मूलभूत अंतर है ही नहीं। वाइट के अनुसार, **“इतिहासकार भी किसी साहित्यकार की ही भांति टुकड़ों में उपलब्ध श्रोतों का अध्ययन कर एक ‘अर्थपूर्ण कहानी’ गढ़ता है जो सत्य हो भी सकती है और नहीं भी। इसी कारणवश एक ही श्रोत का उपयोग कर अलग-अलग इतिहासकार भिन्न-भिन्न प्रकार के आख्यान गढ़ते हैं”**¹।

¹ वाइट, हेडेन . मेटाहिस्ट्री: दि हिस्टोरिकल इमेजिनेशन इन नाइनटीन्थ सेंचुरी यूरोप, बाल्टिमोर: जॉन हॉपकिंस युनिवर्सिटी प्रेस, 1975.

जहाँ तक महामारी के इतिहासलेखन का सवाल है, वहाँ भी साहित्य का अपना महत्व है। अंग्रेजी की एक प्रचलित उक्ति है: 'A single death is a tragedy, but a million deaths are a statistic.' कहने का आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति विशेष की मृत्यु होती है तो उसे उसके परिवार वालों एवं मित्रों के लिए एक त्रासदी के तौर पर देखा जाता है। किन्तु जहाँ हजारों-लाखों की संख्या में लोग रोज मर रहे हों, सारी बातचीत एवं विमर्श आंकड़ों का रूप लेते चले जाती है। महामारी के दौर में कुछ ऐसा ही होता है। वर्तमान महामारी के दौरान भी एक समय के पश्चात सारा विमर्श आंकड़ों तक ही सिमट कर रह गया और मानवीय संवेदनायें 'पब्लिक डिस्कोर्स' से गायब होते चली गयीं। हालाँकि, यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जब किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है तो वह सिर्फ एक आंकड़ा मात्र नहीं रहता है, बल्कि कई बार उससे जुड़े हुए लोगों का पूरा संसार ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। ऐसे में जब भी कोई इतिहासकार महामारी जनित इन मौतों के मानवीय असर की विवेचना करना चाहेगा, उसे साहित्य की शरण लेनी पड़ेगी। अभिलेखागारों में दर्ज आंकड़े महामारी के उस मानवीय मूल्य जिसे हर समाज को चुकाना पड़ता है का बयान करने में सर्वथा अक्षम हैं।

हिंदी कथा साहित्य में महामारी पर दृष्टि डालने से पहले हमें यह जान लेना आवश्यक है कि महामारी क्या होती है? उत्तर में, ऐसी बीमारी, रोग या संक्रमण जो एक ही समय में किसी स्थान विशेष, गांव, राज्य, देश या विश्वभर के लोगों को तेजी से संक्रमित करती हो महामारी कहलाती है। किसी भी क्षेत्र में महामारी होने की संभावना प्राकृतिक आपदा (बाढ़, सूखा, भूकंप, वायु, जल, पशु, पक्षी, पेड़, पौधे) से होती है। ज्यादातर ये महामारी का रूप तब धारण करती है जब ये बिलकुल नया संक्रमण हो जैसे वर्तमान में कोविड-19। ये संक्रमण विभिन्न श्रणियों में होते हैं। 1) स्थानिक (endemic), 2) जानपदिक (epidemic), 3) महामारी (pandemic)।

महामारी केंद्रित साहित्य पर अगर एक सरसरी नज़र भी डालें तो पता चल जाएगा कि कैसे लोगों, समाज और सरकारों ने महामारी को देखा और इससे मुकाबला किया है। महामारी के साथ लंबे समय तक रहते हुए आपको एहसास हो जाएगा कि अगर कोई महामारी जैविक घटना के रूप में शुरू हुई है तो उसका राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भ होता है जिससे उसका व्यवहार कैसा है, कैसे इससे निबटा जाए और यह भी पता चलता है कि इससे कैसे जीवित बचा जा सकता है।

“बीत रहे हैं ये दिन जैसे बीत रहे हों युगों के जैसे।

कैसे दिन ये आ गए हैं, युगों युगों पर छा गए हैं।

लोगों से मिलना, बातें करना, हाथ मिलाना, गले से लगना,

जो सबकी दिनचर्या थी, अब उनसे ही परहेज है करना।

**सब घर में हैं बंद अपने, घर से ना कोई बाहर है।
जो घर से बाहर को गया, समझो वो दुनिया से गया।”¹**

कवि ने इस फैली महामारी कोरोना वायरस को इंगित करते हुए इस कविता के माध्यम यह बताने की कोशिश की है कि पहले वाला समय कब आएगा। लोगों से मिलना, हाथ मिलाना और गले से लगना जो लोगों की दिनचर्या हुआ करती थी। कवि रवि चतुर्वेदी ने इस कविता में बताया है कि समय बहुत गंभीर है और विश्व पटल पर खतरा है। कविता में कवि ने कहा कि हम सबको आगे आने चाहिए और मिलकर इस समस्या को हराना चाहिए।

कोरोना महामारी के दौरान लोग अपने घरों की ओर लौट चले थे, इस दौरान उन्हें काफी संघर्षों व समस्याओं को झेलना पड़ा था। सरकार का रवैया इस दौरान बिलकुल ही नकारात्मक रहा था, हजारों की संख्या में लोगों ने रास्ते में ही डीएम तोड़ दिया था। कवि फ़रीद खान ने इस गंभीर व संवेदनशील माहौल को अपनी पंक्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है :

**“पिंकी चल पड़ी पैदल ही पूरे देश को दुत्कार के
थूक के सरकार के मुँह पे
मुँह फेर के उनके वादों से
पिंकी चल पड़ी बाढ़ सौ किलोमीटर दूर अपने देस
एड़ी फट गई, सड़कें फट गई
वह चलती रही और चलती रही...”²**

साल 2019 के आखिरी महीने में दृश्य में आई कोरोना महामारी ने गत वर्ष सारे संसार को प्रभावित और विचलित किया। साहित्य का संसार भी इस आपदा से अछूता नहीं रहा। संसार की कई भाषाओं में इस दरमियान कोरोना-केंद्रित साहित्य रचा गया। हिंदी में भी इसकी प्रचुरता रही। हिंदी कविता के लगभग सभी प्रमुख कवियों ने कोरोना और उससे उपजे असर को अपनी कविता का विषय बनाया। इस आपदा ने हमारी सभ्यता, हमारे सौँस लेने और सोचने-समझने के तरीके को कैसे बदला; इसे जानने का एक बेहद या कहीं सबसे संवेदनशील दस्तावेज़ हिंदी कविता के पास है। इसमें गर्व या हर्ष करने जैसा कुछ नहीं है, लेकिन यह घटना हमारी भाषा के मूल सरोकारों और प्राथमिक एजेंडे को एक बार फिर स्पष्ट करती है। आज तकरीबन पूरा विश्व कोरोना वायरस की चपेट में है। इस महामारी ने

¹ चतुर्वेदी, रवि . 2022 . कोरोना काल . इलाहाबाद; विजय प्रकाशन . पृष्ठ सं. 8

² खान, फ़रीद . 2020 . समा गई पिंकी धरती में . पृष्ठ सं. 29

सभ्यता की तमाम उपलब्धियों को ही कठघरे में खड़ा कर दिया है। हर तरह की तकनीक और उन्नत चिकित्सा प्रणाली एक वायरस के सामने फिलहाल तो असहाय दिख रही है। हालांकि ऐसी ही असहायता के बीच पहले भी रास्ते निकले हैं और निश्चय ही इस बार भी हम इससे उबर जाएंगे लेकिन यह भी कम् हैरत की बात नहीं है कि सत्ता तंत्र का व्यवहार आज भी वैसा ही है जैसे सौ साल पहले की किसी महामारी में रहा है। निरंजन श्रोत्रीय अपनी कविता 'कोरोना कब जायेगा' में यह बताया है कि इस महामारी ने समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया था, लोगों की मानसिक स्थिति में गिरावट आ रही थी, लोग एक-दूसरे से चिढ़ने लगे थे एवं इस बात की कामना भी कर रहे थे कि 'कोरोना कब जायेगा'... :

**“गहरी नींद में भी वह लेता है सिसकियाँ देर तक
ये सिसकियाँ पीड़ा का निस्पंद हैं
अधिक विचलित करती उसके रोंने से भी
जब उस बच्चे की नींद में अटकी ये सिसकियाँ थमेंगीं
कोरोना तभी जायेगा।”¹**

आज भी एक महामारी के दौरान सबसे ज्यादा तकलीफ समाज के कमजोर वर्ग को ही उठानी पड़ रही है। एक बार फिर महामारी के बहाने जनतांत्रिक मूल्यों और जनता के अधिकारों पर कुठाराघात की कोशिशें भी देखी जा रही हैं। इतिहास का यह खतरनाक दोहराव चिंतित करने वाला है। बहरहाल एक तरफ महामारी और दूसरी तरफ शोषण के विरुद्ध साधारण आदमी के संघर्ष को हर दौर के साहित्य में बखूबी दर्ज किया गया। पूरी दुनिया के साहित्य में महामारियों से मनुष्य के संघर्ष की गाथा मिलती है जो मनुष्य की जिजीविषा को रेखांकित करती है और यह विश्वास भी जगाती है कि अंततः बड़ी से बड़ी आपदाओं को हराया जा सकता है। ऐसी कृतियों में इंसान के जीवन को बचाने का उपक्रम प्रेम और भाईचारे जैसे मानवीय मूल्यों की रक्षा के यत्न में बदल गया है। अपने उपन्यास प्लेग में कामू लिखते हैं- 'उन्हें अब पता हो गया है कि किसी भी मुश्किल दौर में सबसे अधिक जरूरी चीज होती है इंसान से प्यार करना।' इसी तरह लव इन टाइम ऑफ कॉलरा में मार्केज़ एक महामारी के समानांतर प्रेम कथा कहते हैं। यहां प्रेम को बचाने की ललक वैसी ही है, जैसे महामारी से लोगों को बचाने की जद्दोजहद :

**“टीकाकरण हो तब ही कहीं जाना
सबसे पहले टीका लगवाना।
अठारह से ऊपर के लोगों सुन लो
टीकाकरण का अवसर चुन लो
मिला मौका व्यर्थ ना गंवाना**

¹ श्रोत्रीय, निरंजन . 2020 . कोरोना कब जायेगा? . पृष्ठ सं. 45

सबसे पहले टीका लगवाना।¹

ऐसी अनेक रचनाएं मानवीय वृत्तियों और सामाजिक-तंत्र की अनेक परतों को उकेरती हुई सभ्यता का एक विमर्श बन गई हैं। कुछ रचनाएं जहां महामारी की वास्तविक घटना की पृष्ठभूमि में सृजनात्मक उड़ान भरती हुई एक महावृत्तांत का रूप ले लेती हैं तो कई रचनाएं एक काल्पनिक महामारी का उल्लेख करती हुई यथार्थ के न जाने कितने अंधेरे कोनों को उजागर कर देती हैं। जैसे मार्गरेट ऐटवुड के उपन्यास द ईयर ऑफ द फ्लड में एक विचित्र महामारी की चर्चा है जो बिना पानी वाली बाढ़ की तरह आती है और हवा में तैरते हुए शहर के शहर जला डालती है। इसमें महामारी भले ही अवास्तविक हो मगर जो हालात हैं, वे कहीं से अवास्तविक नहीं हैं। आश्चर्य तो यह है कई लेखकों की उनकी रचनाओं में व्यक्त आशंकाएं अनेक वर्षों बाद सच साबित हुई। भारतीय लेखकों में कल्पना की उड़ान नहीं है। उन्होंने जो-कुछ देखा और भोगा, उसे ही व्यक्त किया। उन्होंने कुछ आदर्श चरित्रों की कल्पना जरूर की, हालांकि ये चरित्र यथार्थ की भूमि पर ही रचे गए क्योंकि हमारे समाज में आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपनी जान पर खेलकर लोगों को बचाने में लगे हुए हैं। कोरोना के इस दौर में महामारी पर लिखे साहित्य से गुजरना अपने भीतर की उस रोशनी को पहचानना है जो हमें अनिश्चितता और आशंकाओं के अंधेरे में भी रास्ता दिखाती है। विजय कुमार की कविता **‘शब्दों के बाहर था यह सब’** में यह बताया गया है कोरोना महामारी के समय का दृश्य अत्यंत भयावह था लोग भी के माहौल में जी रहे थे, चारों तरफ केवल रुदन व चिन्तन था :

“यातनाओं के वे पल
केवल दृश्य थे
केवल दृश्य।
सुभ से शाम तक
देर रात तक केवल दृश्य..”²

भारत में कोविड-19 का पहला मामला 30 जनवरी को आया था। भारतीय गणतंत्र दिवस की परेड के सम्मानीय मुख्य अतिथि के दिल्ली छोड़ने के कुछ ही दिनों बाद। ढेरों लोग, लाखों गरीब, भूखे-प्यासे लोग, युवा और बूढ़े, पुरुष, महिलाएं, बच्चे, बीमार, अंधे, विकलांग, जिनके पास जाने का कोई ठिकाना नहीं था, कोई सार्वजनिक परिवहन उपलब्ध नहीं था, उन्होंने अपने ‘घरों’ के लिए पैदल चलना शुरू कर दिया। वे अपनी भुखमरी से होड़ करने निकले थे। वे जानते थे कि शायद वे अपने साथ वह

¹ चोरमा, ओमप्रकाश . <https://www.poeminhindi.com/2021/08/poem-on-corona-in-hindi.html>

² कुमार, विजय . 2020. शब्दों के बाहर था यह सब . पृष्ठ सं. 67

विषाणु भी ले जा रहे हों, जो घर पर परिवार को, माता-पिता और दादा-दादी को संक्रमित भी कर दे। पर उन्हें रक्ती भर ही सही, परिचित माहौल, आश्रय और गरिमा के साथ ही प्यार न सही, भोजन की सख्त जरूरत थी।

वैश्विक महामारियों ने हमेशा इंसान को अतीत से आगे निकलने और अपने लिए एक बिलकुल नई दुनिया की कल्पना करने को बाध्य किया गया है। यह महामारी भी वैसी ही थी। अरुंधती रॉय ने अपने लेख 'हे भगवान !' में कहा है :

**“जो दीखता है वही इतना भयावह होता है कि वह जो
कहता है, हम उसे सुन नहीं पाते हैं”¹**

¹ रॉय, अरुंधती . 2021 . हे भगवान्! . पृष्ठ सं.- 60

3.7. समकालीन हिंदी कविता : भाषा, शैली और शिल्प

भाषाई विविधता की दृष्टि से समकालीन कविता हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें विषयों का विस्तार इतना अधिक है, जीवन के असंख्य पक्षों का उद्घाटन इतना व्यापक है कि सचमुच आश्चर्य होता है। समकालीन कविता को ठीक-ठीक पहचानना हो तो उसके लिए दो बातें आवश्यक होंगी एक तो समसामयिकता और दूसरे उसमें निहित प्रगतिशील दृष्टिकोण। समसामयिक सत्य उस काल की जीवित भाषा में हो प्रकट हो सकता है। यह भाषा ही है जो उस युग के साहित्य को समीचीन सिद्ध करती है। इस दृष्टि से समकालीन कविता की भाषा का स्वभाव बहुमुखी है। उसमें सर्वाधिक मध्यवर्गीय जीवन को अभिव्यक्ति मिली है। उच्च-शिक्षित मध्यवर्ग और निम्न-अर्द्धशिक्षित मध्यवर्ग अपने जीवन व्यवहार में जिस भाषा का प्रयोग करता है समकालीन कविता उसको प्रामाणिक अभिव्यक्ति देती है। शिक्षित मध्यवर्ग की भाषा कुछ संस्कृतनिष्ठ, कुछ तराशी हुई और एक हद तक कृत्रिम भी होती है। उसमें देशज, अंग्रेजी और संस्कृत प्रधान शब्दों का कुछ इस तरह घालमेल होता है कि किसी एक सूत्र से उसके मिजाज को समझ पाना बेहद कठिन होता है।

इसी तरह निम्न मध्यवर्गीय परिवार ग्रामीण जीवन के अपेक्षाकृत अधिक करीब होते हैं, इसीलिए इनकी भाषा में देहाती शब्दों, मुहावरों और जनश्रुतियों का अधिक प्रयोग होता है। यहाँ जीवन अपने गुण-दोष के साथ खुली किताब की तरह है इसीलिए यहाँ की बोली-भाषा में जीवंतता दिखाई पड़ेगी। उसमें तराशने की प्रवृत्ति कम है। भाषा के प्रति कोई हीनता की ग्रंथि भी नहीं है, शायद इसीलिए यहाँ अंग्रेजी और संस्कृत के पीछे दौड़ने की हड़बड़ी भी नहीं दिखाई देती। कहना आवश्यक है कि साहित्यिक दृष्टि से निम्न मध्यवर्ग की भाषा अपने अकृत्रिम व्यवहार के कारण अधिक आकर्षक है और उच्च-मध्यवर्ग की भाषा अपने काट-छाँट को प्रवृत्ति और कृत्रिमता के चलते शुष्क, उबाऊ और अल्प-सृजनात्मक है।

ग्रामीण और आंचलिक जीवन के प्रति समकालीन कविता का सीधे-सीधे ताल्लुक भले ही कम हो, किन्तु उसकी स्मृति यहाँ लगातार बनी हुई है। समकालीन कविता के अधिकांश कवि नौकरीशुदा हैं, वे सरकारो या प्राइवेट क्षेत्रों में नौकरी कर रहे हैं इसलिए शहरों में बस जाना उनकी नियति है। सच तो ये है कि वे प्रयासपूर्वक, जी-तोड़ कोशिश करके शहर के नागरिक बन रहे हैं, किन्तु अपने गाँव-क्षेत्र के प्रति उनका जुड़ाव बना हुआ है। उनकी भाषा का मूल स्वभाव वैसे तो शहरी हो चुका है, सम्भ्रांत अंदाज में तब्दील हो गया है, किन्तु बीच-बीच में ठेठ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग खूब हुआ है। कहीं स्वाभाविक ढंग से तो कहीं जानबूझकर आंचलिक शब्दों को कविता में बिठाना इसमें देखा जा सकता है।

समकालीन कवि थोड़ा इस भ्रम में भी हैं कि आम बोलचाल की गंवई भाषा का प्रयोग करके लोकवादी कवि कहलाने का हक पा लेंगे, जबकि सच तो ये है बिना लोक को आत्मा को आत्मसात किए

और उसको उद्दाम आवाज दिए कोई लोककवि बन ही नहीं सकता। यद्यपि लोकजीवन ही भाषाओं की जन्मभूमि होती है, और वही से बिल्कुल टटके, मौलिक, अज्ञात शब्दों का जन्म होता है, परन्तु उस जमीन से लगातार दूर रहकर उसके रस, स्वाद और सुगंध को नहीं समझ सकते। समकालीन कविता में आए हुए आंचलिक शब्द आधुनिक हैं, निरन्तर प्रयोग में लाए जा रहे हैं किन्तु सृजन में आकर वे अकेले पड़ गये हैं, अपने संदर्भों से कट गये हैं, आगे-पीछे इन सजीव शब्दों के साथी पीछे छूट गए हैं इसीलिए नगरीय और संभ्रांत शब्दों के बीच वे उदास, लाचार और बेगाने लगते हैं। यहाँ उदाहरण के तौर पर कुछ ठेठ गंवई शब्द -

1. कौर, बिटिया चिल्लानी, घानी, ढोलकिया (अष्टभुजा शुक्ल)
2. तेरही, अलगनी, सेटा है, आँधी-सो (यश मालवीय)
3. पतरंगिया, दूजार, गुल्लक, खन्न (एकान्तप्रेमी)

समकालीन कवियों को आड़े हाथों लेते हुए शिखर कवि त्रिलोचन ने भाषा के संदर्भ में बेहद महत्वपूर्ण बात कही है, "मत घबराओ, ऐसी बोलियों को विकसित करो, जिनके बारे में लिखा नहीं गया है। मल्लाह, किसान और गड़रिये की भाषा खोजो। अपढ़ और धोबियों की भाषा खोजो। उनके शब्दों को भाषा को मुख्य धारा में लाओ। फिर देखो, तुम्हारी भाषा इतनी मधुर हो जाएगी कि उसके संगीत की विजय होगी।"¹

यह बिल्कुल तर्कसंगत है कि समकालीन कविता समाज के अत्यन्त साधारण और निचले तबके में जब तक प्रवेश नहीं करती, जब तक प्रत्येक गतिविधि के अनुसार पैतरा बदलती हुई भाषा को नहीं पकड़ती और उनके अप्रचलित कहावतों, मुहावरों को अपने सृजन का हिस्सा नहीं बनाती, वह जीवंत और प्राणवान नहीं हो पाएगी।

धोबी, पासी, केवट, रैदास, जुलाहा, चर्मकार, ग्वाला, तेली, भड़भूज, कुम्हार, बैसफोर, कुजड़ा, पथरकट्ट इत्यादि न जाने कितनी खानाबदोश, घूमंतू और ग्रामीण जातियाँ समस्त उत्तरी और मध्य भारत में फैली हुई हैं। 'कोस- कांस पर पानी बदले, चार कोस पर बानी', वाला मुहावरा इन्हीं इलाकों में प्रचलित है। आज तक इन जातियों के द्वारा प्रयुक्त भाषाएँ साहित्य में सम्मानित दर्जा हासिल नहीं कर पायी है, जबकि इन्हीं की बोली-बानी में सृजनात्मक भाषा का खजाना छिपा हुआ है। समकालीन कविता में भगवत रावत, अष्टभुजा शुक्ल और एकान्त श्रीवास्तव कुछ ऐसे नाम हैं, जो क्षेत्रीय बोलियों की उम्मीद को जिन्दा किए हुए हैं, वरना परिष्कृत और साहित्यिक शब्दों के दबाव में इनका महत्व खतरे में ही नजर आता है। बोलचाल में इन विविधतापूर्ण बोलियों का वजूद रहेगा, किन्तु साहित्य में जगह न बना पाने के

¹ प्रकाश, जीतेन्द्र राम . जनवरी 2008 . युवा संवाद . पृष्ठ सं. 51

कारण वे बहुत विस्तार नहीं ले पाएँगी। फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में बड़े आत्मविश्वास और साहस के साथ ठेठ, गवई, क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग किया था, समकालीन कविता में वैसा निःसंकोच प्रयोग करने वाला तो बहुत दूर तक नजर नहीं आता।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है कि समकालीन कविता लगातार नगरोन्मुख हुई है। यद्यपि आरम्भ में यह प्रवृत्ति सीमित थी और इस काव्यधारा के वरिष्ठ कवियों जैसे विजेन्द्र, भगवत रावत, राजेश जोशी, अरुण कमल इत्यादि में ग्रामीण और लोकजीवन की प्रधानता दिखती है और वे उसी जमीन से अपनी भाषा को संस्कार देते हैं। आगे चलकर आलोक धन्वा, उदय प्रकाश, ज्ञानेन्द्र पति जैसे कवियों में नागर भाषा और जुबान के प्रति झुकाव बढ़ा और उनकी कविताएँ जनोन्मुख होते हुए भी जनता के मुख से नहीं बोली जाती थी।

21वीं सदी की समकालीन कविता में यह प्रवृत्ति थोड़ी कम मात्रा में ही सही, प्रवेश करने लगी है। इस काव्यधारा में नगरीय जीवन कैसे अभिव्यक्त हुआ है ? कैसे वहाँ की सच्चाईयों को जुबान मिली है? इसके कुछ उदाहरण हैं -

1. सुबह-सुबह दूध के पैकेट्स, पार्क की बेंच पर (अशोक बाजपेयी)
2. पैग बनाने वाले, कोट्सूल, काकटेल को याद कर (लीला धर जगूड़ी)
3. पेंसिलिक मॉल, ड्रग-एडिक्ट, आई.टी.ओ. पुल (उदय प्रकाश)

साहित्य की भाषा और जीवन की भाषा कभी एक नहीं हो सकती। दोनों में अनिवार्यतः एक भेद बना ही रहता है। वह कवि जो दिन-रात आम-जिन्दगी के बीच जी रहा है, वहाँ की जुबान में बोल रहा है, जो स्वयं वहाँ के सच का प्रत्यक्षदर्शी है वह भी सृजन में हुबहू वहाँ की भाषा का प्रयोग नहीं कर पाता। जनता को कच्ची जुबान भट्टी और अश्लील भी होती है, उसमें गाली, गलौज से लेकर मुफ्त में डराने-धमकाने और 'देख लेने' जैसे भड़काऊ शब्द शामिल होते हैं। समकालीन गद्य में तो काशीनाथसिंह जैसे कुछ साहित्यकारों ने उसको सृजन के दायरे में लाने का भरपूर प्रयास किया और विवादास्पद हो उठे, कि ये क्या निर्लज्जता है ? कविता में अभी ऐसे दुस्साहस की कमी दिखाई पड़ती है। यह और है कि समकालीन कविता एक दिन इस कसौटी पर भी सफल साबित हो जाय। यहाँ प्रश्न यह है कि जब हमारा जीवन, समाज और व्यावहारिक- यथार्थ उच्चकोटि का या बड़े मूल्यों वाला नहीं है तो साहित्य में बार-बार क्यों उसका आदर्शीकरण किया जाय। साहित्य उच्च मूल्यों का सृजन करे यह तो आवश्यक है, किन्तु व्यक्ति की वास्तविकता को बैककर उसका महिमा-मंडन करे यह उचित नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसमें जो भेद है, कर्णप्रिय नहीं है, सुनने में गंवारु लगता है उसे छाँट दिया जाय। प्रसंगवश

गाली-गलौज का प्रयोग भी साहित्य में अनुचित नहीं। प्रेमचन्द ने गोदान में धनिया के माध्यम से इस शैली का इस्तेमाल करके रास्ता खोल दिया है।

समसामयिक सच्चाइयों और यथार्थ को रचनाकार चाहे जितनी खुली भाषा में अभिव्यक्त करे, किन्तु उसके पीछे उद्देश्य उंचा होना चाहिए। समकालीन कविता को अभी हाशिए पर जीती हुई जिन्दगी को धड़कती भाषा खोजनी करनी है। उसके एक-एक भाव की सान्द्रता महसूस करनी है। गद्य के क्षेत्र में यह काम बखूबी हो रहा है, अब समकालीन कविता को सघन और चटक लोक भाषाएँ धारण करना है और उसके रंग में पूरी तरह रंग उठना है।

नयी शैली, नये बिम्ब

साहित्य में नयी शैली का आगमन वस्तुतः युग के बदलते हुए स्वभाव के अनुसार होता है। वह मनुष्य की मानसिक बनावट का प्रतिबिम्ब है तथा समाज, संस्कृति एवं मानव व्यक्तित्व को समझने का रास्ता भी। शैली मात्र एक तरीका नहीं है, बल्कि तमाम युगीन अर्थों से भरी हुई दिशा है, सत्य को जानने की युक्ति है और कला को युगीन-प्रामाणिकता प्रदान करने वाली शर्त।

समकालीन कविता मूलतः गद्योन्मुखी कौशल है, जो धूमिल से लेकर पवन करण तक नये-नये रूप- आकार में देखा जा सकता है। गद्य-कविता के इस विकासक्रम में कई सारे उथल-पुथल मचाने वाले मोड़ आए हैं। समकालीन कविता की नयी शैली विषय का ब्यौरेवार प्रस्तुतिकरण है। कवि बड़े इत्मीनान से विषय के एक-एक पक्ष, एक-एक संदर्भ का ब्यौरा देते हुए आगे बढ़ता। कहा जाता है कि कविता की पंक्तियों के बीच सम्भावित अर्थों के लिए जगह जरूर छोड़नी चाहिए। कहानी शैली में क्रमशः एक-एक प्रसंग को बिल्कुल गद्यात्मक तरीके से लिखते चले जाना इस 'काव्यधारा की प्रवृत्ति रही है। प्रायः इस शैली में चित्रात्मकता का गुण आ जाना स्वाभाविक है, और पाठक को विषय या घटना की पूरी जानकारी भी हो जाती है, परन्तु कविता इतिवृत्तात्मक और वर्णन प्रधान हो जाती है। यहाँ पाठक के लिए अर्थ के बारे में स्वतः कुछ सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता, उसकी उत्सुकता में तरंगें नहीं उठ पातीं। वैसे बीच-बीच में कवि मार्मिक शब्दों का प्रयोग करके प्रसंग को असरदार बनाने का श्रम करता है, किंतु उसकी अतिशय वर्णनात्मकता मन को दौड़ा-दौड़ाकर थका डालती है। यदि इतना दौड़ने के बावजूद पाठक को कविता से कुछ खास हासिल नहीं हुआ तो उसके प्रति पाठक के भीतर कैसा भाव पैदा होगा, यह आसानी से सोचा जा सकता है। वरिष्ठ कवियों में विष्णु खरे और उदयप्रकाश दोनों इस कथा-शैली के प्रतिमान हैं। यहाँ विष्णु खरे की कविता 'किसलिए' की चंद पंक्तियाँ हैं :

“गोंडवाना, सतपुड़ा की शुरुआती सर्दियों की शाम का घिरता अंधेरा।

**गाड़ी जब रफ्तार पकड़ती है तो पीले बल्ब कुछ तेज होते हैं।
डिब्बे में इतने लोग हैं कि उसमें एक गर्माहट सी आ गयी है।”¹**

यदि कवि सचमुच शहरी चेतना का नहीं है, सधी हुई भाषा-शैली का कलाकार नहीं है तो यहां कविता को पिसकर नष्ट हो जाने से कोई रोक नहीं सकता। वस्तुतः अन्तर्दृष्टि, प्रखर संवेदनशीलता और रचनात्मक ईमानदारी ही कविता को किसी भी शैली में बचाए रखती है। कवि चाहे कहानी-शैली में लिखे या पैराग्राफ शैली में वह पूरी गरिमा और कीमत के साथ कविता को बचा सकता है बशर्ते कि कवि में विषय से मौलिक अर्थ निकालने की दृष्टि हो। चाहे तो वह कविता को गद्यात्मक उपन्यास का रूप दे सकता है मगर शर्त वही कि उसकी मार्मिक लेखन शैली कहीं स्खलित न हो। समकालीन कविता अभी गद्य के इन कोचों को सहने लायक नहीं बन पायी है। यही कारण है कि मंगलेश और कात्यायनी जैसे कवि एवं कवयित्री इस मार्ग पर अकेले पड़ गये हैं और नवसिखुवा कवियों में भी कोई उनका साथ देता नजर नहीं आता। आज जबकि कविता को कम से कम शब्दों में पढ़कर उससे कुछ नया पा लेने का पाठकीय शौक बढ़ता जा रहा है, कौन पैराग्राफ कविता को भाव देगा ? विवेकानन्द उद्दाम भाव-गर्जना करते थे, प्रेमचन्द योद्धा की तरह कलम चलाते थे। दोनों में से कोई कवि नहीं / एक बैरागी दार्शनिक और दूसरा महान कलाकार, परन्तु मजाल क्या कि उनका एक भी वाक्य या एक भी पैराग्राफ कविता का आनन्द दिए बगैर समाप्त हो जाय। आखिर ऐसा क्या था कि दोनों अपनी गद्य-शैली में ही कविता का ज्वार खड़ा कर गये। प्रसिद्ध कवयित्री 'कात्यायनी' ने इस पैराग्राफ काव्य-शैली में कुछ सफल कविताएँ लिखने का प्रयास जरूर किया है :

"फिर कहीं बैठकर बातें करेंगे जिंदगी के बारे में। और उस ज्वालामुखी के बारे में जहाँ से लगातार धुँए का गुबार उठता रहता है। और पिघला हुआ लावा बहता रहता है बीच-बीच में।”²

इस बहु-विधात्मक कविता के पीछे छिपे हुए कवि के मनोविज्ञान को समझने का प्रयास करें, तो यहाँ भी अलग हटकर दिखने का शौक ही नजर आता है। समकालीन कवि एक टिपिकल ढर्रे पर गद्य-कविता लिखते- लिखते ऊबा हुआ है, खुद उसे भी इस गद्य-भक्ति से असन्तोष है, किन्तु वक्त का तकाजा है कि गद्यात्मकता को छोड़ नहीं सकता, वरना वह कविता के दायरे से ही बाहर कर दिया जाएगा, इसीलिए वह गद्यात्मकता के दायरे में बंधकर ही कुछ नया प्रयोग करने को व्याकुल है। यद्यपि यहाँ भी बाहरी ताम-झाम ज्यादा है, नयी-नयी शैली पेश करके पाठकों को बाँधने की कलाबाजी अधिक है। उसमें संवेदनात्मक उर्जा का अकाल है। लगता है कविता के रंचमंच पर विधाओं को बचाने की नौटंकी हो रही हो। समकालीन कविता सचमुच अपने संवेदनात्मक हल्केपन के संकट से जूझ रही है।

¹ खरे, विष्णु . अक्टूबर 2005 . तद्भव . पृष्ठ सं. 152

² कात्यायनी . 1999 . इस पौरुषपूर्ण समय में . पृष्ठ सं. 71

शैली एकदम साधारण क्यों न हो, वह क्यों न अभिधा में प्रस्तुत कर दी गयी हो, किन्तु, यदि उसमें भावना की सच्ची तल्खी है, कुछ खास बात कहने की तड़प है तो कविता अविस्मरणीय और असाधारण बन सकती है। यही कारण है कि समकालीन कविता ने अपनी तमाम शैलीगत उपलब्धियों के बावजूद पाठकों को बड़े पैमाने पर खो दिया है।

देवी प्रसाद मिश्र के अनुसार दाएँ तरफ की कविता उनकी मुख्य कविता है और बाएँ तरफ को कविता उप-कविता या मुख्य कविता की सहयोगी लेकिन दोनों कविताएँ आपस में कोई सम्बन्ध रखती हैं या नहीं, इस पर देवी प्रसाद मौन हैं। वैसे दोनों बिल्कुल अलग हैं अतः यह शैली के नयेपन का दिखावा है। समकालीन कविता में ऐसा प्रयोग करते वाले देवी प्रसाद अकेले तो नहीं हैं, परन्तु युवा कवियों का रुख ऐसे दुस्साहसिक प्रयोगों की ओर झुकता नजर नहीं आता। वजह साफ है जब तक किसी नयी शैली के भीतर कीमतो संवेदनाओं का रस नहीं भर उठता, जब तक वह अपने प्रबल अर्थों की गरिमा से पाठक के मन को बाँध नहीं लेतो, तब तक उसका अल्पमत में रहना शत-प्रतिशत निश्चित है। ये नये-नये प्रयोग वस्तुतः गद्य की एकरसता तोड़ने के लिए भी हैं, और ये कुछ ही देर के लिए सही पाठक हृदय में कुतूहल पैदा करते हैं।

वैसे शैलीगत नवीनता कम मायने नहीं रखती। जब नयी कविता में मुक्तिबोध ने कविता के सुव्यवस्थित ढाँचे को तोड़कर अपनी मुक्तिबोधीय शैली का वितान खड़ा किया तो आने वाले कवियों के लिए वह सबसे पसंदीदा शैली बन गयी। उसी तरह समकालीन कविता में शैली के नये-नये प्रयोग सम्भव है- एक मानक शैली दे हो दें जो इस सदी के स्वभाव के अनुकूल हो और पाठकों के लिए भी सर्वमान्य हो। अभी फिलहाल वर्णनात्मक, भिधापरक और विश्लेषणात्मक ढंग की गद्य-कविताएँ बड़े पैमाने पर विस्तार ले रही हैं। विजेन्द्र, भगवत रावत और अष्टभुजा शुक्ल कुछ ऐसे उल्लेखनीय कवि हैं, जिन्होंने कविता की समकालीन अर्थवत्ता को बरकरार रखते हुए लय, ताल और छंद से युक्त उत्तम कविताएँ दी हैं। अष्ट भुजा का संग्रह 'पद-कुपद' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। विजेन्द्र जैसे वरिष्ठ और सर्वमान्य कवि आज भी तुक और लय के ढर्रे पर कविताएँ रचते नजर आते हैं। पाठकों को खींचने में यह शैली बहुत कारगर साबित हुई है। निराला, मुक्तिबोध और नागार्जुन ने इस लययुक्त और छन्दमुक्त शैली को शिखर पर पहुंचा दिया, और कुछ दशकों तक यही शैली पाठकों में सर्वाधिक लोकप्रिय रही, परन्तु अब ऐसा लगता है नयी सदी में यह अंदाज भी कारगर नहीं हो पाएगा। कवि को इससे आगे बढ़ना ही पड़ेगा। उसे नितान्त समकालीन काव्य शैली की खोज करनी ही पड़ेगी। शायद वह दार्शनिक गद्य-शैली हो, आम-जुबान की शैली हो या अन्तर्मुखी लय की शैली।

इसी बीच एकान्त श्रीवास्तव, बोधिसत्व और पवन करण जैसे कवियों का आगमन शैली के बिल्कुल अलग संस्कारों के साथ हुआ है। इनमें पवन करण ने कविता को ऐसी बतकही शैली को जन्म

दिया है जो किसी भी कलाबाजी, चमत्कार प्रियता अथवा प्रदर्शन से मुक्त है। कुछ खास बात कहने के लिए कविता लिखी जा रही है। इसमें चिर-परिचित अनुभवों और भावनाओं को घारा निरन्तर बहती रहती है। अर्थात् पवन करण ने बिल्कुल सामयिक बोलचाल की भाषा में समर्थ कविता को सम्भव किया है, जो हिन्दी के आम पाठकों को भी प्रिय है। यहाँ प्रस्तुत है उनकी कविता 'मूक बधिर बच्चे' को कुछ पंक्तियों -

**“ये चार युवा लड़के सभागार के कोने में खड़े
बार-बार अपने पेटों पर मारते हुए धौल
पूछ रहे हैं एक दूसरे से, क्या यार अब तक खाने-पीने का कोई इंतजाम नहीं।”¹**

समकालीन कविता का शिल्प

समकालीन कविता ने काव्य-शिल्प को काफी तोड़ा-मरोड़ा है, और उसमें इतनी सारी विविधताएँ विकसित की है कि बाकायदा शिल्प का बहुमुखी संसार ही खड़ा हो गया है। वस्तुतः कविता के शिल्प में बदलाव के प्रयास हमेशा होते रहे हैं, और यही बदलाव कविता को युग-सापेक्ष भी बनाते हैं, किन्तु समकालीन कविता में शिल्पगत परिवर्तन जितने व्यापक पैमाने पर हुए हैं, उतना आधुनिक काल की शायद ही किसी काल्यधारा में हुआ हो।

संरचना में तमाम छूटे लेने के बावजूद कविता का मूल ढाँचा गद्यात्मक ही है, परन्तु वह कोरा गद्य नहीं है। उसमें अन्य गद्य विधाओं ने खूब आवाजाही शुरू कर दी है। कहीं-कहीं तो कविता के बारे में पूर्व सूचनाएँ देने का फ़ैशन चल निकला है। किसी-किसी कविता के बीच में चार छः ऐसी परिचयात्मक टिप्पणियों दी जाती हैं, जो कविता का ही अर्थ-विस्तार करती प्रतीत होती हैं। देखा जाय तो अधिकांश युवा कवि कविता की संरचना में अपने-अपने तरीके से निरन्तर बदलाव ला रहे हैं, उसमें कुछ-कुछ खास क्या जोड़ रहे हैं। वस्तुतः यह कविता के शिल्प-विधान का अभूतपूर्व दौर है। लीलाधर जगूड़ी, विष्णु खरे और देवी प्रसाद मिश्र जैसे प्रतिष्ठित कवियों ने कविता के शिल्प को इस हद तक ऐंठ दिया है कि उसे सीधे-सहज तरीके से समझ पाना दूर-दूर तक सम्भव नहीं रह गया है। इस शिल्प के समक्ष आम पाठक कहीं खड़ा नहीं हो पाता, और न ही उसके लिए कविता रची गयी जान पड़ती है। यहाँ विशुद्ध कलाबाजी है, कविता को अपने तरीके से हाँकना है और चौंका देने वाले शिल्प को गढ़ने की ज़िद है। एक ही कवि शिल्प, संरचना और गठन के स्तर पर इतने सारे प्रयोग कर रहा है कि अकेले उसी के शिल्प के बारे में अलग-अलग दृष्टियों से विचार करना पड़ रहा है।

¹ करण, पवन . जुलाई, 2006 . अन्यथा . पृ. सं.- 86

शिल्प, संरचना या ढाँचा वस्तुतः एक ही अर्थ को ध्वनित करते हैं। शिल्प अपने आप में स्वतन्त्र या निरपेक्ष वस्तु नहीं, बल्कि हमारी मानसिक बनावट और परिवर्तनशील प्रवृत्ति का एक अनिवार्य हिस्सा है। जिस तरह हम अपने व्यक्तिगत जीवन में आकर्षण और आनन्द पैदा करने के लिए नये-नये उपाय करते हैं, युक्तियों गढ़ते हैं और जीवन में उसका प्रयोग करते हैं वैसे ही कला और साहित्य में भी। निश्चित तौर पर यह मनुष्य की मूल्यवान प्रवृत्ति है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि ढाँचा नया हो जाने से रचना कीमती हो गयी। इससे मात्र बाहरी आकर्षण पैदा होता है, आन्तरिक गुणवत्ता नहीं। कविता की आन्तरिक उर्जा का उसके शिल्प से कोई निवार्य सम्बन्ध नहीं। यह अवश्य है कि शिल्प यदि जटिल नहीं है, व्यवस्थित है, साफ-सुधरा है तो कविता को बोधगम्यता जरूर प्रदान करता है। यहाँ पुनः कहना आवश्यक है कि बोधगम्यता भी कविता को श्रेष्ठता का सूत्र नहीं। इस तरह सहज शिल्प और जल्दी समझ में आ जानेवाले अर्थ कविता को व्यापक बनाते हैं, यादगार बनाते हैं। कविता को दीर्घजीवी बनाने में सहयोग करते हैं।

कविता के शिल्प या संरचना में जो कुछ भी परिवर्तन दिखायी पड़ते हैं वे सबसे पहले हमारे दैनिक जगत में, बहुमुखी कार्य-व्यापार में घटित होते हैं। सर्वप्रथम वे एक घटना, कार्य या गतिविधि ही होते हैं। रचनाकार इन्हें गौर से देखता है, उसके सूत्र को बारीकी से पकड़ने का प्रयास करता है। जब उसे लग जाता है कि जीवन-व्यवहार में प्रयुक्त इस नयी युक्ति का रचनात्मक उपयोग किया जा सकता है तो उसको साहित्य में प्रयुक्त करता है। २१वीं सदी का युग प्रगति की विविधताओं के विस्फोट का युग है। अब लगभग प्रत्येक क्षेत्र का विशेषीकरण हो चुका है। अब कोई कार्य-व्यापार सामान्य घटना नहीं रह गयी है। वह क्यों घटित हुई, कैसे घटित हुई, उसके प्रेरक तत्त्व कौन-कौन से हैं ? इन सब सवालों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण करने की पद्धति अब बाकायदा विकसित हो चली है। एक रचनाकार भी जब जीवन में सक्रिय किसी नये शिल्प को रचना में उतारने का प्रयास करता है तो उस शिल्प के निर्माणक तत्वों का भी ख्याल रखता है। वह शिल्प को जन्म देने वाले तत्वों को ठीक से समझे बिना उसका मूल्यवान उपयोग कर भी नहीं सकता। इस तरह जीवन के कार्य-व्यापार के तरीके कलाकार के मनोमस्तिष्क को उद्देलित, विचलित और आकर्षित करते हुए कविता में रचनात्मक शिल्प का रूप धारण करते हैं। यहाँ प्रस्तुत है प्रतिष्ठित कवि लीलाधर जगूड़ी की कविता 'एक और नामकरण' की कुछ पंक्तियाँ-

**“घिसटते, लिथड़ते अपाहिज बना दिए गए जीवन में
मजबूती से फैलाए गए अन्याय के बारे में धारणाएँ बदलकर
और न बदलकर देखी-तौली जातीं मुमकिन होता
कि कमजोर का भी अपहृत यश**

मरणोपरान्त वापस ला दिया जाता।”¹

इन पंक्तियों के माध्यम से कवि को जो बात कहनी है वह बेधड़क और चमकदार नहीं है। वह इतना धुंधला भी नहीं, कि कुछ समझ में ही न आए। थोड़ा तर्क-वितर्क करने, मंथन करने और ध्यान लगाने के बाद अर्थ खुल जाता है, कहने के अंदाज में घूमती-घुमड़ती हुई अर्थ-धारा दिखायी पड़ जाती है। बावजूद इसके यह कहना पड़ेगा कि जगूड़ी का यह शिल्प आम हिन्दी पाठकों के लिए नहीं है, प्रबुद्ध, सुशिक्षित साहित्यकारों के लिए है। इन पंक्तियों को ठीक से वही समझ सकता है जो समकालीन कविताओं को पढ़ने और समझने का अभ्यस्त है। मात्र जगूड़ी ही नहीं मंगलेश डबराल, ज्ञानेन्द्रपति, विष्णुखरे, विनोद कुमार शुक्ल और आलोक धन्वा जैसे प्रसिद्ध कवि भी अपने नये-ताजे और कीमती अर्थों को घुमा-फिराकर ही खोलते हैं। वे अभिव्यक्ति के बेधड़क अंदाज से बचते हैं। जो कहना है उसे धारा प्रवाह या आवेग में कहने के बजाय इधर-उधर घोड़ा चक्कर मारकर प्रकट करते हैं। मूल बात थोड़ी सी कहनी है किन्तु उसके लिए लम्बा सा ताना-बाना बुनते हैं, बिल्कुल कथात्मक शिल्प का सहारा लेते हैं और तब उस अर्थ को धीमी गति और संयमित स्वर में प्रकट करते हैं। यहाँ विनोद कुमार शुक्ल की कुछ पंक्तियों उपरोक्त निष्कर्ष को बखूबी सिद्ध करती हैं-

“कोई अधूरा पूरा नहीं होता
और एक नया शुरू होकर नया अधूरा छूट जाता
शुरू से इतने सारे
कि गिने जाने पर भी अधूरे छूट जाते।”²

समकालीन कविता में शिल्प की विविधता के बावजूद बाह्य जटिलता उतनी अधिक नहीं है, जितनी कि आन्तरिक रूप से। वस्तुतः कविता पर शिल्प के गठन का दबाव इतना अधिक है कि विषय का अन्तःमर्म दबकर रह जाता है, वह शिल्प के तनाव से मुक्त नहीं हो पाता। एक तरह से कविता का अर्थ शिल्प के कसाव में ऐंठ उठता है। इसका एक कारण यह भी है कि अधिकांश कवियों के पास बड़े अर्थ देने की मौलिक क्षमता ही नहीं है, अतः वे शिल्पगत नवीनता लाकर उस कमी की भरपाई करते हैं। कात्यायनी, देवी प्रसाद मिश्र या लीलाधर मंडलोई अपनी कविता में रह-रहकर जो भी शिल्पगल प्रयोग कर रहे हैं वे साहित्य जगत में कितने लम्बे समय तक टिक पाएंगे, यह विचार का मुद्दा है। इन प्रयोगों से प्रबुद्ध पाठकों के बीच कवि की एक अलग पहचान तो बन रही है, किन्तु इस पहचान का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसे विशिष्ट दर्ज का कवि माना जा रहा है।

¹ जगूड़ी, लीलाधर . जुलाई, 2006 . समकालीन सृजन (विशेषांक- कविता इस समय) . पृ. सं. 69

² शुक्ल, विनोद कुमार . 2006 . समकालीन सृजन (विशेषांक- कविता इस समय) . पृ. सं.- 63

समकालीन कविता में शिल्प की एक और धारा अभी भी बह रही है वह है प्रच्छन्न तुक, छन्द और लय की धारा। वह गीत भी नहीं है, न ही उसे मंचीय कविता कहा जा सकता है। वस्तुतः ऐसी कविता गद्यात्मकता के रुखेपन और उसमें तनी हुई अतिशय बौद्धिकता की प्रतिक्रिया में लिखी गयी है। गद्य एक सीमा के बाद अरुचि और ऊब पैदा करने लगता है, जबकि गीत अपनी प्रचुरता के बावजूद रुचि को ताजा किए रहता है और अपने आकर्षण में श्रोता को आबद्ध किए रहता है। हरिवंश राय बच्चन इसीलिए महान गीतकार बन सके, क्योंकि उनके गीतों में तत्वपूर्ण अर्थों की गरिमा और नवीन लय का आकर्षण दोनों विद्यमान है। ऐसी क्षमता समकालीन कविता के एक भी कवि में मौजूद नहीं। इसीलिए कविता की गीतात्मकता आज बेजान सिद्ध हो रही है। मात्र तुक भिड़ा देना, लय साध लेने या छन्द बिठा देने से श्रेष्ठ गीत नहीं पैदा हो जाता। यहाँ भी कवि को अपनी दूरदर्शी अन्तर्दृष्टि और तत्वान्वेषी क्षमता का प्रमाण देना पड़ता है। अपनी अनुभूतियों की रचनात्मक उर्जा सिद्ध करनी पड़ती है तब जाकर कही श्रेष्ठ गीत का जन्म होता है।

यश मालवीय समकालीन कविता के ऐसे प्रतिष्ठित कवि हैं जो निरन्तर प्रछन्न गीत शैली में कविताएँ रच रहे हैं। अब इस रूप, में उनकी अच्छी पहचान बन चुकी है। दरअसल यश मालवीय गद्य कविताएँ और गीतात्मक कविताएँ दोनों लिखने में सक्षम हैं यही कारण है कि वे गद्य कविता में लय और गीत-कविता में गद्यात्मकता को बखूबी साध लेते हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं उनकी कविता 'सीढ़ियाँ ही सीढ़ियाँ हैं', की कुछ पंक्तियाँ :

“रोशनी ही पी गए
कुछ लोग रोशनदान थे जो
आग ही अपनी नहीं
किस आग को पालो सहेजो
जल रहे घर, बस्तियाँ ही
धुँए वाली चिमनियाँ हैं।”¹

यह सच है कि समकालीन कविता ने अपनी इतनी लम्बी उम्र के बावजूद निराला, प्रसाद और मुक्तिबोध की श्रेणी का एक भी कवि नहीं दिया। भगवत रावत और नरेश सक्सेना निश्चय ही समकालीन कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, परन्तु इन्हें बड़े कवियों की पंक्ति में लाने के बारे में सोचा भी नहीं

¹ मालवीय, यश . जुलाई 2006 . पृष्ठ सं.- 93

जा सकता। इनकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं, जो विशाल पाठक वर्ग से अज्ञात नहीं हैं। यह अवश्य है कि भाषा, शिल्प और संरचना के स्तर पर समकालीन कविता ने अविस्मरणीय सफलता प्राप्त की है। कह सकते हैं कि २५वीं सदी की हिन्दी कविता अपने रूपगत विकास के लिए वर्तमान काव्य संरचना से प्रेरणा प्राप्त करेगी।

समकालीन कविता के गठन का यही नयापन ही भावी काव्य कला का चमत्कारिक मानदण्ड स्थापित करने में समर्थ होगा, जो एक साथ दोहरी भूमिका निभाएगा। वह अपार हिन्दी-पाठकों की मानसिकता के अनुकूल बैठेगा, साथ ही साथ सदी की सम्पूर्ण अन्तर्वाह्य जटिलताओं और रहस्यों को साफ-साफ खोलने में समर्थ होगा। अभी तो समकालीन कविता के पास अपनी कला का कोई सर्वमान्य पैमाना नहीं है, क्योंकि उसके पास कोई निराला मौजूद नहीं, किन्तु जिस दिन समकालीन कविता को उसका 'निराला' मिल गया, कविता खुद-ब-खुद कला का भी मानदण्ड पा लेगी।

विनोद कुमार शुक्ल, कात्यायनी, राजेश जोशी और देवी प्रसाद मिश्र के अलावा कई युवा कवियों ने भाषा और शिल्प के स्तर पर साहसिक प्रयोग किए हैं, बल्कि कह सकते हैं कविता के रूपगत परिवर्तन को क्रान्ति मची हुई है। हर युवा कवि नये-नये शिल्प का प्रयोग करने में जुटा हुआ है। ऐसा लगता है अब वह कविता की गद्य शैली में भी घुटन महसूस कर रहा है, और वह उससे भी दस कदम आगे निकल जाना चाहता है लय, कथात्मकता, गठन इत्यादि के उस पार। फिलहाल अभी वह बोधगम्य गद्य कविता की शर्त से बँधा हुआ है परन्तु कब इसमें अप्रत्याशित मोड़ आ जाय, कहा नहीं जा सकता।

वस्तुतः जब तक समकालीन कविता का शिल्प अपने युग को सम्पूर्णता में प्रकट करने वाला प्रतिनिधि शिल्प नहीं बन जाता, तब तक तमाम तरह के प्रयोग महज एक अभ्यास साबित होंगे, क्योंकि प्रत्येक काव्य-शिल्प का चरम लक्ष्य अर्थ को अमरता प्रदान करना है और यह तभी सम्भव है जब शिल्प युग की मानसिकता के अनुकूल हो, समसामयिक हो और गूढ़ से गूढ़ सत्य को भी आसानी से प्रकट कर पाने में समर्थ हो। मुक्तिबोध नयी कविता के प्रतिनिधि कवि तो बन गये और अद्वितीय कला के संस्थापक भी बन गये, परन्तु उनका शिल्प अपने युग का सर्वमान्य शिल्प न बन सका, क्योंकि वह आम पाठक को सोच के अनुकूल न बैठ सका, बैठ भी नहीं सकता था। मुक्तिबोध ने नितान्त निजी शर्तों पर कविता का आकार-प्रकार निर्मित किया। उनको कविता कला का वह प्रतिमान है, जो चमत्कृत और आकर्षित तो बहुत करती है, किन्तु जिसको नकल सम्भव नहीं।

अद्वितीय और मौलिक बौद्धिक संरचना का कवि ही असाधारण शिल्प का निर्माण कर सकता है। यह सायास होता भी नहीं, सृजन-श्रम की प्रक्रिया में अचानक होता है, अन्तःस्फूर्त होता है। इसमें तनिक भी नकल नहीं चलती। पूर्व काव्य परम्परा को श्रेष्ठ कला से भी इसका कोई नाता नहीं होता। वह किसी पूर्वकाव्य प्रतिमान के प्रभाव से लगभग मुक्त रहते हुए भी अपनी ऊँचाई में एक प्रतिमान होता है।

ऐसी बेशकीमती कलात्मक कविता में युग-सत्य अनेकमुखी होकर बोलने लगता है, बल्कि कहें ऐसे परम समर्थ शिल्प में युग का सत्य निचोड़ लेने की शक्ति होती है। यह हकीकत है कि प्रतिमान का अनुकरण करके प्रतिमान बनना असम्भव है, परन्तु युग के एक या दो काव्य-प्रतिमान ही ऐसे होते हैं, जिनकी तेज चमक से समकालीन युग प्रेरणा ग्रहण करता है, रोशनी पाता है। मुक्तिबोध की नकल तो सम्भव नहीं रही, किन्तु उन्होंने परवती कवियों पर गहरी छाप छोड़ी। उनको कविता का पचास प्रतिशत भी अनुकरण नहीं हो पाया, मगर समकालीन कवियों में जितनी प्रतिष्ठा मुक्तिबोध को मिली, उतनी नागार्जुन को छोड़कर और किसी भी कवि को न मिल सकी।

इस समय धूमिल के बाद, किन्तु उनके कद से तनिक भी कम नहीं, दूसरे श्रेष्ठ कवि भगवत रावत ही क्यों हैं ? इसके कई पुख्ता कारण मौजूद हैं। पहले तो यही, उनकी कविता का शिल्प आम जन के मन का शिल्प है। वे कला की सीमा में कविता लिखते ही नहीं, बल्कि मन की समझ के दायरे में कविता रचते हैं। 'कविता क्या है ?' जैसे निबन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं **"कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।"**¹

शुक्ल जी ने मानो इस कथन में कवि के सामने भावात्मक अवस्था का एक शिखर तय कर दिया हो। स्वयं कवि जब तक अनुभूति के इस स्तर को नहीं प्राप्त कर लेता, सर्वव्यापी कविता का सृजन उसके द्वारा असम्भव है, और ऐसी हो असाधारण भावदशा में महान काव्य-शिल्प का भी विस्फोट होता है। क्या भाषा, क्या शैली और क्या व्यंजना शक्ति प्रत्येक स्तर पर कविता मौलिक हो उठती है, नितान्त भिन्न, विशिष्ट और चुम्बकीय। वह अपनी पूरी भाव-भंगिमा और भाषा-सामर्थ्य में श्रेष्ठतम का नायाब उदाहरण होती है। परन्तु ऐसी सधी हुई अमर रचना बड़े से बड़े कलाकार में भी कभी-कभार हो प्रस्फुटित होती है, वरना जयशंकर प्रसाद एक और 'कामायनी' लिख देते और निराला एक और 'राम की शक्तिपूजा' रच डालते। श्रेष्ठ कवि अपने ही क्लासिक की ऊँचाई को दुहरा नहीं पाता, यह है मानक रचना की विकल्पहीनता।

समकालीन कविता वैचारिक दृष्टि से काफी आगे निकल चुकी है, उसमें एक साथ कई सारी उन्नत विचारधाराओं के प्रभाव दिखाई पड़ रहे हैं। भाषा, शिल्प और गठन के स्तर पर उसमें विविधता तो है ही। अब आवश्यकता है एक आवेगपूर्ण धार की, एक भास्वर आवाज की, एक उद्दाम चेतना की। चाहिए ऐसा कवि जो वक्त की ऊँचाई पर बैठा हुआ अथाह अनुरक्त नेत्रों से सब कुछ देख रहा हो, परख

¹ शुक्ल, रामचंद्र . 1992 संस्करण . चिंतामणि- पहला भाग . पृ. सं. 106

रहा हो किन्तु किसी एक का न हो जाय, बल्कि सबके लिए अपना दृष्टिदान कर डाले। हम बार-बार जिस शिल्प की बात करते हैं वह कोई अद्वितीय, अज्ञात या आश्चर्यजनक शिल्प नहीं होगा, बल्कि समकालीन कविता के सर्वोत्तम का निचोड़ होगा, एकीभूत रूप होगा, एक चरम निष्कर्ष होगा। वह कवि जो समकालीन कविता के अनेक प्रतिष्ठित कवियों के उत्तम को छाँटने में समर्थ होगा और उनकी कमियों को बखूबी समझेगा निश्चय ही इस काव्य धारा को स्थायी गरिमा प्रदान कर सकेगा।

आज का समय कुछ विषयों से बंध जाने, विचारधारा में फिट हो जाने या अपनी मान्यताओं का पालक हो जाने का समय नहीं है। कवि या विचारक अपने आपको कितना आत्ममुक्त कर सकता है, दूसरे की सत्ता को अपने भीतर कितनी जगह दे सकता है यह आज ज्यादा महत्व की बात है। बिना 'मैं' से बाहर निकले, अपनी क्षमताओं का साधारणीकरण किए और शेष जगत के भीतर अपनी आत्मा को गलाकर प्रवाहित किए-कविता की अमरता सम्भव नहीं। कविता अपने सर्जक से अधिकतम सहजता की मांग करती है। यह तभी सम्भव है जब कवि अपनी अकूत क्षमताओं से अनजान बने रहने की चेतना विकसित कर ले। वह अपने बारे में लगभग मौन हो जाय और अपनी सफलताओं को विशिष्टता प्रदान करना बन्द कर दे।

कवि जब तक अपना असाधारणीकरण नहीं कर देता तब तक असाधारण रचना नहीं दे पाएगा। कला तो भाव को अनुचरी होती है वह भाव को गति के पीछे-पीछे दौड़ती है, बल्कि कहें अपने अस्तित्व के लिए भाव पर ही निर्भर रहती है। भावहीन आकर्षक कला की अकाल मृत्यु सुनिश्चित है। दुःखद है कि समकालीन कवि इसी दर हकीकत की निरन्तर उपेक्षा कर रहा है। कविता की मृत्यु की निरन्तर घोषणाएँ करने वाले दिवा स्वप्न देखते रहने की लत के शिकार हो गए हैं। उन्हें यही नहीं पता कविता जो कि एक कला है मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व का अनिवार्य हिस्सा है। समकालीन कविता शत-प्रतिशत मुश्तैदी के साथ यह दायित्व निभाएगी।

4. समकालीन हिंदी कविता : धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य

भूमंडलीकरण ने संस्कृति को काफी गहरे रूप में प्रभावित किया है। इसके प्रभाव से भारत में वेश-भूषा, खान-पान, संगीत, भाषा, विचार आदि क्षेत्रों में कई परिवर्तन देखने को मिलते हैं। 1991 में सोवियत संघ के विघटन तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के खुलने से प्रक्रिया तो तीव्र हुई ही, भारत भी इस वैश्विक ग्राम का एक महत्वपूर्ण सदस्य बन गया। चूँकि, प्रभावित करना एवं होना वैश्वीकरण की अनिवार्य प्रवृत्ति है। अतः भारत में समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति इत्यादि के सभी हिस्से को इसने गंभीरता से प्रभावित किया। इसके कुछ प्रभाव सकारात्मक रहे तो कुछ नकारात्मक भी रहे। वैश्वीकरण के सामाजिक प्रभाव सबसे अधिक प्रभावी एवं स्थायी हैं। इसके प्रभावों को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।

वेशभूषा के संदर्भ में सर्वाधिक प्रभाव महिलाओं व पुरुषों के पहनावे को लेकर दिखता है। महिलाओं में जहाँ चुस्त कपड़े पहनने का प्रचलन बढ़ा है, वहीं पुरुषों में कोट पेंट एवं टाई पहनने का प्रचलन दिखता है। भूमंडलीकरण के कारण भाषा कई प्रकार से प्रभावित हुई है। एक ओर भूमंडलीकरण ने भाषा को तकनीकी रूप से समृद्ध किया है। वहीं दूसरी ओर मातृभाषा पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

साहित्य के क्षेत्र में भूमंडलीकरण ने पूंजीवादी मानसिकता की अहमियत बढ़ा दी है और पारंपरिक नैतिकतावादी साहित्य जो तुलनात्मक दृष्टि से कम उत्पादक होने के कारण उपेक्षित होने लगे हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय बाजारों में विभिन्न विदेशी भाषाओं के साहित्य भी देखने को मिल रहा है। संगीत के क्षेत्र में भूमंडलीकरण ने भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं लोक संगीत की लोकप्रियता को कुछ हद तक कम किया है और पॉप आदि के नाम पर कोलाहल और शराबा का नया बाजार बढ़ा है।

वैश्वीकरण के कारण दुनिया के कई हिस्सों में धर्म का पुनरुद्धार हुआ है, मुख्य रूप से धार्मिक कट्टरवाद के रूप में, लेकिन इससे आधुनिक समाज में संगठित धर्म का पतन भी हुआ है। विशिष्ट संस्कृतियों के बीच बाधाओं को कम करके, वैश्वीकरण धर्म को उन संघर्षों में डाल देता है जो सामाजिक पहचान का समर्थन करते हैं, क्योंकि कुछ लोग नई वास्तविकताओं की डिलीवरी नहीं लेते हैं और अपनी पहचान को फिर से खोजने के लिए विश्वास की ओर रुख करते हैं। धर्म समाज के भीतर एक वर्ग के प्रति लगाव की भावना प्रस्तुत करता है।

समकालीन हिंदी कविता में सांप्रदायिक रंगों की अच्छे से पहचान की गई है, वहीं दूसरी ओर सांप्रदायिकता के विरोधस्वरूप सांप्रदायिक सद्भाव एवं मानवीय मूल्यों को सहेजा गया है। साम्प्रदायिकता। जो आज हमारे दौर की सबसे बड़ी चुनौती है। प्रेमचंद जैसे सुप्रसिद्ध लेखक की भाषा और मुहावरे को आज पुनः पढ़ने और चिंतन करने व उससे सीखने की ज़रूरत है। एक लेख में वे कहते

हैं- "सांप्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है... वह संस्कृति का खोल ओढ़कर सामने आती है।"¹

किसी भी धर्म की एकांगी सोच पर मार्क्स ने धर्म को अफ़ीम कहते हुए कहा था- "धर्म सताए हुए आदमी की आह है।" धर्म के कट्टरवादी स्वरूप एवं सांप्रदायिकता की भीषणता के विभिन्न प्रभावों को समकालीन कविता में बखूबी दर्ज किया गया है। दुनियाभर में कट्टरवाद के ख़तरों को न केवल हम सबने महसूस किया है बल्कि हम सब किसी-न-किसी रूप में प्रभावित भी हुए हैं। भारत में इन्हीं कट्टरपंथी तत्त्वों द्वारा किए जा रहे सांप्रदायिक प्रचार को कविता में रेखांकित करते हुए साझा संस्कृति की हिमायत भी बखूबी देखी जा सकती है। सांप्रदायिकता विरोधी यह चेतना धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास करती है। जिसका केंद्रीय तत्त्व संविधान प्रदत्त भाईचारा है, मानवता है तथा आदमीयत है।

संस्कृति की यद्यपि कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। लेकिन सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर किये जाने वाले एक खास किस्म के नृत्य संगीत नाटक आदि कार्यक्रमों से लगता है कि इसका उद्देश्य मनोरंजन होता है। लेकिन संस्कृति क्या मनोरंजन तक सीमित होती है ? दूसरी ओर धर्म के साथ, पारंपरिक रीतिरिवाजों के साथ भी इसका सम्बन्ध होता है, ऐसे में संस्कृति को धर्म से अलग करके परिभाषित करना मुश्किल होता जाता है।

भाषाकोशों में संस्कृति या कल्चर को अंग्रेजी के कल्चुरा (Cultura) अथवा कल्टीवेशन (Cultivation) से जोड़ कर देखा गया है, यानि ग्रामीण कृषि समाजों के साथ भी इसका सम्बन्ध देखा जाता है। किसी भी समाज की संपूर्ण मानवीय गतिविधियाँ इसके भाग में एक प्रकार से ऐसा समझा जा सकता है कि प्राचीन कृषि समाजों ने अपने सर्वोत्तम ज्ञान व चिन्तन के भंडार को सुरक्षित अगली पीढ़ियों तक पहुँचाने के क्रम में उसे हल्का सा मिथकीय व धार्मिक संस्पर्श दे दिया और धार्मिक आडम्बरों से इतर लोककलाओं की संप्रेषणीयता का लाभ लेकर यह विविध कलाओं द्वारा अभिव्यक्ति पाने लगी। लेकिन संस्कृति कोई गैर राजनैतिक और निरपेक्ष अवधारणा नहीं है। कल्चर एंड इंपीरियलिज्म में एडवर्ड सर्ईद संस्कृति शब्द का प्रयोग दो विशिष्ट अर्थों में करते हैं। पहले अर्थ में संस्कृति वर्णन संप्रेषण और निरूपण जैसे कलाओं के क्षेत्र में किये जाने वाले कार्यों से सम्बन्धित है। जो आर्थिक सामाजिक राजनैतिक क्षेत्रों से अपेक्षाकृत स्वायत्त होते हैं और जिनका रूप सौंदर्यात्मक होता है।

इस अर्थ में संस्कृति का उद्देश्य आनंद प्रदान करना है। दूसरे अर्थ में संस्कृति प्रत्येक समाज के सर्वोत्तम ज्ञान व उठाने वाला तत्व है और जिसके आधार पर हम स्वयं को अपने लोगों को अपने समाज को तथा अपनी परम्परा को सर्वोत्तम रूपों में जानते हैं। इस दूसरे रूप का इस्तेमाल साम्राज्यवाद-पूंजीवाद आपने हित में करने के लिए हरसंभव प्रयास करता है। सामंती समाजों ने अपनी एक संस्कृति

¹ डॉ. तिवारी, अशोक . 2023 . हिंदी कविता और साम्प्रदायिकता . पृ. सं. 7

विकसित की थी, पूंजीवाद समाजों ने अपने लिए नई संस्कृति विकसित की। वर्ग विभाजित समाजों में विभिन्न वर्गों की अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के अनुरूप उनकी संस्कृति उस समय की प्रभावी राजनैतिक विचारधारा की संस्कृति होती है। और वह अपने वर्गीय हितों की पूर्ति की साधन बनती है। इसलिए संस्कृति की निरपेक्ष या अराजनैतिक अवधारणा के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, संस्कृति को निरपेक्ष अराजनैतिक अवधारणा के रूप में दिखाना भी साम्राज्यवादी विचारधारा का एक कार्य है।

पूंजीवादी समाजों में संस्कृति सामाजिक विविधताओं के प्रतिबिंबन का कार्य नहीं करती बल्कि उन निम्नमध्यवर्गीय क्षयी प्रवृत्तियों को समस्त जनता पर थोपने का कार्य करती हैं जो पूंजीवादी के पक्ष में होते हैं। इस प्रकार ये संस्कृति के स्थान पर एक लोकप्रिय संस्कृति कर तानाबाना बुनती है जिस में प्रगतिशीलता के परदे में अन्धविश्वास अतार्किकता और पितृसत्तात्मक सामंती मूल्यों को समाज में पुनर्स्थापित करने का कार्य किया जाता है इससे दक्षिणपंथी शक्तियों को फलने फूलने का अवसर मिलता है लोकप्रिय संस्कृति हमारे सामने एक खास किस्म की सामाग्री प्रस्तुत करती है जो बाजार की जरूरतों पर आधारित होती है अपने बाहरी कलेवर में यह मुक्त प्रगतिशील सर्वसमावेशी दिखती है लेकिन अंतर्वस्तु में यह शासक वर्गों के हितों का पोषण करता है। यह संस्कृति दो भिन्न अवधारणाओं को एक साथ प्रश्रय देती है एक ओर यह सर्वव्यापी मीडिया के रूप में अमेरिकी पतनशील मूल्यों और अमेरिका की श्रेष्ठता का मिथक खड़ा कर विविधचर्णी संस्कृति के स्थान पर एकमात्र एक जैसी बाजार की संस्कृति को स्थापित करने का प्रयास करती है।

एक और साम्राज्यवाद पूंजीवाद के सेंकेंद्रण से बेरोजगार दिशाहीन युवकों की फौज खड़ा करता है तो फासीवाद इन्हें राष्ट्रवाद और प्राचीन गौरव की घुट्टी पिलाकर दिग्भ्रमित करना है ताकि ये पूंजीवाद के खिलाफ जाने के बजाय किसी अन्य या बाहरी तत्व के खिलाफ लड़ते रहे और पूंजीवाद को अपने निर्वाध प्रसार की सुविधा मिल सके। अपने मूल में फासीवाद कभी पूंजीवाद का शत्रु नहीं रहा। जैसे-जैसे भारत में आर्थिक परिवर्तन हुए हैं उसी के साथ साम्प्रदायिकता का भी विस्तार हमारे यहाँ हुआ है।

आधुनिक समय में धर्म अपनी सामाजिक समन्वय की भूमिका को खोकर अप्रासंगिक हो चले हैं। धर्म के नाम पर मंदिरों मस्जिदों और धार्मिक संगठनों के शक्ति प्रदर्शन है। लाउडस्पीडर पर जोर शोर से होते जागरण, शोर भरे जुलूस और रथयात्रायें हैं। अचानक से स्वनामधन्य साधु-महात्माओं उपदेशकों, संतों की एक भीड़ सी आ गयी है। टेलीविजन में हर चैनल पर ये छाये हैं। धनकुबेरी के नेताओं, नौकरशाहों अपराधियों के कालेधन को सफेद करने राजनैतिक गठजोड़ों को करने और अपने करीबियों के लिए सुरा-सुन्दरी का प्रबन्ध करने तक में वे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। धर्मभीरू जनता को वे सुनहरे भविष्य की अफीम बांटते हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का साथ पाकर वे अंधविश्वास और अतार्किकता को फैलाने में कोई कसर नहीं छोड़ते पंचसितारा सुविधाओं के साथ वे त्याग पर भाषण देते हैं। सांप्रदायिक उन्माद पैदा करते हैं और सरकारी सुविधाओं का दुरुपयोग करते हैं।

पूँजीवाद के विस्तार के साथ जनता को बेवकूफ बनाये रखने के लिए राजनेताओं ने इनका भरपूर उपयोग किया है। कविता में धर्म के नाम पर इस पाखण्ड का विरोध किया गया है। आठवें दशक के बाद बाबरी मस्जिद कांड से लेकर बॉम्बे बम ब्लास्ट गुजरात दंगों तक, की पृष्ठभूमि में यही सब रहा है। जिसका पर्याप्त विरोध कविता में हुआ है। **देवीप्रसाद मिश्र** तो इसे स्पष्ट चुनौती देते हुए कहते हैं :

“आततायी तन्त्र की जय/का विरूद्ध बनकर पशु बनकर/जो घूमेगा/काटा जाएगा”¹

नरेश सक्सेना की बाबरी मस्जिद ध्वंस पर एक महत्वपूर्ण कविता है ‘छह दिसम्बर’ जिसमें वे इस बर्बरता को मध्यकालीन बर्बरता से जोड़ते हुए लिखते हैं :

“इतिहास के बहुत से भ्रमों में से एक यह भी है/ कि महमूद गजनवी लौट गया था

लौटा नहीं था वह / यही था / सैकड़ों बरस बाद अचानक वह प्रकट हुआ अयोध्या में

सोमनाथ में उसने किया था/अल्लाह का काम तमाम

इस बार उसका नारा था/जय श्री राम।”²

असद जैदी अपनी कविता पौर्वात्य सन्नाता में भगवा संगठनों के विकृत राष्ट्रवाद और आम जन पर उसके प्रभाव पर चर्चा करते हुए लिखते हैं :

“देखिए हिन्दुत्व की परिभाषा अकादमी ने नहीं, उच्चतम न्यायालय ने तय की है

हम तो पालन के दोषी हैं और अगर हम ऐसा लम्बे समय से करते आ रहे हैं तो इसे गफलत नहीं

दूरन्देशी समझा जाना चाहिए।”³

बोधिसत्त्व की एक महत्वपूर्ण कविता ‘होते वली जो तुम’ में वे धर्म के नाम पर इस अंतहीन हिंसा पर प्रश्न करते हैं :

¹ मिश्र, देवीप्रसाद . अश्वमेध, प्रार्थना के शिल्प में नहीं . पृ. सं.- 70

² सक्सेना, नरेश . 6 दिसम्बर, समुद्र पर हो रही बारिश . पृ. सं.- 60

³ जैदी, असद . अगस्त 2000 . दूरभाष कविता, कथादेश . पृ. सं.- 38

**"जैसे बाढ़ उतरती है/ठंडी होती है आग राग पड़ता है धीमा/ क्या होती है वैसे ही हिंसा की सीमा
जिसके बाद रोना धोना..... जाता है रूक लेन देन जाते हैं चुक....." ¹**

कमोवेश हिन्दी के सभी समकालीन कवियों ने धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में फासीवाद के मजबूत होने पर चिंता व्यक्त की है और अनेक महत्वपूर्ण कविताएं भी लिखी हैं। फासीवाद के बारे में पहले ही चर्चा में बताया जा चुका है कि वह पूंजीवाद से कैसे नाभिनालबद्ध है। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक की कविता पर धर्म और संस्कृति के प्रभावों को पूंजीवाद के विस्तार से ही जोड़ कर देखा जाना चाहिए। **वीरेन डंगवाल** धर्म और संस्कृति के इस आकामक स्वरूप का अपनी कविता में विरोध करते हैं। उनकी कविता परम्परा इस संदर्भ में उल्लेखनीय है :

"पहले उसने हमारी स्मृति पर डंडे बरसाये

और कहा -असल में यह तुम्हारी स्मृति है

फिर उसने हमारे विवेक को सुन्न किया

और कहा- अब जाकर तुम हुए विवेकवान

फिर उसने अपनी सजी हुई डोंगी हमारे रक्त की/ नदी में उतार दी

और कहा अब अपनी तो यही है परम्परा"²

कविता को पढ़ने पर उग्र राष्ट्रवादी राजनीतिक दलों का सारा इतिहास आँखों के सामने से गुजर जाता है। धर्म के नाम पर इन दलों ने हिंसा की एक नई संस्कृति को जन्म दिया है। कविता इसके विरोध में खड़ी है। संस्कृति के क्षेत्र में कार्यरत बुद्धिजीवी संस्कृतिकर्मियों द्वारा संस्कृति को राजनीति से निरपेक्ष रूप में देखे जाने के कारण राजनैतिक आन्दोलनों से असम्बद्ध संस्कृतिकर्म अपनी तमाम सदिच्छाओं के बावजूद धीरे-धीरे साम्राज्यवादी हितों पर प्रहार करने के बजाय धीरे-धीरे उसी के तर्कों का उपयोग करने लगा, लेकिन इसके बावजूद एस प्रतिबद्ध संस्कृतिकर्मी भी हुए जिन्होंने संस्कृति के क्षेत्रों में इन खतरों की पहचान की और बाजार के सर्वग्रासी विस्तार और पाखंडियों के आक्रामक होते जाने के विरुद्ध प्रतिरोध के मार्ग खोजे, एक वैकल्पिक सांस्कृतिक, राजनैतिक चेतना के निर्माण का प्रयास

¹ बोधिसत्व . होते वली जो तुम, खत्म नहीं होती बात . पृ. सं.- 41-42

² डंगवाल, वीरेन . परम्परा, दुष्प्रक्र में स्रष्टा . पृ. सं.- 94

किया। यद्यपि ये कोई मुकम्मल आकार नहीं ले सके लेकिन ऐसी छोटी ईमानदार शक्तियों के एकीकरण में ही सही सांस्कृतिक प्रतिरोध की संभावनाएं छिपी हैं।

हिंदी साहित्य में धर्म :

हिंदी साहित्य में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय समाज और संस्कृति में धर्म का गहरा प्रभाव रहा है, और यह साहित्य में भी परिलक्षित होता है। धर्म और अध्यात्मिकता हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों में केंद्रीय विषय रहे हैं।

आदिकाल (वीरगाथा काल) में धार्मिक साहित्य का विशेष स्थान था। इस काल के रचनाकारों ने धार्मिक ग्रंथों का सृजन किया, जैसे कि रामचरितमानस (तुलसीदास), सूरसागर (सूरदास) आदि। इस काल में भक्ति साहित्य की प्रधानता थी, जिसमें भगवान की स्तुति, भजन, और कीर्तन का विशेष महत्व था।

भक्तिकाल में संत साहित्य का उदय हुआ, जिसमें संतों ने धर्म और आध्यात्मिकता को लेकर अपनी रचनाएँ कीं। संत कबीर, गुरु नानक, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, आदि ने इस काल में भक्ति और धर्म के विषयों पर साहित्य का सृजन किया। इनके साहित्य में भक्ति, सादगी, और धार्मिकता का महत्व दिखता है।

आधुनिक काल में भी धर्म पर लेखन जारी रहा, हालांकि इस काल में सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों ने भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा जैसे लेखकों ने अपने साहित्य में धर्म को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया, जिसमें समाज के धार्मिक पक्ष और उसकी जटिलताओं पर भी विचार किया गया।

धर्म हिंदी साहित्य में केवल आस्था का विषय नहीं है, बल्कि यह समाज, संस्कृति, और मानवता के विभिन्न पहलुओं को समझने और व्याख्या करने का एक साधन भी रहा है।

हिंदी साहित्य में संस्कृति :

हिंदी साहित्य में संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। यह साहित्य समाज की भावनाओं, मान्यताओं, और परंपराओं का प्रतिबिंब होता है। हिंदी साहित्य के विभिन्न युगों में संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

प्राचीन युग में, वेदों और उपनिषदों जैसे धार्मिक ग्रंथों में भारतीय संस्कृति की गहन अभिव्यक्ति मिलती है। यह साहित्य धर्म, अध्यात्म, और जीवन के मूल्यों को प्रमुखता देता है।

भक्तिकाल में, संत कवियों जैसे तुलसीदास, सूरदास, और मीराबाई ने अपने काव्य के माध्यम से धार्मिक संस्कृति को जन-जन तक पहुँचाया। उनके साहित्य में भक्ति और आध्यात्मिकता का प्रमुख स्थान है।

रीतिकाल में, राज दरबारों में पनपे साहित्य में राजसी संस्कृति, नारी सौंदर्य, और शृंगार रस का वर्णन हुआ। इस युग के साहित्य में संस्कार, रीति-रिवाज, और सामाजिक आचार-व्यवहार का चित्रण मिलता है।

आधुनिक युग में, हिंदी साहित्य ने समाज सुधार, स्वतंत्रता संग्राम, और प्रगतिशील विचारों को अपनाया। प्रेमचंद, महादेवी वर्मा, और जयशंकर प्रसाद जैसे साहित्यकारों ने भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक और सांस्कृतिक मुद्दों को उजागर किया।

इस प्रकार, हिंदी साहित्य में भारतीय संस्कृति का अनमोल स्थान है, जो समय के साथ बदलते सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश को प्रतिबिंबित करता है।

4.1. धार्मिक प्रभाव

भूमंडलीकरण प्रतिस्पर्धी दुनिया का एक महत्वपूर्ण कारक है जो वैश्विक स्तर पर लोगों के सांस्कृतिक मूल्यों को एकीकृत और जुटाता है। तेजी से तकनीकी प्रगति के युग में, कई देशों को एकीकृत किया जाता है और वैश्वीकरण की प्रक्रिया के कारण बदल जाता है। भूमंडलीकरण का सांस्कृतिक, सामाजिक, मौद्रिक, राजनीतिक और देशों के सांप्रदायिक जीवन पर व्यापक प्रभाव है। प्रचुर मात्रा में सैद्धांतिक अध्ययनों से पता चला है कि वैश्वीकरण आबादी के सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप करता है जो कई महत्वपूर्ण मुद्दों (रॉबर्टसन, 1992) को जन्म देता है। व्यापक अर्थ में, 'भूमंडलीकरण' शब्द का अर्थ है सूचनाओं, विचारों, प्रौद्योगिकियों, वस्तुओं, सेवाओं, पूंजी, वित्त और लोगों के क्रॉस कंट्री प्रवाह के माध्यम से अर्थव्यवस्थाओं और समाजों का संयोजन। वैश्वीकरण को सिद्धांतकारों द्वारा उस प्रक्रिया के रूप में वर्णित किया जाता है, जिसके माध्यम से समाज और अर्थव्यवस्थाओं को विचारों, संचार, प्रौद्योगिकी, पूंजी, लोगों, वित्त, माल, सेवाओं और सूचनाओं के सीमा पार प्रवाह के माध्यम से एकीकृत किया जाता है।

समाज में धर्मनिरपेक्षतावाद में वृद्धि की प्रवृत्ति देखी जा रही है (समरूपीकरण), परन्तु विवाह जैसी प्रथाओं में धार्मिक समारोहों की निरंतरता संस्कृतियों के संकरण (मिश्रण) की ओर संकेत करती है। इसलिए, जहाँ धर्म सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं में महत्वपूर्ण हो गया है, वहीं अन्य पहलुओं में इसका महत्व वैश्वीकरण के कारण कम हुआ है। हालांकि, ऐसी समरूपता और संकरण के सह-अस्तित्व के साथ-साथ समाज में एक धार्मिक पुनरुत्थानवाद भी मौजूद रहा है। धर्म गुरुओं की मौजूदगी एवं ज्योतिष शास्त्र की प्रधानता, ऐसे ही पुनरुत्थानवाद की ओर संकेत करते हैं।

समकालीन हिंदी कविता वर्तमान समय में जीवन की विविधताओं, सामाजिक मुद्दों, और मानवीय अनुभवों को दर्शाने का एक माध्यम है। यह कविताएँ आधुनिक समाज के विभिन्न पहलुओं को छूने का प्रयास करती हैं। धर्म के विषय पर भी कई रचनाएँ हैं। धर्म और अधर्म के विचार कविताओं में अक्सर उभरते हैं, जो मानवीय जीवन के अद्वितीयता और अर्थ को दर्शाते हैं।

धर्म और साहित्य को अलग करना कई बार टेढ़ी खीर नजर आता है। इस मापदंड पर संस्कृत साहित्य को देखे तो उसका साहित्य रामायण, महाभारत, पुराण, कथासरित्सागर के इर्द-गिर्द ही सारी रचनाओं के कथानक बुने गए हैं। इन्हीं दो आख्यानों से प्रभावित हिंदी साहित्य का भक्तिकाल और रीतिकाल का साहित्य रहा है। कला माध्यम में सिर्फ साहित्य ही नहीं बल्कि और कलाएँ भी धर्म को आधार बनाकर आगे बढ़ी हैं। हिंदी सिनेमा का उदय दादा साहब फाल्के के द्वारा होता है जिनकी अधिकांश फ़िल्में धार्मिक आख्यानों की कथा कहती हैं। चित्रकारी और मूर्तिकला भी धर्म से जुड़ी रही है। यहाँ तक कि राजा रवि वर्मा ने हिन्दू देवी-देवताओं की तस्वीर बनाने से अपनी कला की शुरुआत की थी। इस तरह देखा जाए तो अधिकांश कलाओं की शुरुआत धार्मिक कथाओं और आख्यानों से प्रेरित

रही हैं। र्म और साहित्य का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित था। भक्तिकाल तक ज्यादातर कवियों का उद्देश्य अपने आराध्य के प्रति साहित्य के द्वारा अपनी भक्ति को दर्शाना था। वहीं रीतिकाल तक आते-आते भक्ति एक माध्यम भर रह जाती है। धर्म जीवन को सुगम बनाने में सहायक रहा है मगर वक्त के साथ इसकी व्याख्या बदलती गयी।

साहित्य और धर्म को दो किनारों पर लाने का श्रेय नवजागरण काल को है जिनमें सभी चीजों का मूल्यांकन एक नए सिरे से शुरू होता है। नवजागरण काल में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तर्कवादी नज़रिए ने धार्मिक विश्वास और आस्था को डिगाना शुरू कर दिया। इसलिए अब साहित्य का विषय धर्म, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा नहीं बल्कि सीधे-सीधे मनुष्य को केंद्र में रखते हुए मानवीय मूल्यों और उसके जीवन संघर्षों के बारे में कहना शुरू करता है। यानी पहले जहाँ साहित्य के केंद्र में ईश्वर था वही अब साहित्य का केंद्र मनुष्य हो गया। आधुनिकता आने के कारण साहित्य अब न आदिकाल की तरह राजा या सत्ता की अतिरंजित प्रशंसा करता है और न ही भक्तिकाल की तरह सबकुछ ईश्वर को समर्पित करके छुटकारा पाना चाहता है। रीतिकाल की सामंती और नारी के प्रति मांसल दृष्टिकोण से भी बाहर आ गया है। अब वह मनुष्य के सुख-दुःख और रोजमर्रा की कहानी कहना ही अपना ध्येय समझता है।

आज भी भारत में धन का जितना बड़ा हिस्सा धर्म और उसके कर्मकांड में खर्च किया जाता है उतने पैसे में भारत की प्रत्येक ग्राम पंचायत में एक समृद्ध और विशाल पुस्तकालय खोला जा सकता है। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं को उचित सहयोग दिया जा सकता है। तथाकथित बाबाओं और संतों के विलासी व भोगवादी जीवन के अंशमात्र से कोई लेखक बेहतर जिन्दगी जीते हुए साहित्य सृजन कर सकता है। कई प्रतिभाशाली साहित्यकार इसलिए बेहतर रच नहीं पाते हैं कि उन्हें रोजी-रोटी की तलाश में अपना महत्वपूर्ण जीवन को खपा देना पड़ता है।

साहित्य एक समय भले धर्म की बैसाखी लेकर चला था लेकिन आज दोनों के लक्ष्य भिन्न हैं। धर्म एक जड़वादी मानव विरोधी तेवर के रूप में तेजी से उभर रहा है। यह दृश्य भला किसे अच्छा लगेगा? वह आस्था और भावनाओं को भड़काकर हिंसा और कत्लेआम तक करवा रहा है। यानी धर्म एक ऐसी अमूर्त अवधारणा बन गई है जिसका कोई भी सांप्रदायिक व्यक्ति अपने स्वार्थहित के हिसाब से उसकी परिभाषा और व्याख्या करके आसानी से इस्तेमाल कर सकता है। इनके आश्रय स्थलों में हिंसा, हत्या, बलात्कार, नफरत जैसी गतिविधियाँ चलती हैं। धर्म की इन मानव विरोधी गतिविधियों को रोकने का सामर्थ्य साहित्य में है। साहित्य के द्वारा उनके सोचने-समझने के तरीकों में बदलाव करके 'अधर्म' के पसरते हुए पाँव को रोक जा सकता है।

जिस इक्कीसवीं सदी में ज्ञान का विस्फोट होने से साहित्य को गली-गली में अपने स्वर ऊँचे करने चाहिए थे लेकिन दुःख की बात यह है कि भारतीय समाज आज भी धर्म भीरुता के दलदल में फँसा हुआ नजर आ रहा है। जिन युवाओं को एकजुट होकर बेरोजगारी , भ्रष्टाचार , असमानता

और भेदभाव, अन्याय, शोषण के खिलाफ लड़ना था वह आज धर्म की ध्वजा लेकर नारे लगा रहे हैं। दरअसल राजनीतिक सत्ता भी यही चाहती है कि देश के युवा बुनियादी समस्याओं से बेखबर होकर धर्म-धर्म और मज़हब-मज़हब पुकारें ताकि उन्हें राजनीति की सत्ता का भोग करने में किसी तरह की बाधा पैदा न हो। इन सभी विकट स्थितियों के प्रति जागरूक करने और मुसीबतों से लड़ने का साहस पैदा करने का माद्दा साहित्य देता है। साहित्य, सीधे क्रांति तो नहीं कर सकता लेकिन इन स्थितियों में सामाजिक चेतना की मशाल जला सकता है। इसलिए संस्थाबद्ध धर्म मानवता का रक्षक कभी नहीं हो सकता। मानवता की रक्षा के लिए साहित्य और साहित्यकार को विचारों की मशाल लेकर आगे आना चाहिए।

साहित्य अथवा विचारधारा को दुनिया में जितने भी प्रगतिशील बुद्धिजीवी हैं, उनमें से बमुश्किल 4-5 लोग जातिव्यवस्था को समाप्त करने के पक्षधर है -, बाकी तो सभी लेखन और व्यक्तिगत जीवन में सशक्त दोहरापन जी रहे हैं। गोष्ठियों, सभाओं और मंचों पर जातिव्यवस्था के खिलाफ आग उगल आना - और बात है और घर आकर मंगलवार का व्रत रहना, यात्रा में निकलने के पहले पंचांग में शुभतिथि - जानना, और जाति के लड़के से प्रेम करने आतंकवाद के जिन्दा हथियार बनते हैं, फिर आतंकवाद इस मानव को जहाँ चाहे अपने मकसद के लिए इस्तेमाल कर सकता है। यहीं इस संदर्भ में 'बर्टेंड रसेल' का यह विचार उल्लेखनीय है **धर्म", में समझता है प्रारंभिक और मुख्य रूप से भय पर आधारित है। यह आंशिक रूप से अज्ञात का आतंक है।"**¹

इस प्रकार धर्म और आतंकवाद दोनों मिलकर पृथ्वी पर वह हाहाकार मचाते हैं कि पूरी सभ्यता ही संकट में पड़ी हुई दिखाई देने लगती है। यहाँ यह कहना जरूरी है कि धर्म आतंकवाद का एक सशक्त भावनात्मक हथियार है। धर्म के आड़ में वह अपनी वैधता प्राप्त करता है। धार्मिक हिंसा का बड़ा ही घृणास्पद पहलू पशुबलि अथवा जीवहत्या के रूप में दिखाई पड़ता है। धर्म को इस विवेकशून्य प्रवृत्ति का विरोध करते हुए हजारों साल पहले कभी बुद्ध ने कहा था कि यदि पशुबलि देने से तुम्हारी देवी प्रसन्न होती है तो मानवबलि देने से और भी प्रसन्न होगी-, फिर तो मेरी बलि दो।

धर्म का इतिहास गवाह है कि उसमें नरबलि और पशुबलि दोनों प्रचलित हैं। आज भी जहाँ-जहाँ तांत्रिक साधना केन्द्र है, जहाँ आज भी देवियों के शक्तिपीठ सक्रिय हैं वहाँ पशुबलि दी जाती है खुलेआम, विधिपूर्वक, पूजा-पाठ के साथ। हिन्दू धर्म में कुछ देवियाँ तो अपने सेवकों के सिर चढ़कर अपना आहार माँगती हैं दे। नहीं तो खानदान में अकाल मौत का तांडव मच जाएगा, गाँव में हैजा फैल जाएगा। ये सेवक देवियों के डीह पर बकरा अथवा मुर्गा की बलि देते हैं। गुवाहाटी का कामाख्या मंदिर तो प्रतिवर्ष भैंसों की बलि दिए जाने के कारण कुख्यात है ही। यहाँ की जागता देवी भैंसों का कच्चा हाड़-

¹ रसेल, बर्टेंड . 2004 . समकालीन सृजन (विशेषांक : धर्म, आतंकवाद और आज्ञादी) . पृ. सं.-34

मांस खाकर और गर्म खूनकर पीकर ही जिंदा रह पाती हैं। इतना खून पीकर तो किसी के सिर पर खून सवार हो जाय, भक्त गण कैसे बच जा रहे हैं ?

भारत दुनिया का सबसे विशाल धर्मनिरपेक्ष प्रजातांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था माना जाता है यानी 'प्रभुसत्तासंपन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य'। लेकिन इस विशाल धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र ने अब तक बहुत सारे भयानक सांप्रदायिक दंगों का सामना किया है। संविधान ने धर्मनिरपेक्षता को अपना तो लिया है लेकिन व्यावहारिक रूप से भारत आज भी पूरी तरह से धर्मनिरपेक्षता को अपना नहीं पाया है। यहाँ पर होनेवाले धार्मिक उन्माद इसी के दृष्टान्त है। आजकल तो भारतीयों के जीवन में धर्म का गहरा हस्तक्षेप चल रहा है।

अंग्रेजी शब्द 'secularism' का हिन्दी पर्यायवाची शब्द है 'धर्मनिरपेक्षता'। लैटिन शब्द 'saeculum' से 'secular' शब्द लिया गया है जिसका अर्थ है 'The spirit of an age'। धर्मनिरपेक्षता की बहुत सारी परिभाषाएँ प्रचार में आयी हैं। ज्यादातर माना जाता है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'सर्वधर्मसमभाव' है। धर्मनिरपेक्षता के तहत भारतीय दृष्टिकोण वही था। सभी धर्मों को एकता और समभाव के साथ देखना तथा एक दूसरे की धार्मिक भावना और आस्थाओं का आदर करना वही सर्वधर्म समभाव का मतलब था।

धर्मनिरपेक्षता बहुत ही गहरा और अर्थ बहुल सिद्धान्त है। इसकी सीमायें बहुत विशाल हैं। इसे अपनाने और लागू करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा भी विशाल होनी चाहिए। तब ही अपने धर्म को आदर देते समय दूसरों के धर्म की एहमियत भी समझ पायेंगे। भारत में धर्मनिरपेक्षता का इतिहास त्याग, संघर्ष और बलिदान का रहा है। भारत जैसे धर्मबहुल देश में धर्मनिरपेक्षता का बीज बोना बहुत ही मुश्किल है। फिर भी संविधान में धर्मनिरपेक्षता को जगह देकर भारत ने उस मुश्किल को मिटा दिया। लेकिन आज भी पूरी तरह से भारत धर्मनिरपेक्ष नहीं बना है। केवल सैद्धान्तिक स्तर पर भारत को 'सेक्युलर' कह सकते हैं।

धर्मनिरपेक्षता की भावना में विविधता में एकता लाने की शक्ति है। भारत कई धर्मों, समुदायों, भाषाओं में विभाजित है। इन सब को एक सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से संविधान ने धर्मनिरपेक्षता को अपनाया था। नेहरू ने कहा था "धर्मनिरपेक्ष शब्द के, मेरी राय में कुछ और भी मायने हैं जो शब्दकोश में दिये गये अर्थ में निहित नहीं हैं। धर्मनिरपेक्षता में सामाजिक और आर्थिक समानता का अर्थ भी निहित है। इस दृष्टि से इस शब्द का प्रचलित अर्थ अपूर्ण है। समाज सच्चे अर्थों में धर्मनिरपेक्ष नहीं है।"¹

यहीं नहीं उनकी राय में धर्मनिरपेक्षता का मतलब धर्म की उपेक्षा नहीं है बल्की धर्म का स्वरूप राजनैतिक और सामाजिक स्तर से भिन्न रखना है। धर्म निरपेक्षता में किसी भी धर्म में विश्वास रखने तथा

¹ जोशी, पूरन चन्द्र . अवधारणाओं का संकट . पृ. सं.- 16

न रखने की आज्ञा दी है। धर्मनिरपेक्षता धर्म के खिलाफ़ बिल्कुल नहीं है। बल्कि वह धर्म और धार्मिक आस्था का साथ देता है। किसी भी धर्म से भेदभाव न रखने की भावना से सर्वधर्मसमभाव बना है। भारत में आजकल धर्मनिरपेक्षता की भावना लुप्त होती नज़र आ रही है। भारत ने सही मायनों में धर्मनिरपेक्षता को अपनाया होता तो यहाँ पर इतने सारे सांप्रदायिक दंगे नहीं होते ।

भारत की राजनीति धर्म पर आधारित बनती जा रही है। धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक भारत आज धर्मान्धता के चंगुल में फंसा हुआ है। भारत की धर्मनिरपेक्षता की भावना को यहाँ का धार्मिक उन्माद निचोड़ रहा है। धर्म एक ऐसी शक्ति है जिसे अतीव ध्यान के साथ नियंत्रित रखना ज़रूरी है। क्योंकि जहाँ पर नियंत्रण ज़रा ढीला हो जाता है वहाँ पर सर्वनाश हो जाता है। समाज कभी भी धर्म के खिलाफ़ नहीं खड़ा हो सकता क्योंकि धर्म समाज की नींव में, नसों में मिली हुई है। सही धर्म मानवता को सही राह दिखाता है जो संपूर्ण समाज के कल्याण के लिए होता है। असल में मानवता को सही रास्ते पर चलाने और उसे जीवनमूल्यों से दिशाभ्रष्ट होने से बचाने के लिए ही धर्म का आविष्कार हुआ था। लेकिन वही आविष्कार आज मानवता के सिर पर सबसे बड़ा खतरा बनकर मंडरा रहा है। धर्म जब अपनी लक्ष्मणरेखा पार करके धर्मान्धता बनकर राजनीति से हाथ जोड़ता है तो सांप्रदायिकता जैसी विध्वंसकारी विपत्ति का जन्म होता है। खतरनाक से खतरनाक होने के बावजूद भी भारत की राजनीति सांप्रदायिकता रूपी सर्वनाश को अपनाती नज़र आ रही है।

गांधीजी ने कहा था- **"Those who say religion has nothing to do with politics do not know what religion is"**¹, उनके अनुसार धर्म का होना अनिवार्य था और धर्म का राजनीति से साथ और भी अनिवार्य था। लेकिन उनके लिए धर्म वह आस्था थी जो उन्हें कर्तव्यनिष्ठ बनाता हो न कि दूसरों से अलगाव का माध्यम । गाँधीजी का यह भी मानना था कि **"धर्म से जुदा राजनीति से दुर्गंध आती है तथा राजनीति से अलग धर्म निरर्थक है"**²। क्योंकि उनके लिए धर्म आत्मशुद्धीकरण का औजार था और इस औजार से राजनीति को भी संशुद्ध करना उनका लक्ष्य था। सदियों से धर्म को हथियार बनाकर स्वार्थपूर्ति का खेल भारत में मौजूद था। इस खेल के खतरनाक बीज अंग्रेज़ों ने बोया था जो आज विशालकाय बनकर भारतीय एकता के सिर पर तलवार बनकर लटका है। उनके लिए सत्ता बनाए रखना था और

उसके लिए उन लोगों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डाल दी। उनकी यह चाल भारत के लिए बहुत भारी सिद्ध हुआ। मज़हब के नाम पर देश की पीठ पर कुल्हाड़ी मार ली और दो टुकड़े कर दिये। अंग्रेज़ों के उसी पुरानी चाल को आज के राजनीतिज्ञों ने भी अपनाया है। दोनों का लक्ष्य एक ही था 'सत्ता'। **लेनिन** के अनुसार **"धर्म आत्मिक उत्पीड़न की एक किस्म है, उसके बोझ के नीचे सर्वत्र जनसाधारण दबे पड़े हैं, जो दूसरों को कोल्हू के बैल की तरह दिन रात काम से, अभाव से तथा**

¹ Jefferia, Jennifer. L. .Religion and Political Violence- Sacred protest in the Modern World . Page No.- 1

² शम्भुनाथ . सभ्यता से संवाद . पृ. सं.- 101

अलगाव से कुचले हुए हैं"।¹ यानी कि धर्म ने आज अलगाववाद का रास्ता खोल दिया है। मार्क्स ने सही कहा था कि जनता के वास्तविक सुख के लिए, मिथ्या सुख के रूप में प्रतिष्ठित, धर्म का उन्मूलन करना अनिवार्य है।

अपने धर्म को ही मात्र सही मानना, दूसरे धर्मावलंबियों से घृणा करना, उनपर धर्मान्तरण के लिए जोर देना यह सब सांप्रदायिकता की कूट नीति है। भारत के राजनैतिक दलों ने सांप्रदायिकता को अपना रणकौशल बना दिया है। बरसों पहले ब्रिटिशों द्वारा डाले गये 'फूट डालो राज करो' नीति को अपनाकर आज के राजनीतिज्ञ वोट बैंक हड़पने की कोशिश में हैं। सही समझ होने के बावजूद भी लोग नासमझों की तरह इनके चाल में फंसते हैं और दंगे फसाद खड़ा करते हैं। भारत की राजनैतिक सरहदें धर्म पर आधारित बनता जा रहा है। दुनिया का सबसे विशाल धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य होने के बावजूद भी यहाँ के ज्यादातर लोगो के दिल और दिमाग पर धर्म का भूत सवार है। यहाँ पर हर समस्या की जड़ें धर्म से जा मिलती हैं। संविधान के लागू होते ही भारत ने धर्मनिरपेक्षता को तहे दिल से अपना लेन का निर्णय तो लिया था, लेकिन यह कहाँ तक साकार हुआ? धर्मनिरपेक्षता किस हद तक धर्म को काबू में रख पाया? यह सब सालों से बहुचर्चित विषय है।

विविधता में भी एकता के लिए विख्यात भारत को बाबरी मस्जिद विध्वंस और गोधरा काण्ड जैसे घिनौने हरकतों के लिए दुनिया के सामने अपमानित होना पड़ा। धर्मबहुल देश होने के नाते भारत में एकता बनाये रखना बहुत ही मुश्किल है। लोगों को एकता के डोर में बाँधकर आगे ले जाना इसलिए भी मुश्किल है क्योंकि यहाँ पर धर्म और आस्था के नाम पर जान गंवानेवालों की कोई कमी नहीं है। **"भारतीय संस्कृति न तो पूरी तरह हिन्दू है, न इस्लामी और न ही कोई और संस्कृति। यह सबका समन्वय है"।²** और इस समन्वय के बीच एकता बनाने और बिगाड़ने में यहाँ की राजनीति का बहुत बड़ा हाथ है।

धर्म एक ऐसा खतरनाक और नाजुक मुद्दा है जो सर्व विनाशकारी शक्ति से संबद्ध रहता है। इसका फायदा उठाते राजनैतिक सत्ताधारी स्वार्थ और भ्रष्ट खेल खेलते हैं। सदियों से यह खेल भारत में चलता आ रहा है। पहले विदेशियों ने इस तंत्र का इस्तेमाल किया। देश की एकता में धर्मरूपी चिंगारी को इतना भड़का दिया कि देश विभाजन के मुकाम तक पहुँच गया। पहले अंग्रेजों ने जो खेल शुरू किया था उसे आज के स्वदेशी राजनीतिज्ञ आगे ले जा रहे हैं। वे सत्ता बनाये रखने के लिए धर्म का गलत इस्तेमाल बेझिझक कर रहे हैं :

"कुसी जाने का भय,

¹

² भादू, राजाराम . धर्मसत्ता और प्रतिरोध संस्कृति . पृ. सं.- 269

कुसी हथियाने की तिड़क

काले धन की स्वाधीन सत्ता का खेल, जाति, वर्ण, धर्म के बगलो अक्रामक चुकते ही-

अविभाजित को विभाजित करने में तुल जाते हैं।¹

कुर्सी बनाये रखने के लिए धर्मा के अखाड़ों को लड़वा दिया जाता है। और इस लड़ाई के बदौलत सत्ता हथिया लिया जाता है। लोग सबकुछ जानते हुए भी बेवकूफों की तरह केवल ताकते रहते हैं। सत्ता का निर्णय लेने का अधिकार होने के बावजूद भी यहाँ के मतदाता असफल हो जाते हैं क्योंकि देश की राजनीति अच्छी तरह जानती है कि मतदाताओं को किस प्रकार धोखा देना है। राजनीति के हस्तक्षेप की वजह से धर्म इतना भयानक और खतरनाक शक्ति बन गया है कि, भारत को मिटाने के लिए सिर्फ यहाँ की धार्मिक भावनाओं को कुरेदना काफ़ी होता है :

"जो धर्मों के अखाड़े हैं

उन्हें लड़वा दिया जाये।

ज़रूरत क्या कि हिन्दुस्तान पर

हमला किया जाय।"²

इन पक्तियों में शमशेर बहादुर सिंह ने बिलकुल सही कहा है क्योंकि भारत को स्थिति ऐसी बन गयी है। यहाँ पर करोड़ों रूपये खर्च करके हमला करने की कोई ज़रूरत नहीं है। सिर्फ इतना करना होता है कि ज़रा सी धर्म की चिंगारी को भड़काना है बाकि सब यहाँ के धार्मिक नेता और राजनीतिज्ञ कर देंगे। धर्म और आस्था पवित्रता का स्वरूप है जिसे अगर सकारात्मक रूप से इस्तेमाल किया जाय तो सारे मानव जाति को एकसूत्र में बाँधकर देश को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सकता है। धर्म से ऐसा संस्कार उत्पन्न हो सकता है जिससे देश को चैन और अमन का रास्ता दिखाकर 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का सन्देश फैला सकता है। उसी धर्म का सर्व विनाशकारी रूप का आज इस्तेमाल किया जा रहा है। राजनैतिक अराजकता ने सिक्के के विनाशकारी पहलू को अपनाकर देश में सांप्रदायिक भावना को बढ़ा दिया है। धर्म को ब्रह्मास्त्र बनाकर संपूर्ण मानवता पर किस तरह वार करना है यह आज के राजनीतिज्ञ भली भाँति जानते हैं : **"धर्म का सीधा संबन्ध भगवान और उसकी पवित्र पुस्तक से**

¹ शील . लाल पंखोंवाली चिड़िया . पृ. सं.- 31

² सिंह, शमशेर बहादुर . काल तुझसे होड़ है मेरी . पृ. सं.- 30

कटकर केवल उन नेताओं तक सीमित रह गया जो देश और धर्म दोनों के पालनहार बने बैठे हैं।¹ धर्म और आस्था को वोट हड़पने और अधिकार स्थापित करने का मुख्य माध्यम और रास्ता बना दिया गया है। कात्यायनी ने इस अधिकार तंत्र के प्रति अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है :

“आस्था केवल बहुमत का अधिकार होती है,

आस्था उन्माद की अम्मा होती है,

मतदान - यज्ञ की कृत्या होती है आस्था।”²

विख्यात पंडिता एमली दुर्खीम ने धर्म को सामूहिक जीवन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति माना है। एक समूह को आपस में बाँधे रखने के लिए, उन्हें समाज का हिस्सा बनाये रखने के लिए धर्म की कल्पना की गयी थी। लेकिन धर्म की अवधारणा और परिवेश दोनों को राजनीति ने बिलकुल बदल दिया है। ‘नयी सदी का पंचतंत्र’ में उदय प्रकाश व्यक्त करते हैं “सचमुच धर्म कहते ही हम स्वयं को उस प्रदूषित अवधारणा के बीचों बीच पाते हैं, जिसे हमारे समय और निकट के अतीत की राजनीति ने चौतरफा पैदा किया है। धर्म कहते या सोचते हमारे मस्तिष्क में एक ऐसी अनुक्रिया अथवा प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है ही, पिछले कुछ समय से घटित विध्वंसात्मक राजनीति द्वारा विनिर्मित एक खास छवि भी हमारे भीतर है। यह मूल रूप से ‘धर्म’ का सत्ता केन्द्रित राजनीतिक छवि है। राजनीतिक सत्ताओं द्वारा विनिर्मित और उसी द्वारा विखंडित।”³

राजनीति के इस खास और विखंडित छवि को समकालीन कविता ने ऐसा चित्रित किया है :

“संदेह करनेवालों को उम्रकैद

तर्क करनेवाले को फाँसी

अल्पमत पर बहुमत का धर्मराज्य

नास्तिकों को सूली -

इन सबको

¹ शर्मा, नासिरा . राष्ट्र और मुसलमान . पृ. सं.- 57

² कात्यायनी . इस पौरुषपूर्ण समय में . पृ. सं.- 113

³ प्रकाश, उदय . नयी सदी का पंचतंत्र . पृ. सं.- 179

दैहिक - दैविक - भौतिक ताप से पूर्ण मुक्ति।¹

सत्तामोह ने राजनीति को किस हद तक स्वार्थी बना दिया है इसे कवयित्री ने यहाँ पर खुले आम चित्रित किया है। सत्ता बनाये रखने के लिए जनतंत्र की नींव पर बार करने से भी वे नहीं हिचकते। यही आज की भारतीय राजनीति की स्थिति और व्यवस्था है। जो कोई भी राजनीति के इस भ्रष्ट खेल में बाधा बनता है, उनके हाथों से जीने का अधिकार छीन लिया जाता है।

चाणक्य नीति में विष्णुगुप्त चाणक्य ने धर्म की महत्ता की बात करते हुए कहा था कि मनुष्य जीवन में सबकुछ नष्ट हो जाता है केवल धर्म का मार्ग शाश्वत रहता है। इससे साबित हो जाता है कि प्राचीन काल से लेकर भारतीय विचारधारा में धर्म का कितना महत्वपूर्ण स्थान था। लेकिन यह बात भी उल्लेखनीय है कि सत्ता की स्वार्थपूर्ति के लिए राजनीति द्वारा धर्म का गलत इस्तेमाल तब भी सशक्त रूप से होता था। चाणक्य ने राजनीति की इस अनीति पर भी बल दिया है। राजकोषीय वृद्धि और राजा के हितों की रक्षा के लिए भोली जनता की आस्था का शोषण करने का समर्थन देकर चाणक्य ने राजनीति की इस अराजकता का समर्थन किया।

गाँधीजी ने 'मेरे सपनों का भारत' में लिखा है कि "ऐसे किसी प्रचार की अनुमति नहीं दी जा सकती जिसमें दूसरे धर्म की निंदा में परमत सहिष्णुता का सिद्धान्त भंग होता है।"² ऐसे में किसी भी धर्म की भावना को खतरा नहीं होता और कोमी एकता बनी रहती है। लेकिन इसे समझने के लिए भ्रष्ट सत्तातंत्र बिलकुल तैयार नहीं है।

भारत में ही सबसे ज्यादा धार्मिक विभाग और उसके उपविभाग जन्मे हैं। यह तो एक तरह से यहाँ के भ्रष्ट राजनीति के लिए वरदान बन गया है। इसी तथ्य को हथियार बनाकर राजनैतिक नेता, लोगों को भड़काते हैं और आपस में लड़वाकर अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं।

'अवधारणाओं का संकट' में पूरन चंद्र जोशी बताते हैं कि, "धर्म के जड़ीभूत स्वरूप ही तनाव, वैमनस्य और हिंसा के कारण बन जाते हैं।"³ और धर्म का यह जड़ीभूत वैमनस्य का स्वरूप तब ही उत्पन्न होता है जब उसके साथ सत्तामोह की स्वार्थ राजनीति जुड़ती है। जब यह राजनीतिक सत्तामोह धर्म का हाथ थामता है तब वहाँ पर सांप्रदायिक राजनीति पनपने लगती है। सांप्रदायिकता "एक ऐसा समाज विरोधी दृष्टिकोण है जिसके अंतर्गत उन समस्त भावनाओं एवं क्रियाकलापों का समन्वय होता है जिनमें किसी विशिष्ट धर्म या भाषा के निहित स्वार्थ पर बल दिया जाए एवं

¹ कात्यायनी . इस पौरुषपूर्ण समय में . पृ. सं.- 114

² गाँधीजी . मेरे सपनों का भारत . पृ. सं.- 206

³ जोशी, पूरन चन्द्र . अवधारणाओं का संकट . पृ. सं.- 149

उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर रखते हुए उस समूह में पृथक्ता की भावना उत्पन्न की जाय या उसको प्रोत्साहित किया जाए।”¹

भारत में सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने का काम ब्रिटीश सरकार ने शुरू किया था। 'फूट डालो और राज करो' नीति के जरिए भारत की धार्मिक एकता पर कुल्हाड़ी मारकर अंग्रेजों ने जो गहरा घाव भारत के सीने पर दिया था, वह आज भी भरा नहीं है। **"उन्हीं ने ही धर्मनिरपेक्षता की गति को भी मंद रखा और अज्ञान, अंधविश्वास और धर्मान्धता की जड़ों को और अधिक मज़बूत किया।"**² और यह मज़बूत जड़ें इतने सालों बाद भी ढीला नहीं हुआ, शायद पहले से भी ज्यादा मज़बूत हो गया है। अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता का जो आग भड़काया था, वह देश को बंटवारे तक ले गया। विभाजन का वह दर्द देश के लिए असहनीय था। आज भी दोनों देश एक दूसरे के खिलाफ़ है :

"भोली जनता को उकसाया भड़काया

पत्थर फेंकवाये, बम गिरवाये

हज़ारों घायल हुए पर

उनकी मुराद पूरी नहीं हुई।"³

ब्रिटीश सरकार ने जो खेल शुरू किया था उसे भारत के राजनीतिज्ञ आगे ले जा रहे हैं। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए सांप्रदायिकता से अच्छा हथियार उन्हें कभी नहीं मिल सकता। लोग भी अनजान बनकर धर्मांधता के इस खेल में भागीदार बनते हैं और आपस में लड़ते हैं। धर्म के नाम पर वह इस कदर पागल बन जाता है कि अपने भाई का गला काटने से भी नहीं चूकता। धर्मान्धता के चंगुल में वह इस तरह फंस जाता है कि बच्चे बूढ़े तक को यह नहीं छोड़ता।

'सभ्यता से संवाद' में शंभूनाथ लिखते हैं कि धर्म एक ऐसा औजार है जिसमें दूसरों को दबाने मारने का ही नहीं आत्मघात की प्रबल भावना भी उत्पन्न करने की क्षमता होती है। शायद इसी वजह से धर्म और आस्था के नाम पर लोग मर मिटने को तैयार हो जाते हैं। इसी भावना का फायदा उठाकर सत्ता बनायी जाती है जो देश के लिए हर बार खतरनाक साबित होता है।

¹ सिन्हा, मनोज . समकालीन भारत का परिचय . पृ. सं.- 297

² जोशी, पूरन चन्द्र . अवधारणाओं का संकट . पृ. सं.- 144

³ गुजराल, शीला . जब मैं न रहूँ . पृ. सं.- 62

"विक्षिप्त विजयोल्लास में ढिंढोरचियों का महादल गा रहा है

हर चीज का अंत करता सदी का अंत आ रहा है।"¹

धर्म का गलत प्रयोग राजनीति को सत्ता बनाये रखने का अवसर तो प्रदान करता है लेकिन देश का भविष्य अंधकारमय बन जाता है। जो देश, धर्म और सत्ता के नाम पर आपस में लड़ता रहता है, उसके लिए प्रगति न के बराबर हो जाता है। सांप्रदायिक दंगों के बारे में बिपिन चंद्र ने लिखा **"Communal riots had a tendency to force even basically secular persons to temporarily think in communal terms in order to provide for the safety of person and property and thus to generate vicious circle. Moreover, a communal riot left a certain emotion residue or legacy which would be used later by the communal ideologue or politician"**², जब सांप्रदायिक दंगे होते हैं तो अल्पसंख्यक हो या बहुसंख्यक हर कोई अपने आप को असुरक्षित महसूस करता है। वह दूसरे कौम पर अविश्वास करने के लिए बाध्य बन जाता है। यही डर और अविश्वास कई लोगों को सांप्रदायिक भी बना देता है। यही सांप्रदायिकता की गूढ़ नीति है। लोगों के इस अविश्वास और डर का फायदा उठाने से राजनीतिक नेता भी नहीं चूकते :

"आभारी है हम

अनूठे गुरुओं के दिखाई जिन्होंने यह अनुपम राह

पैदा की हमारे भटके दिलों में

खून पीने की नई चाह।"³

भारत का राजनीतिक माहौल भी ऐसा बन गया है कि यहाँ पर रहने के लिए धार्मिक होना जरूरी बन गया है। नहीं तो किसी भी धर्मावलंबी के तलवार का शिकार बनने में देर नहीं लगता। नास्तिकों और संशयात्माओं को तो आजकल भारत में जगह ही नहीं है। 'गंगातट' नामक कविता में इस बात को व्यक्त करते हुए कवि ज्ञानेन्द्रपति ने लिखा कि अपने लिए किसी देवता को चुने बिना हिन्दुस्तान में रहना मुश्किल हो जाएगा :

¹ जोशी, राजेश . दो पंक्तियों के बीच . पृ. सं.- 99

² चंद्रा, बिपिन . कम्युनलिस्म इन मॉडर्न इंडिया . पृ. सं.- 20

³ गोस्वामी, केवल . उसकी मान . पृ. सं.- 48

**"सुनो चुन लो अपना देवता कोई भी देवता
नहीं तो हिन्दुस्तान में रह नहीं पाओगे।"¹**

पहले सांप्रदायिकता का तात्पर्य था हिन्दू मुस्लिम सांप्रदायिकता। लेकिन आजकल तो हर धार्मिक विभाग, उसके उपविभाग सब एक दूसरे से लड़ने से नहीं हिचकते। यानी जो हिन्दू मुस्लिम से शुरु हुआ था आज सभी धर्मों के बीच हो गया है। धर्मबहुल भारत में सांप्रदायिकता में भी बहुलता आ गया है :

**"जो हिन्दू-मुस्लिम था वो
सिख हिन्दू हो गया देखो!
ये नफरत का तकाज़ा
और कितना बढ़ गया देखो!!"²**

कवि का मतलब है कि सांप्रदायिकता भयानक रूप से बढ़ रही है और सभी धर्मावलंबियों को उसके अंतर्गत समेटकर विभाजित करके नफरत फैलाने पर तुले हुए है। नफरत को बढ़ाते-बढ़ाते देश को शिथिल करने के लिए सांप्रदायिक शक्तियाँ राजनीति का साथ लेती है। सांप्रदायिक दंगों का सीधा निशाना बनता है आम आदमी। अपने परिवार सहित जो तकलीफ़ उठाता है, वह आम आदमी है। जिसका सिर कट जाता है, वह आम आदमी का है। जो सत्ता धारी दंगे करवाते हैं वह हमेशा सुरक्षित रहता है और बेकसूर गरीब अपना सब कुछ गँवाता है :

**"'छेगनलाल सेठ' के मकान पर खरोंच भी नहीं आई
'फखरू भाई' का पेट्रोल पंप भी नहीं जला
कि 'मोचीपुरे' की पूरी पट्टी साफ हो गई।"¹**

¹ ज्ञानेंद्रपति . गंगातट . पृ. सं.- 71

² सिंह, शमशेर बहादुर . काल तुझसे होड़ है मेरी . पृ. सं.- 30

जिस ईश्वर और मज़हब के भरोसे आम आदमी चैन की जिन्दगी गुज़ारना चाहता है, उसी के नाम पर उसका गला काट दिया जाता है। सब लोग अपने- अपने ईश्वर को श्रेष्ठ स्थापित करने की होड़ में है। हर कोई धर्म और भगवान का वास्ता देकर महापाप करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर उन्हीं के साथ है। अपने ईश्वर को श्रेष्ठ बनाने की होड़ में लगे ये धार्मिक उन्मादी यह नहीं समझता कि हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई जो कोई भी हो सबका ईश्वर एक है और ईश्वर केवल अमन का रास्ता दिखाता है :

**"सब को अपने ईश्वर पर गुमान था
जिस आदमी ने जलाया हिरोशिमा
तबाह किया उसने भी दोहराया था यह
रब मेरे साथ है।"²**

भगवान को भी खूंखार हथियारों से सजा दिया है मानो वे युद्ध और हिंसा के प्रतीक हो। हर धर्म को शान्ति का सन्देश फैलाना चाहिए। लेकिन ऐसा बिलकुल नहीं होता। मनुष्य की पहचान को भी धर्म के आधार पर करना शुरू कर दिया है। जान बचाने के लिए, जिन्दगी गुज़ारने के लिए उसे अपनी आस्था तक को कुरबान करना पड़ता है। कभी कभी धर्मांतरण के हद तक जाना पड़ता है :

**"यों तो वो कल्लू था
कल्लू रिक्शावाला
यानी कलीमुद्दीन
मगर अब वो
'परेम परकास'।"³**

बेकसूर लोग खुलेतौर पर अपना नाम बताने से भी डरते हैं। अपने नाम बताने से भी कतराते हैं कि नाम से धर्म का पता न लग जाए। एक धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक देश में किस प्रकार से धर्म का दुरुपयोग हो रहा है, उस पर कवि ने प्रकाश डाला है। सांप्रदायिकता की भयानकता से डरकर, आम

¹ जोशी, राजेश . धुपघड़ी . पृ. सं.- 59

² वाजपेयी, कैलाश . भविष्य घट रहा है . पृ. सं.- 18

³ नागार्जुन . ऐसे भी हम क्या ऐसे भी तुम क्या . पृ. सं.- 15

आदमी अपना वजूद छिपाने तक को मजबूर हो जाता है। यही मजबूरी और असुरक्षा एक हद तक लोगों को सांप्रदायिक बना देते हैं। ऐसे में लोग अपने घरों में भी तलवार रखने के लिए विवश हो जाते हैं :

"मामूली बात नहीं है दोस्तों!

कि आज जब दुनिया शक्ति के मसीहों को पूजती है

लोग घरों में भी तलवारों पर मचल रहे हैं।"¹

भारतीय राजनीति भी सत्ता और ताकत को आधार बनाकर जनतंत्र का नहीं बल्कि धनतंत्र का राज चला रहे हैं। आम मतदाता खामोश खड़े होकर यह सब सहने के लिए विवश है। धर्मनिरपेक्षता अगर शान्ति का सन्देश फैलाता है तो धार्मिक उन्माद धर्मान्धता का पाठ पढ़ाता है। आज का जो सांप्रदायिक वातावरण है वह सिर्फ हथियार और खून की भाषा जानता है। जिस धर्म को देश में अमन का सन्देश फैलाना था वही सबसे खतरनाक हथियार साबित हुआ और इन सब षड्यंत्रों के पीछे स्वार्थ राजनीति का सत्ताखेल छिपा हुआ है। '30 अक्टूबर 10' नामक कविता में **शील** ने इस धार्मिक उन्माद की भयानकता का विराट रूप चित्रित किया है :

"बाँट रहे सिरफिरे धर्म में-

घर घर लाशों की सौगात।"²

कवि ने दिखाया है कि किस प्रकार धर्म को हथियार बना दिया गया है और उसी हथियार का इस्तेमाल करके मानवता पर वार किया जाता है। धर्म के नाम पर बेकसूर लोगों को बेरहमी से मार दिया जाता है। बढ़ते हुए धार्मिक उन्माद और सांप्रदायिक दंगों ने माहौल को इतना भयानक बना दिया कि बेकसूर लोगों का जीना तक कठिनतम बन गया है। 'समय और हम' नामक कविता में **राजेन्द्र उपाध्याय** इस विभीषिका को इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

"कैसा समय कि

एक घड़ी की टिकटिक

¹ देवताले, चंद्रकांत . उसके सपने . पृ. सं.- 158

² शील . लाल पंखोंवाली चिड़ियाँ . पृ. सं.- 63

एक चिड़िया की खटखट

और एक दस्तक तक हमें दहशत में डाल देती है।”¹

कवि ने सांप्रदायिकता द्वारा फैलाये गये आतंक और असुरक्षा बोध को काफी सूक्ष्म रूप से चित्रित किया है। समय इतना खतरनाक बन गया है कि एक दस्तक भी लोगों को दहशत में डाल सकते हैं। बढ़ते सांप्रदायिक दंगों ने उस हद तक लोगों के दिल में असुरक्षा बोध पैदा कर दिया है जो उन्हें दूसरों पर अविश्वास करने किलिए मजबूर कर देते हैं। अपने पड़ोसी से बातचीत करने से भी लोग कतराने लगे हैं क्योंकि हर कहीं धर्म ने दीवारें खड़ी कर दी है।

धर्म हमेशा से ही चर्चा का विषय रहा है। विश्व भर में अमन के बनने और बिगड़ने में धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। भारत में तो खासकर धर्म की अहम भूमिका रही है। अन्य किसी भी देश में भारत के समान धार्मिक विभाग और उपविभाग नहीं होंगे शायद इसी वजह से यहाँ पर हर बात धर्म और आस्था का चक्कर लगाता फिरता है। राजनीति ने भी धर्म के इस स्वरूप को अपनी सत्ता से मिला लिया है। राजनीति के हस्तक्षेप के बाद तो धर्म का स्वरूप खतरनाक बनता नज़र आता है। सांप्रदायिक दंगे करवाना अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के नाम से विभाजन बनाये रखना, धार्मिक उन्मादों को भड़काना इन सबके पीछे राजनीति की बहुत बड़ी चाल है।

राष्ट्रवाद की भावना एक देश के लिए बहुत जरूरी है क्योंकि इसी भावना के ज़रिए देश में एकता और अखण्डता बनी रहती है। अंग्रेज़ी शासन के उन्मूलन केलिए कवियों ने देशवासियों के मन में राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया। देश के लिए मर मिटने का जोश देशवासियों में भरने वाली, उस ज़माने की कवितायें हिन्दी साहित्य जगत की श्रेष्ठता का बखान करती है। स्वतंत्रता के बाद तो राष्ट्रवाद की भावना को भी सत्तातंत्र में समेट लिया। जिस भावना ने देशवासियों में एकता बनाया उसी को टकराव का माध्यम बनाया गया।

धर्म, संस्कार, भाषा आदि रूपों में राष्ट्रवाद को बँटवारे का माध्यम बनाया गया तो कवियों ने जनता को आगाह किया। सांप्रदायिक शक्तियों और सत्ताधारियों के स्वार्थतंत्र पर प्रकाश डालकर कवियों ने जनता को वास्तविकता के दर्शन कराये। धर्मनिरपेक्षता के लिए विख्यात भारत किस प्रकार धर्मान्धता और धार्मिक उन्माद के चंगुल में फँसा, इसे समझने के लिए यहाँ की राजनीति और सत्ता का इतिहास देखना ही काफ़ी होता है। सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद के नाम पर भाई भाई को आपस में लड़वाने वाले इस धिनौने हरकत के खिलाफ समकालीन कवियों ने पूरा प्रतिरोध दिखाया है। भारत की मुक्ति के लिए धर्म को हथियार बनाने वाली रीति को मिटाने का सक्षम मार्ग दिखाकर कविता ने लोगों को पूरी तरह से जागरित करने का प्रयास किया है।

¹ उपाध्याय, राजेंद्र . लोग जानते हैं . पृ. सं.- 1

4.2. सांस्कृतिक प्रभाव

भूमण्डलीकरण के कारण विभिन्न संस्कृतियों का सीमारहित आवागमन हुआ है तथा मानवीय विवेक पर आधारित एक वैश्विक सभ्यता का निर्माण हुआ है जिसमें विश्व स्तर पर समान मूल्यों का विकास हो रहा है। इस प्रकार जो सांस्कृतिक विशिष्टता समय, स्थान और लोगों के समूहों तक सीमित थीं वो इन सीमाओं को तोड़कर वैश्विकता की ओर बढ़ रहा है। बाज़ार और भोगवादी संस्कृति ने वैश्वीकरण को जन्म दिया है। आज के समय में इसके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। यह सभी तरह के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि पहलुओं को छूता है। वर्तमान में कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जो इससे अछूता हो। भारतीय संस्कृति पर तो खासकर इसके प्रभाव बखूबी देखने लायक हैं। भूमंडलीकरण ने हमारी प्रकृति, संस्कृति, भाषा, अस्मिता आदि को काफी हद तक प्रभावित किया है। यह हमारे जीवन के तमाम मूल्यों को निरर्थक साबित करने के लिए कुतर्क को स्थापित करती नजर आ रही है। हिन्दी की समकालीन कविता विधायन भूमंडलीकरण के विरोध में लड़ाई कर रही है। जो मनुष्य को इस भूमंडलीय कुसंस्कृति से बचाना चाहती है।

भूमंडलीकरण ने संस्कृति को काफी गहरे रूप में प्रभावित किया है। इसके प्रभाव से भारत में वेश-भूषा, खान-पान, संगीत, भाषा, विचार आदि क्षेत्रों में कई परिवर्तन देखने को मिलते हैं। जहां तक संस्कृति का प्रश्न है, उसका किसी भी देश की प्रमुख भाषाओं और उन भाषाओं के साहित्य से सीधा संबंध होता है। उसी तरह हमारे देश की संस्कृति पर भी प्रमुख रूप से भारतीय भाषाओं के साहित्य का, जिसमें मुख्यतः कविता का गहरा प्रभाव हमारी संस्कृति और संस्कारों पर पड़ा है। उदाहरण स्वरूप कहूं तो हिंदी साहित्य के शीर्ष कवि तुलसी हमारी भारतीय चेतना में गहरे रचे बसे हैं; इसी तरह कालिदास, वाल्मीकि, भारती, टैगोर आदि एक लम्बी फेहरिस्त है।

संस्कृति एक मानसिक अवधारणा है, जो किसी समाज के जीवन-चर्या संबंधी विश्वासों के समूह से बनती है। समाज इन विश्वासों-आस्थाओं को धीरे-धीरे अभ्यास और अनुभव से अर्जित करता है। इनके संस्कार-परिष्कार की प्रक्रिया भी समाज में नामालूम ढंग से निरंतर चलती रहती है। समाज की वर्गीय संरचना भी अक्सर संस्कृति को प्रभावित करती है।

सांस्कृतिक वैश्वीकरण एक प्रकार का वैश्वीकरण है जिसमें सांस्कृतिक मान्यताएँ, विचार, और कला विनिमय की प्रक्रिया होती है। इसमें विभिन्न देशों और संगठनों के बीच सांस्कृतिक रूपों, विचारों, और आदिकारों के आदान-प्रदान का मामूला होता है। सांस्कृतिक वैश्वीकरण का उद्देश्य विभिन्न सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को प्रमोट करना और विश्व में सांस्कृतिक समृद्धि को बढ़ावा देना होता है।

इसका उदाहरण हो सकता है संगीत, शिल्पकला, गहनों, वस्त्र, खाद्य पदार्थों, और अन्य सांस्कृतिक घटकों की विनिमय की प्रक्रिया, जिससे विश्व भर में विविधता का समर्थन किया जाता है। सांस्कृतिक वैश्वीकरण के माध्यम से विभिन्न समृद्ध सांस्कृतिक धरोहरों का संरक्षण और प्रचार किया जा

सकता है, और यह विभिन्न समुदायों और लोगों के बीच समरसता और जीवन की गुणवत्ता को बढ़ावा देता है।

संस्कृति स्थिर और एकरूप कभी नहीं रहती- इसमें परिवर्तन और संवर्धन की प्रक्रियाएं हमेशा जारी रहती हैं। एक समाज जब दूसरे समाज के संपर्क में आता है तो दोनों की ही संस्कृतियों में बहुत कुछ जुड़ता-घटता है। किसी समाज के अपने भीतर होने वाले नवाचार भी संस्कृति को निरंतर गतिशील और जीवन बनाए रखते हैं। कविता स्वयं एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, अतः किसी समाज के सांस्कृतिक संक्रमण से उसका गहरा संबंध होना लाजमी है। कविता इस सांस्कृतिक संक्रमण को स्वयं जीती और धारण करती है। यह आत्मसचेत रहकर इस संक्रमण को समझती-परखती है और इसके आत्मसातीकरण और प्रतिरोध का स्टैंड लेती है। सांस्कृतिक संक्रमण कविता के लिए खाद-पानी का काम करते हैं। यह इनसे पुनर्नवा होती है। हमारे यहां भक्ति आंदोलन के कवियों की अदभुत और असरदार कविता इस सांस्कृतिक संक्रमण से होने वाले आत्मसंघर्ष की ही पैदाइश हैं।

धर्मी जनचेतना के कारण है। एक ओर कवि बाजारवाद को साम्राज्यवादी ताकतों का हथकंडा समझता है। जो पूरी दुनिया को अपनी मुट्ठी में कर चुका है। उसके प्रति तीव्र आक्रोश है। तेजी से बढ़ते और फैलते बाजारों की इस दुनिया को लेकर कवि काफी चिंतित है। लेकिन कवि जब लोक जीवन से जुड़ता है तो उसका हृदय से प्रेम की धारा झरने की तरह फूट पड़ता है। उसकी श्रद्धा और आत्मीयता मानो चरम को छूने लगती है। उनकी एक महत्वपूर्ण कविता है- 'नदी में कोई कंकड़ न डाले'। इसमें महापर्व छठ के अर्घ्य देने के वक्त किसी भी तरह खलल नहीं डालने का राहगीरों से निवेदन है। कवि जल को खिदोर नहीं देखना चाहता है। क्योंकि इसी जल का अर्घ्य देना है। इस शुभ कार्य के प्रति यहां कवि की निष्ठा व्यक्त हुई है जो उनके लोक जीवन के प्रति प्रेम को दर्शाता है :

“नदी पार जाने वाले मौलाना भाई!

जरा ठहरो

थोड़ी देर में जाना

मेरी मां

मेरी पत्नी पूजा कर रही हैं!

वे परवैतिन हैं

जल्द सूर्य भगवान को

अर्घ्य देते हैं”¹

¹ बादल, शम्भू . 2022 . नदी में कोई कंकड़ न डाले . पृ. सं.- 38

कवि की चेतना में यह सांस्कृतिक एवं धार्मिक आस्था का उदय है। इसी तरह 'चहकती चिड़िया,' 'स्मृति की घंटी', 'सूरज', 'चेतना के नयन', 'शिमला' जैसी कविता कवि की अलग मूड की कविता है। इनमें प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता की संवेदना काफी सघन है। यहां विध्वंस की जगह सृजनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति हुई है।

वर्तमान हिंदी कविता का दायरा बहुत ही विशाल है। कविता की विशालता की तुलना में कवियों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। समाज को उन्नतिशील बनाने में कवियों की भूमिका भी उतनी ही महत्वपूर्ण रही है। कवि, सारे समाज को एक नई दृष्टि के साथ सोचने, समझने तथा उस विचार दृष्टि के अनुरूप व्यवहार करने को प्रवृत्त करता है। इसी दृष्टि में समकालीनता एक जीवन दृष्टि बनकर अपने समय का आकलन कराती है। समकालीनता से उभरी विचारधारा ही समकालीन कविता में तर्क और संवेदना की सम्मिलित भूमि पर उतरी है। समकालीन कविता में कवि ने नई दृष्टि और समाज की अकुलाहट को स्थानदिया है। या यह भी कह सकते हैं कि, समकालीन कवि ने समय के साथ आँख मिलाकर वास्तवता का चित्रण किया है जिसमें ग्रामीण संस्कृति बोध का चित्रण बड़ी ही सहजता के साथ हुआ है।

कवि ने 'मैं हूँ यहां हूँ' कविता में वह किसके साथ है, अपनी पक्षधरता को स्पष्ट किया है। वह यह बताना चाहता है कि उसके सरोकार क्या हैं और किन लोगों के पक्ष में खड़ा है। यह कविता घोषित करती है कि कवि संघर्षधर्मी चेतना के साथ खड़ा होना चाहता है। वह इसके लिये सुविधाओं को त्याग करेगा। उसे अनुभव एवं यथार्थ ज्ञान पाने के लिये धूल में, धूप में मीलों मील चलना स्वीकार है। लेकिन वह किसी की विचारधारा का पिछलग्गू बन कर नहीं चलेगा-

“मैं नहीं चाहता एक सिंहासन
एक सोने का हिरण
मैं नहीं चाहता एक बांसुरी
एक वृंदावन
मैं चाहता हूँ भटकना मीलों-मीलों
धूल में रेत में/ धूप में ठंड में
चाहता हूँ जीना
संघर्ष में, प्यास में, आग में
मैं हूँ यहां हूँ, यहीं रहूंगा।”¹

¹ राही, गणेशचन्द्र . 2021 . मैं हूँ यहाँ हूँ . पृ. सं.- 37

यहां कवि का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट है। कवि मिथकों और प्रतीकों में जीना नहीं चाहता है। उसके लिये जीवन का नंगा यथार्थ ही स्वीकार है। एक मायने में समकालीन हिंदी कविता पूर्व की कविता का सहज एवं स्वाभाविक विकास है। इसी समय कई युवा कवि अपनी उर्वर प्रतिभा के साथ उभर कर आए। कहना न होगा, इन कवियों के पास स्पष्ट दृष्टिकोण एवं नयी दिशा थी। यही कारण है कि इनकी कविताओं में उलझे हुए न तो बिंब मिलते हैं और न भावबोध के स्तर पर कोई क्लिष्टता। कवि जो बात कहना चाहता है उसके प्रति उसकी मंशा बिलकुल साफ है। अपनी विचारधारा को प्रगतिवादियों एवं प्रयोगवादियों की तरह पाठकों पर थोपता नहीं हैं। इन कवियों में सबसे बड़ी विशेषता जो नजर आती है वह है विनम्रता। उनकी आत्मीयता समाज के दबे, कुचले, वंचित, शोषित, मनुष्य के प्रति है। वहीं स्त्री, बालक, युवा, वृद्ध की तकलीफों, उसके सपनों एवं उनकी स्थितियों में परिवर्तन की आशा भी है। दलित, मजदूर, किसान, स्त्री, छात्र, शिक्षक, पत्रकार, नेता, उद्योगपति, आदिवासी समाज, हर किसी के इतिहास और वर्तमान हालात का कवि आकलन करना चाहता है।

अपने परिवेश, संस्कृति, देश एवं भाषा के प्रति में उत्कट प्रेम दिखायी पड़ता है। यहां निषेधवादियों की तरह पूरी तरह सब चीजों का नकार नहीं है। क्योंकि जीवन में सबकुछ बुरा ही नहीं होता। उसमें नवसृजन के बीज हमेशा आत्मा की तरह सुरक्षित रहते हैं। कवि अपने परिवेश एवं परंपरा में उस सृजनात्मक बीज की तलाश करता है। और अवसर आते ही पूरी संवेदना के साथ कविता में चुपचाप अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। बदलाव की दिशा तय होने लगती है। हां, एक बात मैं समकालीन कविता के बारे में जरूर कहना चाहता हूं वह यह कि आज की कविता आंदोलनविहीन दौर की कविता है। सारा दायित्व कवियों एवं आलोचकों पर आ गया है। क्योंकि इसके पूर्व हिंदी कविता के समक्ष इतनी बड़ी चुनौती नहीं आयी थी। जबकि आज उसके सामने अपने अस्तित्व की रक्षा की चिंता प्रश्न है। क्योंकि दुनिया में नये-नये विचार एवं चिंतन का जो विस्फोट हो रहा है। इससे कवि दिग्भ्रमित-सा इधर-उधर की सोच रहा है। वहीं आज इस तेजी से बदलते वैश्विक जीवन के साथ कविता के परिदृश्य को समझने की जरूरत है। मानवता को बचाने का संघर्ष कवि को ही करना है।

भारत विश्वभर में अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के लिए विख्यात है। वही भारतीय संस्कृति बाज़ारीकरण के दौर में पश्चिमीकरण का शिकार बन गया है। बाज़ार के चंगुल में फँसकर लोग विदेशी संस्कृति से आकृष्ट हो गये हैं। शिक्षा, भाषा, चाल चलन, तौर तरीके सब में पश्चिमीकरण का समावेश हो गया है। बाज़ार ने इसे बढ़ावा देकर मुनाफा कमाना अपना लक्ष्य बना लिया है। भारत की देशी संस्कृति नष्ट होती जा रही है। बाज़ारी संस्कृति हमेशा नई से नई चीज़ों को सामने लाती है और नए की खरीदारी को प्रोत्साहित करती है। बाज़ारी संस्कृति में कल का जो था वह पुराना कहलाएगा, इसलिए बाज़ार हमेशा नए की सीख देता है। मानवीय रिश्तों में भी यह सीख टकरार पैदा करने लगा है :

जो है उसे बेचते जाओ"

नया खरीदो का पाठ सिखाया जा रहा है।"¹

पहले वाली जो सामाजिक भावना थी वह आजकल न के बराबर रह गया है। हर कोई अपने में सिमटकर रहना चाहता है। किसी को भी समूह में घुलने मिलने का समय नहीं, इच्छा भी नहीं। मानवीय रिश्तों में जो गठबन्धन और सामूहिकता की भावना थी वहाँ पर स्वार्थ लोलुपता ने राज कर लिया है। सब को अपनी फिक्क है, दूसरों के बारे में सोचना बाज़ारी संस्कृति के खिलाफ़ है :

बाबा को जानता था सारा शहर"

पिता को भी चार मोहल्ले के लोग जानते थे

मुझे नहीं जानता मेरा पड़ोसी मेरे नाम से

अब सिर्फ़ एलबम में रहते हैं

परिवार के सारे लोग एक साथ

टूटने की इस प्रक्रिया में क्या क्या टूटा है

कोई नहीं सोचता।"²

राजेश जोशी की इन पंक्तियों से पता चलता है कि बाज़ार ने एक सिकुड़न की भावना पैदा कर दी है, अपने में सिमटकर रहने की भावना। पहले जो एकता थी, मिलजुलकर रहने की भावना थी, आपसी प्रेम था सब नष्ट हो गया। सांस्कृतिक अवमूल्यन के लिए बाज़ार ज़िम्मेदार होता जा रहा है। बाज़ार हर चीज़ को मुनाफ़े के नज़रिए से देखने की सीख देता है। ऐसे में संस्कृति में सबकुछ चीज़ों के नज़रिए से तौला जाता है। रिश्तों में आता ढीलापन, बढ़ती संख्या में तलाक़ यह सब भारत को पश्चिमी संस्कृति की देन है, चीज़ों वाली नज़रिए का अनजाम है :

नगरों में"

जहाँ के रहने वालों को

¹ जगूड़ी, लीलाधर . ईश्वर की अध्यक्षता में . पृ. सं.- 29

² जोशी, राजेश . दो पंक्तियों के बीच . पृ. सं.- 55

सिवा चीजों के

कुछ नहीं भाता"¹

भारतीय संस्कृति में आपसी विश्वास का जो तरीका था, वह बदलने लगा है। सब कहीं अविश्वास फैल गया। लोग एक दूसरे पर विश्वास करना ही नहीं चाहते। हर किसी को संशय की नज़र से देखा जाता है। किसी पर भरोसा न करना और किसी को परवाह न करना, वह भी बाज़ारी संस्कृति की देन है।

भूमण्डलीकरण और बाज़ारीकृत संस्कृति में पड़कर देशवासियों ने अपना संस्कार खो दिया। संस्कृति में अपचय होकर अपसंस्कृति सा बन गया है। सब कुछ मुनाफ़े के नज़रिए से देखनेवाली घटिया मानसिकता ने आर्षभारतीय संस्कृति को ही नहीं, सभ्यता को भी निगल गया है। बाज़ार ने भागने की सीख दी है और भागना इसलिए सिखाया जाता है कि बिना संवेदनाओं के, किसी की परवाह किए बगैर, करुणा, प्यार सब कुछ भूलकर हडबड़ी में भागते रहना है। एक मिनट को भी व्यर्थ में नहीं जाने देना है।

गया है भागना इसलिए सिखाया"

क्योंकि हमें देखना नहीं चाहिए

हमें चलना नहीं चाहिए

हमें ध्यान नहीं देना चाहिए

हमें सिर्फ भागना चाहिए।"²

बाज़ारीकरण के नये चालों ने किस प्रकार मानवता को अपने कब्जे में ले लिया है इसे कवि ने इन पंक्तियों में दिखाया है। मनुष्य के छोटी से छोटी बात में भी बाज़ार हस्तक्षेप करने लगा है। भारत में संस्कृति को लेकर बढ़ी उलझावपूर्ण स्थिति है। सामान्य तौर पर कहा जाता है कि यह विविधता में एकता वाला देश है। तथ्यात्मक दृष्टि से देखें तो यह बात सही भी है। क्योंकि हजारों जातियों, सैकड़ों सम्प्रदायों, दर्जनों धर्मों और अनगिनत भाषाओं का यह उप महाद्वीप विविधतापूर्ण नहीं तो और क्या होगा-? यह विविधता सिर्फ भारत ही क्यों, विश्व के किसी भी विशाल देश के लिए स्वाभाविक है। प्रायः विविधता को

¹ मिश्र, भवानी प्रसाद . भवानी प्रसाद संचयिता . पृ. सं.- 480

² अरविदाक्षन, ए. . घोड़ा . पृ. सं.- 88

देश की कमजोरी के अर्थ में लेते हैं, जबकि यह उसकी संजीवनी शक्ति है, उसके अस्तित्व की विशालता है।

समकालीन हिन्दी कविता में लोक जीवन के प्रति अनुराग, झुकाव और आकर्षण बिल्कुल नये तरीके से बढ़ा है। यह मार्क्सवाद जैसी किसी एक विचारधारा के कारण नहीं, बल्कि कवियों के अपने जीवन-परिवेश, लोकोन्मुख विवेक एवं युग की माँग के कारण सम्भव हुआ। वैसे मार्क्सवाद ने लोक और इनकी जीवन-संस्कृति ठीक ढंग से देखने, परखने की क्षमता जरूर प्रदान की है, किन्तु आज का कवि इस विचारधारा से काफी आगे बढ़ चुका है। इस वाद से उसने अपनी दृष्टि को माँजा है, चमकाया है, निखार पैदा किया है, किन्तु पहले के प्रगतिवादी कवियों की तरह मार्क्सवाद का चश्मा हमेशा नहीं पहने रहता। वैसे भी लोक जीवन इतना व्यापक, संश्लिष्ट और उलझा-पुलझा हुआ होता है, कि उसे किसी एक तय विचारधारा, संरचना अथवा नियम के अनुसार मुकम्मल जाँच ही नहीं सकते। लोक जीवन की दशाओं के अनुसार बदलती हई जीवन दृष्टि इसको समझने का सबसे सटीक सूत्र है। कवि की यह जीवन दृष्टि अनुभव, ज्ञान, प्रभाव और सीख सबसे मिलकर बनी होती है। जिसमें आत्मविवेक का निर्माण और विकास करने वाले कई सारे तत्व शामिल होते हैं।

यहाँ लोक से तात्पर्य उसी ग्रामीण और पिछड़े हुए क्षेत्रों से है जहाँ आज भी लोग असंख्य जातियों, धार्मिक मान्यताओं और रीतिरिवाजों में बुरी तरह विभाजित हैं। जहाँ आज भी परिवार आपस में बंटे हुए हैं। इर्ष्यापूर्ण खींचतान में उलझे हुए हैं और आपसी एकता के नाम पर बड़ी मुश्किल से कभी एकजुट होते हैं। समकालीन कविता का इस ग्रामीण संस्कृति से दोहरा सम्बन्ध है। एक तो वहाँ छापी हुई विसंगतियों को आलोचना के रूप में और दूसरे वहाँ के रहन-सहन, बोल-चाल एवं अकृत्रिम जीवन के प्रति लगाव के रूप में। कहना जरूरी है कि यह दोहरा सम्बन्ध अत्यन्त समीचीन और वैज्ञानिक है। लोक के प्रति न तो मोहान्धता और न हो उसके दोषों के कारण दुराब की भावना, समकालीन कविता का श्रेष्ठ गुण है। इस दौर के अधिकांश कवि ग्रामीण परिवेश से आए हैं। जीवन विकास के क्रम में उन्होंने शहरों या महानगरों में रहना शुरू कर दिया है, परन्तु अपने पृष्ठभूमि के प्रति एक ऋण का भाव उनके भीतर मौजूद है। अपने अतीत से दूर चले जाने पर उसकी कमियाँ भूल जाने और मोहवश उसका आदर्शिकरण करने का खतरा क्या व्यक्ति, क्या रचनाकार दोनों पर मंडराता है, किन्तु समकालीन कविता के कवि इतने प्रबुद्ध, सजग तथा विचार-सम्पन्न तो हैं ही कि अपने अतीत की मोहमाया में होशो-हवाश नहीं खो बैठते और वहाँ के भावनात्मक सम्बन्धों की कीमत को स्वर देना भी वे अपना मूल कर्तव्य समझते हैं।

लोक के प्रति सजग अनुराग की भावना वैसे तो अरूण कमल, राजेश जोशी और मंगलेश डबराल से लेकर बद्रीनारायण और एकान्त श्रीवास्तव तक में देखी जा सकती है, किन्तु इनमें से ऐसे बहुत कम कवि हैं, जिनकी रचनाएँ लोकजीवन का सच्चा प्रति-सृजन लगती हों। कहीं न कहीं उनमें भेद है, ना-नुकुर है। जैसे लगता है कि लोक की बात, उनके शोक-विषाद की बात प्रकट करने के बाबजूद वे

खुलकर आत्मीयता नहीं दे पाते। उन्हें उनकी कमियों और कमजोरियों के साथ सच्चे दिल से गले लगाने से बचते हैं। इसीलिए उपर्युक्त रचनाकारों की लोकपरक कविताओं में संवेदना की वह तासीर और लगाव का वह जज्बा नहीं है, जो उन्हें लोक संस्कृति का प्रामाणिक रचनाकार साबित कर सके। इस कसौटी पर शत-प्रतिशत खरा उतरने वाले एक कवि अवश्य मौजूद है - जिन्होंने एक नहीं अनगिनत इसी भाव-भंगिमा की कविताएँ लिखकर सिद्ध कर दिया है कि लोक जीवन के प्रति रचनात्मक आस्था किसे कहते हैं। वह नाम है **भगवत रावत**। इनकी '**कचरा बीनने वाली लडकियाँ**' '**प्याज की एक गाँठ**', '**भरोसा**', '**ईसुरी**' और '**रजऊ के नाम**' और '**अतिथि कथा**' सिर्फ लोकजीवन को प्रामाणिक कविताएँ भर नहीं हैं, बल्कि इन कविताओं की धमनियों में लोक मानो प्राण बनकर बहता है। '**अतिथि कथा**' को कुछ पंक्तियों :

“उस दिन अचानक आ गए कल्लू के ज़जमान

ठीक ठिये पर ही जा पहुँचे जहाँ कल्लू और रामा करते थे सफाई

पहाड़ी के नीचे वाली कलारी के पास

अब ऐसे में क्या करता कल्लू उसने तुरन्त अपनी पगड़ी उतार

ज़जमान के पाँवों से लगाई फिर गले मिले दोनों समधी।”¹

कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्द, उसके देशज वाक्य और ठेठ गंवई मुहावरे ही लोक के प्रति उसके जुड़ाव के प्रमाण नहीं होते, बल्कि कविता की जड़ें उस जीवन में कितनी गहराई तक धेसी हुई हैं, वे हुबहू उसको जमीन पर खड़ी होकर बोल रही हैं या नहीं, इससे लोक के कविता की प्रतिबद्धता अधिक सार्थक बनती है। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो यह 'व्यक्तित्वांतरण' की तर्ज पर 'वर्गान्तरण' का मसला है। कवि शिक्षित है, प्रायः नोकरोशुदा है, सम्पन्न है लेकिन उसे अपनी बाहरी दायरे को तोड़कर बिल्कुल भिन्न समुदाय के आदमी को आत्मा में प्रवेश पाना है। वह क्या है? किस हैसियत का है? किस पद पर है? कितना प्रसिद्ध है? इन सब अभिमानों से, आत्मगर्व से उसे मुक्त होना पड़ता है, तब जाकर वह लोक भूमि पर मजबूती से खड़ा होकर उनके मौन दुःख को स्वर देने लायक बन पाता है।

प्रकृति का लोकजीवन से अभिन्न रिश्ता रहा है, मानो दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हों। दोनों की यह अभिन्नता कुछ इस तरह से है कि दोनों को अलग-अलग करके न तो परिभाषित किया जा सकता है, और न ही उसका मूल्यांकन। इसको खास वजह यह है कि दोनों ने एक दूसरे को गरिमा

¹ रावत, भगवत . 2004 . भगवत रावत – निर्वाचित कविताएँ . पृ. सं.- 113

प्रदान की है, जीवित रखा है एक दूसरे को और शताब्दियों से सर्वाधिक नजदीक रहे हैं एक दूसरे के। जो कवि दोनों के इस प्रगाढ़ रिश्ते को बाहरी आँखों से देखते हैं, वे दोनों को जोड़ने वाले अन्तःसूत्र को पकड़ने से चूक जाते हैं, किन्तु जो कवि प्रकृति में डूबे हुए लोक जीवन और लोक में समाहित प्रकृति-सत्ता का दर्शन कर लेते हैं बेशक उनकी कलम से उल्लेखनीय और बड़ी रचनाएँ फूट निकलती हैं।

छायावादी कवियों में यह चेतना अपने चरम पर थी। प्रगतिवाद के शीर्षस्थ जनकवि नागार्जुन में भी इस चेतना को बड़े उद्दाम आवेग के साथ देखा जा सकता है। समकालीन हिन्दी कविता इस दृष्टि से गरीब ही नजर आती है। छिटपुट रूप में वरिष्ठ कवियों में प्रकृति कहीं झलक गयी, तो आश्चर्य की बात है, वरना यहाँ प्रकृति कहीं हाशिए पर दबी पड़ी मिल जाएगी। इस रूप में एक वरिष्ठ कवि का नाम अवश्य लिया जा सकता है, ओर वे हैं **विजेन्द्र**। राजस्थान की आंचलिक प्रकृति का जितना व्यापक और बहुरंगी चित्रण विजेन्द्र ने किया है उतना कथा-साहित्य के शिखर विजयदान देथा को छोड़कर कोई अन्य नहीं कर पाया। विजेन्द्र की कविता तो प्रकृति के बिना आगे बढ़ती ही नहीं। कवि का रचनात्मक मन प्रकृति के अनिवार आकर्षण में इतना रम चुका है, उस पर इतना निर्भर हो चुका है कि कलम चलाते समय साँस-दर साँस उसी का महत्व फूटता है।

“सूखी डाल पपीहा गाता

लुप्त हुई जो नदी रेत में

अन्दर उसको बहते पाता।

कैसा ताप कहाँ की बिरखा

मरू में खिली बेलड़ी देखी

मानुष मरता तिरसा।”¹

मात्र इन्हीं पंक्तियों में संकटग्रस्त ग्रामीण और सूखाग्रस्त प्रकृति के बीच अनिवार्य सम्बन्ध को परखा जा सकता है। समकालीन कविता में लोक के प्रति झुकाव का एक बड़ा कारण प्रगतिशील दृष्टि का होना है, परन्तु कविता में लोक को अमर बनाने के लिए मात्र ग्रामीण पृष्ठभूमि का और प्रगतिशील दृष्टिकोण का होना काफी नहीं है, वरना क्या कारण है कि अरूण कमल और मंगलेश डबराल दोनों शर्तें पूरी करने के बावजूद लोकसत्ता को बड़ा अर्थ देने वाली प्रभावशाली रचनाएँ नहीं दे पा रहे हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण है आन्तरिक आत्मीयता का कमजोर होना। आवश्यक नहीं कि ग्रामीण पृष्ठभूमि का

¹ विजेन्द्र . 2006 . वागर्थ, एकांत श्रीवास्तव (सं.) . पृ. सं.- 47

कवि अपने दिलोजान से लोकजीवन को चाहता हो। उसकी धूल-मिट्टी, अनगढ़ता, भदेसपन और मूर्खता से सपने में भी घृणा न करता हो। होता प्रायः यह है कि कोई ओहदा पा लेने या आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाने के बाद कवि कहीं शहर में रहने का अपना ठोर-ठिकाना ढूँढ लेता है। भौगोलिक दूरी के साथ-साथ उसके दिल की दूरी भी बढ़ जाती है। अब गाँव-अंचल के उबड़-खाबड़ जीवन से उसको क्या मतलब ? व्यावहारिक रूप से उसका रिश्ता काफी कुछ औपचारिक होने लगता है। अब वह लोक के बारे में दिमाग से अधिक सोचता है, दिल से बहुत कम महसूस करता है। इसीलिए समकालीन कवि की अधिकांश लोकवादी कविताएँ बौद्धिक व्यायाम हैं, उनमें भावना का गाढ़ापन कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता। चूंकि साहित्य की वैचारिक दुनिया में मूल की ओर लौटने का नारा बुलन्द है और चारों ओर प्रगतिशीलता की धूम मची हुई है, इसीलिए आज का कवि अपनी पृष्ठभूमि को ओर, जनपद की ओर रुख करने को विवश है। उस पर युग को माँगों का दबाव है। वह सहज होकर, आत्मप्रेरित होकर, कृतज्ञता से भरकर अपनी मूल जमीन की ओर वापसी नहीं कर रहा है। इस दोहरेपन के कारण उसमें कृत्रिमता और ओछापन भी आ रहा है। वह न तो अपने गाँवों का होकर जी रहा है, और न ही शहर का। अजीब दुविधाग्रस्तता, परिवेश और रहन-सहन के दो पाटों के बीच फँसकर जीता हुआ दुर्बल कवि। यही संवेदना-विच्छेद की स्थिति है।

प्रतिष्ठित कवि **नरेश सक्सेना** ने समकालीन कवियों के द्वारा खुद पैदा की गयी इस निर्यात का खुलासा दो टूक शब्दों में किया है, **“कवियों का 'लोक' से बहुत दूर का नाता है, और वे लोक के बारे में सुनी सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई बातें ज्यादा करते हैं। लोक का सीधा अनुभव उनके पास नहीं है। उनकी कविता का सीधा सम्बन्ध न तो शहरी लोक से है, और न ही ग्रामीण लोक से।”¹**

गाँव समकालीन कवियों के अतीत का सच है, जबकि विकसित कस्बा और सम्पन्न महानगर उनके वर्तमान की हकीकत। गाँव में रह पाना अब रचनाकार के लिए सम्भव नहीं। इसके पीछे कारण सिर्फ यह नहीं कि वह नौकरी शुदा है या आधिक जरूरतों से बंधा हुआ है, बल्कि इसका एक पक्ष यह भी है कि शहर को चुनना उसको पसन्द का अनिवार्य हिस्सा है। यह जीवन को आरामदायक बनाने के लिए कटिबद्ध है। इसके साथ-साथ उसे साहित्य की दुनिया में न सिर्फ बने रहना है, बल्कि सदा-सदा के लिए उसमें स्थायी जगह भी बनानी है। आज का कवि बेहद महत्वाकांक्षी है। वह विज्ञान और तकनीक द्वारा इजाद की गयी सूचना प्रणाली और मीडिया तन्त्र का भरपूर सहारा लेता है अपने साहित्यिक विस्तार में। यह सुविधा गाँवों में कहाँ ? विकसित से विकसित गांव में न तो कुशल डाक व्यवस्था है, न पत्रिकाओं और समाचार पत्रों को उपलब्धता। टेलीविजन ने गांवों में जरूर अपना विस्तार कर लिया है किन्तु देश-विदेश का समाचार जानने के लिए अभी भी डोले-डाले और अशक्त दूरदर्शन का सहारा है। यही पुनः नरेश सक्सेना के विचार याद आते हैं, जिन्होंने बड़े साफ शब्दों में समकालीन कवियों को शहरी-नियति को सामने रखा है : **“इस कविता का मायालोक तो महानगर है। याद करके मुझे तीन**

¹ सक्सेना, नरेश . जनवरी-मार्च, 2007 . प्रगतिशील वसुधा, कमला प्रसाद (सं.) . पृ. सं.- 227

चर्चित कवियों का नाम बताइए जो महानगर में न रहते हों। केदारनाथ सिंह दिल्ली में, कुँवर नारायण दिल्ली में, अशोक वाजपेयी दिल्ली में, विष्णु खरे दिल्ली में, मंगलेश डबराल दिल्ली में।”¹

देखा जाय तो इससे कविता और कवि दोनों का क्षरण हो रहा है। जो कवि शहर का हो गया है और स्मृति के आधार पर पिछले अनुभवों को काव्यबद्ध कर रहा है, उसमें अर्थों की ताजगी का संकट तो आना ही है। एक वह जो शहर से दूर फैले हुए अनगढ़-अनपढ़ इलाकों की धूल फांक रहा है और दूसरा वह जो शहरी आवास के साफ-सुथरे लॉन में बैठा हुआ है दोनों की संवेदनाओं के स्वाद में जमीन-आसमान का फर्क होगा। शहर के कवि में भी गाय, भैंस, तालाब, लाठी, बैसवारी और कबड्डी के प्रसंग आँगेंगे, मगर अपने असली अंदाज में नहीं। कुछ-कुछ बहुरूपिया की तरह। चूँकि कवि उसे जीवंत सहजता के साथ प्रकट कर देने की काबिलियत से रिक्त है, अपनी चटक भावना को पकड़ने की कूबत खो बैठा है इसलिए उसे लोकानुभव को कृत्रिम शब्दों के आकर्षण में पेश करने को मजबूरी है। यद्यपि उसे अच्छी तरह पता है कि लोक-यथार्थ को असहज तस्वीर पेश कर रहा है, वह भ्रम परोस रहा है लोकसत्य का।

शहर किसी एक संस्कृति की दुनिया का नाम नहीं है, बल्कि यहाँ कल्पनातीत सम्पन्न और कल्पनातीत गरीब लोगों को सभ्यताएँ बसती हैं। गाँव, अंचल, कस्बा जहाँ पहुँचकर अपनी स्थानीय विशेषताएँ खो देते हैं, शहर एक ऐसा कारखाना है, जो प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को एक पुर्जा, एक वस्तु और धन उत्पादक मशीन के रूप में बदल देता है। जाने-अनजाने, चाहे अनचाहे, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शहर का यह चलन रचनाकार के मनो-मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है। उसकी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को क्षीण करता है, रचनात्मक उमंग को सोखता है और नित-नवीन सोचने की चेतना को बेतरह कुंद करता है। आधुनिक उपलब्धियों को अपरम्पार सभ्यता के बीच साँस लेते हुए अपनी सृजनात्मकता को बचा पाना शहर के रचनाकारों के लिए कठिन चुनौती की तरह है। जिस विषय पर वह कलम चला रहा है वह सामने नहीं है, बहुत दूर जा चुका है मानो सपना हो चुका हो। इसीलिए रचनाकार एक ऐसे आभासी यथार्थ का नक्शा खींच रहा है, जो विश्वसनीय सच नहीं हो सकता।

समकालीन कवि के सामने नगरीय जीवन का बहुमुखी यथार्थ है, जिससे उसका रोज-ब-रोज सामना होता है, जिसको समझने की लाख कोशिशों के बावजूद सम्पूर्ण रूप में ता-उम्र नहीं समझ सकता, क्योंकि नगर कोई एक विषय नहीं है, कोई एक यथार्थ नहीं है, बल्कि यह अनगिनत अन्तविरोधी विषयों का समूह है असंख्य गुणों वाले जटिल यथार्थ का विस्तार है। यहाँ उच्च वर्ग के कई रूप हैं, मध्य वर्ग के अनेक स्तर हैं और दलित वर्ग कुछ इस तरह दलित है कि उनको समझने बुझने की शक्ति ही जवाब दे जाती है। आला दर्जे के अफसर, निदेशक, संचालक, सचिव सब उच्च मध्यवर्ग की श्रेणी के हैं,

¹ सक्सेना, नरेश . जनवरी-मार्च, 2007 . प्रगतिशील वसुधा, कमला प्रसाद (सं.) . पृ. सं.- 226

जबकि राजनेता, मंत्री और उद्योगपति उच्चवर्ग में। इन दोनों की जीवन शैली, सोच-विचार और कर्म-कुकर्म कवियों की समझ के दायरे से बाहर है। अपनी कविता के बल पर इनकी सशक्त दुष्प्रवृत्तियों पर लगाम कसना समकालीन कविता के सामने दुष्कर चुनौती है। कुछ कवियों ने इस दिशा में थोड़े-बहुत प्रयास तो किए हैं मगर शहर के सर्वव्यापी यथार्थ के समक्ष उनका प्रयास अधूरा ही है। शहर की झुगियों पर 'विनय दूबे' की कविता 'बड़ा दुख है', की चार पंक्तियाँ दृष्टव्य है :

“बड़ा दुख है झुगियों में / बड़ा दुख है

नल नहीं, सड़कें नहीं, बिजली नहीं है

और डर बीमारियों के फैलने का

और डर है म्यूनिसिपल का झुगियों के टूटने का डर।”¹

कस्बा, शहर या महानगर आज की सभ्यता का बहुत अहम् सच है। उसको हम दरकिनार नहीं कर सकते, न ही उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। वह हमारे ही विकास क्रम का मुख्य हिस्सा है। इसलिए वह जैसा भी है, जो कुछ भी है उसे धैर्यपूर्वक समझना नितान्त आवश्यक है। शहर पर कविता लिखने का मतलब शहर का होकर लिखना नहीं है, बल्कि संवेदनशील तटस्थता के साथ, आलोचनात्मक अन्तर्दृष्टि के साथ लिखना है। शहर में आकर मानव के व्यवहार, चरित्र, जीवन मूल्य और सोच में भारी फेरबदल आया है। एक जागरूक और पैनी निगाहों वाला कवि बड़ी कुशलता के साथ इस बदलाव को परख सकता है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उसे कहीं भटकने की जरूरत नहीं, बल्कि वह जिधर भी जाएगा इस कटुसत्य के जिंदा प्रमाण दौड़ते भागते हुए मिल जाएंगे। चारित्रिक पतन, आर्थिक भ्रष्टाचार या राजनीतिक नाटकबाजी ये तो महानगरों की आम पहचान है।

यदि कोई समकालीन कवि इन मुद्दों को कविता में उठा रहा है तो बहुत नया कार्य नहीं कर रहा है, हाँ आम पाठक को सचेत करने की दृष्टि से इसका महत्व है जरूर। वस्तुतः इससे कहीं अधिक आवश्यक चीज है शहर में फैले हुए आदमी के अन्तर्विरोधों को पूरी तल्लीनता के साथ दिखाना। यहाँ का पढ़ा-लिखा बुद्धिजीवी क्यों आत्मकेन्द्रित हो गया है, वह क्यों शहर की भौतिक प्रगति का बोझ न सह पाने के बावजूद प्रसन्न दिखने को अभिशप्त है ये अंतर्विरोध अपने सटीक मूल्यांकन के लिए कवि से एक सन्तुलित, मानवीय और लोकतान्त्रिक दृष्टि की माँग करते हैं। ऐसा रचनाकार कोई एकतरफा निर्णय नहीं देता, बल्कि वह आँखें तेज रखते हुए इन मुद्दों को तह में पहुँचाने का प्रयास करता है। यहाँ पहुँचने के बाद उसको दिखती है शहर में भी बचो हुई मनुष्यता, न्यायप्रियता और सच्चाई। यहाँ आकर इंसान

¹ दूबे, विनय . 2006 . समकालीन सृजन (विशेषांक) . पृ. सं.- 123

भीतर से मर नहीं गया है। वस्तुतः वह जूझ रहा है अपने आपसे। वह अपनी बाहरी आवश्यकताओं के चलते उत्पन्न व्यावहारिक कमजोरियों से लड़ भी रहा है। हाँ, यह अवश्य है कि इस लड़ाई में वह हारता बार-बार है, जीतता कभी-कभार। इस संदर्भ में प्रसिद्ध लेखिका 'मृदुला गर्ग' के विचार देखिए "आने वाले समय में साहित्य को शब्दों के बीच के मौन को, अनकही व्यंजना को, स्थूल के पीछे के सूक्ष्म विश्लेषण को, विचारधारा के पीछे के विचार की जटिलता को, और मूल्यों में सतत परिवर्तन के बावजूद सनातनता को, अभिव्यक्त करने का जोखिम उठाना पड़ेगा।"¹

विषयों की विविधता की दृष्टि से समकालीन कविता ने असाधारण विस्तार किया है। इसमें व्यक्ति, समाज, धर्म, राजनीति, विज्ञान, प्रकृति इत्यादि सब समाहित हो उठे हैं, परन्तु जिस क्षेत्र में इस कविता ने अपना सर्वाधिक विस्तार किया है वह है समाज, धर्म और मौजूदा राजनीति। समाज संस्कृति का बाह्य ढाँचा है। इसके भीतर संस्कृति पनपती और विकसित होती है। दोनों का आपसी सम्बन्ध इतना गहरा है कि वे कहाँ एक-दूसरे से अलग हो रहे हैं कह पाना मुश्किल है। बाहर से देखने पर जो समाज है वही भीतर से देखने पर संस्कृति है। यदि कोई कवि आधुनिक समाज के किसी ज्वलन्त मुद्दे को कविता में उठा रहा है तो अप्रत्यक्ष रूप से वह सांस्कृतिक संकट से भी दो-चार हो रहा है। सामाजिक मुद्दों का कोई ओर-छोर नहीं है। इसमें पारिवारिक सम्बन्धों में बिखराव, स्वार्थान्धता, स्त्रियों के मन की जाँच-पड़ताल, दलित और उपेक्षित तबकों के प्रति कर्तव्यनिष्ठता, उत्सव, त्योहार और रीति-रिवाज, वर्जनाएँ तोड़ते प्रेम-सम्बन्ध, खेती-किसानों और उपेक्षित वर्गों के प्रति उत्सुकता और आदर का भाव इत्यादि सब सम्मिलित हैं। एक ही कवि इन सारे मुद्दों और विषयों को रचनावद्ध करता हुआ मिल जाएगा। शहर में बैठकर लिखने के बावजूद उसकी जानकारी में कोई कमी नहीं है। वह देख रहा है कि आए दिन पारिवारिक सम्बन्ध विकृत हो रहे हैं, बुरी तरह से टूट रहे हैं इसीलिए इस दौर का कवि उस विघटन से उत्पन्न मानसिक संत्रास एवं आत्मिक खालीपन का चित्रण करके आगाह करना चाहता है कि आज भी व्यक्ति के लिए पारिवारिक एकता का कितना महत्व है। शरीर से पुतला, हृदय से पत्थर और बुद्धि से चालाकी ही चालाकी सोचने वाली मशीन बनते आदमी के लिए परिवार को जरूरत पहले से कई गुना बढ़ गयी है। देखें पवन करण की कविता 'जिसे तुम मेरा पिता कहती हो' की कुछ पंक्तियाँ :

“पहली बार उसे लगा यह आदमी जो गाँव में मेरी माँ को छोड़कर

इस औरत से यहाँ ब्याह रचाए बैठा है

मेरा पिता होते हुए भी पिता की तरह नहीं है मेरे।”²

¹ गर्ग, मृदुला . 2000 . इण्डिया टुडे (साहित्य वार्षिकी) . पृ. सं.- 22

² करण, पवन . 2006 . स्त्री मेरे भीतर . पृ. सं.- 16

आधुनिक साहित्य की किसी भी विधा में समाज और उसमें व्याप्त संस्कृति हो मुख्य केन्द्र में है। आन्तरिक बदलाव अनिवार्यतः बाहरी ढाँचे को परिवर्तित करता है, क्योंकि पुराना ढाँचा नये आन्तरिक परिवर्तन को धारण करने में समर्थ नहीं रह जाता। इसी प्रकार यदि समाज का बाहरी ढाँचा बदल रहा है तो वह भी भीतर की संस्कृति को बदलाव के लिए प्रेरित करता है। इस तरह समाज और संस्कृति में परिवर्तन एक-दूसरे पर निर्भर है। यह अवश्य है सामाजिक परिवर्तन की गति सांस्कृतिक परिवर्तन की गति से धीमी होती है। जैसे खान-पान, रहन-सहन, पहनावा, रीति-रिवाज जो कि संस्कृति के तत्व हे युग के अनुसार अपना रूप बदलते रहते हैं, जबकि जाति-व्यवस्था, वर्ग-विभाजन, पुरुष प्रधान व्यवस्था समाज के अनिवार्य तत्व है इनमें बदलाव इतना धीमा है कि परिवर्तन यहाँ हो भी रहा है कि नहीं पता नहीं चलता। समकालीन कविता की नजर दोनों की यथास्थिति के खिलाफ और परिवर्तन के प्रबल समर्थन पर है। वस्तुतः यह परिवर्तन काल की गति का अनिवार्य गुण है, जो मानव-सभ्यता के सभी क्षेत्रों में अपना असर दिखाता है। यह बदलाव अपनी मूल प्रकृति में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों होता है।

समकालीन कवि अपने आत्मविवेक के बल पर तत्काल भाँप लेता है कि समय की कौन सी नयी प्रवृत्ति उत्तम है, ग्राह्य है और कौन सी प्रवृत्ति हृद दर्जे की खतरनाक। वह आम आदमी के हित को कसौटी पर समय के बदलावों को परखता है। यदि वह हित के अनुकूल है तो समर्थन, यदि विपरीत है तो सख्त विरोध। समकालीन कवि समर्थन अथवा विरोध सिर्फ कविता में करके सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि मंचों, गोष्ठियों और लेखों के माध्यम से भी अपनी उपस्थिति दर्ज करता है। प्रसिद्ध आलोचक और कवि **रमेशचन्द्र शाह** साहित्य और संस्कृति के रिश्ते को दावे के साथ स्पष्ट करते हैं **"समय और संस्कृति में आने वाले बदलावों की आहट सबसे पहले साहित्य में सुनाई देती है या सुनाई देनी चाहिए। नहीं तो उसे साहित्य मत कहो। साहित्य की जगह हमारे यहाँ हमेशा संस्कृति के केन्द्र में रही है।"**¹ वस्तुतः इसी दायित्व के लिए साहित्यकार का प्रगतिशील या मानवतावादी होना आवश्यक है, क्योंकि बिना प्रगतिशील हुए युगीन परिवर्तन की चाल को समझ पाना मुश्किल है।

इस युग में जिस तरह धार्मिक पाखण्ड ने अपना विस्तार लिया है, उसी तरह कविता में उस पर आक्रमण का सिलसिला भी तेज हुआ है। आज का धर्म शुद्ध रूप से बिजनेस है, व्यापार है, रोजगार है, और है धन उगाऊ खेती। धर्म में धर्म खोजना रेगिस्तान में जल खोजने की तरह दुर्लभ हो गया है। भारत के कोने-कोने, में, प्रत्येक गाँव, तहसील जिला और प्रांत में धर्म की तूती बोलती है। हर जगह मंदिर है, मठ हैं, पूजा स्थल हैं, डीह हैं और तान्त्रिक साधना केन्द्र हैं। 21 वीं सदी में इनके घटने को कौन कहे, ये निरन्तर और विस्तार ले रहे हैं। धर्म पर निर्मम प्रहार का सिलसिला प्रेमचन्द के समय से ही जारी है, परन्तु आज तक धर्म के इस मनमानेपन पर कोई असर नहीं पड़ा है। साहित्य में धर्म की विकृतियों का कितना भी भंडाफोड़ क्यों न कर दिया जाय, उसको वीभत्स सेहत पर तनिक भी असर नहीं पड़ने वाला।

अयोध्या, प्रयाग, बनारस, उज्जैन, बद्रीनाथ, हरिद्वार, द्वारिका, रामेश्वरम्, पुरी इत्यादि आज न जाने कितने धार्मिक गढ़ हैं। यहाँ धर्म-पुरोहितों के पास अपार धन है, ऊंची पहुँच है, प्रभुसत्ता है।

धर्म का मायाजाल इन केन्द्रों में इतने दूर तक फैला हुआ है कि उसको पूरी तरह समझने में एक पूरा जीवन ही समाप्त हो जाएगा। समकालीन कविता बहुत ऊपर ऊपर इसके खिलाफ हाथ-पांव मार रही है। वस्तुता धार्मिक-तन्त्र की तह तक जाने की सामर्थ्य इस कविता में नहीं है। चूंकि उसे प्रगतिशीलता का तमगा पहनना है, इसलिए धर्म की खिंचाई कर दी। चलो एक कर्तव्य और पूरा हुआ। सच तो ये है कि धर्म के वर्तमान चेहरे को समझने के लिए मात्र प्रगतिशीलता काफी नहीं है। जाने-अनजाने कवि खुद धार्मिक संस्कारों की गिरफ्त में हैं पहले उससे मुक्त होना होगा। दबी निगाहों से रचनाकार भी अपना राशिफल पढ़ने से रोक नहीं पाता। आज मठ-मंदिरों में बेइन्तहा व्यभिचार है, धोखाधड़ी और शोषण है- गरीब मध्यवर्गीय नारी का शोषण। पाप के नाम पर, देवी-देवताओं के नाम पर नारियों के साथ अन्याय यहाँ बदस्तूर जारी है। यहाँ देखें 'स्वप्निल' जी की पंक्तियाँ :

“अफीम ईश्वर को समझने में -

सबसे ज्यादा मदद करती है-

अतः अफीम की खेती को

प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।”¹

यह सच है कि आधुनिक सोच, वैज्ञानिक प्रगति एवं भौतिक उन्नति ने हमें धर्म की पुनर्व्याख्या करने, उस पर संदेह करने और उसकी शताब्दियों पुरानी सत्ता को चुनौती देने की दृष्टि प्रदान की है। औद्योगिक क्रान्ति के विश्व-व्यापी विस्तार ने एक सिरे से धर्म के सिद्धान्तों और मान्यताओं को खारिज करने की प्रेरणा दी और आधुनिक दर्शन का मूलमंत्र ही था-संदेह। व्यक्ति पर, प्रकृति पर, ईश्वर पर, परलोक पर यहाँ तक कि समस्त दृश्य- अदृश्य सत्ता पर संदेह। यही से शुरू होती है तर्क और विश्लेषण की क्षमता। मनोविश्लेषणवाद, मार्क्सवाद या अस्तित्ववाद जैसे महान दर्शनों के मूल में ईश्वर की सत्ता का इंकार और मानव की प्रभुसत्ता का स्वीकार निहित है।

समकालीन कविता जब धर्म के कर्मकाण्डी और तान्त्रिक चेहरे का सामना करती है तो उसमें प्रखरता का स्वर तीव्र हो जाता है, मानो वह हमारे बीच से इसकी विकृति को समूल नष्ट करके ही दम लेगी। लेकिन यही धर्म हमारे दैनिक जीवन में किस तरह प्रवेश किए हुए है इसकी सजगता हमारे भीतर

¹ श्रीवास्तव, स्वप्निल . 2004 . मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए . पृ. सं.- 11

नहीं है। 'दुर्गा सप्त शती' का पाठ हमारे घरों में होता है हम चुप रहते हैं, 'श्री मद्भागवत कथा' का आयोजन हमारे घर होता है हम कुछ नहीं कर पाते। हमारे भाई-भतीजों का जनेऊ संस्कार होता है हम मौन धारण किए रहते हैं। कुण्डली से मिलान करके नितान्त अपरिचित लड़की से हमारी शादी तय कर दी जाती है हम सिर झुकाकर मान लेते हैं। मंदिर का पुजारी लाल टीका लगाकर दक्षिणा माँगता है हम चुपचाप दे देते हैं। अपने जीवन में घुसी हुई ये छाटी-छोटी धार्मिक करतूतें सही अधों में हमें विशुद्ध प्रगतिशील बनने ही नहीं देती। बड़े-बड़े बुद्धिजीवी और प्रगतिशील लेखक धर्म के खतरनाक सच को जानने समझने के बावजूद दो-टूक शब्दों में बोलने से सौ कदम पीछे भागते हैं।

आज भी समकालीन कविता में एक भी रचनाकार मौजूद नहीं जो धर्म के अपार पाखण्ड को खुलेआम चुनौती देने का साहस रखता हो। इस कसौटी पर सबसे खरा उतरने वाला नाम **राजेन्द्र यादव** है। वे कहते हैं **"में कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ पैदा हुआ, कहाँ जाऊंगा आदि-आदि जिसके जवाब मानव के पास नहीं थे। तो यह मान लिया गया कि इस सबका ज्ञाता ईश्वर है। वहीं से धर्म को शुरुआत होती है और आदमी ईश्वर का गुलाम होता चला गया।"**¹

समाज और धर्म के बाद समकालीन कविता का तीसरा क्षेत्र है राजनीति। यह आज के मनुष्य को नियन्त्रित और प्रभावित करने वाला सर्वाधिक शक्तिशाली तन्त्र है। राजनीति का आदर्श है देश का बहुमुखी विकास और जनता का उत्थान है, किन्तु आजादी के बाद से ही भारतीय राजनीति हिंसा, षड्यन्त्र, धोखाधड़ी, घूसखोरी, नैतिक पतन, घोटाला इत्यादि कारनामों के चंगुल में इस तरह फँस चुकी है कि आगामी कई दशकों तक उसके अपने आदर्श रूप में लौटने के आसार नजर नहीं आते। बुद्धिजीवी वर्ग में साहित्यकार ही एक ऐसा शख्स है जो सर्वशक्तिमान राजनीति के अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द करता है। समकालीन कविता के वरिष्ठ या युवा दोनों प्रकार के कवियों में राजनीति के प्रति घृणा, आक्रोश और विद्रोह का तेवर दिखाई पड़ता है। जनकवि नागार्जुन राजनीति की खिलाफत के प्रतिमान हैं ही, आज के दौर में राजेश जोशी, आलोक धन्वा, कात्यायनी, भगवत रावत या लीलाधर जगूड़ी भी इस मोर्चे पर पीछे नहीं हैं। समकालीन कविता में लगभग प्रत्येक कवि राजनीतिक चेतना से सम्पन्न है और राजनीतिक व्यवस्था पर कटाक्ष करना अपना मूल कर्तव्य समझता है। प्रसिद्ध कवि **राजेश जोशी** की इन पंक्तियों में राजनीति के खिलाफ कितना आक्रोश भरा हुआ है :

"हमारी पार्टी ने तय कर लिया है कि नाटक का विरोध करना है

तो बस.. ..नाटक का विरोध करना है

पार्टी जो तय कर लेती है हम बस वो ही करते हैं

¹ यादव, राजेन्द्र . अन्यथा . कृष्ण किशोर (सं.) . पृ. सं.- 17

सवाल करने की प्रथा हमारे यहाँ नहीं है।”

आज का प्रत्येक बुद्धिजीवी राजनीति से असन्तुष्ट है। उसको समूल परिवर्तित कर देना चाहता है। वह भूखा है न्याय का, सम्मान का, रोजगार का। राजनीतिक भ्रष्टाचार बौद्धिक प्रतिभाओं को पनपने नहीं देता, अयोग्यों और भ्रष्टाचारियों को ऊपर उठाता है। इसीलिए सत्ता के इस अक्षम और दिग्भ्रमित तन्त्र में मजदूर, किसान, लेखक, आम आदमी सब त्रस्त हैं। यह वह महारोग है जिससे घृणा भी होती है और रात-दिन चिपके भी रहना पड़ता है। आज को सत्ता के नवीनतम पैतरे का खुलासा करते हुए चंद्रकांत देवताले कहते हैं **“देश की 70 प्रतिशत जनता आजादी को अर्द्धशतो बीत जाने के बाद भी बुनियादी सुविधाओं से वंचित है। गरीबों की दुनिया में अंधेरा और गहरा गया है, जबकि ऊपर को अधिरचना समृद्ध भव्य दिखाई दे रही है।”**¹

समकालीन कविता की एक उल्लेखनीय विशेषता है- वादों से मुक्ति। अर्थात् आज का कवि किसी एक विचारधारा में बंधकर नहीं लिखना चाहता है। हिन्दी साहित्य के पिछले दौर में वादों से बंधकर लेखन करने की प्रवृत्ति खूब फली-फली, लेकिन उससे न तो उस विचारधारा की गरिमा बढ़ी और न ही साहित्य को। समकालीन कवि इस सच्चाई को बखूबी समझ चुका है कि विचारधारा का सिपाही बनकर सृजन करने का युग लद चुका है। अधिक से अधिक वह इनसे दृष्टि ग्रहण करता है, अपने चिन्तन की धार को तेज करता है या यों कहें कि अपनी क्षमता को और अधिक व्यापक करता है। आधुनिक दर्शन को जितनी नयी-नयी विचारधाराएँ हैं उनके उत्तम को ग्रहण करने से समकालीन कवि को कोई परहेज नहीं। सच तो यह है कि वैचारिक दौलत पाने के लिए यह दक्षिणपंथी लोगों के पाले में भी घुस जाने को कटिबद्ध है। आज की तारीख में विवेकानन्द, अरविन्द और महात्मा बुद्ध धर्म के अन्तर्गत पहचाने जाते हैं, जबकि यह धर्म ही लेखक को सबसे बड़ी चुनौती है, परन्तु उपरोक्त तीनों महापुरुषों की महत्ता वैचारिक दृष्टि से बेजोड़ है। इसीलिए समकालीन रचनाकार खुले मन-मस्तिष्क के साथ उनका प्रभाव सहर्ष ग्रहण करता है, और साथ ही साथ उनकी सोच में, निष्कर्ष में स्पष्टतः दोष नजर आते हैं वह उनकी तीखी आलोचना करने से पीछे नहीं हटता।

मार्क्सवाद से सर्वाधिक प्रभावित रहने वाला समकालीन कवि मार्क्सवाद का ही आलोचक है। मार्क्सवाद के महान योगदान को स्वीकार करने के बावजूद, सर्वाधिक उसी से प्रभावित रहने के बावजूद आज का कवि इस युगान्तकारी विचारधारा में कमियाँ खोज निकालने में समर्थ हो गया है। अब उसकी प्रगतिशीलता मात्र मार्क्सवाद का भजन गाना भूल चुकी है। उसमें दुनिया का तमाम दर्शन, अनेकों इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के विचार और लेखकों की मौलिक दृष्टियों का मिश्रण है। यहाँ देखिए **कमेंन्दु शिशिर** मार्क्सवादियों के बारे में क्या कहते हैं **“मार्क्सवादियों की मुश्किलों का एक अन्तहीन**

¹ देवताले, चंद्रकांत . नवम्बर, 2006 . पृ. सं.- 88

सिलसिला रहा है। वे आज तक भारतीय समाज के परिवर्तन की कोई मौलिक राह नहीं तलाश पाये। विचारों की वैज्ञानिकता वे पहले सोच लेते रहे और उसी खाँचे में यथार्थ का विनियोग करते रहे। स्वभाव से हठी होने के कारण और वैचारिक गतिशीलता के अभाव से वे कभी विस्तार न पा सके।”¹

समकालीन कविता में विरोध और आलोचना का एक और सार्थक स्वर खुद कविता और साहित्य के प्रति है। कवि स्वयं अपने दौर के साहित्यिक वातावरण से खफा है और अपनी कविताओं अथवा लेखों में यह असन्तुष्टि प्रकट करने से नहीं चूकता। स्थिति तो यहाँ तक बढ़ गयी है कि समकालीन कविता का युवावर्ग अपने प्रतिष्ठित वरिष्ठ कवियों का मूल्यांकन पूरे आत्मविश्वास और हिम्मत के साथ कर सकता है। अब वह धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि के व्यामोह से मुक्त हो रहा है और सिर्फ रचना के आधार पर आलोचना करने का दमखम विकसित कर रहा है। पिछली सदी के अन्तिम तीन दशकों में प्रायोजित आलोचना, स्तुति और उठाने-गिराने की तिकड़मबाजी का बोलबाला रहा। इसका असर आज भी खत्म नहीं हुआ है। इस खेल में पुरस्कारों की महामाया ने बड़ी भूमिका निभाई है। आज साहित्य में छोटे-बड़े, प्रतिष्ठित गुमनाम जितने भी पुरस्कार दिए जा रहे हैं, उसमें रचना की श्रेष्ठता के आधार पर मिलने वाले पुरस्कारों की संख्या एक प्रतिशत से अधिक नहीं है। रचनाकार से परिचय, घनिष्ठता और उसकी प्रसिद्धि पुरस्कार तय की प्राथमिक शर्तें हैं। साहित्य अकादमी पुरस्कार जो देश में साहित्य का सबसे प्रतिष्ठित पुरस्कार है स्वार्थी और घनिष्ठ सम्बन्धों के आपसी गुटबाजी में किस कदर फैसा हुआ, इसका खुलासा करने के लिए किसी प्रमाण की जरूरत नहीं।

आज साहित्य का कोलाहल सब तरफ है और साथ ही विधाओं के विलुप्त हो जाने का संकट भी मँडरा रहा है। राजेन्द्र यादव तो कई बार कविता के अन्त की भविष्यवाणी कर चुके हैं। दूसरा संकट उपन्यास विधा पर। महाकाव्य जाने को हुआ तो उसका स्थान उपन्यासों ने ले लिया। अब यदि उपन्यास भी चला गया तो उसका स्थान लेने के लिए कौन सी विधा जन्म लेगी, यह अभी भविष्य का प्रश्न है। **उदय प्रकाश** जो कि प्रतिष्ठित कहानीकार होने के साथ ही एक समर्थ कवि भी हैं समकालीन कविता के बाजारीकरण से चिन्तित हैं, शायद लाचार भी। वे समकालीन कविता को श्री विहीन करने वालों की कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हैं :

“उनके संरक्षण में हैं संस्कृति, संस्थाएँ और कटिबद्ध है भ्रष्ट हर सरकार

देखो कितनी बार कितने प्रकार से ले रहे हैं वे पुरस्कार

समकालीन साहित्य के पेज श्री के ये सब मंजे हुए

¹ शिशिर, कर्मदु . दिसम्बर 2006 . सृजन संवाद (अंक- 6) . पृ. सं.- 253

वर्णवादी कलाकार।¹

पिछले एक दशक से दिल्ली ही सर्वाधिक आलोचना के केन्द्र में रही है। अब तो दिल्ली के साहित्यिक माहौल की खरी-खोटी आलोचना कर देना एक फैशन बन चुका है। यद्यपि दिल्ली की हवा में साहित्य को दूषित करने वाले तत्व मौजूद तो हैं ही, किन्तु इसका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। इसको पूरी दिल्ली पर लागू नहीं किया जा सकता। प्रत्येक दौर का साहित्य अपने नयेपन के साथ कुछ नयी कमजोरियों भी ले आता है। यही कमजोरियां जब प्रबल हो उठती हैं, विस्तृत हो जाती हैं तो साहित्य को अस्मिता का ही संकट खड़ा कर देती हैं।

दरअसल ये कमजोरियों खुद साहित्य द्वारा उत्पन्न नहीं होतीं, बल्कि परिवर्तित होते हुए युग, उसके मनुष्य और आगे बढ़ती सभ्यता में मौजूद होती हैं। जैसे बाजारवाद, प्रदर्शन प्रियता और प्रचारवाद आधुनिक सभ्यता की देन हैं। ये अनिवार्यतः हिन्दी साहित्य को हो नहीं, देश की अन्य भाषाओं के साहित्य को प्रभावित कर रही है। अब एक पुस्तक, चार कहानी, या दस कविताएँ लिखकर चर्चित हो जाने के लक्ष्य का युग है। गुमनाम रहकर भी मुक्तिबोध की तरह युगान्तकारी रचनाएँ लिखते रहने का धैर्य अब किसी रचनाकार में नहीं। कम से कम लिखकर अधिक से अधिक कैसे चर्चित हुआ जाता है यह कोई समकालीन हिन्दी साहित्य से सीखे। प्रसिद्ध आलोचक **विजय कुमार** की इस तल्खी में सच्चाई के सूत्र तो मौजूद है ही, भले ही वे प्रतिक्रियावादी लगती हो : **"अस्सी के बाद उभरा समकालीन हिन्दी कविता का सौन्दर्यबोध धीरे-धीरे एक बड़ी हद तक गैर-पालिटिकल हो चुका है। अब उसमें अनुभव कम और स्मार्ट वक्तव्यों की कीमियागिरी ज्यादा है। जेंटल, ठण्डे और निष्प्राण वक्तव्य। ज्यादातर कवियों की भाषा और स्वर का तापमान भी लगभग एक जैसा ही है।"**²

¹ प्रकाश, उदय . जनवरी 2007 . वागर्थ – एकांत श्रीवास्तव (सं.) . पृ. सं.- 253

² कुमार, विजय . मई 2007 . नया ज्ञानोदय (युवा पीढ़ी विशेषांक) . पृ. सं.- 13

5. समकालीन हिंदी कविता : आर्थिक - राजनीतिक परिदृश्य

स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ ही वर्ष के बाद उस दौर की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों ने जनमानस को चौंका दिया था। वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न प्रगतिशील समाज के गठन के आग्रही नेता जवाहरलाल नेहरू का मोहभंग हुआ; लालबहादुर शास्त्री को सदमा पहुँचा; दृष्टि-सम्पन्न इन दो-दो प्रधानमन्त्रियों का देहावसान, इन्दिरा गांधी के नेतृत्व की शुरुआत, भारत-पाक सीमा-संघर्ष में इन्दिरा गांधी की सूझ-बूझ से देश में जगी नई स्फूर्ति...ये सभी स्वर समकालीन कविता में अपनी तरह के विरोध, समर्थन के साथ प्रस्तुत हुए। जन-गण के सुख-दुख की उपेक्षा भी हुई, सारी स्थितियों से बाखबर समकालीन कविता ने अपना अग्राभिमुख संस्कार अगले दशक को थमाया। वस्तुतः सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता को समकालीन कविता के रूप में स्वीकार किया सकता है।

सन् 1947 से पूर्व भारतीय जनता की सबसे बड़ी समस्या पराधीनता और सबसे बड़ा लक्ष्य स्वाधीनता थी। स्वाधीनता के बाद कुछ वर्ष परिवर्तन के बाद की स्थिरता की प्रतीक्षा में बीते। थोड़े दिनों बाद असन्तोष के बीज उगने लगे, जल्द ही लोगों को लगने लगा कि यह आजादी पूरे देश की जनता की नहीं है, यह सिर्फ नेताओं की आजादी है या धन-कुबेरों की आजादी है। ऐसे जनजीवन की त्रासदी देखते हुए सन् 1960 आते-आते हिन्दी काव्य-क्षेत्र में जो नई पीढ़ी खड़ी हुई, उसकी अभिव्यक्ति में शालीनता और शिष्टता के स्थान पर आक्रामकता आने लगी।

भारतीय स्वाधीनता के बाद आरम्भिक दो दशकों की हिन्दी कविताओं को लोगों ने अकविता, सहज कविता, विचार कविता, नक्सलवादी कविता, साठोत्तरी कविता आदि नाम समय-समय पर आग्रह अथवा दुराग्रह से दिए। प्रारम्भ में भूखी पीढ़ी, आहत पीढ़ी, शमशानी पीढ़ी, क्षुब्ध पीढ़ी के लोगों द्वारा लिखी गई कविता को नेतृत्व वर्ग द्वारा स्वेच्छाचारी और अराजक प्रयोग पद्धति से लिखी गई कविता कहा गया। असल में बिना किसी राजनीति के जो कवि खड़े हुए, उनका उद्देश्य किसी सिद्धान्त और वक्तव्य को क्रियारूप देना नहीं था, बल्कि वे जनता की पीड़ा को वाणी दे रहे थे।

विभाजन से लेकर सन् 1965 के सीमा संघर्ष के बीच का सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विपर्यय, श्रमजीवियों की आवाज के दमन की नीति ने भारतीय जनता के जीवन को साँस में डाल रखा था; दशक के उत्तरार्द्ध में भी देश का आर्थिक संकट निरन्तर गहराता जा रहा था, विदेशी सहायता के प्रति निर्भरता बढ़ती जा रही थी। सन् 1966 में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पहली बार भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन हुआ। जनसामान्य के बीच इसकी तीखी प्रतिक्रिया हुई। भारतीय नागरिक की हताशा और तेज हुई। सन् 1967 के आम चुनाव में इन सभी परिस्थितियों का प्रभाव सामने आया। नौ राज्यों में गैरकांग्रेसी शासन स्थापित हुआ। हालाँकि इस मिली-जुली सरकार से भारतीय लोकतन्त्र में उससे राजनीतिक परिस्थितियाँ थोड़ी और जटिल हुईं। हड़ताल, प्रदर्शन, मुठभेड़ आदि का सिलसिला चल पड़ा। इस आम चुनाव के परिणाम से किसी भी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। आर्थिक

विषमता और किसानों के आक्रोश के कारण मार्च 1967 में नक्सलवादी आन्दोलन आरम्भ हुआ, जिसके दमन की पुरजोर कोशिश हुई, हालाँकि इस आन्दोलन से धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, आलोकधन्वा, कुमार विकल, विजेन्द्र, वेणु गोपाल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह जैसे तीक्ष्ण स्वर वाले कवियों की एक पीढ़ी हिन्दी कविता में सक्रिय हुई।

उक्त दौर में लोकतन्त्र, लोकसेवा, धर्माचरण और समाज व्यवस्था के ढोंग रचनाकारों को स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, धूमिल को साफ-साफ लग रहा था कि जनता को समझा दिया गया है कि यहाँ ऐसा जनतन्त्र है, जिसमें जिन्दा रहने के लिए घोड़े और घास को एक जैसी छूट है। वे जनता को एक ऐसी भीड़ की तरह देखते थे जो दूसरों की ठण्ड के लिए अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है। राजकमल चौधरी ने भी साफ तौर पर देखा :

**“आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ, केवल पेट के बल
उसे झुका देती है धीरे धीरे अपाहिज
धीरे धीरे नपुंसक बना लेने के लिए उसे शिष्ट राजभक्त देश प्रेमी नागरिक
बना लेती है..”¹**

पूरा परिदृश्य यथार्थ से अलग चेहरे के साथ जी रहा था। आम नागरिक के हिस्से की धूप, ध्वनि, पवन, प्रकाश, स्वप्न, साधन चुराकर पूरे तन्त्र की सुविधाएँ अपने नाम करनेवालों पर रचनाकारों ने अपनी कविताओं में तीक्ष्ण टिप्पणियाँ की। वैश्वीकरण ने भारत के अर्थव्यवस्था, समाज, और राजनीति पर कई प्रभाव डाले हैं। यहां कुछ मुख्य प्रभावों का उल्लेख है:

वैश्वीकरण के आर्थिक प्रभाव (Economic Growth): वैश्वीकरण ने भारतीय अर्थव्यवस्था को बढ़ावा दिया है। यह व्यापार के माध्यम से नए बाजार खोलने और विदेशी निवेशकों को भारत आने के लिए प्रोत्साहित किया है, जिससे आर्थिक वृद्धि हुई है और रोजगार के अवसर बढ़े हैं।

वित्तीय बाजार (Financial Markets): वैश्वीकरण ने भारतीय वित्तीय बाजार को भी प्रभावित किया है। यह स्थिरता और वित्तीय सुरक्षा को बढ़ावा दिया है, जिससे निवेशकों को भारत में आत्मविश्वास हुआ है।

सांस्कृतिक विनिमय (Cultural Exchange): वैश्वीकरण ने विभिन्न देशों के लोगों के बीच सांस्कृतिक विनिमय को बढ़ावा दिया है। यहां विदेशी भाषाओं का अध्ययन, विदेशी खाद्य पदार्थों का स्वादन, और अन्य सांस्कृतिक आयामों के प्रति रुझान में वृद्धि हुई है।

¹ चौधरी, राजकमल . 2017 . विघटन . पृ. सं.- 58

विद्या और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सुधार (Advancements in Education and Technology):

वैश्वीकरण ने शिक्षा और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सुधार को भी प्रोत्साहित किया है। भारत ने विद्यार्थियों के लिए अधिक अधिक अंतरराष्ट्रीय अवसर पैदा किए हैं, और नई तकनीकियों का अध्ययन और उनका उपयोग बढ़ा है।

राजनीतिक सहयोग (Political Cooperation): वैश्वीकरण ने भारत को अंतरराष्ट्रीय मंच पर एक महत्वपूर्ण भूमिका दिलाई है। यह भारत को दुनिया की राजनीतिक और सुरक्षा मामलों में अधिक बड़ी भूमिका देने में मदद करता है।

प्रारंभ में भूमण्डलीकरण एक आर्थिक परिघटना थी परन्तु कालान्तर में इसने आर्थिक क्षेत्रों सहित सामाजिक राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा अंतराष्ट्रीय राजनीति को भी प्रभावित किया है। **डेविड हेल्ड** के अनुसार भूमण्डलीकरण पर विचारों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है- अतिवादी (Hyperglobalizers), निराशावादी (Sceptics) तथा परिवर्तनवादी (Transformationalists)। अतिवादियों का मत है कि यह अच्छा है तथा आने वाले समय में जारी रहेगा। परिवर्तनवादियों का मानना है कि यह एक ऐसा अंतःसंबंध निर्मित करता है जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति (power) का प्रयोग होता है और यह अभूमण्डलीकरण में पलट सकता है। निराशावादियों का मानना है कि यह विश्व का पश्चिमीकरण करता है तथा समाज पर इसके प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। इनसे स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था पर इसके सकारात्मक एवं नाकारात्मक प्रभाव पड़ते हैं। भारतीय समाज पर भी इसके प्रभाव देखे जा सकते हैं।

समाज वैज्ञानिकों ने भूमण्डलीकरण के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों पर चिंता एवं उत्साह दोनों ही दिखलाया है जिसे हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं :

1. सांस्कृतिक एकीकरण : भौगोलिक राजनीति, धर्म, मूल्यों और परम्पराओं के सम्मिलित स्वरूप को 'हम संस्कृति' कहते हैं। भूमण्डलीकरण के कारण विभिन्न संस्कृतियों का सीमारहित आवागमन हुआ है तथा मानवीय विवेक पर आधारित एक वैश्विक सभ्यता का निर्माण हुआ है जिसमें विश्व स्तर पर समान मूल्यों का विकास हो रहा है। इस प्रकार जो सांस्कृतिक विशिष्टता समय, स्थान और लोगों के समूहों तक सीमित थीं वो इन सीमाओं को तोड़कर वैश्विकता की ओर बढ़ रहा है। परन्तु **रॉबर्टसन** का मत है कि अंतराष्ट्रीय आवागमन से न केवल स्थानीय सांस्कृति के मूल्यों को दृढ़ता मिलती है बल्कि यह एक मिश्रित संस्कृति का विकास करता है जिसे उन्होंने ग्लोबलाइजेशन की संज्ञा दी है। मिश्रित संस्कृति के लक्षणों में फैशन, संगीत, नृत्य, फिल्म, एवं भोजन में बदलाव हम देख सकते हैं।

2. नवीन मध्य वर्ग का उदय : भूमण्डलीकरण से परम्परागत मध्य वर्ग की जगह एक नवीन मध्य वर्ग का उदय हुआ है। पूरे विश्व में इस वर्ग की भाषा, कार्यकलाप, मूल्य, खानपान और विचार एक समान होते जा रहे हैं। उनका रहन-सहन और तौर-तरीके भी, भवन, होटल, रेस्टोरेंट, यातायात के साधन,

संचार के साधन आदि एक जैसे हो गये हैं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि भारत में मोबाइल फोन, विदेशी गाड़ियां, ब्राण्डेड कपड़ों तथा अन्य उपभोग के समग्रियों का उपयोग धड़ल्ले से हो रहा है जिसके चलते कुछ परम्परागत छोटे धंधे भी बन्द हो रहे हैं साथ ही मॉल संस्कृति इन मध्य वर्गों को स्थानीय एवं परम्परागत बाजार से दूर ले जा रहे हैं।

3. उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन : बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा अपने आर्थिक लाभों के लिए गहन प्रचार किया जाता है जिसके चलते लोगों के बीच पसंद नापसंद उन्हीं के अनुरूप बदल गया है। जैसे सामाजिक परिस्थिति का परिचायक विदेशी वस्तुओं के स्वामित्व से निर्धारित हो रहा है उदाहरणार्थ एपल मोबाइल, विदेशी ब्राण्डों के वस्त्र, फास्ट फुड का सेवन होटल रेस्टोरेंट में लंचऑन आदि। जॉर्ज रिट्जर ने इसे 'मैक्डोनालाइजेशन' की संज्ञा दी है। जिस प्रकार पश्चिमी विकसित देशों में फास्टफुड चैन का प्रभाव है वही भारत जैसे देशों में भी विस्तारित हो गया है। के.एफ.सी., मैक्डोनाल्ड्स, डोमिनो आदि का व्यापक प्रसार इस बात का प्रमाण है।

4. भाषा पर प्रभाव : इन्टरनेट, सोशल मीडिया तथा अन्य संचार के साधनों के सघन उपयोग एवं उनपर निर्भरता ने भाषा पर गहरा प्रभाव डाला है। यह बात सही भी है कि आज सूचनाओं, ज्ञान, मनोरंजन आदि की सीमाएं टूटती जा रही हैं और 'इन्फोटेन्मेंट टेली सेक्टर' का विकास हो गया है। फलस्वरूप भाषाओं के प्रयोग को विकृत हुए हैं जैसे ठीक है की जगह के का प्रयोग। इसके अलावा भूमण्डलीकरण से विश्व में भाषाओं की संख्या भी घटती जा रही है। लोगों के आवागमन से एक जगह की भाषा दूसरी जगह वहां की भाषा में मिल कर एक नया स्वरूप बना लेता है साथ ही इन्टरनेट पर संवाद की भाषा संक्षिप्त एवं अशुद्ध हो गई है। स्थापित भाषाओं का व्याकरण तथा उनकी शुद्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। कई भाषाओं का मिश्रण भी देखने को मिलता है जैसे हिन्दी इंग्लिश मिला कर हिन्गलिस का विकास हो गया है जिसमें अंग्रेजी एवं हिन्दी भाषाओं का मिल जुला स्वरूप व्यवहार में प्रचलित है।

5. पर्यावरण विरोधी उपभोक्त संस्कृति : भूमण्डलीकरण के कारण जो नई उपभोक्त संस्कृति विकसित हुई है उसने असततीय उपभोग (unsustainable consumption) को बढ़ावा दिया है। हमारे दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुएं पर्यावरण के लिए हानिकारक हो रही हैं जैसे प्लास्टिक, ए.सी., वाहन, इलेक्ट्रॉनिक के समानों का अत्यधिक उपयोग आदि से वायुमण्डल पर कुप्रभाव पड़ रहा है। विकसित राष्ट्रों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक दोहन होता है जो इस बात से प्रमाणित होता है कि विश्व के 6 प्रतिशत आवादी वाला अमेरिका विश्व के प्राकृतिक संसाधनों का 30 से 40 प्रतिशत दोहन करता है। विकसित देशों द्वारा फैलाये गये उपभोक्त संस्कृति ने पर्यावरण का खतरा बढ़ा दिया है। जिसका प्रभाव भारत जैसे देशों पर स्पष्ट देखा जा सकता है अम्लीय वर्षा, जलवायु परिवर्तन तथा वैश्विक उष्मा का कुप्रभाव भारत झेल रहा है।

6. सामाजिक मूल्यों में बदलाव : भूमण्डलीकरण ने भारतीय समाज के मूल्यों में भी परिवर्तन ला दिया है। एकल परिवारों की संख्या में वृद्धि, अंतर्जातीय एवं अंतर्धर्मीय विवाह, एक दूसरे पर विश्वास का अभाव, आभासी जिन्दगी पर निर्भरता, परम्पराओं का हास, बुजुर्गों का तिरस्कार सामाजिकता का अभाव, मानवीय भवनाओं पर भौतिक साधनों का वर्चस्व, इन्टरनेट से विवाह आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। सामाजिक समरसता की जगह व्यक्तिगत लाभ ने घर कर लिया है।

7. वैश्विक समाज : भूमण्डलीकरण के कारण संस्कृतियों का क्रॉस संबंध एवं आदान प्रदान से ग्लोबलायिज्ड सोसायटी का निर्माण हो रहा है। सभी समाज अब एक दूसरे से अंतःक्रिया कर रहे हैं तथा एक के सामाजिक मूल्य दूसरे में प्रवेश हो रहे हैं। आचार, विचार, व्यवहार, उपभोग की वस्तुएं, संचर के साधन, दूरियों का कम होना, सूचनाओं का वैश्विक स्तर पर त्वरित प्रसार आदि ने पुरे विश्व को एक समाज के रूप में विकसित कर दिया है। परन्तु निराशावादियों का मत है कि भूमण्डलीकरण के कुप्रभाव ज्यादा हैं तथा आज भी हम एक वैश्विक समाज की और एक वैश्विक सरकार की कल्पना नहीं कर सकते।

1980 से 1990 के मध्य देश में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर तेजी से परिवर्तन हुए। साम्प्रदायिकता और आतंकवाद देश में गहरी पैठ बना चुके थे। श्रीमती इंदिरा गांधी की अपने ही सुरक्षा कर्मियों के हाथों की गई निर्मम हत्या ने देशवासियों को असुरक्षा की भावना से भर दिया था। पंजाब, कश्मीर और असम में स्थिति बेकाबू होने लगी थी। मानवीय जीवन-मूल्यों का क्षरण, भ्रष्टाचार, दलितों और स्त्रियों का शोषण चरम पर था। इसी समय आरक्षण को लेकर देशभर में आंदोलन हुए। जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे भी हुए।

1985 में नई सरकार बनी तो उसका झुकाव अमेरिका की तरफ बढ़ा। पूँजी व बाज़ार की सत्ता के सामने राजनैतिक सत्ता झुकती नज़र आई। महंगाई से जनता कराह उठी। भ्रष्टाचार के मुद्दे पर देश में एक बार फिर से सत्ता परिवर्तन हुआ, किंतु इस बार भी वह अपना कार्यकाल पूरा करने से पहले ही अंतर्विरोधों से ग्रस्त होकर ध्वस्त हो गई। इस समय कवियों ने मज़दूरों, किसानों, दलितों एवं स्त्रियों की चिंता की तथा अपनी कविता में उनको समुचित स्थान दिया। इस दशक में कई अन्य कवि भी उभरे, जिनमें कुमार अम्बुज, एकांत श्रीवास्तव, बद्रीनारायण, निलय उपाध्याय, बोधिसत्व, कात्यायनी, अनामिका, गगन गिल, तेजी ग्रोवर, निर्मला गर्ग आदि के नाम सम्मानपूर्वक लिए जा सकते हैं।

बीसवीं सदी का अंतिम दशक काफी महत्व रखता है, क्योंकि यह भारी उथल-पुथल का समय रहा। इसी समय सोवियत संघ का विघटन हुआ। पूर्वी यूरोप के देशों से कम्यूनिस्ट शासन समाप्त होने लगा और अफगानिस्तान की स्थितियाँ भी बदलने लगीं। दुनियाभर में अमेरिका का वर्चस्व बढ़ने लगा। ईराक पर आक्रमण किया गया। इन सारी स्थितियों में विचारधारा के स्तर पर एक बहस छिड़ गई, जिसमें साम्यवादी विचारधारा के लोगों को जबरदस्त तर्क-वितर्क से गुजरना पड़ा। लीलाधर मण्डलोई ने

लिखा है : “दरअसल 1990 में रूस में जो हुआ, वह विचारधारा का नहीं, प्रशासनिक व्यवस्था का विघटन था, जिसे ‘ग्लासोस्त’ के नाम पर होने से अधिक जानबूझकर सम्भव किया गया। हिंदी की कविता तब मूलतः प्रगतिशील और जनवादी थी। उसका स्वर प्रखर था। उसमें वैचारिक, राजनैतिक चेतना का आवेग था, जिसे हम प्रतिरोध की भाषा में पढ़ रहे थे। वह यकीनन मंद पड़ गया। सोवियत संघ के विघटन के बाद इन कवियों में भी काव्य स्वर का बदलना देखा जा सकता है। दरअसल उक्त विघटन के बाद इनके स्वर खासतौर पर आलोक धन्वा, राजेश जोशी, अरुण कमल में वह आवेग और ताप कम हुआ जो पूर्व में विद्यमान था। इन कवियों ने भी जीवन, समाज और प्रकृति के उन विवरणों की तरफ देखना शुरु किया जो नवें दशक के कवियों में आ रहा था।”¹

आर्थिक उदारीकरण तथा भू-मण्डलीकरण से दुनियाभर में मुक्त बाजार व्यवस्था प्रचलित हो गई। इससे बाज़ार ने अपनी स्थानीयता खोकर वैश्विक स्वरूप ग्रहण करना शुरू कर दिया। ग्लोबल मार्केट की वस्तुएँ सर्वत्र पहुँचने लगीं। इसका प्रभाव हमारी संस्कृति और साहित्य पर भी पड़ना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में प्रो. अरुण होता ने लिखा है : “भू-मण्डलीकरण के नाम पर अपने उदात्त सांस्कृतिक वैविध्य को समाप्त करने की भी साजिश रची जाने लगी। एक ही तरह के खान-पान, वेश-भूषा, भाषा, जीवन-पद्धति आदि को आगे बढ़ाते हुए भू-मण्डलीकरण ने ‘भारतीयता’ को उखाड़ फेंकने का भी षड्यंत्र रचा है। फलस्वरूप, हमारी जीवन-शैली गहरे रूप से प्रभावित हो रही है। व्यर्थ के चमक-दमक के सामने हमारे पुराने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य बाधित हो रहे हैं। एक नई संस्कृति पनप रही है उपभोक्ता संस्कृति, इसमें सब कुछ खरीदा-बेचा जा सकता है। मनुष्य भी एक प्रोडक्ट मात्र है। मानवता खतरे में है।”²

भू-मण्डलीकरण, बाजार, निजीकरण, शहरीकरण के हमारे जीवन पर प्रभाव का चित्रण समकालीन कवियों ने अपनी कविताओं में बहुत ही खूबसूरती के साथ किया है। प्रमोद वर्मा की लिखी कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

“तिमंजिले इमारत में बदल गया तालाब

गोदाम में तालाब पर घर

बन कर उंची बोली वाला

बरमी टिम्बर के टक्कर का

¹ मण्डलोई, लीलाधर . दिसम्बर, 2012 . नवें दशक के पूर्ववर्ती कवियों में धुर लोक उस तरह से नहीं था . पृ. सं.- 16

² होता, प्रो.अरुण . दिसम्बर, 2012 . हिंदी कविता का समकालीन परिदृश्य और जितेन्द्र . पृ. सं.- 94

ए-वन कूप
अपनी शिनाख्त खो बैठा है
सामारूमा भी
बहुत कुछ
मेरी और सम्भवतः
इनकी
उनकी
और आपकी भी तरह।”¹

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में कई पीढ़ी के कवि समकालीन हिंदी काव्य परिदृश्य में सक्रिय दिखे। इस समय मुख्य रूप से जिन कवियों को पहचान मिली, उनमें सर्वश्री पवन करण, प्रेमरंजन अनिमेश, संजय कुंदन, नीलेश रघुवंशी, तुषार धवल, जय प्रकाश मानस, डॉ. वंदना केंगरानी, जया जादवानी, संजीव बख्शी, नीलू मेघ, विजय सिंह (जगदलपुर), प्रदीप जिलवाने आदि के नाम सम्मानपूर्वक लिए जा सकते हैं।

इक्कीसवीं सदी का पहला दशक तथा दूसरे दशक के प्रारंभिक कुछ वर्ष बीसवीं सदी के अंतिम दशक की प्रवृत्तियों का थोड़ा-बहुत विस्तार ही है। भू-मण्डलीकरण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, बेरोजगारी, दहेज, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, अवसरवाद की समस्या आज भी बदस्तूर जारी हैं। दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे टी.वी. चैनल, मोबाईल, कम्प्यूटर, ई-मेल, ब्लॉग और फेसबुक ने संस्कृतियों का घालमेल करके रख दिया है। आजकल टी.वी. चैनल सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने और अपनी टी.आर.पी. बढ़ाने के लिए घटिया और सनसनीखेज कार्यक्रमों का सहारा ले रहे हैं। इन चैनलों में फूहड़ तथा द्वि-अर्थी शब्दों के प्रयोग वाली कविताएँ पढ़कर कुछ जुगाड़ू और नामचीन कवि साहित्य के मठाधीश बने बैठे हैं।

¹ वर्मा, प्रमोद . सामारूमा और अन्य कविताएँ, प्रमोद वर्मा समग्र-3 . पृ. सं.- 321

5.1. आर्थिक प्रभाव

वर्तमान समाज में अर्थ की महत्वपूर्ण भूमिका है। आज अर्थ के माध्यम से रिश्ते बनने लगे हैं। व्यक्ति किसी के साथ रिश्ता तभी जोड़ता है, जब सामने वाला व्यक्ति उसके बराबर का हो। यदि वह बराबरी का न हो तो रिश्ता क्या उससे बात और दुआ-सलाम तक नहीं होती। इसी से स्पष्ट होता है कि समाज में रहने वाले हर एक इंसान के लिए अर्थ का होना कितना आवश्यक है। **ज्ञानचन्द्र गुप्त** कहते हैं- **“आज के जीवन में परिव्याप्त जटिलताएँ अर्थमूला हैं। व्यक्ति अपने चतुर्दिक आर्थिक दबावों, अनुभवों एवं विविध संगति-विसंगतियों के मध्य से यातनापूर्ण यात्रा तय कर रहा है। देश की अर्थव्यवस्था, संक्रमणकाल के विविध संदर्भों से गुजर कर राष्ट्रीय विकास की ओर गतिशील है आज देश अपने पुनः निर्माण में व्यस्त है। जब तक देश की गरीबी जनता को पेट भर भोजन, तन ढँकने को वस्त्र और रहने को मकान नहीं मिलता, तब तक उसके जीवन में आशा-उल्लास का प्रश्न ही नहीं उठता।”**¹ इससे स्पष्ट होता है कि आर्थिक जटिलताओं के कारण व्यक्ति का जीवन कितना त्रासद, घुटनशील एवं पीड़ादायक है। आम आदमी के लिए दो वक्त की रोटी न जुटा पाना, रहने के लिए मकान का न होना एवं तन ढँकने के लिए कपड़ों का न होना कितनी बड़ी विडंबना है।

समकालीन कविताओं में कवियों ने आम आदमी की आर्थिक पीड़ाओं का चित्रण यथार्थता के साथ किया है। साथ ही आम आदमी के दुख-दर्द, वेदना, आकांक्षाओं का मार्मिक चित्रण कविताओं में देखा जा सकता है। एक ओर कवियों ने कविताओं में पूँजीवादी, सामंतवादी, जमींदारी, उद्योगपतियों, राजनीतिज्ञों एवं अन्य शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह की ज्वाला धधकती दिखलाई पड़ती है, तो दूसरी ओर किसान, मज़दूर, निम्नवर्ग, निम्न-मध्यवर्ग, बेरोजगार, धोबी, मोची आदि आम आदमी को अपने ही जन-जमीन से बेदखल कर उन्हें मज़दूरी करने के लिए शहरों एवं महानगरों की ओर पलायन करने के लिए विवश करने वालों के प्रति भी विद्रोह के स्वर स्पष्ट झलकते हैं। आम आदमी इतने दमित, शोषित, पीड़ित एवं मज़बूर होते हैं कि उनमें अपने स्वाभिमान के लिए, अपना हक पाने के लिए लड़ने और संघर्ष करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। किंतु आज इस घुटन, संत्रास, छटपटाहट आदि विडंबनाओं को खुलकर चुनौति दे रहे हैं। इस समय के सभी रचनाकारों ने आम आदमी की आर्थिक पीड़ाओं का मार्मिकता एवं यथार्थता के साथ किया है। एक ओर वे हमेशा आम आदमी के साथ दया, करुणा एवं सहानुभूति का भाव प्रकट करते हुए उनके साथ खड़े दिखलाई पड़ते हैं और दूसरी ओर शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

वर्तमान समय में रिश्तखोरी, कालाबाजारी, मुद्रास्फीति, चोरबाजारी और भ्रष्टाचार आदि ने आर्थिक समस्याओं को और अधिक बढ़ाया है, जिसके कारण निम्न-मध्य वर्ग और निम्न वर्ग की जनता घुन की तरह पिस रहा है। समकालीन हिंदी कवियों ने इन समस्याओं से जूझ रहे आम आदमी की

¹ गुप्त, ज्ञानचन्द्र . 2015 . स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास और ग्राम-चेतना . पृ. सं. 140

पीड़ाओं का चित्रण मार्मिकता के साथ किया है। निर्धनता आम आदमी के लिए एक अभिशाप है। आर्थिक तंगी में जीवन-यापन कर रहे आम आदमी की इच्छा है दो वक्त की रोटी, किंतु उन्हें दो वक्त की रोटी नसीब नहीं। रोटी, कपड़ा, मकान के लिए उन्हें शोषक एवं सामाजिक षड़यंत्रों के विरुद्ध लड़ना एवं संघर्ष करना उनकी नियति बन गई है।

धूमिल की कविताओं में आर्थिक अभाव से जूझता आम आदमी की पीड़ाओं को महसूस किया जा सकता है। कवि ने अर्थ के अभाव में ग्रसित, पीड़ित जनता की पीड़ा को इस प्रकार व्यक्त किया है :

“चैके में खोयी हुई औरत के हाथ
कुछ भी नहीं देखते। वे केवल रोटी बेलते हैं
और बेलते रहते हैं।
एक छोटा सा जोड़-भाग।
बड़कू को एक/छोटकू को आधा।
परबत्ती-बालकिशुन आधे में आधा। कुल रोटी छै।”¹

उदय प्रकाश की ‘वैरागी आया है गाँव में’ कविता में कवि ने निम्न एवं सर्वहारा वर्ग की आर्थिक अभाव के कारण विपन्नता दरिद्रतापूर्ण जीवन-यापन कर रहे आम आदमी का चित्रण किया गया है। आर्थिक अभाव के कारण रोटी-रोटी के लिए तरसते, तड़पते, बिलखते, रिरियाते आम आदमी की पीड़ा दिनों-दिन बढ़ती जाती है। कई दिनों से उनका चूल्हा नहीं जला। इन विषमताओं से जूझते आम आदमी का चित्रण इस प्रकार करते हैं-

“जहाँ तुम्हारा चूल्हा ठंडा पड़ा है।
पतीली औंधी धरी है और पाँच दिन की भूखी कानी कुतिया
जहाँ सो रही है। पाँच दिन की बुझी राख पर।”²

बढ़ती मँहगाई ने आम आदमी की कमर तोड़ दी है। शोषित, दमित वर्ग इन समस्याओं से प्रतिदिन जूझ रहा है। गरीबी, दरिद्रता से हर एक आम आदमी संघर्ष करते थक चुका है। उसके कदम, पग लड़खड़ा उठे हैं। मँहगाई रूपी डायन, अजगर उसके अस्तित्व को लीलना चाहता है। इन समस्याओं से जूझती मध्यमवर्गीय जनों की मार्मिक पीड़ा का बयान नरेन्द्र गौड़ अपनी ‘उसकी एक रात’

¹ पाण्डेय ‘धूमिल’, सुदामा प्रसाद . 1977 . कल सुनना मुझे: किस्सा जनतंत्र . धूमिल: पृ. सं. - 16

² प्रकाश, उदय . 1984 . अबूतर-कबूतर: वैरागी आया है गाँव में . पृ. सं.- 16

कविता में करते हैं। सलीम खान की 'इलमदीन' कविता में एक मेहनतकश मज़दूर की आर्थिक अभाव की कथा का चित्रण किया गया है। मज़दूर जी-जान लगाकर मेहनत करता है, परंतु उसे सेठ द्वारा उचित मज़दूरी नहीं मिल पाती है, जिसके कारण उसका पूरा परिवार भूखे-प्यासा, अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करता है। इस तरह का जीवन जीना उनकी नियति बन गई है। आर्थिक अभाव के कारण आम आदमी का जीवन अशांति, कलहपूर्ण, तनावग्रस्त, छोटी-छोटी बातों में आपसी मन-मुटाव, झगड़ा आदि का वातावरण परिवार में बढ़ता गया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में उद्योगों की स्थापना निजी और सरकारी दो रूपों में हुई। यद्यपि निजी क्षेत्रों पर नियंत्रण सरकारी था तथापि कालान्तर में इन क्षेत्रों पर सरकारी नियंत्रण के स्थान पर पूंजीवादी व्यवस्थापकों और पूंजीपतियों का दबाव बढ़ गया। निजी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार और बेईमानी से उपलब्ध ऐश्वर्य को ही समकालीन जीवन में सर्वोपरि स्वीकार लिया गया। इस काल में पंचवर्षीय योजनाओं से संबद्ध बड़ी-बड़ी योजनाओं का नियोजन हुआ, पर इन योजनाओं से भी उच्चवर्ग ही समुन्नत हुआ। विदेशी पूंजी के सहयोग से देशी-विदेशी प्रतिष्ठानों के उत्पादन वृद्धि तो हुई, परन्तु उपयोग और उपभोग के स्तर पर बेईमानी ने भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्रृंखलित ही किया और देश विदेशी ऋणों पर आश्रित हो गया। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन सामुदायिक विकास के कार्यक्रमों, हरित क्रांति के प्रयासों कुटीर धंधों की स्थापनाओं, सिंचाई की सुविधाओं एवं परिवहन साधनों से ग्रामीण जीवन की आर्थिक स्थिति समुन्नत तो हुई लेकिन पूंजीवादियों द्वारा श्रमिक शोषण और एकाधिकार की भावना के कारण समाज में आर्थिक अन्तराल और अधिक भयावह स्थिति तक पहुँच गया। बढ़ती हुई बेतरतीब जनसंख्या और व्यावसायिक ढंग की शिक्षा की कमी ने देश की आर्थिक स्थिति को जर्जर कर दिया। यद्यपि देश में वैज्ञानिक शिक्षा, कृषि उद्योग की शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, पत्राचार पाठ्यक्रम के रूप में शिक्षा का प्रसार हुआ है लेकिन, शिक्षित युवकों के अनुपात में रोजगारों की व्यवस्था न होने के कारण बेरोजगारी एक गम्भीर संकट बनकर खड़ी हो गई।

आर्थिक जर्जरता से जर्जरित आम आदमी ने, झुग्गी-झोपड़ियों के दुर्गन्धपूर्ण माहौल में साँस लेते मजदूरों ने बेरोजगारी के दंश से दंशित युवकों की भीड़ ने सामाजिक असुरक्षा के एहसास से संतुष्ट युवा मानसिकता और सांस्कृतिक संस्क्रमण के भयावह संकट ने समकालीन कविता की पृष्ठभूमि को निर्मित किया। इस प्रकार सन् 1960 के आसपास का काल भारतीय जनमानस के जबरदस्त मोहभंग का काल है। संभावित योजनाओं के क्रियान्वयन के अभाव में युवा पीढ़ी की समस्त आकांक्षाएँ धूमिल हो उठीं। भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, रिश्वतखोर अधिकारियों, आत्मपोषी उद्योगपतियों, सुविधाभोगी कामगारों के बीच युवा पीढ़ी को वे तमाम वैसाखियाँ अनर्गल और असामाजिक लगीं, जिनके सहारे उसे चुनौतियों को झेलते हुए अग्रसर होना था।

देवताले की कविताओं में समूची व्यवस्था के खिलाफ आवाज उभरकर आती है। किन्तु देवताले अपनी आवाज समाज और राजनीति की ओर अधिक मुखरित करते हैं। वह गन्दी राजनीति और समाज

व्यवस्था को खत्म करना चाहते हैं जिस समाज में मानवीय रिश्ते खत्म हो चुके हैं, जहाँ मानवता समूची पशुता में बदल गयी है ऐसे समाज के प्रति कवि आक्रोश करता है, कवि अपने समाज में विषमता को नहीं देखना चाहता, वह विषमता खत्म करना चाहता है। 'भूखण्ड तप रहा है' कविता में सूदखोरी महाजनी प्रथा का जिक्र किया गया है। सूदखोर महाजन अत्याचार करते हैं। उन्हें काम करने के बाद भी उनका मेहनताना नहीं देते, इतना होने के बावजूद भी यह समाज फिर से महाजन के यहाँ गुलाम बनकर रहना चाहते हैं। काव्य **नायक त्रिभुवन** यह सब अपनी आँखों से देखता है। भूख की समस्या इस वर्ग की प्रधान समस्या है, किन्तु इसे हल कराना इस वर्ग के लिए इतना आसान नहीं। इस भूख का फायदा लेकर महाजन इनका शोषण करते हैं, और यह समाज शिकार हो जाता है :

"शिकारी कुत्तों के हाथों में
मशीनें और चेहरों की लगामें है
पसीने और भूख पर उनके दातों के निशान हैं
और वे इस वक्त बड़ी सफाई से
घर को छाया
छाया को पेड़
और पेड़ को धरती से जुदा कर रहे हैं
चेहरे घर और घर शहर से
दूर भाग रहे हैं
शिकारी कुत्तों की छायाएँ
इस तरह घर को जंगल
और आदमी को ठूँठ बना रही है।"¹

त्रिभुवन समाज को जागृत करता है। इस समाज में दूसरा वर्ग सूदखोर महाजनों का है, जो समाज में गन्दगी भी फैलाते हैं। ये महाजन निम्न तथा मध्य वर्ग का शोषण करते हैं, उस वर्ग की युवतियों को अपनी वासना का शिकार बनाते हैं :

"नंगे पैर बटोरती लड़कियाँ गोबर
सूद पर सूद नोचते महाजन
कहकर गिरते माँस लोथड़ों के पेड़
औरतें निपट नहीं पाती उनसे

¹ देवताले, चंद्रकांत . भूखंड तप रहा है . पृ. सं.- 77

खून खच्चर की अन्तहीन कथाएँ।"¹

इन पंक्तियों में महाजनों के करतूत साफ जाहिर होते हैं। त्रिभुवन जानता है, अपने समाज की जहर की गांठ कहाँ है। और ऐसी कौन सी चीज है कि आदमी पशुता में बदल जाता है :

"न्यायधीशों के शब्द और बजट के
दस्तावेजों से लेकर
थाली की रोटी और तन को ढकते कपड़ों
तक के बीच
वे कौन-सी चीजें हैं
जो आदमी को आदमी नहीं रहने देती।"²

आर्थिक उत्पीड़न को भी आज के कवि ने कविताओं का विषय बनाया है। आर्थिक उत्पीड़न की बात करते हुये कवि ने मुख्य रूप से सर्वहारा वर्ग की ही बात की है। उसने किसानों और मजदूरों की बात करते हुये इसी तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि इनका विभिन्न प्रकार से शोषण और उत्पीड़न होता है। आज का कवि मानता है कि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिये छटपटाते वर्ग द्वारा कठिन परिश्रम के बाद भी व्यापारी और महाजनी हथकण्डों का शिकार होकर खाली हाथ घर लौटना उत्पीड़ित हो जाना ही है। ऐसे वर्ग की काम मिलने की और फसलें पकने की खुशी क्षणिक ही होती है क्योंकि समृद्धि तो आरामतलब हाथ ले जाते हैं और मेहनती हाथों में आती है मंदहाली और खालीपन। इस तथ्य को एक समकालीन कवि का निम्न काव्यांश आधार प्रदान करता है :

"मगर बहुत कम देर तक
तुम्हें खुश रख पाती हैं फसलें
पूरा का पूरा इन्हें मालिक के यहां पहुंचाकर
तुम बस केवल अपनी थकान के साथ
वापिस होते हो"³

इन पंक्तियों द्वारा आर्थिक उत्पीड़न और शोषण का चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ कवि परोक्ष रूप से एक प्रश्न भी सामने रखता है कि बुरे दिनों को दूर करने के लिये मनुष्य कठिन परिश्रम को

¹ देवताले, चंद्रकांत . भूखंड तप रहा है . पृ. सं.- 42

² देवताले, चंद्रकांत . भूखंड तप रहा है . पृ. सं.- 48

³ कश्यप, मदन . लेकिन उदास है पृथ्वी . पृ. सं.- 25

सदियों से अचूक अस्त्र मानता आया है, परन्तु तब वह क्या करे जब कठिन परिश्रम के बाद भी मंदहाली बढ़ती जाये? समकालीन कविता में ऐसे भी काव्य चित्र मिल जाते हैं जिनमें कवि किसी चरित्र के माध्यम से आर्थिक उत्पीड़न की पराकाष्ठा को तो रेखांकित करता ही है साथ ही समसामयिक संदर्भों को कविता में समेटता हुआ कुल सवाल भी उठाता है। इस संदर्भ में हम नागार्जुन की कविता 'तेरी खोपड़ी के अन्दर' और उदय प्रकाश की 'सुराही' कविता का विशेष रूप से जिक्र करना चाहेंगे। पहली कविता का निम्नलिखित काव्यांश :

“अपना रिक्शा लेकर
प्रेम प्रकाश जा रहा था
और हम दोनों
मिनटों उसे जाते हुये
देखते रहे...
यों तो वो कल्लू था
कल्लू रिक्शावाला
यानी कलीमुद्दीन....
मगर अब वो 'परेम परकास'
कहलाना पसंद करेगा....
कलीमुद्दीन तो भूख की भट्टी में
खाक हो गया था।”¹

यानि आर्थिक उत्पीड़न की पराकाष्ठा का हल एक साधारण रिक्शावाले को धर्म परिवर्तन में (या नाम परिवर्तन में) मिला जो उसने उसे झट अपना लिया। कवि के अनुसार आर्थिक उत्पीड़न से बचने के लिये एक आम आदमी धर्म तक को भी कुछ नहीं समझता, दूसरे परोक्ष रूप से कवि इस कविता में यह सवाल भी उठा गया है कि क्या कभी-कभी आर्थिक उत्पीड़न और मंदहाली का कारण धर्म भी बन जाता है? इसी संदर्भ में उदय प्रकाश की 'सुराही' का जिक्र किया जा सकता है जिसमें परमेश्वर ठेकेदार के लिये सुराहिया तैयार करता है, अपनी कला से ठेकेदार को लाभ पहुँचाता है और अपने लिये मुश्किल से दो रोटी का जुगाड़ कर पाता है। आज की कविता के संदर्भ में यह बात निःशंक भाव से कही जा सकती है कि आर्थिक उत्पीड़न का दंश झेलते जिन चरित्रों या वर्गों को समकालीन कवि ने उठाया है उनके प्रति सहानुभूति रखते हुये परोक्ष रूप से कुछ प्रश्न भी पाठक समाज के सामने रख दिये हैं। इसी दिशा में निम्नलिखित काव्यांश भी देखा जा सकता है :

¹ नागार्जुन . 1984 . प्रतिनिधि कवितायें . राजकमल प्रकाशन, दिल्ली . पृ. सं.- 44/45

“चिमनियों से धुंआ निकल रहा है....

यह सबूत है कि मशीनें चल रही हैं

और हर सांस के साथ

हड्डिया गल रही हैं।”¹

हड्डियां गलाने के बावजूद, जी-तोड़ मेहनत के बाद भी स्थिति में कोई सुधार नहीं है, क्यों है ऐसा? यह प्रश्न कवि नहीं करता परन्तु पाठक संभवतः कविता पढ़ने के बाद सोचता है- यह कैसी व्यवस्था है जिसमें अमीर नियमित रूप से अमीर और गरीब निरन्तर गरीब होता जाता है? ऐसा नहीं है कि इन सारे सवालों को आज के कवि ने मज़दूरों और किसानों के संदर्भ में ही उठाया है समकालीन कवि ने प्रत्येक उत्त व्यक्ति, वर्ग या चरित्र के संदर्भ में इन प्रश्नों को उठाया है जो किसी न किसी रूप में आर्थिक उत्पीड़न का दंश झेल रहा है। यानि किसान मजदूर के अतिरिक्त साधारण नौकरीपेशा वर्ग के संदर्भ में भी आज के कवि ने इन प्रश्नों पर विचार किया है, जिसका कि कुछ जिक्र हमने पीछे मध्यवर्ग के अन्तर्गत किया था। समकालीन कवि द्वारा नौकरीपेशा वर्ग को आर्थिक उत्पीड़न के संदर्भ में कविता का विषय बनाने के कारण हैं। चौतरफा दृष्टिपात करने के बाद शायद वह अनुभव करता है कि इस वर्ग द्वारा किये गये आर्थिक विपन्नता का सामना करने के लिये निरन्तर कार्य, साधनों को जुटाने की हरचन्द कोशिशें, परिवार को खुशियों के करीब लाने के प्रयत्न, कुछ देर तनाव मुक्त होकर जीने के प्रयत्न देह मारकर भी सफल नहीं होते। नौकरीपेशा वर्ग व्यवस्था और प्रशासन की चक्की में पिसता हुआ दिन-ब-दिन आर्थिक संकट में संलिप्त होता जा रहा है। इसलिये विभिन्न संदर्भों में नौकरीपेशा वर्ग आज की कविता में विद्यमान है।

राजनीतिक, आन्तरिक एवं आर्थिक उत्पीड़न के संदर्भ में उक्त उद्धृत काव्यांशों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसी समकालीन हिन्दी कवितायें हैं जिनको उक्त संदर्भ में देखा जा सकता है, जैसे उदय प्रकाश की 'पिता', 'बेलाडील', 'सरकार', 'गोम सेंचुअरी', 'बहेलिये', 'पक्षी', 'तूअर', 'महापुरुष', 'नवल शुक्ल की 'आदमी की सुगन्ध', 'यह मेरा स्वर है', 'ईश्वर की उपस्थिति में', त्रिलोचन की 'उनका हो जाता हूँ', 'भीख मांगते उसी त्रिलोचन को देखा', नागार्जुन की 'तेरी खोपड़ी के अन्दर', 'क्रंदन भी भा सकता है', 'संजय चतुर्वेदी की 'एक दिन', 'बड़े आदमी का युग', 'शान्ति के कबूतर', 'पैसे के दांत', 'कचनजंघा', 'ऋतुरात की 'सुबह और उसका चेहरा', 'अशक्त जनपद आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अन्त में यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि आज की कविता राजनीतिक, आन्तरिक और आर्थिक पहलूओं पर उत्पीड़न के संदर्भ में इसलिये केन्द्रित रही है क्योंकि आज जीवन को प्रभावित करने वाले और जीवन स्तर का निर्धारण करने वाले महत्वपूर्ण पक्ष यही कहे जा सकते हैं। समकालीन

¹ वंद्योपाध्याय, प्रणव कुमार . नक्सलबाड़ी . पृ. सं.- 10

कविता के अनुशीलन के बाद एक और बात भी सामने आती है कि आज के कवि का उद्देश्य केवल उत्पीड़न को रेखांकित करना नहीं बल्कि किसी न किसी प्रकार से उत्पीड़ित को जागृत करना भी रहा है और उसे इस स्थिति से निकालने के लिये संघर्ष की ओर प्रेरित करना भी रहा है। इसीलिये संघर्ष भी समकालीन कविता की विशेषता माना जाता है।

एक समकालीन आलोचक लिखते हैं कि, "समकालीन कविता जीवन के संघर्ष और सौन्दर्य की कविता है। जीवन के वास्तविक सौन्दर्य की पहचान ही संघर्ष की प्रेरणा देती है, क्योंकि तभी पता चलता है कि जीवन की किस सुन्दरता से विच्छिन्न होने के कारण मेहनतकश जनता का जीवन दुःख कष्ट से बोझिल है। उपभोक्तावादी समाज में जनता जीवन की उस सुन्दरता से विच्छिन्न कर दी जाती है, जिसे यह खुद अपने हाथों रचती है। ऐसे समाज में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक उपलब्धियों का नियोजन जितना अधिक होता है, विच्छिन्नता बोध बढ़ जाता है। ज्यों-ज्यों विच्छिन्नता बोध बढ़ता है त्यों-त्यों संघर्ष की भावना तीव्र होती जाती है। कहना होगा कि आज आदमी के जीवन

आज की कविता जब आर्थिक संघर्ष की बात करती है तो सर्वप्रथम उसकी दृष्टि खेतिहर और श्रमिक वर्ग पर जाती है। किसान और मजदूर की आर्थिक मदहाली, उनके परिवारिक और सामाजिक संघर्ष, उनका शोषण और मूलभूत जरूरतों के लिये जी तोड़ मेहनत आदि आज की कविता में विशेष रूप से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त क्लर्कपेशा जैसे निम्न मध्यवर्गीय और दूसरे छोटी-मोटी नौकरी करने वाले लोगों का आर्थिक संघर्ष भी समकालीन कविता में विषय के रूप में मिलता है। हालांकि यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि इन सबके साथ क्या समकालीन कवि की सहानुभूति आन्तरिक और सच्ची है? "दरअसल सर्वहारा पर लिखने से ही कविता सर्वहारा की या जनवादी नहीं हो जाती। देखना होगा, कहीं सर्वहारा का औद्योगिक माल की तरह उपयोग तो नहीं हो रहा। सर्वहारा देशवासियों के संघर्ष रोज-रोज के तात्कालिक और दूरागत उद्देश्यों वाले व्यापक संघर्ष का अनुभव बतलाता है कि सामयिक राजनीतिक वातावरण में तुरतफुरत कान्ति की सरल रेखा विश्वसनीय नहीं रही।"¹ यानि यह जाँचने पर रखने की आवश्यकता है कि सर्वहारा या उसके आर्थिक संघर्ष आदि को विषय बना कर लिखी कविताओं में सर्वहारा और उनका संघर्ष केवल विषय के रूप में ही आये हैं। या उनके साथ कवि किसी स्तर पर संवेदनात्मक सम्बन्ध बनाने की कोशिश भी करता है। फिर उत्तके बाद यह भी देखना होगा कि, "समकालीन कवि के संवेदनात्मक बोध का धरातल कितना यथार्थोन्मुखी है और उक्त यथार्थ दर्शन कितना तीव्र चिन्तापूर्ण? यथार्थ दर्शन के साथ जुड़ी हुई यह चिन्ता जब अपने वस्तु संसार के दायरे में स्वेत स्वलियान, बाढ़ प्रकोप, भूख अकाल या फिर प्यार, लोक सहानुभूति के भावों को शामिल करती है तब देखना सिर्फ यह है कि कवि का मकसद कहीं हमे मात्र दृश्य - तन्मय करना तो नहीं है? क्या यह हमारी सुषुप्त सामाजिक संवेदना को जमाकर

¹ सिंह, वीरेन्द्र . समकालीन कविता : सम्प्रेषण : विचार : आत्मकथ्य . पृ. सं.- 84

किसी नई भाव दिशा की ओर प्रवृत्त करना चाह रहा है?"¹ समकालीन कवि की सहानुभूति की सच्चाई का निर्णय और उक्त शंकाओं को निवारण सम्बन्धी विचार हम कुछ काव्यांशों के अनुशीलन के बाद करेंगे। सर्वप्रथम खेत मजदूर के सम्बन्ध में एक युवा कवि की कविता का निम्न काव्यांश लेते हैं :

“बीज तुम्हारे कदम चूमते हैं
बालियां तुम्हारी बातों में खेलती हैं
और अनाज की टोकरियों को तुम
लाडले बच्चों की तरह ढोते हो
फिर भी भूखे रहते हो।”²

यहां कवि ने बीज, बालियों और अनाज की टोकरियों के साथ खेत मजदूर के सम्बन्ध की शिनाख्त करते हुये हैरानी इस बात को लेकर ज़ाहिर की है कि इतना नज़दीकी और घनिष्ठ सम्बन्ध होने के बावजूद भी बेतरह अलगाव क्यों है? जब अनाज उसके हाथ में है फिर वो अपनी भूख का इन्तजाम क्यों नहीं कर पाता? लाखों करोड़ों की भूख मिटाने वाला स्वयं क्यों भूखा है? यह सारे सवाल उक्त काव्यांश में कवि ने प्रत्यक्ष नहीं उठाये हैं बल्कि उसने केवल खेत मजदूर के भूखा होने पर हैरानी व्यक्त की है और उसका यही आश्चर्यपूर्ण लहज़ा पाठक को उक्त प्रश्नों पर विचार करने के लिये मजबूर सा कर देता है। लगभग इसी प्रकार का एक काव्यांग और प्रस्तुत है :

“रचाओ फिर से
यह माटी-आग-पानी का खेल
छकाओ अपने पेट को
दिलासा दो अपनी चुनमुन की सुबकियों को
बाज़ार के मुताबिक तैयार करो सुराही
नहीं तो वह गेंडा-सा तुंदियल
टेढ़ा-मेढ़ा हाथी का बच्चा ठेकेदार कहेगा-
'परमेसुरा, बोल
टेढ़ी कैसे हे
सुराही की गर्दन ?”³

¹ सिंह, विजय बहादुर . जनकवि . पृ. सं.- 9

² कश्यप, मदन . लेकिन उदास है पृथ्वी . पृ. सं.- 25

³ प्रकाश, उदय . सुनो कारीगर . पृ. सं.- 14

यहां मजदूर कारीगर की लगभग वही स्थिति है जैसी पिछले काव्यांश में स्वेतमजूर की थी। मजूर-कारिगर को उसी तुंदियल का डर है जो खेती मजदूर को अनाज छूने तो देता है खाने नहीं देता। हमारे विचार से यहा इस बात को स्पष्ट करना उचित होगा कि यदि समकालीन कवि ने किसान-मजदूर वर्ग को या इनके संघर्ष को केवल विषय के रूप में अथवा फैशन या चलताऊ मैनरिज्म के रूप में उठाया होता तो उसकी कविता को प्रवाह में लिखी कविता कहा जा सकता था। परन्तु हम देखते हैं कि आज के कवि ने गुजर बसर के लिये आर्थिक संघर्ष से दो-चार होते लोगों के जीवन की बारीकियों और पेचिदगियों को बड़ी ही गहरी समझ के साथ पकड़ा है और उसने केवल किसान या मजदूर को ही अपनी कविता का विषय नहीं बनाया बल्कि हर उस व्यक्ति पर कवि की दृष्टि गई है जो जीवन की बुनियादी जरूरतों से वंचित है और जिन्हें इनको पूरा करने के लिये मजबूरी में संघर्षपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। इनमें तिब्बती औरतें भी हैं, डाकिया भी, कण्डक्टर, बिजली सुधारने वाले, घरेलू नौकर और निम्नमध्यवर्गीय क्लर्क भी। कहना होगा कि आज के कवि ने इन विषयों पर महज कवितायें ही नहीं लिखी हैं बल्कि इनकी परेशानियों को उसने सार्वजनिक परेशानियाँ बनाने का प्रयास भी किया है। उदाहरणार्थ **सत्यपाल सहगल** की निम्नलिखित पंक्तियां तिब्बती औरतों पर :

“वे चीजें बेचती है
और ग्राहक समझते थे
कि वो भी एक चीज है
और बेचती हैं
अपने को
मैंने देखे
कई राष्ट्रीय - सांस्कृतिक सस्थाओं को
अपनी उसमें लिये लोग
जहा जीने की मजबूरी दुकान लगाये बैठी थी”¹

यहां एक साथ तीन दृष्टियां काम कर रही है पहली वह चर्बी चढ़ी दृष्टि जो समझती है कि 'वे भी एक चीज हैं'- दूसरी कवि की दृष्टि जिसने यह शिनाख्त की, कि 'मजबूरी दुकान लगाये बैठी' है और तीसरी उस 'मजबूरी' की जिसके लिये हर ग्राहक एक गन्दी गाली है, परन्तु फिर अपने जीवन को गति देने के लिये उसे गन्दी गाली को सुनना और निभाना पड़ता है। सड़क बाज़ार हो, गली-मुहल्ला या घर-परिवार जहां भी समकालीन कवि को दमित, प्रताड़ित, शोषित चरित्र मिल है उसने उसके भीतर तक जाने समझने का प्रयास किया है। यहां तक कि कहीं-कहीं उसने ऐसे चरित्रों को केवल समझने-महसूस

¹ निर्मोही, देश (सं.) . बाहर सब शांत हैं . पृ. सं.- 121

करने की कोशिश ही नहीं की है बल्कि इनके लिये कुछ कर गुजरने की भी सोची है। जैसे कि **इब्बार रब्बी** की '**कण्डक्टर**' कविता में है :

“तुम सारे दिन चलते रहे
पर गये कहीं नहीं
तुम जीवन भर दौड़े
पर रहे वहीं की वहीं
हम क्या करें
कि तुम मुस्कराओ
क्या करें कि तुम्हारी
बच्ची स्कूल जाये
क्या करें। क्या करें हम !”¹

इस प्रकार युवा कवियों के उक्त काव्यांशों के अनुशीलन के बाद यह शंका स्वयमेव निर्मूल लगने लगती है कि समकालीन कवि ने दमित और शोषित वर्ग का चित्रण और आर्थिक संघर्ष में नित जूझते लोगों का कविता में वर्णन कहीं प्रचलित मैनरिज्म के अधीन किया है। उद्धृत काव्यांश इस बात के प्रमाण हैं कि आज का लगभग प्रत्येक कवि हस्तगत विषयों के प्रति पूरी तरह से ईमानदार रहा है यदि उक्त विषयों के प्रति कवि की स्थूल और सतही दृष्टि होती तो वह अपनी कविताओं को अर्थों की दृष्टि से इतने आयाम न दे पाता। इसमें सदेह नहीं कि बहुआयामी (अर्थ की दृष्टि से) रचना की सृजना सतही समझ से नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि आज के कवि ने जीवन संघर्ष में जूझ रहे लोगों के स्थान पर स्वयं को रखकर उनका जीवन जीने का प्रयास किया है, संभवतः इसीलिये सम्बंधित विषय इतने मार्मिक और विचारणीय बन पड़े हैं।

अर्थहीन राजनीतिक योजनाओं ओर निरर्थक प्रशासनिक क्रियाकलापों से बनने वाले देश के आर्थिक रेखाचित्र का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। भारत में अर्थदशा के नियमित सुधार और विकास की योजनायें तो नित नयी बनी परन्तु राजनीतिक स्थिति और सामाजिक परिदृश्य यथावत् रहा। इन दोनों विरोधी बातों और देश के कर्णधारों की पश्चिम के प्रति विस्मयकारी दृष्टि ने उन्हें पाश्चात्य देशों के विकास की लीक का अनुसरण करने पर मजबूर कर दिया। आज तक विचारवान कहे जाने वाले उस समय को सत्तारूढ़ नेताओं के मष्तिष्क में यह बात नहीं आयी कि पश्चिमी देश सरमायेदार और पूँजीबहुल देश हैं। उन्होंने अफ्रीकी तथा एशियाई देशों के आर्थिक स्रोतों का दोहन करके अपनी तिजोरियों को समृद्ध बनाया है। उन देशों में मेहनत करना मुश्किल और पूँजीनियोजन आसान है जबकि हमारे देश में स्थिति

¹ रबी, इब्बार . लोगबाग . पृ. सं.- 78

इसके बिल्कुल विपरीत है। 'राष्ट्रीय सहारा' के अगस्त 93 के अंक की एक रपट के अनुसार सन् 1900 से 1947 तक ब्रिटिश शासन के अधीन राष्ट्र की आय वृद्धि की दर 1.2 प्रतिशत थी तथा कृषि की 0.3 प्रतिशत और उद्योगों की 2.0 प्रतिशत थी अब इस वृद्धि दर को एकदम द्रुतगति से नहीं बढ़ाया जा सकता था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले देशभर के अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों, उद्योगपतियों और साधारण जनता में यह मान्यता अत्यंत प्रबल थी कि एक बार राष्ट्र स्वतन्त्र हो जाये तो यह प्रगति पथ पर द्रुतगति से अग्रसर होगा। परन्तु नेतृत्व की अदूरदर्शिता ने भारतवासियों का यह सपना, सपना ही बनाये रखा। स्वतन्त्रता के बाद आर्थिक विकास के लिये ग्रहण की गई दिशा उपयुक्त नहीं थी। आर्थिक विकास और आर्थिक समानता को एक ही मुद्दा मान लिया गया। जबकि आर्थिक विकास राष्ट्रीय आय में वृद्धि और मुद्रास्फीति आदि की कमी है और आर्थिक समानता समाज में आर्थिक स्रोतों के लगभग बराबर वितरण से सम्बन्ध रखता है। शासक वर्ग का विचार था कि नई तकनीक का प्रयोग उत्पादन वृद्धि के लिये आवश्यक है। उत्पादन में वृद्धि देश की पहली आवश्यकता है यदि उत्पादन नहीं होगा तो वितरण किसका होगा? इस विचार को आधार पश्चिमी देशों के उदाहरण गिनवाकर दिया गया। शासक वर्ग ने तर्क दिया कि विकास के प्राथमिक चरणों में आर्थिक विषमताओं का बढ़ना कोई नई बात नहीं है। यह वर्ग यह भी मानता था कि देश की मूल समस्या आर्थिक विपन्नता है। जब देश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो जायेगा तो सभी समस्याएँ एक-एक कर समाप्त हो जायेंगी। राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाने के लिये औद्योगिक विकास और विस्तार को आवश्यक समझा गया। इस औद्योगिक विकासवादी विचारधारा के बावजूद देश में कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुये।

वास्तव में आवश्यकता यह थी कि गरीबी को आरम्भ से ही एक अलग समस्या के रूप में देखा जाता और उसके समाधान के लिये उपाय सोचे जाते, परन्तु पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं के समय इस समस्या की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। जैसे पहले कहा कि आर्थिक विकास और आर्थिक समानता को एक मानते हुये शासक वर्ग का विचार था कि उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ गरीबी अपने आप दूर हो जायेगी। गरीबी जैसी विकराल समस्या की ओर देश के नीति निर्माताओं का ध्यान सातवें दशक में गया। इस दशक में भी शासक वर्ग का ध्यान शायद गरीबी और गरीबों की ओर न जाता यदि इसकी मार में आधे से ज्यादा भारतीय नागरिक न आये होते। एक अनुमान के अनुसार उस समय देश की 57 प्रतिशत आबादी गरीबी की रेखा के नीचे जी रही थी। स्व. राम मनोहर लोहिया ने 1967 में यह तथ्य उजागर कर हमारे शासक वर्ग को चौंका दिया था कि तमाम विकास और औद्योगिक उत्थान के बावजूद देश में 24 करोड़ से ऊपर लोग तीन आने प्रतिदिन के खर्च पर जीने के लिये विवश हैं। श्री

मोररजी देसाई लिखते हैं कि, **"आठवें दशक में लगभग 65 प्रतिशत जनता गरीबी की रेखा के नीचे चली गई थी।"**¹

मानना होगा कि प्रौद्योगिक विकास की संरचना या उसके स्वरूप का समाज में पल्लवित आधारभूत अनियमितताओं और विसंगतियों से संघर्ष आवश्यक है। इन दोनों पक्षों की टकराहट के बिना आर्थिक समता की बात या नियमित और निरन्तर औद्योगिक विकास की चर्चा कोई मायना नहीं रखती। प्रौद्योगिकी की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि पहले समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों को एक सीमा तक समाप्त कर दिया जाये। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो एक राष्ट्र के अमीर और गरीब के बीच की खाई को पाटना किसी भी स्थिति में संभव नहीं हो सकता। आज भारत के अमीरों का दिन-प्रतिदिन और अमीर तथा गरीबों का दिन-ब-दिन ओर गरीब होने का मुख्य कारण यही है। **"हमारे यहां ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की सीमा रेखा के नीचे जीने वालों की संख्या प्रतिवर्ष पांच लाख की दर से बढ़ती गई है। योजना आयोग के एक अनुमान के अनुसार 1979-80 में गरीबी की सीमा रेखा के नीचे जीने वालों की आबादी 33.90 करोड़ थी, जोकि दुनिया के किसी एक देश में गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जाने वाली विशालतम आबादी है।"**²

भारत को आर्थिक संकट से निकालने का शासक वर्ग ने एक आसान तरीका खोजा कि विदेशों से कर्ज ले लो। अपनी लम्बी योजनाओं को पूरा करने की सोच लेकर सत्ताधारी वर्ग द्वारा कर्ज लेने की रीति चलाई गई। परन्तु बिना परिश्रम को मिलने वाले कर्ज की राशि उतनी ही बेरहमी से उड़ती रही। 'राष्ट्रीय सहारा' की एक रपट के अनुसार, आज स्थिति यह है कि विकास के तमाम प्रयत्नों के बावजूद तथा आर्थिक सुधारों की तमाम अटकलें लगाने के बाद भी 31 मार्च 1993 तक भारत पर विश्व बैंक का तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष आदि वित्तीय सस्थाओं का 2 लाख 76 हजार 662 करोड़ रुपये ऋण है। ब्याज और किश्त के रूप में केवल 1991-92 में केन्द्र सरकार ने 15 हजार 928 करोड़ रुपये का भुगतान किया था। रपट के यह आंकड़े शोचनीय हैं, इसके अनुसार भारत की स्थिति साहूकार के चुगल में फंसे देहाती जैसी है। सूट दर सूट बढ़ता जाता है और सूद उतारने के लिए उसे और ऋण लेना पड़ता है। उक्त रपट में यह भी आया है कि भारत की आबादी 87 करोड़ है और भारत के प्रत्येक नागरिक पर 3180 रुपये का बोझ है। कहना होगा कि इन सारी समस्याओं का मूल कारण पश्चिम का अन्धानुकरण ही था। पश्चिम की जिस विकासशील तथा तकनीक से लेत जीवन पद्धति को हमने अपना लक्ष्य बनाना चाहा, उसके कारण समाज के साधन सम्पन्न तथा प्रभावी वर्ग ने वहा की जीवन पद्धति के साथ सम्बद्ध संस्कृति और मूल्य दृष्टि को भी आयात करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यहाँ का जीवन जीने का ढंग आधुनिकता का मुक्त वातावरण और चमक-दमक को जब प्रभावी और समृद्ध वर्ग ने भारतीय समाज पर प्रत्यारोपित करना चाहा तो उक्त समृद्ध समुदाय की अपनी नयी आवश्यकताएं पैदा हो गई।

¹ देसाई, मोररजी . द स्टोरी ऑफ़ माई लाइफ (वॉल्यूम- 3) . पृ. सं.- 58

² कुमार, विजय . साठोत्तरी हिंदी कविता : परिवर्तित दिशाएं . पृ. सं.- 14

एक ओर गावों का शहर की ओर आकृष्ट होना और भागना, जिससे कि उसकी परम्परागत अर्थ व्यवस्था को ठेस पहुंचना आवश्यक था और दूसरी ओर महानगरों में विराजमान महान नीति निर्माताओं और चापलूस अधिकारी वर्ग के लिये गगनचुम्बी इमारतों, आयातित कारों, फ्रिज, टेलीविजन, वातानुकूलित यन्त्रों के कारखानों में ऋण राशि द्वारा पूँजीनिवेश - जितने कि एक ही देश की ग्रामीण और शहरी जनता को सिक्के के दो पहलू बना दिया। पश्चिम से आयातित संस्कृति वास्तव में दिखावे की संस्कृति थी। इसके कारण हमारे शासक और प्रशासक वर्ग में एक नई विचार शैली ने जन्म ले लिया वह था सामने वाले को बाहरी चमक दमक, पार्टी, डिनर, समारोह, आयोजन से प्रभावित कर दो मगर अपने भीतर कभी न झाँको कि वास्तव में हमारी स्थिति क्या है, हमारे लिये कोन सी बातें उपयुक्त और कोन सी निषेध हैं।

यह ठीक है कि भारतीयों ने भी लकीर के फकीर बनते हुये सार्वजनिक क्षेत्र में कुछ बड़े उद्योग लगाये, परन्तु इनमें भी ठेके पर काम देने की पूँजीवादी प्रथा बरकरार रही। इस ठेकावादी उद्योग संस्कृति से कारीगरों में चलताऊ काम की प्रवृत्ति का पनपना जरूरी था। जिसके कारण विदेशी मण्डियों में महंगे भाव बिकने वाले कारीगर भी दिहाड़ीदार मजदूर बनकर रह गये और उद्योग से सम्बन्धित प्रतिभाओं का हनन हो गया। प्रगति की इस सोच ने मालिकों और मजदूरों के बीच अधिकारी वर्ग के अलावा एक चौथा 'बाबू वर्ग' पैदा कर दिया। जिसका जीवन संघर्ष अपने किस्म की विशिष्टतायें लिये है। जो महानगरों के लिये स्वयं को 'अनफिट' महसूस करने लगा। बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता आदि महानगरों में आकाश छूती आलीशान इमारतों और यहीं झोपड़ पट्टियों ओर चालों का फैलता नरक हमारी अर्थ व्यवस्था की भीषण विसंगतियों और बेमेल विकास की भयानक सच्चाई को उजागर करता है।

प्रशासनिक वर्ग में जानबूझकर बनायी गई जगहों पर भी भाई भतीजावाद का अनुसरण करते हुये प्रभावी वर्ग ने अपने चहेतों को बिठाया। इस तथ्य की ओर इशारा **स्व. राम मनोहर लोहिया** ने किया भी कि, "एक करोड़ के करीब सरकारी नोकर हैं, उनमें से बहुत से ऐसे हैं जो कोई भी पैदावार बढ़ाने का काम नहीं करते, कलमधिरसू लोग हैं, उपजाऊ लोग नहीं हैं और यह बिल्कुल निश्चित बात है कि और देशों में पार्किन्सन नाम का नियम लागू है हमारे देश में कुटुम्ब के कारणवश, जाति के कारणवश, प्रदेश और भाषा के कारणवश लोग खाली जगहें समाज में और सरकार में बनाया करते हैं, इसलिये नहीं कि कोई जरूरत है। बल्कि स्वजनों को भरने के लिये 30-40 लाख लोग ऐसे हैं जिनकी कोई जरूरत नहीं फिर भी यह सरकारी कामकाज में लगे हुये हैं। 30-40 लाख न सही यदि हम 20 लाख को ही मान लें तो इनसे 300 करोड़ रुपये की बचत हो जाती है।"

आज देश की चरमराती अर्थ व्यवस्था का ढाचा देखकर अर्थशास्त्री तथा नीति निर्माता वर्ग ने विदेशियों को भारत में उद्योग स्थापित करने के लिये आमन्त्रित किया है। इस प्रकार के समाधान क्या देश की आर्थिक दशा में सुधार के लिये सहायक हो पायेगे ? भारतीय कम्पनिया क्या विदेशी कम्पनियों

का उपभोक्ता बाजार में मुकाबला कर पायेंगी? इस सम्बन्ध में कुछ ऋणात्मक तथ्य ही हाथ लगे हैं जो विश्व बैंक तथा मुद्राकोष की शर्तों को मानने तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आमन्त्रण का परिणाम हैं। राष्ट्रीय सहारा समाचार पत्र की एक रपट के अनुसार, **"एशिया का सबसे बड़ा डाई अमोनियम फास्फेट उर्वरक कारखाना पारादीप फास्फेट लिमि. 31 मार्च 1993 को बन्द हो चुका है। इस कारखाने में 180 करोड़ रुपये का दो लाख टन से अधिक उर्वरक गोदामों में पड़ा है। माल न बिकने के कारण इसे अपना उत्पादन बंद करने को मजबूर होना पड़ा। इस कारखाने की बर्बादी का कारण सरकार द्वारा विश्व बैंक की शर्तें मानना है।"**¹ यह शर्तें मानने के कारण उर्वरक उद्योग ही नहीं बल्कि बेंजीन, प्लास्टिक उद्योग, मशीनरी उद्योग व अन्य कई उद्योगों के सामने अपने अस्तित्व को बनाये रखने की परेशानी सामने आ रही है। आज देश की स्थिति नीति निर्धारकों ने 'पे धन विदेस चली जात, ऐहे अति ख्वारी' वाली बना दी है। उसी रपट में आगे लिखा है कि, **"भारत में कार्यरत जर्मनी की 11 कम्पनियां 1989-90 में जहां 182.38 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा निर्यात व निवेश के रूप में लायी वहीं 180.30 करोड़ रुपये की मुद्रा आयात लाभांश व रायल्टी आदि के रूप में ले गयी। विदेशी मुद्रा की प्राप्ति के विचार से दी गई उद्योग स्थापना की छूट की गम्भीरता का एहसास इसी बात से हो जाता है कि 1976-77 में जहां भारत में कार्यरत विदेशी कम्पनियां 12154 करोड़ रुपये विभिन्न मदों में यहां से ले गई, वहीं 1986-87 में यह राशि बढ़कर 494.6 करोड़ रुपये हो गई। पिछले 11 वर्षों में यह कम्पनियां 3244.15 करोड़ रुपये भारत से विदेश ले गई।"**² इस प्रकार शासक वर्ग अर्थ व्यवस्था में सुधार के नाम पर आत्मघात करने की ओर बढ़ रहा है। विभिन्न प्रकार के विदेशी दबावों और स्वार्थी उद्देश्यों के कारण सत्ताधारी लोग संकुचित और अस्वस्थ दृष्टिकोण वाले हो गये हैं तथा अपनी प्राथमिकतायें बदलने पर लगे हुये हैं।

आज राष्ट्र और समाज स्वयं को एक अपूर्ण औद्योगिक क्रान्ति और जर्जर हो चुकी प्राचीन संस्कृति के अवज्ञापूर्ण प्रतिरोध के बीच ठहरा हुआ पा रहा है। यह उसी जटिल द्वैत का एक पहलू है जो एक आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र के विकास तथा गरीबी ग्रस्त कृषि क्षेत्र की लगाडाहट के बीच दिखाई पड़ता है। गावों में यह द्वैत तथाकथित 'हरित क्रान्ति' के कारण एक सीमा तक और अधिक गहराया है, क्योंकि इसके परिणाम स्वरूप भूमिहीन मजदूरों और सीमाल किसानों की संख्या बढ़ी है। शहरी गरीबी देहाती गरीबी का ही रूप है। कहना होगा कि सरकार जो कुछ भी सुधार वादी कदम उठाती है, उससे अन्ततः अमीरों और शक्तिशाली लोगों को ही लाभ होता है। हमारी पूरी प्रणाली भूमिपतियों, व्यापारियों, साहूकारों और राजनीतिक सूबेदारों का पक्षपात करती है। और ऐसा जिन कारणों से होता है हमारे राजनीतिक नेतागण उन्हें बिल्कुल ही छेड़ना नहीं चाहते। इसी लिये जनता यथावत् परिस्थितियों से जूझती रहती है।

¹ राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) . 2 मई 1993 . पृ. सं.- 13

² राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) . 2 मई 1993 . पृ. सं.- 14

एक समकालीन आलोचक ने मध्यवर्ग के हवाले से समकालीन कविता पर टिप्पणी करते हुये लिखा है कि, "सारी दुनिया में समकालीन कविता की जो और जैसी हैसियत है, वहां वह मध्यवर्ग के एक बेहद सिकुड़े संसार की गतिविधि होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"¹ इस कथन में सच्चाई हो या न हो, लेकिन यह इस तथ्य को अवश्य रेखांकित करता है कि समकालीन कविता में मध्यवर्ग का विभिन्न प्रकार से और बहुत ज्यादा दखल है। चर्चा आगे बढ़ाने से पहले निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

"इस घर में सब बेघर
इस घर में भटके हुये मेले
मकड़ी के जालों में लिपटे हुये
इस घर में झूलसे हुये रंगों के धब्बे
सपनों की गर्द पर
बच्चों की उंगलियों के निशान
इस घर में
नींद से बहुत लम्बी रात"²

और यह घर मध्यवर्ग का है, मध्यवर्गीय घर-परिवार, जिजीविषा और संघर्ष, विचार और मानसिकता की जितनी चर्चा समकालीन कविता में हुई है उतनी शायद इससे पहले कभी नहीं हुई। यहां यह जानना आवश्यक हो जाता है कि मध्यवर्ग क्या है? दरअसल समाज मूलतः दो वर्गों, यानि उत्पीड़क और उत्पीड़ित, में विभाजित है जिन्हें पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग भी कहा जाता है। इन दो मुख्य वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी है जो इन दोनों के मध्य कड़ी के रूप में कार्य करता है और यह मध्यवर्ग है, "जिसमें छोटे कारोबारी, दुकानदार, आमतौर पर किराया जीवी, दस्तकार और छोटे किसान आते हैं।"³

आज का नौकरीपेशा वर्ग भी इसी मध्यवर्ग की श्रेणी में आता है। इतिहास का यह गौण वर्ग अपने विस्तार के कारण रागसामयिक परिस्थितियों में मुख्यधारा में आ गया है। यह वर्ग सुख-सुविधाओं की लालसा, प्रेम और अपनत्व, असुरक्षा सुरक्षा का भाव अर्थात् ऐसी ही अनेकों इच्छाओं की पूर्ति की सोच के कारण तनावग्रस्त सा रहने वाला है। संभवत यह पहला कारण है समकालीन कवि द्वारा मध्यवर्ग को विषय वस्तु के रूप में देखने का, और इसका दूसरा कारण, लगभग सभी समकालीन कवियों का

¹ वाजपेयी, अशोक (सं.) . कविता का जनपद . पृ. सं.- 57

² सागर, नवीन . कविता- तीन . पहल, 37 . पृ. सं.- 211

³ एंगेल्स, मार्क्स . कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र . पृ. सं.- 45

मध्य वर्ग से सम्बद्ध होने की वजह से उन्हें इस वर्ग का विशेष अनुभव और इससे विशेष रागात्मकता होना माना जा सकता है। हालाँकि आज से पहले भी सृजक वर्ग मध्यवर्ग से आता रहा है परन्तु तब वह शायद अपने वर्ग से उस तरह प्रभावित नहीं हुआ जिस तरह आज का सृजक समाज हो रहा है। स्पष्ट रूप से समकालीन कवि की दृष्टि इस वर्ग विशेष पर केन्द्रित है। यह इसकी विभिन्न स्थिति परिस्थितियों से पूर्णतः वाकिफ़ लगता है, उसे पता है कि मध्यवर्गीय व्यक्तियों के दिन परेशानियों से लिपटे हैं और रातें बेचेनियों से घिरी तथा थकान से बोझिल। यह एक ऐसी थकान है जो एक उम्र की नींद मांगती है, **उदय प्रकाश** की निम्नलिखित पंक्तियाँ यही स्पष्ट करती हैं :

**“यह कच्ची
कमज़ोर सूत-सी नींद नहीं
जो अपने आप टूटती है
रोज-रोज की दारूण विपत्तियाँ हैं
जो आंखें खोल देती है अचानक”¹**

उक्त कविता के अनुसार बन्द आंखें विपत्तियाँ खोलती हैं, और खुली आंखों के सामने भी मध्यवर्ग विपत्तियों को ही खड़ा पाता है। मध्यवर्ग और मध्यवर्गीय परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का यह गुण ही कहना चाहिये कि वह जिजीविषा से सराबोर है, प्रत्येक व्यक्ति जूझने के लिये और खपने के लिये अभिशप्त है, प्रत्येक के अपने सपने, अपनी आकांक्षाएँ और अपना दृष्टिकोण है- प्रत्येक मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी लड़ाई निजी रूप से, निजी धरातल पर और निजी दम से लड़ रहा है। परन्तु यह निजीपन उसे परिवार या समाज से अलग नहीं करता बल्कि और गहरे तथा संतुलित ढंग से जोरता है। कहना चाहिये कि जब कभी वह अपनी इस रोज की लड़ाई में स्वयं को थका हुआ या हारा हुआ अनुभव करता है तो इस लड़ाई को निर्णायक मोड़ तक लाने के लिये परिवार और समाज उसे नई ऊर्जा देते हैं। वह जब घर परिवार में रोज़मर्रा के संघर्ष से मात खाया-सा लौटता है तो सब कुछ फिर से शुरू करना चाहता है, जैसा कि यह पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं :

**“वह तरसती है
मां पिता और मास्टरनी बनने को
और में बच्चा बनना चाहता हूँ
बेटी की गोद में गुड्डे सा
जहां कोई मास्टर न हो।”¹**

¹ प्रकाश, उदय . सुनो कारीगर . पृ. सं.- 9

लगभग इसी तरह का एहसास कुमार विकल की 'पुनरारम्भ' कविता भी दिलाती है, जिसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

“चलो,
विजय कुमार
फिर से शुरू करें
अभी तो नदी का पानी
किनारों तक नहीं आया
जब तक नदी के तट सुरक्षित हैं
तुम फिर से शुरू कर सकते हो।”²

यानि कहीं कुछ खास अपनों का ख्याल और कहीं अभी भी कुछ खास न बिगड़े होने का एहसास किसी न किसी प्रकार से उसके लिये ऊर्जा का स्रोत बन जाता है जो उसे फिर प्रेरित करता है रोज़मर्रा के संघर्ष में कूद पड़ने के लिये। समकालीन कविता मध्यवर्ग की इस विडम्बना को भी रेखांकित करती है कि यह जीवन को वास्तविक रूप में नहीं जी पाता अर्थात् समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये वह दिखावा संस्कृति का कायल रहता है और यह संस्कृति भी उसकी परेशानियों को बढ़ाती है। मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी फटेहाल और पतली हालत पर लोगों के सामने हँसी के पेबन्द लगाने का प्रयास करता है, समकालीन कवि इन तथ्यों को जानता है :

“तुम्हारी हँसी
तुम्हारी खड़खड़ साईकल की
सीट जैसी उखड़ी है
तुम्हारे दांत हैंडील की तरह
टेढ़े हैं।”³

यह हालत मध्यवर्ग के लगभग उन सभी पिताओं की है जिनके जवान बेटे बेरोज़गारी की हालत में धूप और धूल सनी सड़क पर जूतिया घटखाते घूमते रहते हैं कि कहीं नौकरी मिले चाहे कैसी मिले।

¹ रब्बी, इब्बार . लोगबाग . पृ. सं.- 93

² विकल, कुमार . निरुपमा दत्त मैं बहुत उदास हूँ . पृ. सं.- 15

³ प्रकाश, उदय . सुनो कारीगर . पृ. सं.- 26

और जब नौकरी परिकथा की नायिका सी राजकुमार बेटों के हाथ नहीं लगती तो वह घर लौटते हुये क्या सोचते हैं? क्या बातें करते हैं? समकालीन कवि के अनुसार :

“एक कहता है पिता की खांसी से
लगता है डर
कहता है दूसरा
मुझे घर की जलती रोशनी से
तुम सोच नहीं सकते
अपनों के आगे
कितना भारी लगता है उठाना
अपनी परास्त आँखे
उजाले में”¹

ऐसी ही परिस्थितियां होती हैं जो मध्यवर्गीय व्यक्ति को निरन्तर खोखला करती जाती हैं- उसे कमज़ोर बनाती हैं, “यदि हम पिछले सालों के अपने देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य का आकलन करें तो हम पायेंगे कि हमारे यहां अवसरवाद, भ्रष्टाचार, जातिवाद, धार्मिक कठमुल्लापन, कट्टरवाद एवं तज्जन्य हिंसा, आतंकवाद, सामाजिक उत्पीड़न, स्त्री प्रताड़ना आदि स्थितियां अपने चरम रूप में देखने को मिलती हैं। एक विचित्र और सनसनीखेज किन्तु कड़वी सच्चाई यह है कि हमारा पढ़ा लिखा तबका इन सारी परिस्थितियों में कहीं न कहीं शामिल है। यह वह मध्यवर्गीय शिक्षित समाज है जो व्यक्तिगत सुख की लालसा में मूल्यहीनता ओर विकृत मानसिकता की ओर निरन्तर अग्रसर है। यह मध्यवर्ग आज निरन्तर विस्तृत होता जा रहा है। लगभग सारा नौकरीपेशा समुदाय इस कोटि में आता है।”² यह मध्यवर्ग की उस मानसिकता को स्पष्ट करता है जो उचित अनुचित ढंग से पूंजीपति वर्ग की निकटता चाहती है :

“पूंजीवाद को कोसते-कोसते अंत में आदमी थक जाता है।
खोजने लगता है प्रधानमंत्री को मुसाहिबों तक
पहुंच का रास्ता।”³

¹ विनोददास . बेरोज़गार . पहल- 37 . पृ. सं.- 256

² गुप्त, शम्भू . आम आदमी और साहित्य . पल प्रतिपल- 17 . पृ. सं.- 74/75

³ जैदी, असद . साहब आप हमारे यहाँ रोज़ आया कीजै . पहल- 37 . पृ. सं.- 249

वास्तव में यह मध्यवर्ग का ऐसा तबका होता है जो शिक्षा प्राप्ति के दिनों में तथाकथित आदर्शवाद का दामन पकड़ लेता है, परन्तु शिक्षा प्राप्ति के बाद प्राप्त शिक्षा के साथ जब वह संसार और समाज के रूबरू होता है तो उसे लगता है कि आदर्शों का बोझ उठाकर प्रगति के रास्ते पर चल पाना बहुत कठिन है। फिर धीरे धीरे यह तबका आदर्शों की पोटली खाली कर देता है और स्वयं के लिये महत्वपूर्ण सम्बन्धों का थैला भरने की कोशिश करता है। उक्त कविता के माध्यम से कवि ने यही स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो कि मध्यवर्ग के सम्बन्ध में कवि का एक अपना अनुभव है। हालाँकि मध्यवर्ग के संदर्भ में समकालीन आलोचक यह भी मानते हैं कि, **“आधुनिक मध्यवर्गीय कवियों ने कविता को अनुभव के साथ कुछ इस तरह जोड़ दिया है कि कल्पना या उसे स्फूर्त करने वाले दूसरे सारे परम्परासिद्ध परम्परासिद्ध काव्य उपकरण कवि के लिये बेमतलब हो गये हैं।”** परन्तु यह बात निशंक भाव से नहीं मानी जा सकती क्योंकि अधिकतर कवियों में हम कल्पना को उस तरह के गुलाम यथार्थवादी अनुभव के रूप में नहीं देखते। उदाहरणार्थ **कुमार विकल** की कविता का निम्न काव्यांश देखा जा सकता है जिसमें कवि ने एक निम्न मध्यवर्गीय सहज सुलभ व्यापार को इस ढंग से कविता का विषय बनाया है कि कल्पना और यथार्थ एकमेक हो गये हैं :

**“लेकिन पुरानी साड़ी
और उसमें से निकाली गयी
नयी कमीज के दुःखों में कितना अन्तर होता है
यह वही आदमी बता सकता है
जो इन दिनों
रात-रात भर नहीं सोता है
जो अब न हँसता है
न रोता है।”¹**

असल में 'न हँसने और न रोने' वाली भी एक विशेष प्रकार की स्थिति है, ऐसी स्थिति, जब परिस्थितियाँ आदमी के वश में नहीं होती और जो वश में होता है वह कर गुज़रने पर भी परिस्थितियों में परिवर्तन की आशा नहीं होती, यह वह स्थिति है जब आदमी चुपचाप स्वयं को हालातों के हवाले कर लगभग मूक और बधिर हो जाता है। मध्यवर्ग की इस प्रकार की स्थिति अनेकानेक कवियों ने विभिन्न रूपों में उठायी है। उक्त 'न हँसने और न रोने' वाली स्थिति का अभिव्यंजन ही निम्न काव्यांग करता है :

**“दिनोंदिन बड़े होते शहर
और छोटे होते घर में**

¹ वाजपेयी, अशोक (सं.) . कविता का जनपद . पृ. सं.- 59

न रोते न हँसते आँखें खोले सुबह के स्वप्न की तरह थे दुनिया को देखते।¹

हालाँकि उक्त दोनों उद्धरणों की स्थिति (न रोने न हँसने की) लगभग एक है, परन्तु फिर भी (मध्यवर्ग से सम्बन्धित) उक्त दोनों में एक विशेष अन्तर है और जैसा कि हमने पहले कहा यह अन्तर है कल्पना का। पहले उद्धरण में यथार्थ कल्पना आवेष्टित है यानि 'पुरानी साड़ी और नपी कमीज़ के दुःखों का अन्तर' जैसी अभिव्यक्ति संभवतः पाठक को यह समझने और सोचने पर मजबूर करती है कि 'पुरानी साड़ी और नई कमीज़ दुःखी दोनों हैं परन्तु उनमें अन्तर है जैसे 'बड़ी जगीरों के बड़े दुःख और छोटी जगीरों के छोटे दुःख' में अन्तर है। यहां पाठक के लिये सोचने की गुंजायश है कि इस अन्तर को कौन स्पष्ट करेगा 'न सोने वाला' कोन है, कवि है या मध्यवर्ग का एक पिता है? जबकि दूसरे उद्धरण में यथार्थ है, बल्कि कहना चाहिये कि केवल शुद्ध यथार्थ है। परन्तु फिर भी यह सत्य है कि कल्पना आवेष्टित पथार्थ और स्वालिस यथार्थ दोनों ही प्रकार की कविताओं में मध्यवर्ग को विषय बनाती अनेक समकालीन कवितायें हैं जो यह सिद्ध करती है कि समकालीन कविता में मध्यवर्ग विशेष रूप से विद्यमान है। इस संदर्भ में कुमार विकल की 'पुनरारम्भ', 'यात्रा', 'एक सुख', 'कोन सुनता है उसके अकेलेपन को', उदय प्रकाश की 'हालचाल', कुमार अम्बुज की 'किवाड़', सुबह के लिये 'पिता का चेहरा', इब्बार रब्बी की 'अरहर की दाल', 'मेरी बेटी', नवल शुक्ल की 'प्यार चाहिए', 'बहुत दिनों से', मदन कश्यप की 'पिछले दिनों में', असद जैदी की 'कागजी नीबू', 'कविता का जीवन', 'बहनें विमल कुमार की 'सपे में एक औरत से बातचीत', 'लड़कियाँ', लाल्टू की '416, सेक्टर 36', 'छोटे शहर की लड़कियाँ' आदि अनेकों ऐसी कवितायें हैं जिसमें मध्यवर्ग के किसी न किसी पहलू को कविता का विषय बनाया गया है और जो यह तय करती हैं कि पिछले वर्षों में इस वर्ग की उपस्थिति बढ़ी है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि समकालीन कविता ने प्रभुवर्ग का जिक्र नहीं किया, बिल्कुल किया है, यह बात अलग है कि इस वर्ग को कविता का विषय बनाते हुये समकालीन कवि का लहजा कुछ बदल गया है।

प्रभुवर्ग में समाज का वह वर्ग आता है जिसे दूसरे शब्दों में पूंजीपति भी कहा जाता है। **"पूंजीपति से मतलब आधुनिक पूंजीपति वर्ग से, अर्थात् सामाजिक उत्पादन साधनों के स्वानियों और उजरती श्रम का उपयोग करने वालों से है।"**² आधुनिक पूंजीवादी समाज सामंती समाज के ध्वस से पैदा हुआ है। पूंजीपति कहे जाने वाले इस प्रभुवर्ग ने गगाज के सभी क्षेत्रों एवं सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं, **"सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल पुथल, शाश्वत**

¹ शुक्ल, नवल . दसों दिशाओं में . पृ. सं.- 25

² एंगेल्स, मार्क्स . कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र . पृ. सं.- 35

अनिश्चितता ओर हलचल ये चीजे पूजीवादी समाज की विशेषताएं हैं।¹ संभवतः इस समाज की इन्हीं तथा चित विशेषताओं के कारण ही समकालीन कविता को पूंजीवाद पर यानि समाज के प्रभुवर्ग पर विश्लेषणात्मक दृष्टि डालनी पड़ी।

पूंजीपति उत्पादन के सभी साधन अपनी मुट्ठी में कर लेता है, जीविका उपार्जन के सभी साधन प्रभुवर्ग की मुट्ठी में होने वो कारण आम आदमी इसकी गिरफ्त में आने के लिये बाध्य है। इसी कारण वह जनता पर मनमाने ढंग से अपने विचार और मान्यतायें भी थोपता है। जनता की स्थिति निःसंदेह (धूमिल के शब्दों में) उस भेड़ की तरह हो जाती है जो दूसरों की सर्दी के लिये अपनी पीठ पर ऊन ढोती है। जीविका के उपार्जन के लिये अवाम को प्रभुवर्ग की प्रत्येक बात एवं निर्णय पर फूल चढ़ाने पड़ते हैं। इस स्थिति को समकालीन कवि **इब्बार रबी** अपनी दो पंक्तियों की सशक्त कविता 'जूते' में इस प्रकार स्पष्ट करता है :

**“असख्य नगे पांवों को
कुछ जूते कुचल रहे हैं।”²**

यह पूंजीपति समाज यानि प्रभुवर्ग द्वारा किये जा रहे शोषण का संक्षिप्त शब्दों में सशक्त ढंग से प्रस्तुत सम्पूर्ण चित्र है। यह एक ऐसा वर्ग है जिसके विभिन्न रूप हैं, विभिन्न आकार और वेश हैं। संसद में यह किसी देशोद्धारक के रूप में है, सरकारी इमारतों में प्रशासक की शक्ल में और औद्योगिक क्षेत्र में उद्योग स्वामियों के रूप में। प्रभुवर्ग की पूंजीपति मानसिकता ने जहां भी स्वयं को स्थापित किया है यहां शासकों को शोषक ओर शामितों को शोषित बना दिया है। यहा संसद में बैठे प्रभुवर्ग का समकालीन कवि द्वारा दर्ज बयान पढ़ना उचित होगा :

**“इसका क्या प्रमाण है कि
यह उसी की लाश है
क्या प्रमाण है कि यह
खान में मरा
लाश आप कहीं से भी
उठा लाये हो
मुड़ा श्रममन्त्री**

¹ एंगेल्स, मार्क्स . कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र . पृ. सं.- 39

² रबी, इब्बार . लोगबाग . पृ. सं.- 10

और चला गया ऊपर”¹

यानि खान में काम करते हुये एक मजदूर इतनी बुरी तरह से चीथड़े हो गया है कि लाश पहचाननी मुश्किल और अभी भी संसद में बैठे (श्रम मन्त्री) प्रभुवर्ग के सदस्य को विश्वास के लिये प्रमाण चाहिये कि यह उसी की लाश है, प्रमाण चाहिये कि यह खान में मरा है। कहना होगा कि यहा पाठक सोचने के लिये मजबूर हो जाता है कि वास्तव में मरा हुआ कोन है? वह तो है ही जिसकी जीवन लीला समाप्त हो गई मगर वह भी जिंदा नहीं है जिसकी भावनायें मर गई और एहसास खत्म हो गये। इसी तरह सरकारी इमारतों में बैठे प्रभुवर्ग के सदस्यों ने उन इमारतों को किस कदर खौफनाक बना दिया है आम आदमी के लिये इसका बयान आज के कवि की निम्न पंक्तियाँ करती हैं :

“सच कितना अजीब लगता है

जब आदमी

शहरी इमारतों से भाग कर जंगल की ओर जाता है।”²

और इन सरकारी इमारतों में जंगल उगाने वाला और इन्हें पुराने जगलों से भी अधिक दहशत - जदा बनाने वाला भी वही प्रभुवर्ग है जो इनमें प्रशासक बना बैठा है। जैसा कि हमने पहले भी जिक्र किया था कि आज का कवि मानता है कि जिस प्रकार उद्योगस्वामी के आगे मजदूर शोषित होने के लिये विवश है उसी प्रकार अफसरशाही के आगे बाबू तबका बेबस है। अगर कहीं अन्तर है तो केवल मानसिक पीड़ा और शारीरिक पीड़ा को अनुपात में। यहा यह भी जिक्र करने योग्य है कि प्रभुवर्ग के सदस्य की मानसिकता और रवैये में अन्तर नहीं है यानि वह चाहे शासक, प्रशासक, उद्योगस्वामी, शहराती हो या देहाती दबे हुये का खून वह जोंक की तरह ही चूसता है। उदाहरण के लिये गाँव से सम्बन्धित निम्नलिखित काव्यांश दृष्टव्य है :

“मुकदमें चल रहे हैं

इसने अपना खेत जबरदस्ती जोत लिया और रोकने आये

साहजी के बड़े लड़को को चार हत्थड़ जड़ दिये

अब बताइये जिसका खुद पांच बीघा खेत हो

उसे इधर-उधर छिछियाना चाहिये ? और पांच

बीघा खेत पांच सौ में कहीं जनम भर के

लिये सट्टा रखा जाता है? वे साले साह-ताह

बड़े मायावी हैं इनके खाते से खेतों का कभी निस्तार नहीं”¹

¹ रबी, इब्बार . लोगबाग . पृ. सं.- 51

² विकल, कुमार . एक छोटी सी लड़ाई . पृ. सं.- 14

यानि गांव का साहू और महाजन भी उसी वर्ग के हैं जिसके प्रशासक या उद्योगपति। यह मानना अकारण नहीं है कि यह वर्ग एक कड़ी की तरह एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। निम्नस्तर का पूंजीपति जनता का खून चूसता है तो लाली स्तर-दर-स्तर होती हुई उच्चतम सीढ़ी तक पहुंचती है। समकालीन कवि यह भी मानता है कि शहर, जिसे वह जंगल कहता है, भी इसी व्यवस्था के कारण जंगल और आम आदमी दहशतजदा हुआ है :

**“ओर यह भी सच है
कि इन जंगलों में काले गेंडे की एक
नस्ल पैदा हो रही है
और नयी तरह के नरभक्षी वृक्ष उग रहे हैं
जो आदमी को अपनी लपेट में नहीं लेते
बल्कि जिनकी दहशत से रक्तचाप बढ़ जाता है?”²**

यह एक ऐसी व्यवस्था है जो शारीरिक श्रम भी लेती है और मानसिक तनाव भी देती है। बदले में इन सब चीजों का हिसाब चन्द सिक्कों में चुकता कर देती है। यह वर्ग गरीब के शोषण से भौतिक और मानसिक दोनों प्रकार की सतृष्टि चाहता है, “अमीरों के न केवल भौतिक सुख बल्कि मानसिक सुख का भी साधन गरीबों के श्रम का शोषण है। जिस चीज से अक्सर अमीरों को सुख मिलता है उससे गरीबों को दुःख मिलता है।”³ यह वर्ग संख्या में अल्प होते हुये भी विशाल समुदायों और मानव जातियों को अपने हांथों की कठपुतलियां बना लेता है। समकालीन कविता ने इस वर्ग की रग-रग में गहरे पैठ कर इस पर कहीं व्यंग्यात्मक उक्तियों से प्रहार किया है, कहीं दार्शनिक मुद्रा अपनाते हुये इस वर्ग की उत्पीड़क प्रवृत्ति सम्बन्धी निर्णायक बयान दे दिये हैं। समकालीन कवि इसकी पेटू प्रवृत्ति की कहीं :

**“चींटी की विसात
मगर फिक्र ये कि कैसे
घसीट ले जाये पूरे देश को
अपने बिल में।”⁴**

जैसे व्यंग्यात्मक वक्तव्यों से पूंजीपतियों के काले कारनामों पर प्रकाश डालता है तो कहीं :

¹ ज्ञानेन्द्रपति . शब्द लिखने के लिए ही यह कागज़ बना है . पृ. सं.- 53

² विकल, कुमार . एक छोटी सी लड़ाई . पृ. सं.- 14

³ गुप्त, शम्भू . आम आदमी और साहित्य . पल प्रतिपल – 17 . पृ. सं.- 69

⁴ नारायण, कुंवर . एक ऐतिहासिक हृद से . पहल- 37 . पृ. सं.- 55

“निजी पूंजी के अन्धेरे में हँसता है
महाजनी न्याय का पाखंड
और सीढ़ियां धंसती जाती हैं दलदल में
लगातार”¹

जैसे बयान देकर पाठक वर्ग को इस बात से अवगत करवाता है कि न्यायापालिका भी पूंजीपति की रखैल हो सकती है। कुछ इसी प्रकार का आशय समकालीन कवि **कुमार विकल** की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी प्रगट करती हैं :

“इन इमारतों में मुझे
दनदनाता हुआ
एक हिंसक जानवरनुमा आदमी मिलता है
जिसके हाथों में खजाने की चाबियां
और कुटिल नगरी की काली योजनाएँ होती हैं।”²

‘चींटी की विसात’, ‘महाजनी न्याय का पाखंड’, ‘जानवरनुमा आदमी’, ‘महापुरुष’ आदि व्यंजनायें प्रभुवर्ग को ही अभिव्यक्त करती हैं जो कि समकालीन कवि के अनुसार ‘विपत्तियों के मूलभूत कारण हैं।’ बात यही समाप्त नहीं हो जाती यानि केवल ‘महापुरुष’ ही ‘विपत्तियों के कारण’ नहीं है बल्कि इनके साथ किसी न किसी तरह जुड़े आम-अदना भी इनका सहारा और शह पाकर जन सामान्य के लिये परेशानियों का कारण बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में जन सामान्य दोहरी मार का शिकार हो जाता है। जैसा कि इस काव्यांश से स्पष्ट है :

“एक कद्दावर महावत ले आये थे कुँवर साहब
फिर तो गांव वाले
हाथी के साथ-साथ महावत की धौंस को भी
चुपचाप सहने लगे।”³

¹ जोशी, राजेश . एक सुबह . पहल- 37 . पृ. सं.- 169

² विकल, कुमार . एक छोटी सी लड़ाई . पृ. सं.- 30

³ कश्यप, मदन . लेकिन उदास है पृथ्वी . पृ. सं.- 21

सत्तासीन प्रभुवर्ग के आगे गिड़गिड़ाये या उस न्यायपालिका का द्वार खटखटाये जो पूंजीपति की रखैल है? यह ये सब सोचते समझते हुये पहले ही अपनी हार मान लेता है। डरता हुआ हरेक धौंस चुपचाप सह लेता है और वह डरता इस लिये है कि वह जन सामान्य है, दुनियादार है और कवि कुमार अम्बुज के शब्दों में 'डर सबसे पहले दुनियादार आदमी के हृदय में प्रवेश करता है। कुमार अम्बुज की एक दिवार पर दो तलवारें देखकर', 'दुनियादार आदमी इब्बार रब्बी की 'सड़क पर चलने वालों का गीत', 'गदाखोर', 'जूते' कुमार विकल की अगली गलती की शुरुआत जन्मशताब्दियों वाला वर्ष ज्ञानेन्द्रपति की 'अपने कांग्रेस के बारे में केदारनाथ सिंह की 'लोककथा', 'दाने' मदन कश्यप की 'बूढ़ा हाथी' उदय प्रकाश की 'बहेलिया', 'सुराही', 'महापुरुष', 'गेम सेंचुअरी' आदि समसामयिक काल में लिखी गई ऐसी ढेरों कविताओं में से कुछ है जो प्रभुवर्ग की शोषण करने की प्रवृत्ति और जन सामान्य की शोषित होने की बाध्यता को अभिव्यक्ति देती है।

बाज़ारीकरण ने मानवीय संवेदनाओं पर ही सवाल खड़ा कर दिए हैं। 21वीं सदी का व्यक्ति व्याकुल है क्योंकि असीमित ऐश्वर्य के बाद भी सुख शान्ति नहीं मिल पा रही है। संबंधों के बिखराव और टूटन का कारण संवेदनहीनता है। प्रजातंत्र की विद्रूपताओं पर चंद्रकांत देवताले का सवाल है :

**“प्रजातंत्र की रथ यात्रा निकल रही है
औरतों और बच्चों को रौंदा जा रहा है
गुंडों और नोटों की ताकत से हतप्रभ लोग
खामोश खड़े हैं।”¹**

उक्त अनुशीलन के बाद समकालीन कविना और प्रभुवर्ग को लेकर कुछ बातें स्पष्ट होती है पहली यह कि समकालीन कविता ने जाहिरी तौर पर प्रभुवर्ग के प्रति गुस्सैल और विरोधी रवैया अपनाया है। दूसरे, आज का कवि इस वर्ग को समसामयिक परिस्थितियों के लिये जिम्मेवार ठहराता है। तीसरे, युवा कवि ने प्रभुवर्ग की परिभाषा में उस प्रत्येक व्यक्ति को समेटा है जो उक्त प्रकार की व्यवस्था के संचालन में किसी न किसी रूप से भागीदार बनता हुआ सहयोगी सिद्ध होता है। यही एक और बात भी ध्यान आकर्षित करती है कि समकालीन कवि जो मध्यवर्ग की बात करते हुये भाषा के स्तर पर इतना कोमल, स्निग्ध हो जाता है, उसी की पूंजीपति वर्ग सम्बन्धी कवितायें पढ़कर सहसा विश्वास नहीं होता कि यह उसी कवि की रचनाएँ हैं।

¹ पाण्डेय, सुरेश चन्द्र . समकालीन काव्य . पृ. सं.- 40

5.2. राजनीतिक प्रभाव

समकालीन कविता अपने गहरे अर्थ में राजनीतिक कविता है। कविता के साथ राजनीति का रिश्ता पुराना है। लेकिन कविता के इस दौर में राजनीति केन्द्रीय स्थिति पा जाती है। केन्द्रीय स्थिति पाकर राजनीति अपने क्रूर, नंगे अमानवीय रूपों में जीवन के हर क्षेत्रों में सक्रिय हुई। यहाँ तक कि धर्म तक को राजनीति ने भ्रष्ट करने से नहीं छोड़ा। आपातकाल की राजनीति ने जनता को तबाह किया और इन्दिरा-युग की इस करतूत पर नागार्जुन तथा भवानीप्रसाद मिश्र जैसे पुराने कवियों ने डटकर लिखा। नागार्जुन ने लिखा –

**“हरिजन गिरिजन नंगे भूखे हम तो डोलें वन में
खुद तुम रेशम साड़ी डाँटे उड़ती फिरो गगन में
महंगाई की सूर्पनखा को ऐसे पाल रही हो
शासन का गोबर जनता के सिर पर डाल रही हो।”¹**

निरन्तर बढ़ती महंगाई ने गरीबी-भुखमरी से आम आदमी के आत्म-निर्वासन की प्रक्रिया को तेज कर दिया। जातिवाद, साम्प्रदायिकता, झगड़े, पिछड़े का खतरनाक विभाजन, राजनीति में अपराधीकरण का वर्चस्व, धर्म के राजनीतिकरण से पूरा देश तबाही की ओर बढ़ा। गांधी का स्वदेशी आन्दोलन अमेरिकी कर्ज पर चलने वाली सरकारों ने निगल लिया और देश एक नए ढंग की पराधीनता में पुनः फँसने लगा।

नकलची, उधारभोगी उपभोक्तावादी संस्कृति ने सभी मूल्यों को चौपट कर दिया और क्रान्ति के नाम पर यौनक्रान्ति को बढ़ावा मिला। अकविता आन्दोलन के सभी कवियों ने (जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन आदि) यौनक्रान्ति को रचनाशीलता में स्थान दिया। नैतिक रूप से पतित व्यवस्था ने “सेक्स, अपराध और हिंसा” को सत्ता में रहने का साधन बना लिया। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद पैदा हुई पीढ़ी ने चार-पाँच चुनावों के माहौल को देखा और अनुभव किया कि सिद्धान्तहीन राजनीति उसका और उसके समाज का संहार कर रही है।

फलतः इस पीढ़ी के पल-पल कठिन संघर्षों में तीव्रता आई। सौमित्र मोहन ‘लुकमान अली’ नामक लंबी कविता में जनता के इस दर्द को लिखते हैं :

**“लुकमान अली के लिए स्वतंत्रता उसके कद से केवल तीन इंच बड़ी है।
वह बनियान की जगह तिरंगा पहनकर कलाबाजियाँ खाता है।**

¹ जोशी, राजेश (सं.) . संस्करण- 2017 . हरिजन गाथा . पृ. सं.- 73

वह चाहता है कि पाँचवें आम चुनाव में बौनों का प्रतिनिधित्व करे।

उन्हें टाफियाँ बाँटे।

जाति और भाषा की उन्हें कसमें खिलाए

वह आज, नहीं कल, नहीं तो परसों, नहीं तो किसी दिन

फ्रिज में बैठकर शास्त्रों का पाठ करेगा।”¹

पंचवर्षीय योजनाएँ, हरित क्रान्ति, गरीबी हटाओ जनसंख्या नियंत्रण की योजनाएँ मानवाधिकार और जनविकास की सभी योजनाएँ कोरी मायावी छलनाएँ सिद्ध हुई। समकालीन कविता के कवि मलयज ने ठीक कहा है कि “इस युग के सिद्धान्तहीन राजनीति के इस अनुभव की नेहरू-युग की राजनीति से तुलना कीजिए। नेहरू-युग की राजनीति “भारत की खोज” के आधार पर आशावाद से ग्रस्त एक ऐसी राजनीति थी जिसके पैर यथार्थ पर कम स्वर्णिम मानव-भविष्य के स्वप्न पर अधिक टिके थे। ऐसी आदर्शवादी राजनीति का अंत यदि मोहभंग में हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह राजनीति मुख्यतः राजनेताओं की राजनीति के कारण हुए मोहभंग में भी एक ट्रेजिकशान थी। नेहरू-युग का साहित्य इसी शानदार मोहभंग का साहित्य है। इसके विपरीत नेहरू-युग के बाद की राजनीति आम आदमी की राजनीति है। छात्र-असंतोष, घेराव और दलबदल में आम आदमी की ही नस बजती है। जिस राजनीति के अन्तर्गत न्यूनतम कार्यक्रम का झंडा, पार्टि सिद्धान्तों के चिथड़े को सिलकर बनाया गया हो, वहाँ मोहभंग की कोई गुंजाइश रह ही नहीं जाती। आम आदमी की राजनीति स्थिति के इस कटु स्वीकार से ही शुरू होती है। पिछले दशकों का साहित्य बुनियादी तौर पर इस स्थिति के इस कटु स्वीकार और उससे उत्पन्न। प्रतिक्रियाओं का साहित्य रहा है। “स्वाधीन चिन्तन”, “स्वाधीन मनुष्य” और स्वाधीनता का स्वप्न आकाश कुसुम बनता गया।

हमने अन्धेपन में अपने देश की स्थिति परिस्थिति पर विचार किए बिना पश्चिमी “विकास” (प्रोग्रेस) और “प्रगति” (डेवलेपमेंट) की अवधारणाओं को स्वीकार कर लिया। फलतः अपने मौलिक सोच से कटकर हम भटकाव के शिकार होते गए। यह भटकाव इतना बढ़ा कि एक पूरी पीढ़ी भ्रान्तियों में फंसकर गर्क हो गई। पूरी पीढ़ी में एक ऐसा अकेलापन, आत्मनिर्वासन पनपा कि वह सोचने-समझने में लाचार हो गई। विजयदेवनारायण साही के शब्दों में कहें तो हमारे हाथों में टूटी हुई तलवारों की मूठे रह गईं जिनसे हम युद्ध तो क्या कर सकते थे अपनी ट्रेजेडी का मातम ही मना सकते थे। मुक्तिबोध ने “ब्रह्मराक्षस” कविता में इसी स्थिति का समग्र बिंब खींचते हुए कहा है :

“पिस गया वह भीतरी

¹ मोहन, सौमित्र . 1968 . लुकमान अली : कृतिपरिचय(पत्रिका) . पृ. सं.- 105

औ बाहरी दो कठिन पाटों के बीच ऐसी ट्रेजेडी है नीच”¹

गति और संत्रास एक ही जीवन-चक्की के दो पाट हैं – इसी चक्की ने पूरी पीढ़ी को पीस डाला है। पाकिस्तान, चीन युद्धों के दौरान, आपातकाल (1975) के दौरान, लोकनायक जयप्रकाश नारायण की लोकक्रांति के दौरान, देश का पूरा जीवन संकटपूर्ण उथल-पुथल से गुजरा। देश पर भाषा की राजनीति का विकृत चेहरा थोपा गया तथा हिन्दी और भारतीय भाषाओं की छाती पर अंग्रेजी को अनन्तकाल तक के लिए बैठा दिया गया। भाषायी साम्राज्यवाद की यह भयावह स्थिति ही थी जिसने भारतीय भाषाओं के रचनाकारों के आत्मसम्मान तक को छीन लिया। शिक्षा नीति ने अंग्रेजी माध्यम की दृढ़ता से स्थापना कर दी।

हिन्दी में एक अनुवादजीवी संस्कृति का जन्म हुआ जो अपने मौलिक चिन्तन के बुनियादी सरोकारों से कटती गई। यहाँ अनुवाद जीवी संस्कृति का अर्थ है अपने मूल को गँवाकर पराई भाषा, पराये विचार पर निर्भरता। अपने चिन्तन की मूलगामी बुनियादों से विच्छिन्न हो जाने के कारण हिन्दी प्रदेशों में वैचारिक आन्दोलन नहीं उठा। केवल मन्दिर-मस्जिद की सत्यानाशी राजनीति ने अलगाववाद, धर्मवादी घृणा-भाव के बीज बोए और “हिन्दुत्व” की राजनीति ने देश में साम्प्रदायिकता को खुलकर खेलने का अवसर दिया। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर पनपा क्या- फासिस्टवाद। जीवन को हर स्तर पर झूठ, पाखण्ड, छलकपट, चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार से पाट दिया गया। समकालीन कविता सर्जनात्मक स्तर पर इस पूरे “परिवेश” से साक्षात्कार की कविता है। रघुवीर सहाय ने इसी स्थिति की पीड़ा से भरकर लिखा :

“बीस वर्ष
खो गए भरमे उपदेश में
एक पीढ़ी जन्मी पली-पुसी क्लेश में
बेगानी हो गई अपने ही देश में”²

कविता और राजनीति का घनिष्ठ रिश्ता समकालीन कविता में काफी गरम है। इतना गरम कि पिछले तीन दशकों से कविता और राजनीति के सम्बन्ध की चर्चा रही है। आलोचकों-कवियों ने इस विषय पर जमकर लेख लिखे । कारण यह है कि आम आदमी जिन्दगी को नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में राजनीतिक सत्ता और प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभावों-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति बढ़ गई है। राजनीति के साथ

¹ मुक्तिबोध, गजानन माधव . 1964 . ब्रह्मराक्षस (चाँद का मुँह टेढ़ा है) . पृ. सं- 21

² कुमार, कृष्ण (सं.) . संस्करण: 2003 . रघुवीर सही संचयिता . पृ. सं.- 18

लगाव का अर्थ है अपने युग परिवेश और युग-सन्दर्भ से सम्बन्ध । राजनीति आज जीवन में इतने रूपों, विविध मुद्राओं में घुस आई है कि उससे तटस्थ या दूर रह पाना असम्भव है। राजनीति ही जीवन यथार्थ, जीवन-प्रक्रिया की सच्चाई, ढोंग-झूठ-पाखण्ड को तय करती है। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, साही, धूमिल से लेकर उदय प्रकाश तक का सृजन-कर्म एक व्यापक अर्थ में राजनीति से जुड़ा है।

भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में कोई भी राजनीतिक घटनाक्रम का प्रभाव सारे संसार को प्रभावित करता है। विश्वयुद्ध एवं उसके परिणामों ने संपूर्ण विश्व को प्रभावित किया है। वर्तमान विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का कारण विकसित देश की राजनीतिक हलचल का परिणाम है। प्रांतीय एवं राष्ट्रीय सीमाओं पर कोई अंकुश नहीं रह गया है। वर्तमान समय में विश्व की अर्थव्यवस्था वास्तव में भूमण्डलीकृत आर्थिक गतिविधियों से जुड़ी हुई है। अतः यह स्पष्ट है कि आर्थिक सम्बन्ध जो राजनीतिक वातावरण के कारण विस्तृत हुए हैं उन पर इन सम्बन्धों का विशेष प्रभाव पड़ा है। पूरे विश्व में विकसित देश महाशक्ति के रूप में उभरकर सामने आये हैं और इनके राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध पूरे विश्व को प्रभावित करते हैं। ऐसा भूमंडलीकरण के कारण ही सम्भव हुआ है।

अब धीरे धीरे विश्व गैर भूमण्डलीकरण की ओर कदम बढ़ा रहा है। विकसित राष्ट्र आर्थिक लाभ के लिए अपना वर्चस्व बढ़ा रहे हैं वहीं दूसरे राष्ट्र अपना वर्चस्व कम होते देख कर रूख बदल रहे हैं जिसका ज्वलंत उदाहरण यूरोपिय यूनियन में दरार और इंग्लैंड की ब्रेक्जिट नीति है। हानि उठा रहे राष्ट्रों ने अपना मुह मोड़ना शुरू कर दिया है। हाल ही में घटित चीन और अमेरिका के बीच ट्रेड वार को भी संदर्भित कर सकते हैं। वर्तमान कोरोना संकट ने भी भूमण्डलीकरण के समाप्ति के यह आसार दिखा दिया है।

डॉ. बच्चन सिंह की राय में "आज के ज़माने में हम राजनीति की उपेक्षा कर सकते हैं किन्तु राजनीति हमारी उपेक्षा नहीं करेगी।"¹ मनुष्य जीवन के सभी पक्षों से राजनीति का ठोस गठबन्धन है। कहीं प्रत्यक्ष रूप से तो कहीं परोक्ष रूप से बनी रहती है। इस तरह राजनीति हर तरीके से मानव जीवन से अपना रिश्ता बनाये रखती है। राजनीति और समाज नामक लेख में राजनीति के विभिन्न पक्षों को उजागर करते हुए कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला बताते हैं- **"राजनीति के साथ समाज का घनिष्ठ संबंध है । यदि समाज की तैयारी को राजनीति की तैयारी कहें तो अत्युक्ति नहीं होती।"**²

राजनीति देश को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने की ज़िम्मा उठाने वाली शक्ति है। कविता ने राजनीति के विभिन्न भावों को, स्वरूपों को दिखाया है। कहीं कविता ने आदर्श रामराज्य का गुणगान किया तो कहीं वीर राजाओं की वीरता का चित्रण। कहीं कविता ने ब्रिटीश उपनिवेश के भ्रष्ट राजनैतिक व्यवस्था पर विरोध दिखाए और कहीं स्वार्थ राजनीतिज्ञों के भ्रष्ट तंत्रों से पर्दा उठाने की कोशिश की। स्वतंत्रता पूर्व भारतीय राजनीति का लक्ष्य केवल देश की स्वतंत्रता था। जनता भी आज़ादी के बाद के

¹ सिंह, बच्चन . आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द . पृ. सं.- 58

² नवल, नंदकिशोर (सं.) . निराला संचयिता . पृ. सं.- 356

खुशाहाली के सपने देखने लगी थी। लेकिन स्वतंत्रता के बाद धीरे-धीरे राजनीति में सत्तातंत्र का समावेश होने लगा। जनता मोहभंग का शिकार बन गयी। भारतीय राजनीति ने जनता को सत्तातंत्र के कई रूपों से सामना करवाया है। आपातकालीन राजनैतिक अराजकता को जनता कभी नहीं भूल सकती। जनता की धार्मिक आस्था में भी राजनीति बार बार हस्तक्षेप करने लगी थी। फलस्वरूप भारत को कई सांप्रदायिक दंगों का सामना करना पड़ा। बाबरी मस्जिद विध्वंस तो राजनैतिक चालों की चरम सीमा थी। धर्म के गलत इस्तेमाल से वोट को किस तरह हडपना है, इसे आज के चालाक राजनीतिज्ञ भली-भाँति जानते हैं।

राजनीति पर हमेशा सत्तातंत्र हावी रहा है। इसलिए जनता को भी सतर्क रहना है। सत्ता को चुनने से कर्तव्य पूरा नहीं होता। सत्ता को सही रास्ते पर लाने के लिए सतर्क रहना जनता का फर्ज है। अपने मतदान के अधिकार को सही तरीके से इस्तेमाल करके अपने देश के लिए उज्ज्वल भविष्य बनाने का अधिकार जनता के हाथों में सुरक्षित रहना चाहिए।

देश को चलाने का ज़िम्मा भले ही राजनीति ने उठाया हो लेकिन राजनीति को सही रास्ते पर चलाने का ज़िम्मा कविता के कंधों पर है। हर समय की राजनैतिक चेतनाओं को कविता ने अपने में समेटने की कोशिश की है। "साहित्य और राजनीति का असर एक दूसरे पर होने से रोका भी नहीं जा सकता चाहे राजनीति का युग हो चाहे साहित्य का। नीत्शे साहित्यिक था, लेकिन आधुनिक साहित्य पर उसके प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेनिन को कोई साहित्यिक नहीं कहता फिर भी आधुनिक साहित्य पर उसकी गहरी छाप है।"¹ ऐसे में कविता पर भी राजनीति की छाप पड़ जाती है।

आज़ादी के बाद अन्य विकासोन्मुख देशों की भाँति भारत भी आर्थिक अस्थिरता के दौर से गुज़र रहा था। देश को पूरी तरह से सबल बनाने के लिए भारत ने विदेशी पूँजीपतियों का सहारा लिया। विदेशी कर्ज से शुरु होकर आज भिन्न-भिन्न रूप से भारत पश्चिम पर आश्रित है। यह कहना और अधिक उचित होगा कि भारत भी भूमण्डलीकरण और नवउपनिवेश की चाल में फँस गया।

**"धन्य धन्य है धन्य रहो भारत माई
सिसक रहे हैं लोग रुलाती है मंहगाई
पारित होते ढेर ढेर प्रस्ताव
फिर भी बढ़ते ही जाते सब कुछ के भाव।"²**

¹ अज्ञेय . सर्जना और सन्दर्भ . पृ. सं.- 60/61

² नागार्जुन . पका है यह कटहल . पृ. सं.- 54

औद्योगिक और नई उद्योग नीतियों के तहत, नई तकनीकों की सहायता से विदेशी कंपनियों द्वारा देश में नई नई संस्थाएँ, कारखाने सब स्थापित होते हैं। भारत की देशी व्यवस्था पर पश्चिमी विकास का प्रतिरूप थोपकर बेकसूर लोगों की ज़िन्दगी बरबाद करते हैं। गिने चुने बेरोज़गारों को रोज़गार देने का नाटक रचकर प्रकृति का सर्वनाश करके करोड़ों की लूट करते हैं। देश के वरिष्ठ नेता गण इन सब का समर्थन करते हुए मुनाफे का हिस्सेदार बनते हैं :

**"हम जानते हैं, वहाँ खुला है एक धूम्रध्वज कारखाना
पश्चिम की तकनीकी उतरन होते भी
नई उद्योग नीति के उद्वेग से भरा
जिसका श्रेय लेने को
मुसकराते खड़े हैं अखबारों की तसवीरों में
उद्योगमंत्री और वित्तमंत्री और व्यापार मंत्री और प्रधानमंत्री
और मंत्री दर मंत्री
इलाके को सौंपे गए उस उपहार का श्रेय।"¹**

सरकार और विदेशी पूँजीपतियाँ विकास और आधुनिकता का ढिंढोरा पीट रहे हैं। लेकिन भारत के गरीब की स्थिति में कोई उभार नहीं देखता। वह पहले भी भूख से तड़पता था और भूमण्डलीकरण के दौर में भी उसके लिए कोई बदलाव नहीं। देश की आम जनता की उन्नति के बगैर देश कैसे विकास के पथ पर अग्रसर होगा। देश के दयनीय गरीब के दुःख भरी स्थिति की वास्तविकता को कवि त्रिलोचन ने यों व्यक्त किया :

**"देश आगे बढ़ रहा है
और लोग कैसे हैं
पीछे पड़ रहे हैं।"²**

वाकई में भूमण्डलीकरण से देश की उन्नति होती है, आर्थिक खाई मिटती है यानी एक एकीकृत अर्थव्यवस्था आती है, तो इतने सालों से चल रहे भूमण्डलीकरण के बाद भी भारत की स्थिति ऐसा क्यों है, यहाँ पर आर्थिक खाई क्यों नहीं मिटी और आज भी देश के गरीब श्रमिकों की स्थिति में बदलाव क्यों नहीं आया :

¹ ज्ञानेन्द्रपति . गंगातट . पृ. सं.- 49

² त्रिलोचन . तुम्हें सौंपता हूँ . पृ. सं.- 57

**"भाषा, धर्म, जाती के पाँसे
उनके ही- उनकी चौपड
सौ वर्षों से बंधुआ भारत
अब भी बेल रहा पापड।"¹**

पूँजीपतियों और शासक नेताओं ने मिलकर भारत को अराजकता, आर्थिक तंगी और भ्रष्टाचार की खाई में गिरा दिया है। यहाँ पर राजनीति पूँजी के पीछे पीछे चलती है। जिसके पास धन है, उसकी ओर सत्ता झुकती है। यहाँ पर जनतंत्र का नहीं बल्कि धनतंत्र का राज है। इस व्यवस्था की असुरक्षा को व्यक्त करते हुए कवि **प्रभात त्रिपाठी** पूछते हैं :

**"अगले पच्चीस बरस के
किस अकाल में, किस बाढ़ में
किस दंगे में, किस महामारी में किस युद्ध में
लिखी है मेरी मौत बताईए।"²**

भूमण्डलीकरण के इस दौर में भारत अपनों के लिए पराया बनता जा रहा है। कहने के लिए भारतवासी कह सकते हैं लेकिन सारा नियंत्रण विदेशी पूँजीपतियों के हाथों में है जिसने यहाँ की सत्ता को भी अपने धनतंत्र में समेट लिया है। देशवासियों की नियति वे निर्धारित करते हैं। अपने ही देश से जनता को पराया बनाया जा रहा है। अरुण कमल की पंक्तियों में :

**"अपने ही घर में किरायेदार हम
जा रहे हैं इक्कीसवीं शताब्दी की ओर।"³**

भले ही भूमण्डलीकरण विकास का कितना भी दावा करें, वह तीसरी दुनिया के देशों के लिए हितकारी नहीं है। वैश्वीकरण के नकारात्मक विकास के शोषण के कारण पृथ्वी का संतुलन तक बिगड़ गया। भूमण्डलीकरण का सिद्धान्त जो था वह गलत नहीं था। लेकिन स्वार्थी पूँजीपतियों ने उसका दुरुपयोग करके सर्वनाश का कारण बना दिया है। शायद सही ढंग से भूमण्डलीकरण को सकारात्मक रूप से अपनाया होता तो वह पूरे मानव समुदाय के लिए सुविधाजनक होता। लेकिन जब तक राजनीति और पूँजीवाद मिले हुए हैं तब तक ऐसा होना असंभव है।

¹ शील . लाल पंखों वाली चिड़िया . पृ. सं.- 42

² त्रिपाठी, प्रभात . आवाज़ . पृ. सं.- 47

³ कमल, अरुण . सबूत . पृ. सं.- 77

आशुतोष कुमार ने कविता की एहमियत के बारे में यों कहा : "कविता यथार्थ से दूर ले जानेवाली, उसे भुला देनेवाली, उसे मानोवांछित ढंग से बदलकर एक वैकल्पिक यथार्थ (अन्य पदार्थ) खड़ा कर देनेवाली जादू की छड़ी नहीं है। वह इसी वास्तविक संसार से मानवीय संवेदना की एक सृजनात्मक मुठभेड़ है और इसलिए उसमें किसी - न- किसी रूप से यथार्थ की उपस्थिति अपरिहार्य है।"¹ इस तरह कविता खासकर समकालीन कविता यथार्थ का चित्रण करती है, वहीं नहीं उसमें समकालीन समस्याओं के खिलाफ संघर्ष करने की शक्ति भी है। समकालीन कविता ने प्रतिरोधी स्वर का एक ढांचा प्रस्तुत किया है जो कवि कर्तव्य के अनुकूल है। समाज में होने वाले अन्याय, अराजकता, भ्रष्टाचार आदि का सीधा खुलासा करके उससे प्रतिरोधी संघर्ष करने में समकालीन कविता सक्षम है।

समकालीन कविता ने हमेशा से ही राजनीति का विमर्श किया है। जब राजनीति ने जनता का साथ दिया तो कविता ने उसका अनुगमन किया और जब राजनीति ने सत्तातंत्र खेलना शुरू कर दिया तो उसके खिलाफ खड़ा रहा। राजनीति को हमेशा जनता के हित में खड़ा रहना चाहिए। एक जनतांत्रिक देश में जनता से बढ़कर कोई दूसरी शक्ति नहीं होनी चाहिए। लेकिन आज इस स्थिति में जो बदलाव आया है उसका ज़िम्मेदार राजनैतिक शक्तियाँ ही हैं। आज़ादी मिलने पर देशवासियों के मन में एक उम्मीद थी कि आनेवाली सत्ता उनका हितकारी होगा, उनके लिए सर्वमंगलकारी होगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। देश को चलाने का ज़िम्मा उठाकर अधिकार पर विराजित नेता गण सत्तामोही बनकर देशवासियों को ही धोखा देने लगा। भ्रष्टाचार के एक मोड़ पर सत्ता ने भूमण्डलीकृत शक्तियों का हाथ पकड़ लिया। सत्ता और मुनाफे के लिए कुछ भी करने को वे तैयार हो गये। निजीकरण के नाम पर सरकार ने क्या नहीं किया। एक नदी तक को बेचने का दुस्साहस करके सरकार ने जनता से नाइनसाफ़ी की।

समकालीन हिन्दी कविता ने राजनीति के इस भूण्डलीकृत चेहरे का पर्दाफाश किया है। सत्ता से जनता का हित होना चाहिए, न कि पूँजीपतियों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के। राजनीति के इस भ्रष्ट खेल को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

**"प्रजातंत्र की रथ यात्रा निकल रही है
औरतों और बच्चों को रौंदा जा रहा है
गुण्डों और नोटों की ताकत से हतप्रभ लोग
खामोश खड़े हैं।"**²

¹ कुमार, आशुतोष . समकालीन कविता और मार्क्सवाद . पृ. सं.- 37

² देवताले, चंद्रकांत . उसके सपने . पृ. सं.- 158

जिस भारत में राजनीति आदर्शों पर आधारित थी वहीं पर आज अराजकता का वास है। भूमण्डलीकरण की स्वार्थ लोलुपता में फैसकर सत्ताधारियों ने सारा आदर्श खो दिया। जनता को सांस्कृतिक व मानसिक गुलामी में जकड़ दिया। देश की राजनीति बहुत बदल गयी। इसके खिलाफ समकालीन कविता ने इस प्रकार प्रतिरोध किया है :

**"हम दुनिया के सत्ताधारियों को
दुनिया की जनता के सामने
खड़ा करना चाहते हैं
दुनिया की जनता को
दुनिया-भर के सत्ताधारियों से
बड़ा करना चाहते हैं।"¹**

देश की जनता का, भूख और गरीबी से दम घुट रहा है और देश के वरिष्ठ एवं उच्च नेता आडम्बरपूर्ण ज़िन्दगी गुज़ारते हैं। विकास के नाम पर विदेशों में घूमते रहते हैं। देश में ज़रा रूकर वहाँ की दयनीय अवस्था देखने के लिए उनके पास समय नहीं है। उनके पास जो समय है वह कॉर्पोरेटों के लिए है जो देश की गति निर्धारित करते हैं। संविधान ने देशवासियों को स्वतंत्रता का अधिकार तो दिला दिया। लेकिन राजनीति के खिलाफ बोलने से पहले जनता को सोचना पड़ता है। राजनीति का सत्तातंत्र इतनी क्रूर हो गयी है कि सत्ता बनाये रखने के लिए, कुछ भी करेगी :

**"विक्षिप्त विजयोल्लास में ढिंढोरचियों
का महादल गा रहा है
हर चीज़ का अंत करता सदी का अंत आ रहा है।"²**

राजनीति के भ्रष्ट चालों ने जनता के मन में घृणा और घुटन पैदा कर दिया है। सिर्फ चुनाव के अवसर पर ही जनता का मूल्य होता है। जनता भी मतदान करते हुए आशा करती है शायद इस बार की सत्ता उनके लिए शुभकारी होगी। जब उनसे तंग आते हैं तो अगली बार अगली पार्टी को जिताकर आजमाते हैं। यह प्रक्रिया बरसों से जारी है। देश में चली आती इस भ्रष्ट राजनैतिकता की तीव्रता और प्रतिरोध अरुण कमल की इन पंक्तियों में यों मुखरित है :

"हम देश के सबसे बड़े नेता को

¹ मिश्र, भवानी प्रसाद . भवानी प्रसाद संचयिता . पृ. सं.- 434

² जोशी, राजेश . दो पंक्तियों के बीच . पृ. सं.- 99

अपने सबसे प्रिय नेता को
सबसे महत्वपूर्ण नागरिक को
देंगे सबसे बड़ा सम्मान
अजूबा अभूतपूर्व नागरिक सम्मान
फूल से नहीं
सोने-चाँदी से नहीं
सिक्कों से नहीं
हम उन्हें खून से तोलेंगे।"¹

राजनीति के भ्रष्ट चालों से दमित जनता का पूरा विरोध इन पंक्तियों में चित्रित है। कवि की राय में अधिकार के लिए जनता और देश के साथ नाइनसाफी करनेवाले सत्ताधारियों को खून से तोलकर प्रतिरोध दिखाना है। उपनिवेश जो है वह एक ऐसा दलदल है जहाँ से निकलना बहुत ही मुश्किल है। उस दलदल से उठकर नवउपनिवेश रूपी खाई में गिरना एक देश के लिए बहुत ही खतरनाक है। भारत में ऐसा ही हुआ था। उपनिवेशी दलदल से उठकर नवउपनिवेशी खाई में गिर गया।

भारत की वर्तमान स्थिति बहुत ही गंभीर है। भूमण्डलीकरण, बाज़ारीकरण आदि के चंगुल में फँसा भारत का भविष्य संकट में है। भूमण्डलीकरण विकास तो लाया लेकिन प्रगति से ज़्यादा हानी ही हुई है। औद्योगिक और तकनीकी प्रगतियों में भारत आगे रहा है लेकिन बढ़ती हुई आर्थिक खाई देश के सामने विपत्ति बन कर खड़ी है। इस प्रगति की आड़ में मध्यवर्गीय और पिछड़ा हुआ समाज पीछे की ओर धकेल दिया जाता है। उनकी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आये हैं। वे पहले से उत्पीड़ित थे और आज भी हैं। बहुराष्ट्रीय नव उपनिवेशी शक्तियाँ उनकी मेहनत को चूसकर आर्थिक उन्नति प्राप्त कर रही हैं। अपनी मेहनत के अनुसार ज़िन्दगी गुज़ारने का अवसर भी उन्हें प्राप्त नहीं होता। वह मेहनत करता रहता है और कॉर्पोरेट हाँथ पर हाँथ धरे बैठकर उनके पैसे उड़ा ले जाते हैं।

समकालीन हिन्दी कविता ने भारत के इस बदले हुए बाज़ारीकृत रूप को बहुत ही समग्र रूप से चित्रित किया है। बाज़ारीकृत संस्कृति के बदले हुए रूप को चित्रित करते हुए कवि बाज़ारीकृत राजनीति में आम आदमी की दुर्दशा पर भी प्रकाश डालते हैं। शिक्षा, संस्कार, आस्था यहाँ तक कि मतदान का अधिकार भी बाज़ारीकरण की पकड़ में पड़ गया है। समकालीन कवियों ने पाठकों को इस बारे में सचेत करने की पूरी कोशिश की है। बाज़ारीकृत शक्तियों के साथ मिलकर देश को फिर से परावलंबन की ओर धकेलनी वाली राजनैतिक चालों से कविता ने जनता को आगाह किया है।

¹ कमल, अरुण . अपनी केवल धार . पृ. सं.- 56

स्थिति में बदलाव आना बहुत ज़रूरी है। विकास के खिलाफ़ कोई नहीं खड़ा हो सकता। प्रगति और विकास से जीवन के स्तर बदलते हैं। लेकिन यह विकास सब के लिए होना चाहिए न कि एक खास वर्ग के लिए। देश से मतलब पूरी जनता से है, न कि पूँजीपतियों से। विकास पूरे देश का हो तो अच्छा है लेकिन विकास के लिए किसी भी तरह की गुलामी को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

समकालीन कवि ने राजनीतिक उत्पीड़न को बृहत्तर परिवेश में देखा है। उसने राष्ट्रीय राजनीतिक उत्पीड़न और अन्तर्राष्ट्रीय दबाव दोनों को अनुभव किया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीवादी देशों द्वारा आत्मकेन्द्रित और घृणित राजनीति के माध्यम से छोटे और विकासशील देशों को दबाने की साज़िशों का समकालीन कवि ने पर्दाफाश किया है। ऐसे देशों, विशेषतः अमेरिका आदि के प्रति आज के कवि ने उग्र रुख अपनाया है। इस संदर्भ में दो-तीन उद्धरण प्रस्तुत हैं, पहला :

**“नक्शे में आँखें मत धँसाओ
सिर ऊपर उठाकर दुनिया को देखो
जहा-जहां गूँजती है उत्पीड़नों की चीख
जहां-जहां हँसता है तानाशाह
जहां-जहां लोग हैं बेहाल
जहां-जहां है भोपाल
वहां-वहां है अमेरिका”¹**

यहां कवि ने अन्तर्राष्ट्रीय दबाव और राजनीति को अनावृत्त करते हुये भी कहीं-कहीं उसे प्रतीकात्मक रूप में छुपाये रखा है, हालांकि यह उसकी कविता को सपाट बचानी से बचाने की कोशिश भी कही जा सकती है। परन्तु फिर भी उक्त कविता में कवि मानता है कि जहां कहीं भी किसी प्रकार का अत्याचार या अनियमितता हो रही है उसका कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीवादी देशों द्वारा चली जाने वाली चालें ही हैं। अपनी इस विचारधारा को जहां उसने उक्त प्रकार से कथित प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है वहीं उसने अपने इस विचार को पूरी तरह सपाट ढंग से भी प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ :

**“मैं अपनी मध्यम आँखें नक्शे में गड़ाकर
काँपती अँगुलियों से उसे दिखाता हूँ
यहां देखो बेटे**

¹ कश्यप, मदन . लेकिन उदास है पृथ्वी पृ. सं.- 108

यहां है अमेरिका”¹

समकालीन कवि के अनुसार, आम आदमी स्वयं को व्यवस्था के पिंजरे में कैद पाता है, जहां वह केवल चीख सकता है छटपटा सकता है, परन्तु कैद करने वालों पर झपट नहीं सकता। यह राजनीतिक तेवर ऐसे विषयों के संदर्भ में भी दिखायी देता है, जो आम तौर पर दूर से भी राजनीतिक नहीं कहे जा सकते। मिसाल के तौर पर मैं **नरेन्द्र जैन** की कविता **‘रेडियो’** का जिक्र करना चाहूँगा। रेडियो अब एक आम सी चीज़ है, जिसे एक अर्सा पहले तुर्की के महान कवि नाज़िम हिकमत ने **‘शब्दों को चिड़ियों की तरह आकाश में उन्मुक्त’** करने वाले यन्त्र के रूप में देखा था। **नरेन्द्र जैन** की पक्तियां हैं :

“मैंने/उसे खरीदा/और
एक झूठे मक्कार आदमी को /
घर में जगह दी /
लकड़ी की एक आबनूसी बनावट /
जैसे शरीक है किसी/षड्यन्त्र में /
करता है प्रलाप/लगातार /
खिलाता है अफीम/दोहराता एक झूठ /
बदल देता है एक महान सत्य में/वे/
खुश हैं/उनका आदमी/जगह-जगह पर है
और/बोल रहा है लगातार।”²

नरेन्द्र जैन की इस कविता को पढ़ते हुये हम पाते हैं कि ‘शब्दों को चिड़ियों की तरह आकाश में उन्मुक्त’ करने वाला यन्त्र हमारे समय में ‘आवाज़ की हिंसा’ और ‘विचारों की तानाशाही’ को स्थापित करने वाला उपकरण बन गया है। यहां इन पक्तियों में राजनीतिक उत्पीड़न की बनिस्बत राजनीतिक व्यवस्था से उपजी खीज अधिक हावी है जो कि एक प्रकार से उत्पीड़न का ही सहयोगी भाव माना जा सकता है। यह लगभग वैसा ही उत्पीड़न और खीझ का भाव है जैसा उदय प्रकाश की अनावृत और सपाट हो गया है कि यह तथ्य सत्य (चाहे यह सत्य कवि का अपना सत्य ही क्यों न हो) होते हुये भी अतिशयोक्तिपूर्ण लगते हैं और सीधे दोषारोपण के घरे में आ जाते हैं।

उपर्युक्त संदर्भ में समकालीन कविता पर बात करते हुये यह उल्लेख करना भी उचित होगा कि आज के कवियों का उक्त प्रकार के विषयों को उठाना विकासशील देशों द्वारा भोगे जा रहे उत्पीड़न को रेखांकित करना ही है। यहां यह भी गौरतलब है कि आज के कवियों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संदर्भों

¹ कश्यप, मदन . लेकिन उदास है पृथ्वी . पृ. सं.- 188/189

² नीलाभ . नयी कहानी, जुलाई 1988 . आज की कविता का माहौल . पृ. सं.- 188/189

की बनिस्बत राष्ट्रीय राजनीतिक संदर्भों की कविताओं में उत्पीड़न की तीव्रता और प्रभाव अधिक है। इसका कारण स्थितियों परिस्थितियों की समीपता (प्रॉक्सीमिटी) हो सकता है यानि राष्ट्रीय परिस्थितियां तो कवि को सीधे प्रभावित कर रही हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिया उस पर उतनी तीव्रता से प्रभाव नहीं डाल रहीं। राष्ट्रीय राजनीति की कुव्यवस्था द्वारा आम आदमी पर निरन्तर पड़ रहे दबाव और उत्पीड़न का लेखा-जोखा करते हुये आज का कवि तथ्यों के साथ सम्पूर्ण कविता निभाने में सफल रहा है। जैसे कि निम्नलिखित पक्तियों में समसामयिक परिस्थितियों से जूझता हुआ आज का कवि लिखता है :

**“मैं एक ऐसी व्यवस्था में जीता हूँ
जहां मुक्त जिन्दगी की संभावनायें
सफेद आतंक से भरी इमारतों के कोनों में
नन्हें खरगोशों की तरह दुबकी पड़ी हैं।”¹**

यह वक्तव्य उस व्यवस्था के प्रति है जिसमें कवि स्वयं जी रहा है, जिसे वह अनचाहे मन से ही सही परन्तु स्वीकार करने के लिये मजबूर है। यह एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें न आम आदमी चैन से जी सकता है और न ही उसके पास इसका कोई विकल्प है। रोजमर्रा की जिन्दगी में :

**“जो होता उसे झेलते हुये लोगों को
यह पता नहीं होता
क्या करें कि ऐसा न हो”²**

जहां उक्त प्रकार की संभावनाओं और स्थितियों को रेखांकित करके समकालीन कवि प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक उत्पीड़न को मुखरित करता है वहीं परोक्ष रूप से ऐसी अभिव्यक्ति भी मिलती है जो राजनीतिक उत्पीड़न को व्यजित करती है, जैसे :

**“मैं भटकता हूँ उसी कुटिल नगरी के तहखानों में
जहां आदमी के खिलाफ साजिशें होती हैं
जहां कोई गोली नहीं चलती
कोई बम नहीं फूटता
किन्तु जहां मुर्दा गाड़ियां हर रात आती हैं**

¹ विकल, कुमार . एक छोटी सी लड़ाई . पृ. सं.- 34

² कश्यप, मदन . लेकिन उदास है पृथ्वी . पृ. सं.- 48

जाहिर है, कुछ रहस्यमयी हत्यायें होती हैं।”¹

इस काव्यांश में 'हत्यायें' केवल हत्यायें नहीं है बल्कि 'रहस्यमयी हत्यायें' हैं यानि इन हत्याओं का सम्बन्ध शरीर से नहीं है बल्कि मन से है इच्छाओं, आकांक्षाओं, संभावनाओं अर्थात् एक प्रकार से सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। यह वह स्थिति है जहां व्यवस्था का दबाव आन्तरिक अथवा मानसिक उत्पीड़न में बदल जाता है। एक दृष्टि से आन्तरिक उत्पीड़न भी राजनीतिक उत्पीड़न का ही एक अंग या स्थिति कही जा सकती है और यह स्थिति आम आदमी के लिये सबसे घातक सिद्ध होती है। दैनंदिन विभिन्न स्थितियों परिस्थितियों में परवश होकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पीड़ित होता आम आदमी मानसिक दबाव के कारण तनावपूर्ण जीवन जीने के लिये विवश है। उसे ऐसे कार्यों और क्रियाओं में सम्मिलित होना पड़ता है जिनमें वह शामिल होना नहीं चाहता। निम्नलिखित काव्यांश ऐसी ही स्थिति को मुखरित करता है, जहां करने और न करने की दुविधा है :

“घूसखोर मुझे डरपोक कहते रहे
बेईमान मुझे निष्क्रिय बताते रहे”²

इसी प्रकार समकालीन कविता में इस तरह के भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें राजनीति और व्यवस्था से उपजा डर राजनीतिक उत्पीड़न का कारण बन जाता है, लगभग उसी तरह जैसे पिछले उद्घरण में खीझ बनी है। इस सम्बन्ध में ऋतुराज का उदाहरण दृष्टव्य है :

“सीखचों के कानून के डर से
चुप हैं। खूनलिसी आँखे
बहुतों ने आत्मसमर्पण कर दिया है
चुपचाप। अपने फटे मांस की खरोंचों से
खिंचे कुर्ते को अब सी लिया है।”³

यहां ध्यान देने योग्य पंक्ति है 'सीखचों के कानून के डर से' यानि न्यायपालिका, जो लोकतन्त्र में राजनीतिक व्यवस्था में सहयोगी है, का ऐसा आतंक है कि आदमी विभिन्न प्रकार के शोषण के उत्तर में जो कुछ कहना या करना चाहता है वह 'सीखचों के कानून के डर से' नहीं कह या कर पाता। क्योंकि

¹ कुमार, विकल . एक छोटी सी लड़ाई . पृ. सं.- 30

² प्रकाश, उदय . सुनो कारीगर . पृ. सं.- 70

³ ऋतुराज . 1982 . अबेकस . संभावना प्रकाशन, हापुड़ . पृ. सं.- 37

वह जानता है कि कानून भी प्रभुवर्ग का गुलाम है। इसी आशय को व्यक्त करता उक्त कवि का निम्नलिखित काव्यांश भी विचारणीय है :

**“बाजार के रंग में खड़ी लड़की को छेड़ता है
राजनीतिक शोहदा
वोट लेने की जबरदस्ती में
कर सकता है बलात्कार”¹**

यानि राजनीति का कवच पहनने के बाद कोई भी व्यक्ति अन्याय कर सकता है और अन्याय को अपने तरीके से रंगत देकर कानून की जद से बच सकता है। यह राजनीतिक उत्पीड़न की सबसे व्यक्तिगत हो जाता है। समकालीन कवि के अनुसार ऐसे हालात में आदमी जैसी कमज़ोर चीज़ के पास हतोत्साहित होने के अतिरिक्त चारा ही क्या है? अकेला आदमी किस-किस से लड़े और किस प्रकार लड़े। आदमी के भीतर दिन-ब-दिन बढ़ती सुरक्षित होने की भावना हमेशा उसे निर्णायक करव अपनाने से रोके रखती है। समकालीन कवि इस बात से सहमत है कि असुरक्षा के साथ-साथ आज परिवेश से उत्पन्न अनचीन्हा सा डर धीरे-धीरे मनुष्य के भीतर कहीं घर करता जाता है। असुरक्षा और डर के अचिन्हो भाव को आन्तरिक उत्पीड़न के संदर्भ में देखते हुये समकालीन कवि उदय प्रकाश और कुमार विकल का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें डर, असुरक्षा और संदेह का भाव छिपा है :

**“अगर ये आलू
जो झोले के अन्धेरे में हैं
रास्ते में कहीं
हरी मिर्च में बदल जायें
तो पत्नी क्या समझेगी?
कि जरूर मेने दोस्तों को चाय पिला दी है।”²**

यह काव्यांश कवि के संदेह और डर से भरे होने का प्रमाण तो है ही साथ ही उसकी स्वयं अपने प्रति अविश्वसनीयता को भी व्यक्त करता है। यह पंक्ति कि 'आलू अगर हरी मिर्च में बदल जाये' इसी भाव को व्यक्त करती है कि वह अनचीन्हे और अनजाने कारणों से स्वयं अपने पति शंकालु है और डरा हुआ अनुभव करता है। हालाँकि यह संदेह असुरक्षा और डर बेमानी लग सकता है, परन्तु वास्तव में यह बेमानी नहीं है। इस डर और असुरक्षा के कारणों को कुछ हद तक **कुमार विकल** की निम्नलिखित

¹ ऋतुराज . 1982 . अबेकस . संभावना प्रकाशन, हापुड़ . पृ. सं.- 37

² प्रकाश, उदय . अबूतर कबूतर . पृ. सं.- 42

पंक्तियाँ रेखांकित करती हैं। यह पंक्तियाँ समसामयिक जीवन में डर और असुरक्षा के होने की अनिवार्यता को भी रेखांकित करती हैं, चाहे यह स्वयं कवि द्वारा मानी गई अनिवार्यता ही हो :

**“चाटकर मुझे अहंकारी मानते रहे
पाखण्डी मेरी नैतिकता का मजाक उड़ाते रहे
अवसरवादी मेरी निष्ठा पर
सवाल उठाते रहे।”¹**

क्योंकि कवि प्रचलित व्यवस्था में फिट होने वाला पुर्जा नहीं बन पाया, वह ज़मीर को गिरवी नहीं रख सका, अन्दर के इन्सान को मारने का साहस न कर पाया और न ही ऐसी व्यवस्था को बदल सका। इसे कवि का आन्तरिक उत्पीड़न ही कहना चाहिये। वास्तव में यह ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें रम कर व्यक्ति अपनी दृष्टि में गिर जाता है और न रमने पर दूसरों के लिये हास्य का पात्र बन जाता है। समकालीन कविता में इस प्रकार के आन्तरिक उत्पीड़न की उस सीमा के भी कहीं-कहीं दर्शन हो जाते हैं, जहाँ कवि उक्त प्रकार की सभी स्थितियों के प्रति अनकही और निशब्द, जिसे मौन भी कहा जा सकता है, सहमति व्यक्त कर देता है और स्वयं भी अपने को ही दोषी मानता है। इसे शरीफ आदमी का गुण भी कहा जा सकता है, निस्संदेह जो आम आदमी है। इस दृष्टि से समकालीन युवा कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :

**“हम पहचान लिये जायेंगे
कि बहुत खोखले हैं
दुरंगे
सुनकर हम धैर्य खो लें तो खो लें
भगदड़ नहीं मचाते”²**

समकालीन कवि समसामयिक व्यवस्था को कुव्यवस्था मानता है और यह कुव्यवस्था सम्पूर्ण समूह पर हावी होने के बावजूद प्रत्येक आदमी इसका निजी रूप से दबाव अनुभव करता है। यहाँ यह स्थिति सांझी होने के बावजूद प्रत्येक आदमी की निजी किसम की स्थिति हो जाती है, यह उत्पीड़न चर्चा आगे बढ़ाने से पहले इसी संदर्भ में पुरोधा कवि **त्रिलोचन** की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखना भी समीचीन होगा :

¹ कश्यप, मदन . लेकिन उदास है पृथ्वी . पृ. सं.- 38

² कौंसवाल, प्रमोद . अपनी ही तरह का आदमी . पृ. सं.- 91

“चोट जभी लगती है
तभी हँस देता हूँ
देखने वालों की आखें
उस हालत में
देखा ही करती हैं
आँसू नहीं लाती हैं।”¹

‘देखते हो सपनों में क्या क्या’ पूछना और ‘चोट के जब ही लगने’ की पक्तियों ने उक्त दोनों कविताओं में एक प्रकार का सम्बन्ध पैदा कर दिया है। असल में उक्त दोनों ही कविताओं में विश्वास के संदर्भ में एक बहुत तीखा अनुभव है, जिससे आन्तरिक उत्पीड़न और मानसिक तनाव ने जन्म लिया है। यह वह परिवेश भी है जिसमें डर, असुरक्षा और अविश्वास जन्म लेते हैं। इन्हें एक आम आदमी द्वारा लगभग रोज़ ही मन पर महसूस किये जाने वाले बोझ की एक किसम के चित्र भी कहा जा सकता है। ऐसे और इस तरह के अनुभवों ने ही मनुष्य की सामूहिक लड़ाई को निजी लड़ाई भी बना दिया है। इस प्रकार हम पाते हैं कि मनुष्य की निजी लड़ाई और आन्तरिक उत्पीड़न भी समकालीन कविता में विषय के रूप में आये हैं।

समकालीन कविता में राजनीति का विशेष स्थान होने के कारण आज की कविता में राजनीतिक संघर्ष का भी विशेष महत्त्व है। वास्तव में आज की कविता का राजनीतिक संघर्ष व्यवस्था का विवेकपूर्ण ढंग से किया गया विरोध है। यहां यह बात दोहराने की आवश्यकता नहीं है कि यह संघर्ष किसी प्रकार की भी राजनीतिक पार्टी आदि से जुड़ा नहीं है। बल्कि आज के कवि के इस संघर्ष को राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था, जिसे आज की कविता अव्यवस्था भी कहती है, से त्रस्त आम आदमी के पक्ष में कवि द्वारा की गई कार्यवाही के रूप में देखना चाहिये। समकालीन कवि की राजनीतिक संघर्ष सम्बन्धी कविताओं में व्यवस्था के विरोध के साथ आम आदमी के मनोबल को उठाने की कोशिश भी मिलती है :

“भेड़िए
हमेशा हमें उस कहानी तक पहुँचाते हैं
जिसे
वसंत से पहले
कभी न कभी तो शुरू होना ही होता है।”²

¹ त्रिलोचन . प्रतिनिधि कवितायें . पृ. सं.- 21

² गोपाल, वेणु . हवाएं चुप नहीं रहतीं . पृ. सं.- 17

यहां कवि संघर्ष और क्रान्ति के बाद के सुखद परिवर्तन का हवाला देते हुये राजनीतिक कुव्यवस्था की प्रक्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप लगभग निर्णायक सी टिप्पणी दे रहा है कि वसंत (सुखद परिवर्तन) तभी होगा जब कहानी (क्रान्ति और संघर्ष) शुरू होगी। राजनीतिक संघर्ष के संदर्भ में समकालीन कविता के बारे में यह बात भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि समकालीन कवि राजनीतिक संघर्ष की बात करते हुये इस विषय में किस प्रकार से भावुक या एकपक्षीय, जिसे विवेकहीन पक्षधरता कहा जा सके, नहीं हुआ है बल्कि इस संदर्भ में भी वह संतुलित और व्यवहारिक दृष्टि लेकर चला है। वह सामाजिक या परिवारिक सम्बन्धों की भावुकता में नहीं बहा है बल्कि उसने भावुक सम्बन्धों को सम्मिलित करके ऐसे बिम्बों की रचना की है कि ऐसी रचनाओं में भावुक सम्बन्ध भी व्यवहारिक हो गये लगते हैं। इस संदर्भ में उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित काव्यांश देखा जा सकता है :

**“माँए अब नहीं रोतीं
ओर पिताओं को बाजू में
खंदकों के नक्शे बने हैं
आज रात जहां रसद पहुँचायी जानी है।”¹**

यह प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय की कविता 'नक्सलबाड़ी' का काव्यांश है और यहां एक ऐसी लामबन्दी है जिसमें व्यक्ति को कमज़ोर बनाने वाले भावुकतापूर्ण सम्बन्ध व्यवहारिक होकर उसे शक्ति दे रहे हैं। यहां गाना जा सकता है कि दबाव और तनाव भरे जीवन से, राजनीति और व्यवस्था के दमन से छुटकारा पाने के लिये मां-बाप तक भी जवान बेटे को मानसिक शक्ति देने यानि मनोबल बढ़ाने में सहयोग दे रहे हैं। संस्कारों और विचारों की रसद उसके दिमाग की गहराइयों में पहुँचाकर उस भूमि को तैयार कर रहे हैं जिस पर बेहतर कल का निर्माण होना है। जिस प्रकार एक सच्चे संघर्ष से सुखद परिवर्तन की अपेक्षा की जाती है उसी तरह उक्त प्रकार का भावुकता रहित यथार्थवादी लेखन भी नयी सामाजिकता और नवमनुष्यता के निर्माण की आस जगाता है। इस सम्बन्ध में एक आलोचक टिप्पणी करते हुये लिखते भी हैं कि, **"हमारा यथार्थवादी लेखन सिर्फ राजनीतिक या सामाजिक आलोचना नहीं है, व्यंग्य की तीस्वी और दबंग मार नहीं है, क्रूर और संहारधर्मी शब्द हिंसा नहीं है, यह उन मूल्यों की प्रस्तावना भी है जिसमें नयी सामाजिकता और नवमनुष्यता का निर्माण होना है।"**²

राजनीतिक संघर्ष के हवाले से समकालीन कविता पर विचार करते हुये यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि समकालीन कविता में राजनीतिक संघर्ष कविता की बुनावट के साथ बहुत घुल मिलकर आया है। इस सम्बन्ध में नागार्जुन, कुमार विकल, वेणु गोपाल, उदय प्रकाश और संजय चतुर्वेदी आदि

¹ वन्दोपाध्याय, प्रणव कुमार . नक्सलबाड़ी . पृ. सं.- 25

² सिंह, विजय बहादुर . 1984 . जनकवि . राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली . पृ. सं.- 10

की कवितायें देखी जा सकती हैं। स्पष्ट प्रमाण स्वरूप **कुमार विकल** की कविता का अधोलिखित काव्यांश भी दृष्टव्य है :

**“अकेला आदमी जब
एक तन्त्र के खिलाफ लड़ता है
तो अपने सारे हथियारों के बावजूद
एक काले पहाड़ से
निहत्थी लड़ाई ही करता है
और अन्त में एक दिन
अपने ही लहलुहान चेहरे से डरता है।”¹**

अब यहां देखिये कवि ने एक तन्त्र के खिलाफ आदमी के संघर्ष को कितने उचित ढंग से व्यक्त किया है। संघर्ष को गंभीरता से व्यक्त भी कर दिया है और इसे सतही होने से बचाते हुये व्याख्या की संभावनायें भी बरकरार रखी हैं। उक्त काव्यांश के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यवस्था के प्रति संघर्ष में 'लहलुहान' होने का डर तभी जन्म ले सकता है जब आदमी अकेला हो। यदि लड़ाई निजी नहीं है, हित सामूहिक है तो संघर्ष भी सामूहिक ही होगा, और तब यह संघर्ष केवल संघर्ष नहीं बल्कि व्यवस्था के खिलाफ युद्ध अथवा क्रान्ति में बदल जायेगा। यानि आज का कवि व्यवस्था परिवर्तन के लिये हुये संघर्ष को भी युद्ध ही मानता है, जैसा कि इन पक्तियों से भी स्पष्ट है :

**“युद्ध सिर्फ दो भूगोल
या दो देशों के बीच ही नहीं होता
सरहदें
हवेली की दिवारों के सामने
या राजमार्गों पर
या झण्डा फहराने के चबूतरे के ऊपर भी होती है”²**

यहां भी कवि ने राजनीतिक संघर्ष को कविता की बुनावट के साथ मिलाकर प्रस्तुत किया है और स्पष्ट रूप से सामाजिक और प्रशासनिक परिवर्तन की बात की है। इस प्रकार की कविताओं ने प्रत्यक्ष रूप से आम आदमी को संघर्ष के लिये प्रेरित किया है और संघर्ष किनके विरुद्ध करना है यह भी

¹ विकल, कुमार . एक छोटी सी लड़ाई . पृ. सं.- 26

² वंदोपाध्याय, प्रणव कुमार . नक्सलबाड़ी . पृ. सं.- 39

स्पष्ट कर दिया है। राजनीतिक संघर्ष की बात करता हुआ आज का कवि व्यवस्था और प्रशासन के बदलाव और सुधार की बात करता है। राजनीतिक संघर्ष को विषय बनाते हुये भी आज का कवि विवेकपूर्ण और व्यवहारिक रहा है, यानि उसने अपनी कविता को किसी पार्टी का नारा होने से बचाया है। समकालीन कविता पर राजनीतिक संघर्ष आरोपित नहीं लगता, यह कविता की बुनावट के साथ इतना पुल मिल कर सामने आया है कि वह आज की कविता का महत्वपूर्ण गुण माना जा सकता है।

चूल्हे में
लकड़ी की तरह अब मैं जल रहा हूँ
बिना यह जाने कि जो हांडी चढ़ी है
उसकी खुदबुद झूठी है
या उससे किसी का पेट भरेगा'¹

'चूल्हे में लकड़ी की तरह जलना' वास्तव में अपने परिवेश में रहते हुये विद्रोही तेवर अपनाना ही है और निस्संदेह यह विद्रोह राजनीति और व्यवस्था के प्रति है। यहां एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि समकालीन कवि ने राजनीति और व्यवस्था का विरोध करते हुये स्थूल रूप से सत्ता परिवर्तन की बात नहीं की है बल्कि राजनीति और राजनेताओं के संस्कार परिवर्तन की बात की है। सतही दृष्टि से देखने पर यह प्रतिक्रिया कवि का भ्रम मात्र लग सकता है, अतिशयोक्ति लग सकती है, परन्तु जरा गहराई से जांच करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रतिक्रिया में न कवि का भ्रम है और न ही अतिशयोक्ति बल्कि यह कवि का सम्पूर्ण आशावादी दृष्टिकोण है। यहां कवि चाहता है कि 'आज' के खिलाफ मुठियां तनें, आशावादी दृष्टिकोण है कि मुठियां तनेंगी और सम्पूर्ण आशावादी दृष्टिकोण है कि मुठियां तन गई हैं। इस संदर्भ में हम वेणु गोपाल की कविता 'काले भेड़िये के खिलाफ' का भी जिक्र करना चाहेंगे जहां राजनीति और व्यवस्था के प्रति कवि की प्रतिक्रियायें निर्णायक टिप्पणियों का रूप ले गई हैं।

लगभग प्रत्येक समकालीन कवि का अपने स्तर पर आन्तरिक संघर्ष से सामना हुआ है। यह आन्तरिक संघर्ष चाहे बाहरी संघर्ष में शामिल होने का ही क्यों न हो। आज कविता में आन्तरिक संघर्ष से जूझता हुआ समकालीन कवि बाहरी संघर्ष में शामिल होने का अपनी तरह से रास्ता ढूँढता है, जैसा कि एक युवतम कवि की निम्नलिखित पक्तियां भी स्पष्ट करती हैं :

“अगर हथियार उठाता हूँ
शायद इसे कहा जाये छलावा

¹ प्रेमशंकर . 1988 . नई कविता की भूमिका . नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली . पृ. सं.-म 55

साथ चलूँ तो समझेंगे धोखा
हाथ उठाने से तो
कम से कम
मुझे कोई रोक नहीं सकता”¹

इसे आन्तरिक संघर्ष के बाद बाहरी संघर्ष की ओर बढ़ने की सम्पूर्ण प्रक्रिया माना जा सकता है। यानि यहां यह कवि द्वारा सोच विचार कर तलाश किया गया रास्ता है। यहीं एक बात यह भी गौर करने लायक है कि जिन कविताओं में समकालीन कवि ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आन्तरिक संघर्ष की बात की है वह कवितायें राजनीतिक संघर्ष सम्बन्धी कविताओं की बनिस्बत अधिक गम्भीर हो गई हैं। हालांकि इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिक संघर्ष सम्बन्धी आज की कविता में गंभीरता या संजीदगी नहीं है, निस्संदेह अधिकतर में है परन्तु कुछ कविताओं में कहीं-कहीं नारेबाजी और चलताऊ मैनरिज्म का एहसास भी हो जाता है। आन्तरिक संघर्ष सम्बन्धी आज की कविताओं में गंभीरता और साथ ही साथ कवि की दृष्टि की स्पष्टता को रेखांकित करने के लिये हम एक काव्यांश प्रस्तुत करते हैं :

“समय है कि तुम
इन कमरों से बाहर आ जाओ
और अपने नये खरीदे जूतों को
दलदल में छोड़कर
उस रेगिस्तान को लौट जाओ
जहाँ तुम्हारे साथी
पानी की मशकों के इंतज़ार में हैं।”²

¹ कौसवाल, प्रमोद . अपनी ही तरह का आदमी . पृ. सं.- 92

² विकल, कुमार . एक छोटी सी लड़ाई . पृ. सं.- 41

6. समकालीन हिंदी कविता : सामाजिक परिदृश्य

भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था को संसार की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकृत करना है। वस्तुओं, सेवाओं, व्यक्तियों और सूचनाओं का राष्ट्रीय सीमाओं के आरपार स्वतंत्र रूप से संचरण ही वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण कहलाता है। भूमंडलीकरण के कारण मनुष्य की जीवन पद्धति, गुणवत्ता, रहन-सहन एवं जीवन स्तर पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विश्व व्यापार संगठन के द्वारा प्रतियोगिता बाजार को बढ़ावा मिला है। इसके साथ ही रोजगार के अवसरों में कमी आई है। औद्योगीकरण के द्वारा आधुनिक मशीनों का स्वचलित उपयोग एवं सूचना प्रौद्योगिकी विस्तार के तीव्रगामी होने कारण मानवीय शक्ति श्रम की गुणवत्ता में कमी आई है। भूमंडलीकरण ने रोजगार को सर्वाधिक प्रभावित किया है। क्योंकि, श्रमिकों को जहाँ पर अच्छा रोजगार मिलता है, वहीं पर काम करने चले जाते हैं।

1. लघु उद्योगों की समस्या - भूमंडलीकरण के द्वारा लघु एवं कुटीर उद्योगों की समस्या उत्पन्न हुई है। आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी के कारण मानवीय श्रमशक्ति को काफी राहत मिली है। जिससे लघु उद्योगों का हास हुआ है। प्राथमिक व्यवसाय द्वितीयक व्यवसाय एवं परम्परागत व्यवसाय को काफी नुकसान हुआ है। भूमंडलीकरण के कारण अब लघु एवं कुटीर उद्योगों के स्थान को स्वचलित मशीनों ने ले लिया है। हमारे बहुत से लघु उद्योग एवं कुटीर उद्योगों के बंद होने से लाखों लोग बेरोजगार हो गए हैं। हमारा बहुत सा पैसा विदेशी कंपनियों के भारी मुनाफे के रूप में बाहर चला जाता है।

2. रोजगार की अनिश्चितता - रोजगार की अनिश्चितता भूमंडलीकरण की सबसे बड़ी समस्या है। रोजगार का प्रत्येक मानवीय श्रमिकों के जीवन स्तर पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। विश्व व्यापार संगठन एवं तीव्र प्रौद्योगिकीकरण के द्वारा प्रतियोगिता बाजार को बढ़ावा मिला इसके साथ ही रोजगार हेतु लचीलापन पसंद किया जाने लगा। औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप रोजगार तो मिलता है परन्तु जब उद्योगों को घाटे का सामना करना पड़ता है तो वह ऐसी स्थिति में अपने कारखाने से श्रमिकों को निकालने लगता है। क्योंकि इससे उद्योग को उत्पादन लागत कम प्राप्त होती है। भूमंडलीकरण एक स्वतंत्र व्यापार अर्थतंत्र व्यवस्था है जिसमें श्रमिक अधिक लाभ प्राप्ति के लिए स्थानान्तरण करता है। जिससे रोजगार के अवसरों में अनिश्चितता को बढ़ावा मिला है।

3. कृषि पर प्रभाव - भूमंडलीकरण का कृषि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। भारत में 90 प्रतिशत कृषक छोटे एवं सीमान्त कृषि के अंतर्गत आते हैं। कृषकों के पास सीमित पूँजी एवं आय कम आदि होने के कारण यह कृषक कृषि आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं को कम मात्रा में उपयोग कर पाते हैं। हरित क्रांति के परिणामस्वरूप जिन कृषकों के पास पूँजी थी, उन कृषकों को सबसे अधिक लाभ मिला। लेकिन सीमान्त

कृषकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। भूमंडलीकरण के कारण कृषि उत्पादकता पर भी काफी विपरीत प्रभाव पड़ा है। जैविक खादों का मंहगा होना, कीटनाशक दवाईयों का मंहगा होना, कृषि शोध में बाधा, जैविक विविधता में बाधा आदि के कारण कृषि की उत्पादकता एवं कृषि पद्धति काफी प्रभावित हुई है।

21 वीं सदी का समाज पुराने मूल्यों, परम्पराओं तथा विचारों से मुक्त होकर परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ रहा है। लेकिन कुछेक ऐसे भी तत्व हैं, जिनसे भारतीय समाज आज भी प्रभावित है। मुख्य रूप से देखा जाए तो जातिवाद, साम्प्रदायिकता, पितृसत्तात्मक सोच तथा दलित, आदिवासी, स्त्री, अल्पसंख्यक, थर्ड जेंडर आदि के प्रति संकीर्ण मनोभावनाएं सामाजिक संरचना को प्रभावित कर रही हैं। इसीलिए इन तमाम चीजों एवं चुनौतियों से उभरना समकालीन समय की मांग एवं आवश्यकता हैं। सामाजिक व्यवस्था को सदियों से चली आ रही इन कुरीतियों, समस्याओं तथा विषमताओं से मुक्त कर एक नवीन समाज का निर्माण करना प्रत्येक नागरिक का दायित्व है। इसी पहल को वर्तमान साहित्य में देखा जा सकता है। जिसमें समकालीन रचनाकार अपने लेखन के माध्यम से समाज की प्रत्येक गति एवं दशा और दिशा को चित्रित करने में अपनी भूमिका निभाता है।

सामाजिक यथार्थ समाज की सच्चाई से जुड़ा होता है। जिसमें वर्तमान समाज की गतिविधियों, विसंगतियों, विद्रूपताओं और विषमताओं आदि का चित्रण किया जाता है। वर्तमान समय में भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हुए हैं। बदलते हुए समाज के परिदृश्य को समकालीन हिंदी कविता में चित्रित करने का बखूबी प्रयास किया गया है। दरअसल समकालीन हिंदी कविता सकारात्मक मानवीय मूल्यों को समग्रता में आत्मसात कर चलती है। समाज को तोड़ने वाली हिंसात्मक प्रवृत्ति तथा विकास की दिशा को रोकने वाली साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध यह कविता चुनौती देती है। समकालीन कविता की मूल शक्ति है- मानवीय संवेदना, करुणा, अहिंसा, मानवाधिकार और लोकतांत्रिक मूल्य और मुख्य सरोकार है- सामाजिक परिवर्तन। वह परिवर्तन जो जनता के हित में हो। आम आदमी की संवेदना और उसके जीवन से जुड़ी विभिन्न समस्याओं को समकालीन कविता के अंतर्गत जगह मिली है। इसी सिलसिले में समकालीन हिंदी कविता भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित जातिवाद को उजागर करने में सक्षम है। दरअसल भारतीय समाज में जातिवाद प्राचीनकाल से चली आ रही एक भयंकर कुरीति है। जिसका मूलाधार वर्ण व्यवस्था है। वर्तमान समय में हमारे समाज का दुर्भाग्य यह है कि आज भी इस व्यवस्था की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। जातिवाद के प्रभाव से आज प्रत्येक समाज की जाति में उपजातीय संगठनों का विकास हो रहा है। अपने समुदाय या जाति के लोगों के साथ आदर-सम्मान रखने एवं अन्य जातियों के सन्दर्भ में इससे भिन्न व्यवहार करना जाति या जातिवाद का मुख्य लक्षण है। इस सन्दर्भ में डॉ. दोड्डा शेषु

बाबु का मत उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं : "भारतीय समाज व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है, जहां हर एक जाति अपनी निचली जाति से भेदभाव दिखाना अपना अधिकार समझती है।"¹

बात की जाए भारतीय आदिवासी समाज की तो मुख्य रूप से इनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति चिंताजनक है। साथ ही यह समाज कानूनी तौर पर भी वंचित हैं। भारतीय समाज का यथार्थ यह है कि एक तरफ दलित समाज सदियों से जातिवाद, अस्पृश्यता और भेदभाव का दंश सह रहा है तथा अपनी अस्मिता, आत्मसम्मान व अधिकारों के लिए लगातार संघर्ष कर रहा है। दूसरी तरफ अन्नदाता कहा जाने वाला किसान भी अनेक समस्याओं और संकट से जूझ रहा है। समकालीन समय में दलित समाज पर दृष्टि डालें तो यह मालूम होता है कि लगातार इनके अधिकारों का हनन किया जा रहा है और इन्हें मौलिक अधिकारों से वंचित रखने का प्रयास भी किया जा रहा है। देश के कोने-कोने में घटने वाली अमानवीय घटनाएं इसका प्रमाण हैं। वर्तमान समय में जातिवाद को समाप्त करने के लिए कई सारे आन्दोलन हो रहे हैं। जिनमें मुख्य रूप से वामपंथी और अम्बेडकरवादी आन्दोलन हैं। जिनका मुख्य लक्ष्य है- भारतीय समाज से जातिवाद को मिटाकर समतावादी समाज की स्थापना करना। ऐसे आंदोलनों और प्रगतिशील विचारधारों के प्रभाव से दलित, वंचित व हाशिए के समाज में जागरूकता आ रही है। समकालीन हिंदी कविता में ऐसी व्यवस्था के प्रति तीखे स्वर स्पष्ट रूप से दिखाई देने के साथ-साथ तीखे सवाल भी दिखाई देते हैं। इस सन्दर्भ में प्रमुख दलित कवि 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' अपनी कविता में कहते हैं :

"एक रोज मैंने भी / जुटायी हिम्मत

और पूछ लिया उससे / वही सवाल

देखा उसने मेरी ओर / मैं जन्म हूँ ब्रह्मा के मुख से

इसलिए श्रेष्ठ हूँ / ताज्जुब है!

मनुष्य का जन्म तो होता है / सिर्फ माँ के गर्भ से

फिर आप कैसे पैदा हो गए / ब्रह्मा के मुख से?"²

¹ शेषु बाबु, दोड्डा . अंक-जुलाई-सितम्बर-2020 . 'हिंदी दलित आत्मकथाओं में चित्रित उत्पीड़न की समस्या: प्राथमिक शिक्षा के सन्दर्भ में' शोध संचार बुलेटिन . पृ.सं. 225

² वाल्मीकि, ओमप्रकाश . प्रथम संस्करण 2009 . अब और नहीं . राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली . पृ.सं.- 69

समकालीन हिंदी कविता का सामाजिक परिदृश्य व्यापक और विविधतापूर्ण है। यह परिदृश्य हमारे समय की राजनीतिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता है। समकालीन कवि अपनी कविताओं के माध्यम से समाज के विभिन्न पहलुओं, जैसे कि गरीबी, जातिवाद, लैंगिक भेदभाव, शहरीकरण, और वैश्वीकरण के प्रभावों को उजागर करते हैं।

सामाजिक न्याय और असमानता: समकालीन हिंदी कविता में सामाजिक असमानता, जातिवाद, और सामाजिक न्याय जैसे मुद्दे प्रमुख रूप से उठाए जाते हैं। कविताएँ समाज में व्याप्त अन्याय, शोषण और वंचित वर्गों की स्थिति को चित्रित करती हैं।

स्त्रीवाद: समकालीन कविताओं में स्त्रीवादी दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण है। महिलाओं की स्थिति, उनकी स्वतंत्रता, और लैंगिक भेदभाव के खिलाफ आवाज उठाना इस दौर की कविताओं में प्रमुख रूप से देखने को मिलता है।

शहरीकरण और आधुनिकता: शहरीकरण और आधुनिक जीवन की समस्याएँ भी समकालीन कवियों के लिए महत्वपूर्ण विषय हैं। इन कविताओं में महानगरीय जीवन की जटिलताएँ, अकेलापन, और मानसिक तनाव को प्रकट किया गया है।

वैश्वीकरण और पहचान: वैश्वीकरण के प्रभाव और सांस्कृतिक पहचान की खोज भी समकालीन कविता के महत्वपूर्ण विषय हैं। यह कविताएँ वैश्विक आर्थिक व्यवस्था के प्रभावों और भारतीय समाज में हो रहे बदलावों को चित्रित करती हैं।

प्राकृतिक पर्यावरण और पारिस्थितिकी: पर्यावरणीय संकट और प्रकृति के प्रति मानव के बदलते रवैये को भी समकालीन कविता में स्थान मिला है। इन कविताओं में प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता और पर्यावरण संरक्षण का संदेश दिया जाता है। समकालीन हिंदी कविता की भाषा सरल, सजीव और प्रभावी होती है। यह आम बोलचाल की भाषा के करीब होती है, जिससे पाठकों को कविताओं से जुड़ाव महसूस होता है। शैली में विविधता है, जिसमें प्रतीकात्मकता, बिंबधर्मिता, और सहज अभिव्यक्ति की प्रमुखता देखी जा सकती है। समकालीन कवियों ने समाज की जटिलताओं को अपनी कविताओं में उकेरा है। अनामिका, मंगलेश डबराल, वीरेन डंगवाल, अरुण कमल, और ऋतुराज जैसे कवि इस दौर के प्रमुख प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने समाज की नब्ज को अपनी कविताओं में महसूस कराया है। समग्र रूप से, समकालीन हिंदी कविता समाज के विविध पक्षों को उजागर करती है और सामाजिक चेतना को जागृत करने का प्रयास करती है। यह कविताएँ न केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि सामाजिक बदलाव के लिए एक महत्वपूर्ण साधन भी हैं।

6.1. स्त्रियों पर प्रभाव

सामान्यतः नब्बे के दशक से अभी तक के समय को कविता का समकाल कहा जा सकता है। यह दौर भूमंडलीकरण का दौर है। इस भूमंडलीकृत समय में मनुष्य के सामने संभावनाओं का द्वार है, तो कई चुनौतियाँ भी हैं। आधी आबादी अर्थात् स्त्री की स्थिति भी इस समय काफी बदली है। अब हम परंपरागत दृष्टि और मूल्यों से स्त्री का आकलन नहीं कर सकते। इस बदले हुए समय में स्त्री की परिस्थितियाँ बदली हैं। साहित्य अपने समय का संवेदनात्मक इतिहास होता है। समकालीन कविता स्त्री के स्वप्न और संघर्ष को बड़े ही विस्तार से चित्रित करती है। मोटे तौर पर समकालीन हिंदी कविता का समय बीसवीं सदी के नौवें दशक से माना जाता है। इस समय पहचान आधारित अस्मिताएँ स्त्री, दलित, आदिवासी भी मुखर होती हैं। स्वाधीनता मनुष्य की स्वाभाविक आकांक्षा है। स्त्री की स्वाधीनता का एक क्षेत्र साहित्य भी है। उसमें वह आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से अपनी अस्मिता की पहचान करती है और स्वतंत्रता की व्यंजना भी करती है। स्त्री-लेखन आज की कविता का एक मुख्य स्वर है। इस कविता में स्त्री होने की विडंबना के बीच-बीच स्वाभिमान और स्वाधीनता की महता को समझने और अर्जित करने का संघर्षपूर्ण स्वप्न भी मौजूद है। स्त्री-लेखन अपनी मूल स्थापना और अंतिम लक्ष्य में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की शिनाख्त कर साहित्य और समाजशास्त्र दोनों जगह स्थान बनाता है। यह **“पारंपरिक ‘माइंड सेट’ से लड़ने की कोशिश में परंपरा और माइंड सेट दोनों की ताकत को एक ठोस सामाजिक-मानसिक सच्चाई और चुनौती के रूप में सतह पर लाता है।”¹**

समकालीन हिंदी कविता में स्त्री-लेखन का स्वर काफी मजबूती से उभरा है। स्त्री-रचनाकारों ने अपनी पीड़ा, अनुभव और आकांक्षा को बखुबी उकेरा है। स्त्री लेखन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए महादेवी वर्मा कहती हैं कि **“पुरुष के लिए नारी अनुमान है, परन्तु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सकें।”²** समकालीन कविता में एक तरफ स्त्रियाँ अपने लेखन से अपने को अभिव्यक्त कर रही थीं, वहीं दूसरी ओर पुरुष रचनाकार भी स्त्री-जीवन को काफी संवेदनशीलता से अपनी कविताओं में चित्रित कर रहे हैं।

¹ अग्रवाल, रोहिणी . संस्करण 2011 . स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प . राजकमल प्रकाशन, दिल्ली . पृ. सं.- 5/6

² वर्मा, महादेवी . संस्करण 2010 . श्रृंखला की कड़ियाँ . लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद . पृ. सं.-63

आज की कविता स्त्री होने की यातना या त्रासदी को स्वर देती है। अनामिका की एक कविता है :

“पढ़ा गया है हमको
जैसा पढ़ा जाता है कागज
बच्चों की फटी कॉपियों का
चनाजोरगरम के लिफाफे बनाने के पहले
सुना गया हमको
यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फिल्मी गाने
सस्ते कैसेटों पर
ठसाठस्स ठूसी हुई बस में।”¹

स्त्री-मुक्ति इस दौर में लिखी जा रही कविताओं का प्रमुख स्वर है। गुलामी की अनुभूतियाँ सघन होकर मुक्ति की जरूरत बनती है और विशिष्ट दृष्टिकोण से संपन्न होकर यह जरूरत मुक्ति के रास्ते तलाशती हैं। कविता स्त्री-मुक्ति की इस प्रक्रिया का प्रवेश द्वार बनती है। निर्मला पुतुल ने लिखा है :

“मैं कविता नहीं
शब्दों में खुद को रचती देखती हूँ
अपनी काया से
बाहर खड़ी होकर अपना होना।”¹

¹ अनामिका . संस्करण 2009 . खुरदुरी हथेलियाँ . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली . पृ. सं.- 13

साहित्य और राजनीति की दुनिया में दलित-विमर्श के बाद दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा है स्त्री विमर्श। 'सीमोन द बोउबार' ने अपनी अमर कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' लिखकर स्त्री-पराधीनता की दुनिया में मानो तूफान पैदा कर दिया। आज भी स्त्री की मुक्ति को वकालत करने वाली इससे बड़ी कोई कृति नहीं है। इस पुस्तक में बोउबार ने स्त्री की उत्पत्ति और उसके निर्माण एवं विकास का जैसा सिलसिलेवार, तर्कपूर्ण और तथ्यात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह क्रान्तिकारी है। इसमें यह सिद्ध किया गया है कि एक स्त्री जन्मना स्त्री नहीं होती, बल्कि उसे स्त्री बनाया जाता है। उसके निर्माण की सुनिश्चित प्रक्रिया है जिसमें उसके स्त्री बनने की ट्रेनिंग दी जाती है। इस निर्माण में पूरी मानव-संस्कृति लगी हुई है। विचार करके देखें तो बोउबार के इस निष्कर्ष में शत-प्रतिशत सच्चाई है, क्योंकि जन्मतः एक स्त्री भी और बच्चों के समान सिर्फ अबोध सन्तान ही है। ध्यान दें तो पता चलेगा कि पैदा होने के बाद स्त्री और पुरुष की परवरिश का तरीका अलग-अलग होता है। पहले तो यही कि अप्रत्यक्ष रूप से उसको लिंग भेद का एहसास दिलाना। तुम लड़की हो, कम बोलो, अकेले बाहर मत जाओ, दो बातें सहकर शान्त रहो, तुम्हें पराए घर जाना है, दूसरे की दौलत हो इत्यादि।

बचपन से ही स्त्री को लिंग भेद के आधार पर अलग कर देना और कर्म-व्यवहार, विचार और प्रवृत्ति के क्षेत्र में अपने पसंदीदा नियमों एवं मर्यादाओं का पहरा बिठा देना स्त्री के मात्र स्त्री रह जाने का प्रमुख कारण है। 'वर्जीनिया वुल्फ' का नाम इस क्षेत्र में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इन्होंने अपनी मशहूर पुस्तक 'ए रूम ऑफ वंस ओन' में अपने स्वतन्त्र और वर्जना विरोधी मन का निर्भीक वर्णन किया है। यहाँ वे मुक्ति के उस स्तर को छूना चाहती हैं जहाँ स्त्री का शरीर, उसका मन, मस्तिष्क और आत्मा सिर्फ उसको हो। अपने ऊपर सर्वाधिक अपना अधिकार हो। वे लिखती हैं "अगर मर्दों द्वारा लिखे गए कथा-साहित्य के अतिरिक्त औरतों का कहीं और अस्तित्व न होता तो उनकी कल्पना अत्यन्त महत्वपूर्ण प्राणी के रूप में को जातो, अत्यन्त विवाधतापूर्ण, बहादुर और अधम, अद्भुत और धिनौनी, अनंत रुपवती और चरम विकराल।"²

दर्शन को दुनिया में अनेक पुरुष विचारकों ने स्त्री के पक्ष में बड़ा काम किया है। इस कसौटी पर 'जान स्टुअर्ट मिल' का नाम बेहद महत्वपूर्ण है। इन्होंने 'द सब्जेक्शन ऑफ विमेन' नामक कृति में स्त्री की गुलामी से जुड़े तमाम प्रश्नों का बड़ी सहानुभूति और कर्तव्यनिष्ठा के साथ उत्तर दिया है। मूलतः इस पुस्तक में मिल ने स्त्री की मूल प्रकृति उसकी मानसिक उर्जा और मानव सभ्यता के प्रति उसकी भूमिका को विस्तार पूर्वक रेखांकित किया है। वस्तुतः स्त्री की पराधीनता का प्रश्न सिर्फ स्त्री का नहीं है, बल्कि वह शेष मानव

¹ पुतुल, निर्मला . संस्करण 2004 अपने घर की तलाश में . सथाली से अनुवाद : अशोक सिंह, प्रकाशन :रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली . पृ. सं.- 4/5

² वर्जीनिया, वुल्फ . 2002 . अपना कमरा (अनुवादक- गोपाल प्रधान) . पृ. सं.- 52

समाज का भो प्रश्न है, क्योंकि स्त्री वह अस्तित्व है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों को जन्म देने और धारण करने की क्षमता है। यदि स्त्री तमाम तरह की गुलामी के बीच जो रही है तो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उसको सन्तानों का विकास उनको इस दशा से प्रभावित होता है। कोई पददलित स्त्री किसी साहसी, वीर और न्यायप्रिय बालक को जन्म दे दे, यह कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु अधिकांश बच्चे जो शिक्षक और गुरु के रूप में अपने माँ-बाप को पाते हैं उनका निर्माण एक पराधीन मर्मी के संरक्षण में कैसा रहेगा? 'स्टुअर्ट मिल' निष्कर्ष देते हैं :

"पुरुष अपनी स्त्रियों को एक बाध्य गुलाम की तरह नहीं, बल्कि एक इच्छुक गुलाम की तरह रखना चाहते हैं। सिर्फ गुलाम नहीं, बल्कि पसंदीदा गुलाम इसलिए उनके मस्तिष्कों को बंदी बनाए रखने के लिए उन्होंने सारे संभव रास्ते अपनाए हैं।"¹

इस कथन का थोड़ा सुधार करके कहा जाय तो यह इच्छित गुलामी जो स्वेच्छा से स्त्रियों द्वारा अपनायी गयी है पुरुष के शारीरिक और बौद्धिक भय एवं उनके असीमित अधिकारों के दबाव का परिणाम है। स्वेच्छा से स्त्री तो क्या मामूली जीव और जानवर भी गुलाम बनने से इंकार कर देते हैं। चूंकि स्त्री को गुलामी शारीरिक से कहीं ज्यादा मानसिक होती है इसलिए ऊपर से दिखाई कम पड़ती है। बाहर से हँसतो-बोलती, अपने वजूद का दावा करती और पुरुष के 'समानान्तर खड़ी होती हुई यह स्त्री कब अपनी गुलाम आत्मा से बात करती है, कब अपनी असली दशा पर रोती है और अपने होने को धिक्कारती है कह पाना इतना आसान नहीं है। जीते जी पुरुष को हैसियत पाने की तमन्ना उसके भीतर कितनी उद्दाम होती है यह कोई उसकी अन्तरात्मा से पूछे।

'स्टुअर्ट मिल' स्वयं अपने निष्कर्ष का खण्डन करते हैं या यों कहें अपने अधूरे सत्य को पूर्णसत्य बनाते हैं। पूर्वोक्त पुस्तक में मिल ने पहले से प्रचलित स्त्री के स्वभाव का खंडन किया है और कहा है, "जिसे आज स्त्री का स्वभाव कहा जाता है, वह एक नकली चीज़ है, और कुछ दिशाओं में बाध्यतापूर्ण दमन और कुछ दिशाओं में अप्राकृतिक फैलाव का परिणाम है।"²

टॉलस्टॉय मूलतः उपन्यासकार और कहानियों के सिद्धहस्त लेखक थे, किन्तु समय-समय पर उन्होंने अपने युग को मूल-भूत समस्याओं पर बड़ी गहराई के साथ चिन्तन किया है। आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्ति के होते हुए भी मजदूरों, किसानों और कामगारों के पक्ष में लिखा गया उनका साहित्य चौका देने वाला है। समाजवाद का सपना टॉलस्टॉय के मन में इतना व्यापक था कि आज के समाजवादियों के भीतर भी वैसा दिखाई नहीं पड़ता। 'अन्ना करेंनिना' स्त्री-स्वतन्त्रता और उसके प्रेम की आजादी का उद्घोष

¹ मिल, जॉन स्टुवर्ट . 2002 . स्त्री और पराधीनता (अनुवादक- युगांक धीर) . पृ. सं.- 25

² मिल, जॉन स्टुवर्ट . 2002 . स्त्री और पराधीनता (अनुवादक- युगांक धीर) . पृ. सं.- 02 (भूमिका)

करने वाली कालजयी कृति है। उनके लेख 'स्त्रियों का कार्यक्षेत्र' में कुछ अलग हो स्वर उभरकर सामने आता है, "हमारे वर्ग को स्त्री पुरुष से अधिक शक्तिशाली है, इसका कारण यह नहीं कि वह आकर्षक है या पुरुष को हो भौति श्रम का डोंग रचने में पटु है। इसका कारण यह है कि उसने अपने कर्तव्य का उल्लंघन नहीं किया और जान को जोखिम में डालकर तथा अधिक से अधिक चेष्टा करके सच्चे परिश्रम को वहन किया, उस सच्चे परिश्रम को जिससे धनिक वर्ग के पुरुष ने अपने को मुक्त कर लिया था।"¹

वर्तमान युग में स्त्री की स्वतंत्रता की बेइन्तहा पक्षधर तसलीमा नसरीन है। 'मेरे बचपन के दिन', 'उत्ताल हवा', 'द्विखंडिता' जैसी आत्मकथात्मक कृतियों के माध्यम से नारो-विमर्श में जो आग उन्होंने सुलगाई है, उसकी आँच को बर्दाश्त कर पाना बड़े से बड़े प्रगतिशील और नारी समर्थक बुद्धिजीवियों के लिए आसान नहीं। इसमें दो मत नहीं कि उनके विद्रोह में नारी-मुद्दे को मशाल से कहीं अधिक मसाला बनाकर पेश करने को महत्वाकांक्षा है। बावजूद इसके तसलीमा ने जिस अदम्य साहस और धैर्य के साथ पुरुष-वर्चस्व को नेस्तानाबूद करने का बीड़ा उठाया है वह अविस्मरणीय है।

यदि साहित्य के क्षेत्र में स्त्री विमर्श की नवीनतम प्रवृत्ति देखनी हो तो यहाँ सर्वप्रथम तसलीमा नसरीन की कविता का उल्लेख करना अनिवार्य होगा। पुरुषों के लोलुप चरित्र को बुरी तरह बेनकाब करना और अपने प्रेम-सम्बन्धों का खुले से खुले शब्दों में चित्रण करना तसलीमा के स्त्री-विमर्श का प्रमुख हिस्सा है। पता नहीं इससे स्त्री आन्दोलन को फायदा पहुँच रहा है कि नहीं, हो। तसलीमा की चर्चाओं का ग्राफ़ बहुत तेजी से ऊपर चढ़ रहा है और उनकी पुस्तकें बुक स्टालों से देखते ही देखते बिक जा रही हैं। इसे कहते हैं कलम का कमाल, इसे कहते हैं - प्रतिभा का चमत्कार। जरा गौर से इन शब्दों की प्रतिध्वनि सुनने का प्रयास करें :

“साठ में पहुँचकर भी हृदय जार-जार रो सकता है

प्रेम कातर उँगलियों आलिंगन के लिए लरज सकती हैं

साठ की उम्र में भी सीने में उमड़ता है सैलाब

साठ में पहुँचकर भी कीचड़ में लथपथ हो

¹ लियो, टॉलस्टॉय . 1997 . हम करें क्या . पृ. सं.- 348

कमल तोड़ने की चाह नहीं मरती।"¹

वैसे यह सच है कि स्त्री-मुक्ति को उसकी शारीरिक स्वाधीनता से अलग करके नहीं देखा जा सकता, क्योंकि पुरुष-सत्ता ने स्त्री की इस शरीर को ही सर्वाधिक रहस्यमय, अबूझ और अव्यावहारिक व्याख्या की है। वह देवी है, पतिव्रता है, लक्ष्मी है वस वह आदमी की तरह एक शरीरधारी अस्तित्व नहीं है। यहाँ कात्यायनों जी की कुछ पंक्तियों पर गौर करें, वे क्या अर्थ ध्वनित करती हैं संकल्प चाहिए :

“अद्भुत अन्तहीन / इस सान्द्र, क्रूरता भरे अंधेरे में

जीना ही क्या कम है।

एक स्त्री के लिए जो वह रचने लगी कविता!”²

स्वाभाविक रूप से जो कामनाएँ, वासनाएँ और यौन वृत्तियों पुरुष के भीतर हमेशा उभार लेती हैं एक स्त्री में भी वैसा हो नितान्त स्वाभाविक है, फिर उसकी शरीर को लेकर इतनी बंदिशें क्यों? वर्जनाएँ क्यों? हाय, हाय क्यों? हमारा पुरुष समाज क्यों स्त्री के प्रति सहज नहीं हो पा रहा है? क्यों उसको अलग थलग दर्जा देने पर तुला हुआ है? यहाँ प्रसिद्ध चिन्तक **राजकिशोर** की कुछ पंक्तियों पर गौर कीजिए, जो स्त्री-पुरुष के बीच कुछ मूलभूत सवालों को सामने लाती हैं **“वस्तुतः सभ्यता के शुरु से ही स्त्री एक शांत-सम्मोहक आतंक रही है। इसलिए पुरुष ने कभी उसकी पूजा की है, कभी उसका दमन किया है, तथा कभी उसके समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण कर अस्तित्व के केन्द्र में पहुंच कर जो शांति हासिल होती है, उसका स्वाद लेने का जोखिम उठाया है।”³**

प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, रमणिका गुप्ता, चित्रा मुद्गल, अनामिका, कात्यायनी, गीतांजली श्री, अलका सरावगी और क्षमा शर्मा ये कुछ स्त्री लेखिकाएँ और कवयित्रियाँ हैं, जिन्होंने समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श को बहुआयामी फलक प्रदान किया है। इस दृष्टि से हिन्दी के समकालीन युवा कवियों में पवन करण, और चिन्तकों में अभय कुमार दूबे, राजकिशोर, अरविन्द जैन का नाम महत्वपूर्ण है। आज समूचे साहित्य जगत में स्त्री-विमर्श एक अभियान और मोर्चे की शक्ल में दिखाई पड़ रहा है तो इसका काफी कुछ श्रेय इन्हीं कवयित्रियों, लेखिकाओं और चिन्तकों को जाता है। 'राजेन्द्र यादव' जहाँ स्त्री को बोल्डनेस देने

¹ नसरीन, तसलीमा . 2000 . यह दुःख यह जीवन . पृ. सं.- 95

² कात्यायनी . 1999 . इस पौरुषपूर्ण समय में . पृ. सं.- 55

³ राजकिशोर . 2000 . स्त्री-पुरुष : कुछ पुनर्विचार . पृ. सं.- 20

पर आमादा नजर आते हैं, वहीं 'मनीषा' जैसी लेखिकाएँ स्त्री के यौन-बन्धनों को तार-तार कर डालना चाहती हैं। यहाँ भी पुरुष सत्ता से बगावत और उससे नफरत का अभियान इतना तेज है कि उचित अनुचित का स्वर ठीक से सुनाई नहीं दे रहा।

स्त्री को यहाँ भी अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से व्याख्यायित किया जा रहा है। उसके जीवन से जुड़े हुए यौन-सन्दर्भों को कुछ इस तरह 'हाइलाइट' किया जा रहा है कि जमीनी समस्याएँ दृश्य से गायब हो जा रही हैं। यहाँ भी बार-बार वही उन्मुक्त भोगवाद, स्वच्छन्द प्रेम और सामाजिक-पारिवारिक बंधनों से छुटकारा पाने की छलकती हुई हसरतें। भोग और शारीरिक सुख स्त्री और पुरुष की जीवन-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है, प्रत्येक पुरुष अपने मन के अनुसार प्रेम करना और उसे पाना भी चाहता है। एक अकाट्य रहस्य यह भी है कि स्त्री और पुरुष के मन में एक से अधिक प्रेम पाने और देने की अबाध तमन्ना रहती है। परन्तु मानव के व्यक्तित्व का मात्र इतना ही सच नहीं है। आज भी यह लगता है कि लेखिकाएँ और लेखक बार-बार उन्हीं विषयों को उठा रहे हैं जिससे पाठक को यौन-जिज्ञासा सन्तुष्ट होती है। दूसरी बात यह कि आज अधिकांशतः कस्बाई और शहरी स्त्रियों का विमर्श है, उच्च और निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों का विमर्श है। रमणिका गुप्ता के सार्थक प्रयत्नों के बावजूद दलित और आदिवासी स्त्रियों के अन्तर्बाह्य सत्य का प्रकट होना अभी बहुत दूर तक बाकी है। 'चन्द्रकान्त देवताले' की कविता 'बाई ! दरद ले' की चार पंक्तियाँ :

“आकाश पाताल में भी अट नहीं सकता

इतना है औरत जात का दुख

धरती का सारा पानी भी धो नहीं सकता

इतने हैं आँसुओं के सूखे धब्बे।”¹

बाज़ारीकरण में स्त्रीत्व भी फँस गया है। पहले से ही स्त्री उत्पीड़ित और शोषित थी, लेकिन बाज़ारीकरण ने शोषण की नीति को बहुआयामी बना दिया। ऐसा लगता है कि बाज़ार के ज़्यादातर मालों की विक्री स्त्री सौन्दर्य पर निर्भर है। बहुत सारे मालों के विज्ञापन में स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य का इस्तेमाल किया जा रहा है। स्त्रीत्व भी बाज़ार के कब्जे में फँस गया है। पहले से जो शोषित थी उसे अब नए प्रलोभनों से लूटा

¹ देवताले, चंद्रकांत . अक्टूबर 2003 . (वसुधा : स्त्री-मुक्ति का सपना) . पृ. सं.- 267

जा रहा है। उपभोक्तावादी बाज़ारी तंत्र ने स्त्री का इस तरह इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है जैसे वह केवल उपभोग की वस्तु हो।

"यह तो बाज़ार है जिसे अपने विज्ञापन के लिए

विश्व सुंदरी की भी ज़रूरत है

वरना विश्व सुंदरी की भी क्या ज़रूरत है।"¹

पूँजीवादी संस्कार में स्त्री को दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। दहेज प्रथा, बाल विवाह, अनमोल विवाह सब का प्रतिरोध कर उसे आगे बढ़ने में दिक्कत होती है। फिर भी आज की स्त्रियाँ सशक्त दिखाई दे रही हैं। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों ने वर्चस्व कायम करना शुरू कर दिया है। लेकिन ऐसे में भी स्त्री सुरक्षित नहीं है :

"देवी के पूजक, अर्द्धनारीश्वर के उपासक

'मस्तचीज़' नारी को

बोतल के साथ- साथ बोतल बना पीते हैं

अर्द्धांगिनी बिना जिनका यज्ञ अधूरा था

आज उसे तंदूर में हवि बना झोंकते हैं।"²

और एक उल्लेखनीय बात यह है कि आधुनिक नारियों में कुछ प्रतिशत बाज़ार के आकर्षण से मोहित है। वे विज्ञापन के अनुसार खरीद पुरोख्त करना और आराम से ज़िन्दगी गुज़ारना चाहते हैं। स्त्री के प्रति समाज का रवैया बदलना है तो हर किसी को अपनी मानसिकता में बदलाव लाना है। स्त्री को समानता का अधिकार मिलना चाहिए क्योंकि वह भी स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होकर जीना चाहती है जो उसका हक है:

"औरत ने जनम दिया मर्दों को, मर्दों ने उसे बाजार दिया

जब भी चाहा मसला कुचला, जब भी चाहा दुत्कार दिया

¹ जगूड़ी, लीलाधर . विज्ञापन सुंदरी . पृ. सं.- 20

² डागा, सावित्री . शताब्दी की सरहद पर . पृ. सं.- 12

तुलती है कहीं दीनारों में, बिकती है कहीं बाजारों में

नंगी नचवाई जाती है, अय्याशों के दरबारों में

यह वह बेइज्जत चीज है जो बंट जाती है इज्जतदारों में

जिन सीनों ने इनको दूध दिया, उन सीनों का व्योपार किया

जिस कोख में इनका जिस्म ढला, उस कोख का कारोबार किया”¹

मशहूर फिल्म गीतकार साहिर लुधियानवी ने औरत के दर्द को अपने उपर्युक्त गीत में बखूबी पेश किया है। उपर्युक्त पंक्तियों से यह साफ जाहिर होता है कि औरत को मर्दों ने बाजार के हिसाब से भरपूर इस्तेमाल किया है। पुरुष ने उन्हीं स्तनों का व्यापार किया जिन स्तनों का दूध उसकी धमनियों में खून बनकर बह रहा है। गौरतलब है कि साहिर साहब ने स्त्री के उन तमाम तरह के शोषण का बयान किया है जितने तरह के जुल्म उनके शरीर और मन पर किया गया है। कितनी बड़ी विडंबना है कि जिस औरत ने अपनी कोख से मर्द को पैदा किया उसी मर्द ने औरत की कोख को बाजार में ले जाकर नीलाम किया। मर्द ने अपने फायदे के लिए औरत को पूरी तरह से बाजार की चीज बना दिया। समाज के जितने तथा कथित इज्जतदार लोग हैं उनके दरबारों में स्त्री को नंगा नचवाया जाता रहा है और यह कम आज भी जारी है।

‘फिल्म इंडस्ट्री’ में एक गीतकार के रूप में जुड़े होने की वजह से स्त्री शरीर का बाजारीकरण किस प्रकार से होता है इसको बहुत करीब से देखा है। फिल्मों से जुड़े होने की वजह से मैंने पाया कि स्त्री कलाकार से उससे इसकी भरपूर मांग की जाती है कि वह किसी भी हद तक कपड़े उतारे। अगर स्त्री कलाकार उस हद तक कपड़े उतारने एवं अंग प्रदर्शन के लिए तैयार नहीं होती तो लाख कलात्मक प्रतिभा के बावजूद उसे बाहर कर दिया जाता है। और भी अनेक तरह के शोषण महिला कलाकारों के साथ जुड़े हुए हैं। गौरतलब है कि अभी बाजार की दुनिया में अथवा फिल्म इंडस्ट्री में पूरा का पूरा अधिकार मर्द के ही पास है और वह बाजार के हिसाब से अपने पूरे अधिकार का फायदा उठाता है। पूरा का पूरा बाजार मर्द के हाथों में है। मर्द अपने हिसाब से स्त्री देह का प्रयोग करता है। फिल्म इंडस्ट्री एवं विज्ञापन के क्षेत्रों में देखने से यह साफ-साफ जाहिर होता है कि बाजार ने औरत को खरीद लिया है और जिस प्रकार से उंगलियों में बंधे धागे के सहारे कठपुतली को नचाया जाता है ठीक उसी प्रकार से औरत भी बाजारवाद के हाथों नाच रही है।

¹ हिंदी फिल्म साधना का एक गीत

राजेन्द्र यादव से असीमा भट्ट ने बाजारवाद में हावी होती 'देहवाद' पर पूछा कि बाजार में अथवा किसी फिल्म प्रोडक्ट के विज्ञापन में हर जगह औरत ही दीख रही है इसका क्या कारण है? इस पर राजेन्द्र यादव ने कहा कि, "बाजार ने स्त्री की देह को खरीद लिया है। पहले पुरुष ने खरीदा था, अपनी मर्जी से औरतों को नचाता था, अब बाजार नचाता है। वह (बाजार) अच्छी तरह जानता है कि स्त्री पुरुष की कमजोरी है वह स्त्री के माध्यम से उनके नग्न देह के साथ पचास तरह की चीजें बेच सकते हैं। वह स्त्री की देह भी बेचेगा और उसके साथ-साथ दूसरी अन्य चीजें भी बेचेगा।"¹

गौरतलब है कि राजेन्द्र यादव ने असीमा भट्ट द्वारा पूछे गए सवाल का जवाब बड़ी ही सफाई के साथ दिया है। यह सोलह आने सच है कि आज जो महिलाओं की स्थिति है उस स्थिति ने महिलाओं को सामाजिक दबावों से मुक्त तो अवश्य किया है लेकिन बाजार ने स्त्री की नब्ज को तुरत पकड़ लिया। बाजार को जब मालूम हुआ कि औरत घर की चहारदीवारी से बाहर आने के लिए व्याकुल है तो उसने तुरत स्त्री को घेर लिया और उसे अपने कार्यों एवं फायदों के अनुरूप ढाल लिया। औरत के घर से बाहर निकलते ही बाजार ने उसे एक धर्मशाला, रेस्तरां एवं होटल में तब्दील कर दिया :

“वह जैसे-

एक धर्मशाला

एक रेस्तरां

एक होटल हो गई।

पेशेवर रिश्तों का

उलझा गुच्छा/ उसे

सिर्फ काटकर ही

मुक्त हुआ जा सकता था”²

ध्यातव्य है कि कमल कुमार ने अपने काव्य संग्रह 'गवाह' में औरत को धर्मशाला, होटल और रेस्तरां में तब्दील होने का बखूबी चित्रण किया है। कमल कुमार एक बहुत ही संवेदनशील कवयित्री हैं। जिन्होंने

¹ यादव, राजेन्द्र . स्त्रीकाल, अंक- 4 पृ. सं.- 37

² कुमार, कमल . गवाह . पृ. सं.- 77

बाजार के मिजाज को बखूबी समझा है। कमल कुमार ने बाजार की नब्ज को एवं औरत को बाजार में विलीन होने को ठीक ढंग से समझा है। वे मानती हैं कि जब एक औरत अपने चौखटे को लांघती है तो उसे किन-किन रूपों में बदलना पड़ता है एवं किन-किन रूपों में उसे अपना रूप धारण करना पड़ता है। कमल कुमार ने इंसानी रिश्तों को भी इसी बाजार के माध्यम से समझा है। वे रिश्तों को भी पेशेवर मानती हैं क्योंकि जिन रिश्तों को वह ढो रही है वह रिश्ते उसी की साजिश करते रहते हैं। रिश्तों की इस साजिश से मुक्त होने के लिए वे आवाज देती है। गौरतलब है कि जो रिश्ते औरत के लिए समाज में निर्मित किए गए हैं वो सबके सब उसके लिए हानिकारक ही हैं क्योंकि जब वह रिश्तों के जाल में फंसती है तो दोबारा उस जाल से बाहर नहीं आ पाती। क्योंकि उन संवेदनाओं के तारों की बुनावट साजिश के ही धरातल पर की गयी है।

इसलिए कमल कुमार कहती हैं कि इन रिश्तों एवं इन गुच्छों से मुक्त होने के लिए इन्हें काटना पड़ेगा अन्यथा स्त्री हमेशा इसी में उलझी रह जाएगी। जब तक औरत अपने रिश्तों से काट कर अपने को अलग नहीं करेगी तब तक यह वर्चस्वशील समाज उसका शोषण करता रहेगा। इस संदर्भ में **प्रभा खेतान** ने लिखा है कि **"स्त्री-आंदोलन का पहला पक्ष है वर्चस्वविहीन समाज की स्थापना। यहां स्त्री आंदोलन को मार्क्सवाद से बहुत कुछ सीखना है क्योंकि स्त्री पुरुष का संबंध भी उत्पादन और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया से प्रभावित होता रहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह संबंध केवल अपनी भौतिकता में ही कैद रहना चाहेगा। यही कारण है कि आज नारीवाद परिवार में श्रम के विभाजन और कौटुम्बिक संबंधों में सत्ता के नेटवर्क के ऐतिहासिक खोजबीन में लगा हुआ है।"**¹

ध्यान देने लायक है कि आज का स्त्री आंदोलन जिस समाज में विकसित हो रहा है वह समाज पूरी तरह से पुरुष वर्चस्वशील समाज है। स्त्री-आंदोलन वर्चस्वविहीन समाज की मांग कर रहा है। गौरतलब है कि मार्क्स ने जीवन के तमाम पक्षों की व्याख्या अर्थ के धरातल पर किया है। इसलिए उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से तेजस्वी स्त्री विमर्शकार एवं कवयित्री प्रभा खेतान ने कहा है कि अब स्त्री आंदोलन को मार्क्सवाद के जरिए समझने की जरूरत है। क्योंकि मार्क्स के अनुसार जब तक स्त्री की आर्थिक दशा नहीं सुधरेगी तब तक स्त्री की सामाजिक दशा को भी नहीं सुधारा जा सकता।

गौरतलब है कि इन्हीं वजहों से स्त्री का बाजार में भले ही शोषण हो रहा है फिर भी इसकी वजह से उसकी सामाजिक दशा में बड़े पैमाने पर सुधार हो रहा है। गौरतलब है कि जो स्त्रियां बाजार में उतरकर काम कर रही है और पैसे कमा रही हैं उन औरतों ने सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को चुनौती दी है। अब वह घर के भीतर बैठकर घूंघट में छिपे नहीं रहना चाहती। औरत जब बाजार में निकलेगी तो उसे अनेकानेक समस्याओं एवं असुविधाओं से ऊबऊ होना पड़ेगा। इसमें वह बहुत कुछ खोएगी लेकिन खोने से

¹ खेतान, प्रभा . मार्च 2001 . हंस . पृ. सं.- 27

ज्यादा वह बहुत कुछ प्राप्त भी करेगी जिसकी वजह से उसके भीतर गलत और सही का भेद मालूम होगा। क्योंकि तब कि औरत जो सिर्फ घरों के भीतर बैठी रहती थी वह किसी आपदा के समय पुरुषहीन होने एवं घर से भागने की स्थिति में परपुरुष की शिकार हो जाती थी एवं उसे बहलाकर उससे जिस्मफरोशी कराया जाता था।

लेकिन अब औरत जो बाजार को बखूबी समझ रही है वह बाजार के हाथों जरूर बिकेगी लेकिन उसमें भी उसके कुछ मूल्य एवं मानदंड होंगे जिनके दम पर वह भी बाजार को अपने सामने झुकाने की कोशिश करेगी। गौरतलब है कि वह औरत जो बाजार में निकली ही नहीं वह बाजार की अच्छाई एवं बुराई को कैसे समझ जाएगी। इसलिए लाख शोषण के बावजूद स्त्री को बाजार की तरफ उन्मुख होना चाहिए एवं उससे फायदा उठाना चाहिए। गौरतलब है कि जब तक स्त्री के हाथों में पैसे नहीं आएंगे तब तक वह 'सेल्फडिसीशन' लेने योग्य नहीं बनेगी। कात्यायनी ने अपने काव्य-संग्रह 'इस पौरुषपूर्ण समय में' इस बात का बखूबी जिक्र किया है कि औरत के सामने कितनी तरह की समस्याएं आ सकती हैं। एक औरत को बाजार में कितने तरह के समझौते करने पड़ते हैं। फिल्मी दुनिया में तो स्त्री को और भी शोषण का शिकार होना पड़ता है उसे कदम-कदम पर इन तमाम परेशानियों का सामना करना पड़ता है लेकिन आज की समकालीन कवयित्री उन शोषणों को समझने के बाद इस नतीजे पर पहुंचती है कि यह अब अपना शोषण नहीं होने देगी अब वह अपने शोषण के प्रति सचेत हो गई है। **अभय कुमार** ने लिखा है कि तमाम शोषणों के बावजूद स्त्री बाजार एवं भूमंडलीकरण की वजह से बहुत आगे बढ़ी है :

"भूमंडलीकरण ने औरत को 'पावर' यूमेन' बना दिया है। यह सब करने के लिए उसे किसी नारीवादी गोलबंदी अथवा सिद्धांतशास्त्र की जरूरत भी नहीं पड़ी। केवल बाजार, पूंजी और संचारक्रांति की ताकत के दम पर औरत की दुनिया बदल गई है। भूमंडलीकरण ने दावा किया है कि अब पहले से कहीं ज्यादा औरतें अपने लैंगिक हित को ध्यान में रखकर वोट डालती है और राजनीति में सीधी भागीदारी करती हैं।"¹

इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं कि भूमंडलीकरण ने स्त्री को 'सेल्फ डिसीशन' लेने लायक बना दिया है। आज स्त्री जब काम पर निकल पड़ी है तो उसके हाथ में पैसे भी आने लगे हैं पैसे आते ही स्त्री की तकदीर चमत्कारिक ढंग से परिवर्तित हुई है क्योंकि पैसे की कमी की वजह से ही वह अपने बारे में भी खुद का निर्णय नहीं ले पाती थी। अब वह अपने बारे में निर्णय लेने लगी है और गलत सही का भेद जानने लगी है। बाजार में काम करती हुई औरत ने अपनी यौनिकता का सचमुच दोतरफा फायदा उठाया है। एक दौर था जब पुरुष के हाथों स्त्री नाचती थी अब वह पुरुष को नचाने लगी है और इन सबके मूल में है पैसा। इसलिए

¹ दुबे, अभय कुमार . मार्च 2000 . हंस . पृ. सं. - 27

बाजार स्त्री का शोषण भले ही कर रहा हो लेकिन तमाम शोषण के बावजूद बाजार ने उन्हें अपने ढंग से जीने का हक दिया है। इसलिए बाजार गलत नहीं ठहराया जा सकता। जो व्यक्ति बाजार भाव नहीं जानता वह तो शोषण का शिकार होगा ही क्योंकि बाजार ही सब कुछ निर्धारित करता है। हमारी पूरी सामाजिक-सांस्कृतिक पद्धति को बाजार बदल देता है। जो बाजार कहता है उसी प्रकार से व्यक्ति अपने को ढालता है। परम्परा और आधुनिकता के बीच फंसकर आदमी का विकास नहीं हो पाता। प्रसिद्ध कवयित्री मुक्ता ने 'जाने क्यों बार-बार' में एक गोदनावाली के माध्यम से उसके शारीरिक शोषण एवं बाजार की अज्ञानता का कारुणिक चित्र खींचा है :

“गोदनावाली का शरीर विज्ञापन नहीं इतिहास है

और इस इतिहास में दर्ज है कई कई जख्म

कई-कई दर्द

जिन पर काला चूरा मलकर

इतिहास के खाने में डाला था गोदनावाली ने

अब सिर्फ दाग बच रहे हैं

और वही रोजी-रोटी हैं गोदनावाली के”¹

मुक्ता ने एक गोदनावाली के माध्यम से एक स्त्री के देह शोषण एवं बाजार में उसकी भूमिका का बखूबी चित्रण किया है। मुक्ता ने लिखा है कि एक गोदनावाली खरीद-फरोख्त की गणितबाजी को नहीं जानती। वह नहीं जानती कि जो हुनर उसके पास है उसका बाजार में कुछ मूल्य है या नहीं। और साथ ही वह सौंदर्य के आदिम स्वरूप को भी नहीं जानती जहां स्त्री के मत्थे उस सौंदर्य को मढ़ा गया। एक औरत की देह को किस प्रकार से विश्व बाजार में खरीदा बेचा जाता है उस बाजार भाव को भला एक गोदनावाली क्या समझेगी। विश्व बाजार में औरत की खरीद-फरोख्त का जीवंत उदाहरण **अभय कुमार दुबे** ने बहुत संजीदगी के साथ प्रस्तुत किया है :

¹ मुक्ता . जाने क्यों-क्यों बार . पृ. सं.- 20

"भूमंडलीकरण के केन्द्र में विदेशी मुद्रा है। इस मुद्रा के कर्ज में दबे एशिया, अफ्रीका और यूरोप के देश अपराधी गिरोहों की मदद से डालरों और पाउंडों के भंडार की पूर्ति के लिए आमदनी के जिन अनौपचारिक स्रोतों का संस्थागत इस्तेमाल कर रहे हैं उनमें सबसे बड़ा है औरतों का निर्यात। प्रति वर्ष लाखों युवा औरतें वैध-अवैध जरियों से सीमाओं के आर-पार ले जायी जाती हैं। इनमें कुछ को मजदूरी और घरेलू कामकाज मिलता है और बाकी सभी को जबरन देह-व्यापार में उतार दिया जाता है। इससे होने वाली कमाई से विदेशी कर्ज की किस्तें अदा की जाती हैं और विकास प्रक्रिया से पैदा हुआ निवेश-अंतराल भरा जाता है।"

समकालीन हिंदी कवयित्रियों में प्रतिरोध की समूची छानबीन के बाद हम पाते हैं कि स्त्रियों ने अपने ऊपर होने वाले तमाम तरह के अत्याचारों का बहुत ही गंभीरता के साथ सामना किया है। हम इस शोध-प्रक्रिया में स्त्री आंदोलन से जुड़े हुए तमाम मुद्दों को केंद्र में रखे हैं। शोध विषय के तमाम अध्यायों के तहत छानबीन के बाद हम इस मुकाम पर पहुंचते हैं कि दुनिया में जबसे पुरुषसत्ता ने शोषण के अनेकानेक हथियारों का निर्माण किया तब से स्त्रियों ने भी अपने बचाव में लड़ने का भरपूर प्रयास किया है। गौरतलब है कि जो हमारी आदि स्त्री है वह सबसे पहले तो प्रकृति की ही शिकार रही है। उन्मुक्त यौन संबंधों की वजह से मेरे ख्याल से हमारी आदि स्त्री लगातार गर्भवती रही होगी। किसी भी तरह के गर्भनिरोधक का प्रयोग तब नहीं था जितनी जननक्षमता थी उतनी ही स्त्री ने बच्चे भी जने होंगे।

ध्यातव्य है कि जब हमारी आदि स्त्री लगातार गर्भवती रही होगी तो वह उस समय असुरक्षित प्राकृतिक आपदाओं से भी दो चार होने में दिक्कत होती होगी। इन परिस्थितियों में जबकि आदि स्त्री लगातार गर्भवती रही है जो प्राकृतिक आपदाओं से स्वयं लड़ पाने में अक्षम रही होगी। उसे किसी न किसी के सहारे की जरूरत रही होगी। स्त्री के साथ-साथ एक पुरुष भी था जिसे शारीरिक रूप से किसी भी तरह की असुविधा नहीं रही है। क्योंकि पुरुष को शारीरिक स्तर पर न तो हर महीने माहवारी की पीड़ा से गुजरना होता है और न ही प्रेगनेन्सी से। गौर करने लायक है कि इन परिस्थितियों में जो भी उसके साथ रहा होगा उसने उसकी भरपूर मदद की होगी। इतिहास के एक सिंहावलोकन के पश्चात् हम पाते हैं कि स्त्री गर्भावस्था में बैठकर पुरुष का इंतजार करती होगी और पुरुष शिकार की तलाश में निकला होगा जो शिकार करके लौटता होगा और स्त्री का भरण-पोषण करता होगा, क्योंकि गर्भावस्था में स्त्री न तो पेड़ पर चढ़कर फल तोड़ सकती है और न ही किसी जंगली जानवर का शिकार कर सकती है। एक गर्भवती स्त्री का शिकार से लौटने वाले पुरुष का इंतजार ने ही शायद स्त्री और पुरुष के रिश्ते को मजबूत किया होगा। और न सिर्फ इस रिश्ते को मजबूत किया बल्कि यहीं से शुरू हुआ स्त्री के ऊपर पुरुष का अधिकार।

गौरतलब है कि मानसिकता को कब्जे में करने की एक लंबी प्रक्रिया रही है। संस्कार बनना एक बहुत ही लंबी प्रक्रिया है जिस प्रक्रिया के तहत किसी के दिमाग को गुलाम बनाया जाता है। गुलामी के इसी इतिहास ने स्त्री को चौतरफा घेरे में ले लिया। हमने अपने अध्ययन में देखा कि आदिकाल से स्त्री आंदोलन तो करती आ रही है लेकिन उचित रूप से नेतृत्व न मिल पाने के कारण इस आंदोलन को सही रास्ता नहीं मिल पा रहा था। अध्ययन ने समाज को प्रभावित किया। अध्ययन के चलते स्त्रियों की मानसिक बनावट में परिवर्तन हुआ उन्होंने पहली बार अपने बारे में सोचना शुरू किया। जैसा कि कार्ल मार्क्स ने कहा है कि 'गुलामी उतनी खतरनाक नहीं जितना कि गुलामी का बोध न होना खतरनाक है'। दरअसल स्त्रियों के साथ यही हुआ। उनके ऊपर जो जबरदस्ती के मूल्यों एवं मानदंडों को थोपा गया था उसे वे अपनी नियति समझ बैठीं। एक औरत को घर की चहारदीवारी में कैसे रहना चाहिए एवं किस प्रकार से उसे पुरुषों से हटकर अपनी छवि तैयार करनी चाहिए इस तरह के तमाम तरह के थोपे गए मूल्यों एवं मानदंडों को हमारी स्त्री स्वीकार करती रही है क्योंकि उसे मालूम ही नहीं था कि इन मूल्यों के माध्यम से उसका शोषण हो रहा है। शोषण के इन हथियारों को समझना ही महत्वपूर्ण था क्योंकि इन्होंने ही उसे गुलाम बना रखा था।

गुलामी का अहसास जिस दिन स्त्री को हुआ उसी दिन से स्त्री ने पुरुषसत्ता के खिलाफ आवाज उठानी शुरू कर दी क्योंकि वह शोषण के इन उपकरणों को पहचान गई थी। अब वह यह मानने को तैयार नहीं कि :

“एक वर एक घर एक वादा

एक कुल एक नाम एक मर्यादा

बहुत सी वे चीजें बहुत-बहुत कीमती

जिन्हें आगे चलकर मुझे पाना था लेकिन अगर उनकी

कीमत चुकाना था तो

एक ही कसौटी थी कि

मरना भी उनके लिए मुझे मरना होता या फिर

कम से कम इतना तो जरूर होता कि

मरने की एक बेहद धीमी रफ्तार को

मैं जीना कह पाती, रिसरिस कर बहते जाने को”¹

उपर्युक्त पंक्तियों से यह साफ जाहिर होता है कि अर्चना वर्मा ने समाज के बनाए हुए उन मूल्यों को सामने रखती है जिन्हें स्त्री के लिए संस्कार नाम दिया गया। जिसे भारतीय संस्कृति की आत्मा कहा गया। इसी सांस्कृतिक मूल्य ने दरअसल स्त्री के वजूद को क्षतिग्रस्त किया है। इसी प्रकार से हमारी समकालीन कवयित्रियों ने समाज के द्वारा बनाए हुए मूल्यों मानदंडों को बखूबी जानती है एवं उनके सभी पक्षों पर जोरदार प्रहार करती हैं। **अनामिका** ने प्राथमिक पाठशाला के पाठ्यक्रम का खुलासा अपनी कविताओं में किया है :

“राम, पाठशाला जा!

राम, आ बताशा खा !

राधा, झाड़ू लगा !

भैया अब सोएगा

जाकर बिस्तर बिछा !

अहा, नया घर है!

राम, देख यह तेरा कमरा है !”²

अतः हम अध्ययन के इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदि स्त्री से लेकर अभी तक स्त्रियों ने सही दिशा में अपने आन्दोलन को अग्रसर किया है। वो दिन दूर नहीं जब स्त्रियाँ अपनी संतुलित सुझबुझ और समझदारी से सदियों से पितृसत्तात्मक समाज द्वारा कंधे पर लादे हुए जूते को उतार फेंकेंगी।

¹ वर्मा, अर्चना . कहती हैं औरतें . पृ. सं.- 114

² अनामिका . कहती हैं औरतें . पृ. सं.- 152

6.2. दलितों पर प्रभाव

वर्तमान समय में अस्मिताओं के संघर्ष में दलित विमर्श एक ज्वलंत विषय है। 'दलित' शब्द एक वर्ग विशेष का ही द्योतक नहीं है बल्कि संसार में जितने भी शोषित हैं जिनपर अत्याचार और शोषण हुआ हो वे सभी दलित हैं। दलित साहित्य धरती के लोगों से सीधा जुड़ा है। दलित सदियों से वर्ण व्यवस्था, जात-पात, ऊँच-नीच, भेदभाव और धार्मिक अन्धविश्वास और मान्यताओं के शिकार हुए हैं और जिन पर मनुस्मृति की सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक व्यवस्थाओं के आधार पर अमानवीय व्यवहार, असह्य उत्पीड़न, अकल्पनीय अपमान और असीम अन्याय किया गया था। दलित साहित्य का वैचारिक आधार अंबेडकरवादी दर्शन ज्योतिबा फुले तथा महात्मा बुद्ध के 'अहिंसा परमाधर्म' जैसे भाव को एकाकार करता हुआ सद्भावना, एकता की भावना को सुदृढ़ करने का ही प्रयास है।

दलित चिंतक 'कंवल भारती' दलित कविता की चेतना को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं – “दलित कविता उस तरह की कविता नहीं है, जैसे आमतौर पर कोई प्रेम या विरह में पागल होकर गुनगुनाने लगता है। यह वह भी नहीं है, जो पेड़-पौधों, फूलों, नदियों, झरनों और पर्वतमालाओं की चित्रकारी में लिखी जाती है। वह किसी का शोकगीत और प्रशस्तिगान भी नहीं है। दरअसल यह वह कविता है, जिसे शोषित, पीड़ित दलित अपने दर्द को अभिव्यक्ति करने के लिए लिखता है। यह वह कविता है, जिसमें दलित कवि अपने जीवन संघर्ष को शब्दों में उतारता है। यह दमन, अत्याचार, अपमान और शोषण के खिलाफ युद्धगान है। यह स्वतंत्रता, समानता और मातृभावना की स्थापना और लोकतंत्र की प्रतिष्ठा करती है। इसलिए इसमें समतामूलक और समाजवादी समाज की परिकल्पना है।”¹

दलित कविता में सबसे पहला नाम हीरा डोम का आता है जिनकी कविता 'अछूत की शिकायत' 1914 में सरस्वती में छपी थी। नामदेव ढसाल की कविताओं में भी दलित चेतना के स्वर ज्वलंत रूप में दिखाई पड़ते हैं। ओमप्रकाश बाल्मीकि 'सदियों का संताप' शीर्षक कविता संग्रह के 'चोट' कविता में दलितों की दयनीय और कारुणिक स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं :

“पथरीली चट्टान पर

हथौड़े की चोट

¹ आलोचना पत्रिका, संपादक –अरुण कमल, अंक-51, आलेख-दलित कविता और डॉ. अंबेडकर विचार- दर्शन- ओमप्रकाश बाल्मीकि, पृ.-124, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली

चिंगारी को जन्म देती है
जो गाहे-बगाहे आग बन जाती है
आग में तपकर
लोहा नर्म पड़ जाता है
ढल जाता है
मनचाहे आकार में
हथौड़े की चोट में।
एक तुम हो,
जिस पर किसी चोट का
असर नहीं होता।”¹

हिंदी की दलित कविता समय के दौर में दलित आंदोलन को स्थायित्व प्रदान करनेवाली कविता है। वह वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ प्रतिरोधात्मकता का अपना नया मोर्चा निर्मित करती है। यह सदियों की यातना है जो आक्रोश एवं विद्रोह के रूप में फूट रही है :

“मेरी पीढ़ी ने अपने सीने पर
खोद दिया है संघर्ष
जहाँ आँसुओं का सैलाब नहीं
विद्रोह की चिंगारी फूटेगी
जलती झोपड़ी से उठते धुएं में
तनी मुट्टियाँ

¹ www.kavitakosh.org

तुम्हारे तहखानों में

नया इतिहास रचेंगी।"¹

दलित के पास गाँव में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वह अपना कह सके, जिस पर गर्व कर सके। सड़कें, गलियाँ, श्मशान, कहीं पर भी उनका अधिकार नहीं है। डॉ. सुखबीर सिंह ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बयान बाहर' में गाँवों में दलितों की स्थिति का चित्रण किया है :

"ओ मेरे गाँव! तेरी ज़मीन पर/ घुटी-घुटी साँसों के साथ

पलना पड़ता है अलग-अलग/ लड़खड़ाते कदमों से

चलना पड़ता है अलग-अलग/ मरने के बाद भी

जलना पड़ता है अलग-अलग।"²

वर्तमान हिन्दी साहित्य में सही मायने में यदि कोई आन्दोलन का रूप लेता हुआ विमर्श है तो यह दलित-विमर्श। मात्र हिन्दी साहित्य ही नहीं मराठी, पंजाबी, तेलगू, कन्नड़ जैसे देश को अन्य भाषाओं के साहित्य में इस आन्दोलन ने गौरवशाली रूप धारण कर लिया है। इस अभियान के पीछे सही अर्थात् अर्थ में उन्हीं दलित, अपमानित और उपेक्षित करोड़ों जन्मों की शक्ति है, जिनके हित में यह उठ खड़ा हुआ। वे अनुचित और अन्यायपूर्ण तरीकों से कुचले सताए गये हैं। उन्हें उनके अनुसार जीवन जीने का हक नहीं दिया गया। उनके मन-मस्तिष्क, शरीर और यहाँ तक कि आत्मा पर शताब्दियों से कब्जा जमाया गया और उस पर अपनी शोषक संस्कृति का पहरा लगाया गया। समाज, राजनीति अथवा साहित्य के क्षेत्र में आज जो उनकी बुलन्द आवाज मुखर हो रही है वह युगों से दबी हुई सच्चाई की ताकत है।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलित आन्दोलन के प्रणेता माने जाते हैं, जिन्होंने अथक स्वाध्याय और क्रांतिकारी चिंतन के फलस्वरूप भारत के सामने दलितों की आजादी का ऐसा दस्तावेज प्रस्तुत किया जो आज तक इस आन्दोलन की रीढ़ बना हुआ है। गांधी जी दलितों की समस्याओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण के थे, काफी हद तक समझौतावादी भी। वे दलितों के उत्थान के लिए किसी वर्ग को नाराज अथवा असन्तुष्ट नहीं करना चाहते थे। दरअसल गाँधी जो उस वर्ग के नहीं थे, जिन्हें अपनी जाति बताते हुए अपमान महसूस हो। दलितों के प्रति उनका लगाव सहानुभूतिपरक या मानवतावादी किस्म का था। सदियों पुरानी अन्तनांद

¹ वाल्मीकि, ओमप्रकाश . 1989 . सदियों का संताप . पृ. सं.- 31

² डॉ. सिंह, सुखबीर : सं.डॉ. एन.सिंह . 1992 . दर्द के दस्तावेज़ . पृ.सं- 42

करती हुई पीड़ा को अपनी पीड़ा बना पाना गाँधीजी के लिए सम्भव न था। इस पीड़ा को अपनी पीड़ा समझकर अम्बेडकर ने अन्तरात्मा की आवाज सुनते हुए अपना पूरा जीवन दलित स्वाधीनता के उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया। वे घोषणा करते हैं **"मुझे यह विश्वास हो गया है कि हिन्दू अशुद्ध सिद्धान्तों को प्रिय समझते हैं तथा अशुद्ध सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। हिन्दू और हिन्दू धर्म के साथ मेरे झगड़े का कारण उनके सामाजिक व्यवहार की कमियों नहीं, इससे कहीं अधिक इसका मूल कारण उनके आदर्श है।"**¹

देखा जाय तो भारतीय समाज के लिए जाति, धर्म से भी भयावह रोग है। धर्म को असीम जड़ताओं के बाबजूद उसमें कई मानवीय गुणों को खोजा जा सकता है, किन्तु जाति अपने सिर से लेकर पैर तक बाहर से लेकर भीतर तक आदि से लेकर अन्त तक अमानवीय, विनाशकारी और जन कल्याण विरोधी है। इसको शुरुआत ही भौतिक, बौद्धिक और सामाजिक स्वार्थों की जमीन पर हुई। विभाजन और अलगाव तो वैसे भी एकता के शत्रु होते हैं, ऊपर से जान-बूझकर किसी निहित स्वार्थवश यदि इन्हें व्यवहार में लागू कर दिया गया तो यह मानव की प्रगति को कितने गहरे गड्ढे में गिरा सकते हैं इसको कल्पना करना मुश्किल है। सृष्टि मूलतः भिन्नताओं को अटूट एकता का नाम है। जंगल, पहाड़, मैदान, रेगिस्तान, समुद्र, नदियाँ उसके न जाने कितने निर्माणकारी तत्व हैं। सबकी भूमिकाएं अलग अलग, कार्य भिन्न भिन्न, कीमत अपनी-अपनी इनमें से किसी एक तत्व का विलुप्त हो जाना मानवता पर खतरे की घंटी बजना माना जाएगा। ठीक उसी तरह यह मानव सभ्यता है। धरती पर करोड़ों मनुष्य हैं। सबका महत्व अलग-अलग, कार्य भिन्न-भिन्न, कीमत अपनी-अपनी। यदि इनमें से किसी एक समूह को निरर्थक बना दिया जाय तो वही परिणाम निकलेगा जो सृष्टि के किसी एक अनिवार्य तत्व के गायब होने से होता है। अर्थात् मानव सभ्यता को सम्पूर्णता देने में पृथ्वी के प्रत्येक मानव समूह की अकाट्य भूमिका है। यह तो हमारी नजरों का काम है कि उसे ठीक से देख पाती हैं कि नहीं उसकी अमर कीमत आँक पाती है कि नहीं। इसमें कोई दो मत नहीं कि यदि हमारे भारतीय इतिहास ने जातीय विभाजन की यह निकृष्टतम गलती न की होती तो आज के भारतीय मनुष्य का अतीत अपने वर्तमान से दसियों गुना गौरवशाली और उन्नत होता।

इस जातीय विभाजन से हमारा मन बँट गया है, चाहत बँट गयी है, लगाव सिमट गया है। हमारे हृदय के स्वाभाविक विस्तार पर एक ऐसा स्थायी ग्रहण लग चुका है जो बिना किसी सूर्यवत् मेधा के समाप्त होने वाला नहीं। यहाँ समकालीन कवि **गोविन्द प्रसाद** की कविता '**अब तो बोल**' में इस वर्ग के प्रति सहानुभूति का स्वर ध्यान देने योग्य है :

"पहले पहल उन्होंने आँका / हमारे हाथों का मोल

¹ अम्बेडकर, बी. आर. . 2001 . जाति भेद का उच्छेद . पृ. सं.- 109

फिर आँखों के अनछुए / सपने अनमोल

फिर; पेट की आग को / देखा गया छूकर

टटोल, टटोल....."¹

अम्बेडकर ने पूरे साहस के साथ, तर्क के साथ, प्रतिबद्ध होकर भारतीय जाति-व्यवसाय को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया, किन्तु ये इस जहरोले महावृक्ष की जड़ों पर निर्णायक प्रहार करने से कहीं चूक गये। अब जरूरत है उनसे भी ताकतवर शब्दों में जाति पर चोट करने की। वे कहते हैं, **"आर्थिक पहलू से भी जाति-प्रथा हानिकारक प्रथा है, क्योंकि यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा-रुचि व आत्मशक्ति को दबाकर उन्हें अस्वाभाविक नियमों में जकड़कर निष्क्रिय बना देती है।"**²

डॉ. अम्बेडकर को दलित समाज का मात्र राजनीतिक विचारक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे दलित दुनिया के दार्शनिक नेता के रूप में सामने आते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के समय में ही उन्होंने दलितों की पीड़ा को ऊँची आवाज दे दी थी। वर्तमान समय को भारतीय राजनीति में जहाँ भी दलितों को शक्ति भारी पड़ रही है उसकी नींव में बहुत पहले से अम्बेडकर ही खड़े हैं। उन्होंने भारतीय संविधान में दलित वर्ग के आर्थिक, सामाजिक और भौतिक हितों की रक्षा के लिए स्थायी व्यवस्था कर दी है जिसे आने वाले समय में भी कोई स्थगित या समाप्त नहीं कर पाएगा।

दलितवाद के नाम पर इस शोषित वर्ग को कितना ठगा जा सकता है इसकी पूरी मुहिम दलित पार्टी में जारी है। सही मायने में दलितों के न्यायपूर्ण उत्थान और दूरगामी प्रगति के प्रति इन राजनीतिकों के मन में न तो ऊँची महत्वाकांक्षा है, और न ही कोई बड़ी योजना। **ओम प्रकाश वाल्मीकि** का कहना उचित है कि **"दलित विमर्श में इसके लिए यदि अपने सिद्धान्तों, आदर्शों, मान्यताओं को छोड़कर समझौते किये जाते हैं, उससे सत्ता परिवर्तन तो हो सकता है, लेकिन न देश, न ही समाज का कोई हित दिखायी देता है।"**³

समकालीन हिन्दी साहित्य में दलित-विमर्श ने जो मुकाम हासिल किया है वह अविस्मरणीय सच है। लगभग दो दशक के भीतर ही विधिवत् दलित मुद्दों को उठाते हुए हिन्दी साहित्य में जितना लेखन हुआ है वह फ़क्र करने के काबिल है। कविता, कहानी, संस्मरण, आत्मकथा इत्यादि शीर्षस्थ विधाओं में दलित लेखकों की धुंआधार कलम चली है। अब तो उपरोक्त सभी विधाओं में बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस स्थापित

¹ प्रसाद, गोविन्द . 1996 . कोई ऐसा शब्द दो . पृ. सं.- 73

² अम्बेडकर, बी. आर. . 2001 . जाति भेद का उच्छेद . पृ. सं.- 36

³ वाल्मीकि, ओमप्रकाश . जुलाई-सितम्बर 2007 . सेतु (पत्रिका) . पृ. सं.- 44

लेखकों का मोर्चा तैयार हो गया है, और ये सभी अपने द्वारा जान-बूझकर सृजित दोषों एवं अतिरेकों के बावजूद पूरी मुश्तैदी से दलित समाज की मार्मिक अभिव्यक्ति कर रहे हैं। कविता के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण नाम **ओम प्रकाश वाल्मीकि** का है, जिनमें तल्लू आक्रोश और निर्भीक तेवर के साथ अन्टिष्टि का उदार सन्तुलन भी दिखाई पड़ता है। इसके बाद कविता के क्षेत्र में **सूरजपाल चौहान, जय प्रकाश कदम, हरिराम मीणा, असंग घोष**, जैसे नाम उल्लेखनीय हैं। कहानी विधा तो दलित रचनाओं से समृद्ध हो रही है। इसके बाद **श्योराज सिंह बेचेन, मोहनदास नैमिशराम, रत्न कुमार सांभरिया, अजय नावरिया, राज बाल्मीकि और अनिता रश्मि** जैसे कहानीकार रेखांकित करने योग्य हैं। दलित आत्मकथा ने अभी लम्बी यात्रा तो तय नहीं की है, परन्तु ओमप्रकाश बाल्मीकि की 'जूठन', मोहनदास नेमिससराय को अपने अपने पिंजरे ने इस विधा की अलग पहचान दी है। देखा जाय तो हिन्दी दलित साहित्य का कारवां बड़ी तेजी के साथ शिखर पा लेने को बेताब है।

परन्तु एक अवरोध जो दलित-विमर्श के साथ लगातार बना हुआ है वह यह कि क्या स्वानुभूत यथार्थ ही दलित लेखक बी एक मात्र शर्त है आज हिन्दी साहित्य में गैर दलित लेखक प्रतिबद्धता और ईमानदारी के साथ दलित मुद्दों के पक्ष में मोर्चा थामे हुए है। सच तो यह है कि कई प्रगतिशील रचनाकारों को मुख्य कर्मभूमि दलित जीवन बन चुका है। दलितों के विषमतापूर्ण और अलक्षित जीवन को नजदीक से देखना, अनुभव करना उनके रचनात्मक संकल्प का हिस्सा है। यही पर ओम प्रकाश बाल्मीकि पुनः प्रासंगिक हो उठते हैं जो गैर दलित हैं, उन्हें वर्ण-व्यवस्था, जातिभेद से अपनी अमानवीयता, शोषण, उत्पीड़न की गंभीरता को समझना होगा। साथ ही यह भी तय करना होगा कि वे किसके साथ हैं। शोषक के या शोषित के।

दलित-विमर्श के अन्तर्गत यह एक अहम् सवाल है कि आखिर दलित समाज के किन किन पक्षों को हम प्राथमिकता देते हैं। सिर्फ ब्राह्मणवाद की खिलाफत, हिन्दू धर्म का बहिष्कार, वेदों-उपनिषदों और पुराणों का तिरस्कार या इसके अलावा भी और कुछ। दरअसल दलितों में इस अलगाववादी हिन्दू संस्कृति के प्रति विद्रोह का स्वर वही सर्वाधिक मुखर है जहाँ वे शिक्षित और जागरूक हैं और विगत सभ्यता के विषैले दंश को महसूस करने लगे हैं। प्रश्न यह उठता है कि दलित वर्ग का कितना प्रतिशत हिस्सा आज सही मायने में शिक्षित है सचेत है। अभी भी इस प्रश्न का उत्तर बेहद निराशाजनक और चकित कर देने वाला है। भारत में दलित मनुष्य आज भी सर्वाधिक गाँवों में बसता है। कई प्रांतों में उनकी अलग-थलग बस्तियाँ भी हैं, पर हैं वे गांव के रंग ढंग में ही। शिक्षा के नाम पर प्राइमरी और जूनियर हाईस्कूल का राज है। यहीं तक उनकी सर्वोच्च पढ़ाई होती है। इसके बाद विद्यार्थी जीवन खत्म, पढ़ाई पूरी और जीवन की असली पढ़ाई, अभावों संघर्षों से लड़ाई के रूप में शुरू। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब आए भला ऐसा कौन सा प्रान्त है जहाँ हजारों बंदिशों और आधातों में जीता हुआ यह दलित मानव न मिल जाय। आज हिन्दी

साहित्य में जितना भी दलित यथार्थ सामने आया है, वह सम्पूर्ण सच का अर्धसत्य है शायद इससे भी कम। दूसरी चिन्ता यह कि कविता, कहानी या उपन्यास के मैदान में दलित साहित्य का निराला या प्रेमचन्द नहीं प्रकट हुआ है। जब तक इस कद का कोई रचनाकार इस साहित्य में खड़ा नहीं हो जाता, सच्चे अर्थों में दलित सभ्यता की आजादी अधुरी रहेगी।

आज दलित चिन्तकों कवियों और लेखकों को एक समाजशास्त्री की तरह गांवों में इस समुदाय का प्रामाणिक अध्ययन करने उनका साक्षात्कार करने और सीधे उन्हीं की जुबान से आपबीती सुनने की जरूरत है। मीडिया में उनका सच बहुत कुछ छनकर सामने आता है। उनके अन्धकारपूर्ण जीवन की न जाने कितनी सारी कटु वास्तविकताएं गुमनामी में सुलगती हुई समाप्त हो जाती हैं। अपने प्रबुद्ध मस्तिष्क पर उनके जीवन का अपार ऋण मानकर जब तक हम स्वयं जाकर उनके द्वार पर उनका दरवाजा नहीं खटखटाएंगे तब तक उनकी मुक्ति का दरवाजा बंद ही पड़ा रहेगा। जनतंत्र पर पूरा अधिकार जनता का है। सिर्फ अधिकार ही नहीं जनता की उम्मीदें भी इससे जुड़ी हुई हैं उनके भविष्य को, पूरे देश के भविष्य को उज्ज्वल बनाने की उम्मीद। और इस उम्मीद को सफल बनाने का दायित्व राजनीति के कंधों पर है क्योंकि जनतंत्र रूपी विश्व महारथ के सारथी है राजनीति, जो जनतंत्र को संवारता भी है और बिगाड़ता भी है।

पूर्ण अधिकार हाथों में होने के बावजूद भी जनता को कई बार निराश होना पड़ा है क्योंकि राजनीति ने बहुत बार उनसे धोखा किया है। पहले भारत को राजनीति आदर्श और ईमानदारी पर टिका था लेकिन आज वह स्वार्थपूर्ति के सत्तातंत्र के रूप में विख्यात है। आज की राजनैतिक व्यवस्था ने दुनिया के सबसे विशाल प्रभुसत्तासंपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य को भ्रष्टाचार की खाई में गिरा दिया है। स्वतंत्रता पूर्व भारतीय राजनीति का लक्ष्य केवल देश की स्वतंत्रता था। जनता भी आजादी के बाद के खुशाहाली के सपने देखने लगी थी। लेकिन स्वतंत्रता के बाद धीरे धीरे राजनीति में सत्तातंत्र का समावेश होने लगा। जनता मोहभंग का शिकार बन गयी।

बाबा साहब आंबेडकर ने जाति प्रथा को हिन्दू समाज के पतन का प्रमुख कारण माना था। मनुष्य को मनुष्य न मानकर पशुओं से भी नीचा मानकर घृणा का पात्र बनाकर रखनेवाली इस व्यवस्था से वे सख्त नफ़रत करते थे: **"यहाँ निम्नजातियों का मनुष्य बिलकुल पशु के रूप में रहा है।"**¹ 'गुलामगिरी' में महात्मा **ज्योतिबा फुले** आग्रह करते हैं कि अछूत लोग भी स्वतंत्रता का अनुभव करें और जुल्म व शोषण से मुक्त होकर चैन की ज़िन्दगी जियें।

¹ जोशी, पूरन चन्द्र . परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम . पृ. सं.- 229

'Annihilation of caste' नामक पुस्तक में हिन्दू समाज की जाति- व्यवस्था पर सविस्तार से चर्चा करते हुए **आंबेडकर** लिखते हैं, कि जाति व्यवस्था को समाज से उखाड़ फेंकना बहुत जरूरी है वरन् करोड़ों लोग जो सदियों से दबे कुचले हैं, अपने मानवीय अधिकारों से वंचित हैं, उनका उद्धार नहीं हो सकेगा। वे अभिशप्त जिन्दगी गुज़ारने के लिए बाध्य रह जाएंगे। इसीलिए उन्होंने भारतीय समाज से जाति को व्यवस्था का सर्वनाश करना चाहा ताकि जाति के नाम पर पीड़ित होने वाले मनुष्यों को भी गर्व से जीने का अवसर और अधिकार नसीब हो। उनके संघर्षों की वजह से थोड़ा तो बदलाव आया लेकिन आवश्यक बदलाव नहीं हुआ। दलित की स्थिति आज भी दयनीय है :

"कोड़ों पर कोड़े बरसाते

हमारे पाँवों में

मन मन की बेड़ियाँ डालते

हमारी जिल्हा काट"¹

भारतीय समाज में जाति एक बहुत बड़ी समस्या है जो हर किसी के जीवन और नियति से संबन्ध रखता है। ओमप्रकाश वाल्मीकी की राय में जाति, पैदा होते ही व्यक्ति की नियति निर्धारित करती है। मनुष्य को एक दूसरे से अलग रखने के लिए मनुष्यों द्वारा बनाया गया, अलगाव का, भेदभाव का एक माध्यम है जाति। 'दलित विमर्श की भूमिका' में **कँवल भारती** लिखते हैं- **जाति एक ऐसी राक्षस है, जो आप कहीं भी और किसी भी दिशा में जायें, वह आपका रास्ता ज़रूर काटेगा।**² इस प्रकार दलित की जाति हमेशा उसके पीछे लगा रहता है **'बस्स! बहुत हो चुका'** नामक काव्य संकलन में ओमप्रकाश वाल्मीकी लिखते हैं :

"स्वीकार्य नहीं मुझे

जाना

मृत्यु के बाद

तुम्हारे स्वर्ग में

¹ झाल्टे, दंगल . कौओं का पाठशाला . पृ. सं.- 45

² जोशी, पूरन चन्द्र . परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम . पृ. सं.- 256

**वहाँ भी तुम
पहचानोगे मुझे
मेरी जाति से ही।”¹**

जाति किस प्रकार मनुष्य की पहचान का माध्यम बन गयी है, इसे कवि ने व्यक्त किया है। इसी पहचान को मिटाने के लिए आंबेडकर ने आवाज़ उठायी थी। देश तो आज़ाद हो गया, संविधान ने जाति-प्रथा पर रोक भी लगा दी। फिर भी वह व्यवस्था आज भी बरकरार है। भारतीय संविधान ने समता का अधिकार प्रदान करते हुए सामाजिक ढाँचे को सुदृढ़ करने की कोशिश की। संविधान शिल्पी अम्बेडकर ने तहे दिल से चाहा था कि भारतीय समाज में असमानता का व्यवहार न रहे। खासकर दलितों पर होनेवाले अमानवीय व्यवहारों पर रोक लगाने के लिए संविधान का यह प्रावधान काफ़ी था। लेकिन यह प्रावधान सार्थक व सफल नहीं हुई। आज भी भारतीय समाज में दलित असमानता के व्यवहार का शिकार है और उसके साथ क्रूर अमानवीय व्यवहार होते रहते हैं :

**"वह बिलकुल नहीं समझ पाता है
उसके पिता हमेशा क्यों उकड़ूँ बैठते हैं
कुर्सी पर बैठे आदमियों के बीच
जब सहपाठियों को बैठने के लिए मिलती है
पाठशाला में टाट पट्टी
उसे क्यों लापड़ताना है बैठने के लिए बोरा।”²**

दलित उत्पीड़न को दंडनीय अपराध बनाकर संविधान ने दलितों पर होनेवाले अत्याचारों पर भी रोक लगा दी। 'नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम', 'अत्याचार निवारक अधिनियम' आदि के ज़रिए भी दलितों के स्तर को ऊँचा करने की कोशिश की। उद्धार के तमाम प्रावधानों के बावजूद भी दलित की स्थिति में बदलाव नहीं आया है। "वक्त बदला है। लेकिन कहीं कुछ है जो सहज नहीं होने देता।.... आज जाति एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटक है। जब तक यह पता नहीं होता कि आप दलित है, तो सब

¹ वाल्मीकि, ओम प्रकाश . बस्स ! अब बहुत हो चुका . पृ. सं.- 78

² दास, विनोद . खिलाफ हवा से गुज़रते हुए . पृ. सं.- 38

कुछ ठीक रहता है। जाति मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है।"¹ पूरे दलित समाज पर, वर्ण और जाति के नाम पर हुए अमानवीय व्यवहार को कवयित्री रमणिका गुप्ता ने यों चित्रित किया है :

"तुम काले हो

न जाने कितनी सदियों की

दासता कुण्ठा यातना ग्लानि

और अपमान

झुलस कर समाए हैं इस कालेपन में।"

वर्ण व्यवस्था की क्रूरताओं पर कवयित्री ने प्रकाश डाला है। काले वर्ण को बुराई और गुलामी का प्रतीक माननेवाले सभ्यता के सिद्धान्तों पर कवयित्री ने उंगली उठायी है। उस कालेपन के पीछे की दासता, कुण्ठा, यातना और अपमान के इतिहास की ओर भी इशारा है। आंबेडकर ने पहले से ही चेतावनी दी थी कि केवल राजनीतिक जनतंत्र से संतुष्ट न हो जाँ साथ ही सामाजिक जनतंत्र भी साकार करना है। लेकिन दलितों की सामाजिक स्वतंत्रता आज भी कागज़ी तथ्य बनी हुई है ।

बंधुआ मज़दूरी की प्रथा से सबसे ज़्यादा पीड़ित और शोषित होता है दलित। अपने आप को और अपने परिवार के सदस्यों की मेहनत और मज़दूरी को ऋण के तौर पर रखनेवाला दलित मज़दूर कभी भी उस चक्रव्यूह से नहीं निकल पाता। वह सिर्फ तब ही बच सकता है जब उसका ऋण पूर्ण रूप से चुक जाए। लेकिन उसके दयनीय आर्थिक वातावरण में वह कभी भी अपना कर्ज चुकाने लायक नहीं रहता फलस्वरूप उसे और उसके पीढ़ी दर पीढ़ी को इस असमंजसता का शिकार होना पड़ता है :

"तुम्हारी नियति

अब उनके हाथों में है

तुम्हारी नहीं है

अब कोई अपनी नियति।"

¹ राजकिशोर (स.) . हरिजन से दलित . पृ. सं.- 25

बंधुआ मज़दूरी के इस अनीति और अत्याचार पूर्ण व्यवस्था के खिलाफ आंबेडकर ने आवाज उठाया थी। आज, इस प्रथा को अवैध घोषित करने के बावजूद भी देश में कहीं कहीं पर यह जारी है। सरकार ने बंधुआ मज़दूरों के पुनर्वास के लिए कई योजनाएँ भी बनायीं, लेकिन वह भी उन तक ठीक रूप से नहीं पहुंचा। वे आज भी, मज़दूरी करने के बावजूद भी, भरपेट नहीं खा पाते :

'दिहाड़ी के मज़दूर' नामक कविता में **श्री कृष्णावतार पाण्डेय** बंधुआ मज़दूरों की दुस्थिति को इस प्रकार चित्रित करते हैं :

"कुछ चेहरे-सूखे

मुँह भूखे पेट लौटते

कल फिर आने के लिए

अपने अपने घुसे

दरबों में मुर्गियों की तरह

जबड़ों में दबाये

अपने भूखे नंगे बच्चों

के दर्द की टीस।"

बंधुआ मज़दूरों के साथ सदियों से जो अन्यायपूर्ण व्यवहार होता रहता है इसे पंक्तियों में देख सकते हैं। पूर्वजों के कर्ज के नाम पर पीढ़ी दर पीढ़ी को शोषित करते रहने वाले पूंजीवादी मानसिकता का खुला चित्रण करके कविता ने इस प्रथा को समाप्त करने की चाह व्यक्त की है। आंबेडकर की बहुत बड़ी चाह थी कि अपने ऊपर होने वाले शोषण व अत्याचार के खिलाफ दलित प्रतिरोध करें और संघर्ष करके अपने अधिकार पा लें। उनके जोड़ तोड़ प्रयत्न की वजह से दलित अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारों को पहचानने लगे और विरोध भी करने लगे। समकालीन कवियों ने दलित के इस प्रतिरोध में उनका साथ दिया। "जो दलित थी सर्वहारा थी, जिसके लिए बदलाव अपेक्षित था। बदलाव केवल राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक स्तर पर भी, समानता केवल वर्गीय अर्थात् आर्थिक स्तर पर नहीं प्रत्युत सामाजिक स्तर

पर भी।"¹ इन सभी स्तरों में बदलाव लाने के लिए समकालीन कवियों ने उनका साथ दिया। दलित के जीवन की दयनीयता को दिखाते हुए कवि **ओम प्रकाश वाल्मीकि** व्यवस्था से पूछते हैं :

"कभी सोचा है

गन्दे नाले के किनारे बसे

वर्ण व्यवस्था के मारे लोग

इस तरह क्यों जीते हैं?"²

कवि द्वारा उठाया गया यह सवाल समाज की गन्दी मानसिकता पर एक प्रश्नचिह्न है। मनुवादियों के शोषणतंत्र में फँसकर सारे दलित समाज की अवनति हुई है और कवि ने उन मनुवादियों पर, उनके शोषण नीतियों पर सवाल उठाया है। समाज द्वारा बनाये गये वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा की क्रूरताओं के शिकार दलित से, कवयित्री रमणिका गुप्ता, मनु के द्वारा बनाये गये मिथकों को तोड़कर आज़ादी का ऐलान करने को कहती हैं। कवयित्री पूछती हैं

"क्या तुम बनोगे स्पार्टकस

मिटाने मनु का मिथक

रचोगे खुद ही चक्रव्यूह?"³

आंबेडकर ने प्रतिरोध का जो स्वरूप दलितों को दिखाया था, उसी रास्ते पर चलके दलित अपने ऊपर होनेवाले अमानवीयताओं और अन्याय से संघर्ष करने की शक्ति आर्जित कर रहे हैं। डॉ. भीमराव रामजी आंबेडकर ने भारत के रूढ़ीग्रस्त वरेण्य संस्कार के खिलाफ जो आवाज़ उठायी थी, वह आज भी प्रतिध्वनित है। सच्चा देशभक्त, अविस्मरणीय व्यक्तित्व, सामाजिक विद्रोह का प्रतीक आदि नामों से अभिहित बाबा साहेब ने दलितोद्धार में जो भूमिका निभाई, वह अविस्मरणीय है। सदियों से उत्पीड़ित दलित समाज को मुक्ति का नया रास्ता दिखानेवाले बाबा साहेब सच्चे अर्थों में महान दलितोद्धारक एवं श्रेष्ठ भारतीय थे ।

¹ लिम्बाले, शरण कुमार . दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र . पृ. सं.- 11

² वाल्मीकि, ओमप्रकाश . बस्स ! अब बहुत हो चुका . पृ. सं.- 51

³ गुप्ता, रमणिका . प्रतिनिधि कवितायें . पृ. सं.- 63

भारतीय समाज का मेरूदंड वर्णाश्रम व्यवस्था रही है इस व्यवस्था का उद्देश्य समाज को एक सूत्र में बाँधना था, जिससे सामाजिक क्रिया-कलाप सुचारू ढंग से चलते रहे। मनुष्य का जन्म संगठित समाज में होता है उसी में उसका जीवन-यापन और पालन-पोषण सम्पन्न होता है जिस परिवेश में वह रहता है वही उसके सम्पूर्ण अनुभवों को, जिसमें उसकी जिंदगी बनती है, गति व दिशा प्रदान करता है किसी व्यक्ति के सामने कार्य करने के कई रास्ते खुल जाते हैं और वह अपनी रूचि एवं क्षमता के अनुसार उसमें से किसी एक को चुन लेता है लेकिन उसका यह चुनाव की इच्छा भी उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं और सम्भावनाओं से संचालित होती है।

दूसरे शब्दों में देखें तो व्यक्ति को अपने सामाजिक परिवेश और जिसकी संस्कृति एक पारपार्श्व और प्रसंग प्राप्त होता है, जिसकी पृष्ठभूमि पर उसका मानसिक विकास होता है इस प्रकार वह अपनी संस्कृति और परिवेश का एक अंग बन ही जाता है और अन्ततः उसका वाहक भी। इसी रूप में सामाजिक परिवेश और संस्कृति द्वारा व्यक्ति का सामाजिकरण हो जाता है जो समाज को निरंतरता प्रदान करता है :

"समाज में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो अपने परिवेश, धार्मिक, मान्यताओं और सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करते। अगर वे साधारण व्यक्ति हुए, तो समाज उसका बहिष्कार करता है अगर वे असाधारण व्यक्ति हैं और समाज की नये मूल्यों की कल्पना करते हैं, जिससे समाज में अधिक से अधिक लोगो का कल्याण हो, तो वे लोग कान्तिदृष्ट बन जाते हैं। तथा जनमत का सहयोग मिलने पर वे समाज में परिवर्तन लाने में सफल हो जाते हैं।"¹

आर्यों ने भी भारत में जातीय विशिष्टता एवं वर्ण की विचारधारा को जन्म दिया। मूल रूप से भारत में निवास करने वाले काले वर्ण वालों को अनार्य एवं गोरे वर्ण वालों को आर्य वर्ग में रखा था, यहीं से वर्णाश्रम धर्म का सूत्रपात्र हुआ था। अन्य जातियों के साथ उनकी यह विचारधारा समायोजित हो गयी। इसी नीति के आधार पर उनका पवित्र ज्ञान एवं वर्णभेद ने ही मिलकर आर्यों एवं अनार्यों के मध्य अथवा द्विजों एवं शूद्रों के मध्य भेद-भाव की स्थिति पैदा कर दी। द्विज वे लोग थे जो कतिपय धार्मिक क्रियाकलाप सम्पन्न कराते थे और शूद्रों का कार्य था समस्त उच्च वर्ग की सेवा करना। इसी सन्दर्भ में महाभारत में कहा गया : **"जिन लोगों में सत्य दान, क्षमा उदारता, तप, दया, तथा ज्ञान हो वहीं ब्राह्मण हैं। जिनमें इसका अभाव हो वे शूद्र हैं।"**²

'मानवीय धरातल पर दलित' में सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु पर ध्यान देने की बात यह है, कि तीनों वर्षों के लिए पढ़ने की व्यवस्था और ब्राह्मण के लिए पढ़ाने की व्यवस्था थी। लेकिन विडम्बना यह थी कि मनुस्मृति

¹ रुबाली, केशव दत्त . दलित साहित्य सन्दर्भ . पृ. सं.- 01

² रुबाली, केशव दत्त . दलित साहित्य सन्दर्भ . पृ. सं.- 03

के रचनाकार ने शूद्र का कर्म केवल सेवा बताकर उसे ज्ञान प्राप्त के सामान्य अधिकार से वंचित कर दिया- आगे चलकर तो यह व्यवस्था (स्त्रीशूद्रोनिधियताम्) के रूप में और अधिक कड़ी हो गयी यदि सेवा करता हुआ कोई शूद्र धन एकत्र कर सुख का जीवन जीना चाहे तो इस भय से कहीं वह ब्राह्मणों को पीड़ित न करने लगे उसके लिए धन एकत्र करने का निषेध कर दिया गया :

“शकेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धन संचय।

शूद्रों ही धनमा साध ब्राह्मणेव बाधते।।”¹

अर्थात् “धनोपार्जन में समर्थ होकर भी शूद्र को धन संग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि धन प्राप्त कर वह ब्राह्मण को पीड़ित करने लगता है इसलिए आगे चलकर मनुस्मृति ने राजा को आज्ञा दी है कि वह शूद्र के धन को छीन ले, क्योंकि वह (शूद्र) उसका अधिकारी है ही नहीं। “शूद्रों को तत्कालीन समाज के द्वारा पूरी तरह शोषित प्रताड़ित और उनकी आत्मा का हनन कर इस दयनीय स्थिति तक पहुँचा दिया था। कि शूद्र और पशु में कोई अन्तर नहीं रह गया था। प्रसिद्ध साहित्यकार श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने लिखा है कि सामाजिक परिस्थिति ने मूल्यों को ओझल कर दिया और मानव को छोटी-बड़ी जातियों में बाँट दिया मानव के एक बड़े समूह को उन अधिकारों से वंचित कर दिया जो पशुओं को भी प्राप्त है।”²

मजे की बात यह है कि हिन्दू समाज के इस बहुसंख्यक वर्ग में इस मानवद्रोही धार्मिक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध कभी विद्रोह नहीं जागा। इसी से दमन की भयावहता का अंदाजा लगाया जा सकता है नहीं तो इस वर्ग में भी कभी कोई परशुराम पैदा हो गया होता जो अन्याय विभेद और शोषण से युक्त इस समाज व्यवस्था के नियताओं से भारत भूमि को पूर्णतः मुक्ति कराने की प्रतिज्ञा ले लेता। उच्च वर्ग के अनैतिक कार्यों और अत्याचारों को रोकने के लिए समय-समय पर उत्पन्न महान विभूतियों, सन्तों, और समाज सुधारकों ने समय-समय पर विरोध किया। मध्यकालीन कबीर, नानक, और रविदास ऐसे ही सन्त थे। सन्त रविदास के सशक्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व से तत्कालिक दलित वर्ग की पीड़ा को उजागर कर उनमें नवीन चेतना जागृति कर उनकी हीन भावना दूर की। रविदास को दलितों की पीड़ा को समझने वाला प्रथम कवि या समाज सुधारक माना जाता है जो कि हिन्दी साहित्य में एक सशक्त उदाहरण है दलित वर्ग पर हो रहे अत्याचारों, शोषण और तिरस्कार का विरोध कर मिथ्याडंबरो और कुरीतियों की निस्सारता सिद्ध की तथा जन्म से निम्न जातियों के अछूत होने की भावनाओं को निराधार कर दिया, जो कि मानवीय पीड़ा को उजागर करने में सहायक सिद्ध होता है दलित वर्ग को समानता और भ्रातृत्व से वंचित कर आधुनिक युग तक समाज

¹ मनुस्मृति . श्लोक – 10/129

² रुबाली, केशव दत्त . दलित साहित्य सन्दर्भ . पृ. सं.- 58

के द्वारा तिरस्कृत और दुःखित वर्ग अनेक अत्याचारों और शोषण का शिकार रहे हैं। "मध्यकाल में कबीर, रैदास और नानक जैसे सन्तों ने दलितों की पीड़ा को मानवीय घरातल से उठाकर उच्च वर्ग के समान ईश्वर भक्ति के अधिकारों के प्रति उनमें जागृति उत्पन्न कर दी।"¹

आधुनिक काल के अनेक समाज सुधारकों ने दलितों की पीड़ा को समझने का प्रयास किया तथा उन्हें दूर करने का आजीवन भर निरन्तर प्रयास किया। रैदास ने खुद अपने लिखी रविदास वाणी में लिखा है :

“रैदास एक नूर ही जिति उपज्यौ संसार।

ऊँच नीच किहिं विधि भए ब्राह्मण और चमार।।”²

इस अन्याय को स्पष्ट करते हुए रैदास जी ने मानवता के सर्वोच्च सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि व्यक्ति जन्म लेते समय ऊँच-नीच नहीं होता है लेकिन इस संसार में अच्छे बुरे काम मनुष्य स्वयं करता है फिर क्यों नहीं इसे मनुष्य का ऊँच-नीच का आधार बनाया गया।

“रैदास जन्म के कारण होत न कोई नीच।

नर को नीच करि डारि है औछे करम की कीच।।”³

अर्थात् इस देश को जातियों में बाँटकर मानवता को बाँटने की सफल कोशिश की है बड़े वर्ग को शिक्षा, धर्म सम्मान व धर्म से वंचित करके भी हिन्दू धर्म से जोड़े रखा। क्योंकि यदि ऐसे न किया जाता तो मुफ्त के सेवक कहाँ से मिलते इस पूरी साजिश का पर्दाफाश रैदास ने इस प्रकार किया है :

“जात जात में जात है, ज्यों केलन के पात।

रैदास न मानुष जुड़ सके ज्यों लौ न जात न जात।।”⁴

भक्ति काल के निर्गुण भक्ति शाखा के प्रमुख कवि कबीर भी दलित वर्ग से सम्बन्धित थे। उन्होंने दलितों शोषितों एवं निर्बलों तथा मुस्लिम समाज के अत्याचारों के विरोध में कविता कही। कबीर ने दलित वर्ग की संवेदना को समझा और उच्च वर्ग की नीतियों पर करारा प्रहार किया। क्योंकि वे सभी को समान रूप से देखते थे। कबीर दास जाँत-पाँत व साम्प्रदायिकता के खिलाफ बोलने वाले कदाचित अपने समय के प्रखर

¹ रुबाली, केशव दत्त . दलित साहित्य प्रकाशन . पृ. सं.- 07

² रुबाली, केशव दत्त . दलित साहित्य सन्दर्भ . पृ. सं.- 07

³ सिंह, नरेन्द्र . भारतीय समाज और दलित . पृ. सं.- 12

⁴ सिंह, नरेन्द्र . भारतीय समाज और दलित . पृ. सं.- 15

तेजस्वी और सशक्त कवि रहे हैं। उनकी रचनाओं की संप्रेषणीयता थी, इस तरह कबीर की रचना में निम्न बातों का उल्लेख हुआ है :

“संतन जात न पूछें निरगुनिया

साध ब्राह्मण साँध छन्तरी

साँधै जाति बनिया

साधन माँ छत्तीस कौम है टेड़ी तौर पुछनियाँ

हिन्दू तुर्क हुई दीन बने है कुछ नहीं पहचनियाँ।”¹

कबीर एवं रैदास की तरह भक्तिकाल के निर्गुण पन्थी कवि की कविताओं में दलित मुक्ति स्वर गूँजता है जिस तरह कबीर एवं रैदास ने हिन्दू धर्म के तीनों वर्षों द्वारा अपृथक् शूद्रों को नयी दिशा देने का प्रयास किया जो अग्रलिखित है :

“कैसे हिन्दू तुर्क कहाया, सब ही एकै हारे आया।

कैसे ब्राह्मण कैसे सूद एके हाड़ चाम एक गूद।।”²

भक्ति काल में तुकाराम की कविताओं में भी दलितों की अभिव्यक्ति को दृष्टिगोचर किया है। इस सन्दर्भ में तुकाराम ने कहा है कि सूनी उसी की जाती है जो सुना सकता है जैसा कि कवि तुकाराम का मानना है :

“अभी मैं इच्छायें धारण करके क्या करूँ,

व्यर्थ ही तोमड़ी बजाकर क्या करूँ

क्योंकि संसार में कोई भी,

खामोश लोगो की नहीं सुनता

अभी कोई लाज हित सार्थक नहीं।”¹

¹ द्विवेदी . हज़ारी प्रसाद . कबीर ग्रंथावली . पृ. सं.- 179

² कमलेश्वर . अप्रैल 1975 . सारिका सम्पादकीय

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दी दलित कविता की जड़ें काफी पुरानी हैं। विशेषकर भक्तिकाल में दलित कविता समृद्ध रूप में मिलती है। “हिन्दी साहित्य में स्वतन्त्रता के पूर्व कुछ साहित्यकारों ने दलितों के प्रश्नों को अपनी रचना की सीमा में अपने ढंग से प्रस्तुत किया। प्रतिनिधि साहित्यकारों की दलित विषयक रचनाओं की चर्चा हम विषय के अनुसार यहाँ प्रस्तुत करने की कोशिश करेंगे। जैसे कि अभी तक हमने आदिकाल से लेकर भक्ति काल तक दलित कवियों एवं दलित रचनाओं पर चर्चा की है चाहे वे आदिकाल के नाथ, सिद्ध हो या भक्तिकाल के कबीर रैदास, गरीबदास दादू आदि कवियों एवं उनकी रचनाओं के प्ररिप्रेक्ष्य में हो।”²

आज वर्तमान युग में प्रेमचन्द की विरासत का दावा करने वालों की कमी नहीं है किन्तु दलित विषयक लेखन में प्रेमचन्द के अपूर्ण कार्य को पूरा करने की दिशा में अग्रसर साहित्यकार यद्यपि कम संख्या में हैं। परन्तु हिन्दी विधाओं के अन्तर से देखें तो निराला, नागार्जुन, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, कुछ ऐसे नाम हैं जो आज तक दलित एवं दलित साहित्य के मर्म का यथार्थ चित्रण कर रहे हैं।

वैसे हम दलित चेतना की बात करें तो सबसे मुख्य नाम डॉ. अम्बेडकर जी का आता है जिन्होंने जीवनभर दलित की पीड़ा को झेला भी और करीब से देखा भी है। डॉ. अम्बेडकर इस पीड़ा से जीवनभर छटपटाते रहे और इस समस्या का हल निकालते रहे लेकिन जब समस्या का हल नहीं निकला तो उन्होंने अपने पाँच लाख अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया यह भारतीय समाज के लिए बहुत विडम्बना है। आधुनिक काल के द्विवेदी युग में द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित पत्रिका (सरस्वती) में पटना के हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' 09 सितम्बर 1914 में प्रकाशित हुई। यह दलितों द्वारा लिखी गयी कविता है जो हीरा डोम की पीड़ा को उजागर करती है। आज ऐसा लगता है कि यह एक मानवीय पीड़ा थी जो कि उस समय का समाज भोग रहा था। यह 40 पंक्तियों की लम्बी कविता उपलब्ध है मैं यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करूँगा :

"डोम जानि हमनी के छुए से डरेइले।

हमनि के राति दिन मेहनत करीले जां।।

दुइगों रूपयवा दरमहा में पाइवि।

ठाकुरे के सुखसेत घर में सुतल बानी।

¹ सिंह, श्योराज . 31 जनवरी, 1993 . हम दलित . पृ.सं.- 23

² रानी, रजत . नवें दशक की हिंदी दलित कविता . पृ.सं.- 11

हमनी के जोति जोति खेतिया कमाइबि ।।”¹

अन्तिम चार पक्तियाँ अत्यन्त कारूणिक और विचारणीय लगती है :

“हमनी के इनरा के निगिचे न जाइलेजां

पाँके में से भरि-भरि पिअतानी पानी।

पनही से पिटि-पिटि हाथोड़ तुरि दैइले,

हमनी के एतनी काही के हलकानी?”²

हम आठवें, नवें दशक की बात करें तो हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य आठवें दशक से ही उभरकर सामने आया वास्तव में, हम दलित साहित्य में कविता की बात करें तो हमे इस सन्दर्भ में आठवें दशक के उपरान्त ही अध्ययन करना पड़ेगा, विशेषतौर इस समय कुछ ऐसे दलित उभर कर सामने आये जिन्होंने दलितों की पीडा को समझा उनमे कुछ प्रमुख कवि इस प्रकार है :

1. डॉ. मनोज सोनकर
2. डॉ. राम शिरोमणि होरिल
3. डॉ. सुखवीर सिंह
4. डॉ. चन्द्र कुमार बरडे
5. डॉ. प्रेमशकर
6. डॉ. सोहन पाल सुमनाक्षर
7. डॉ. दयानन्द बटोही
8. जयशंकर नवेन्दु
9. रघुनाथ प्यास

¹ रानी मीनू रजत . नवें दशक की हिंदी दलित कविता . दलित साहित्य प्रकाशन . पृ. सं.- 13

² रानी मीनू रजत . नवें दशक की हिंदी दलित कविता . दलित साहित्य प्रकाशन . पृ. सं.- 16

10. ओम प्रकाश वाल्मीकि

11. डॉ. एन. सिंह

12. नवेन्दु महर्षि

13. सुरजपाल चौहान

14. डॉ. शरतेन्द्र

भारत में दलितों की स्थिति में आंशिक सुधार आना अवश्य है लेकिन हजारों वर्षों से चली आ रही परम्परा इतने कम समय में पूरी तरह कैसे बदल सकती है डॉ. दयानन्द बटोही की कविता 'द्रोणाचार्य सुने : उनकी परम्पराएँ सुने' इस सम्पूर्ण स्थिति का पर्दाफाश करती है जो पीड़ा द्रोणाचार्य के द्वारा एकलव्य को गुरु दक्षिणा के रूप में दी वह आज तक दलितों के लिए अकथनीय एवं असहनीय है। जो कि इस कविता के माध्यम से प्रस्तुत है :

“अब दान में अँगूठा माँगने का साहस कोई न करता

प्रेक्टिकल में फेल करता है।

प्रथम अगर आता हूँ तो या सातवाँ स्थान

देता है

जाति गंध टाइटिल में खोजता है

वह आत्मा को बेमेल करता है।”¹

डॉ. चन्द्रकुमार बरठे की कविता संग्रह "अधूरी चिट्ठी रोशनी की" दलित-चेतना में दलितों की पीड़ा को मानवीय धरातल पर लाने की कोशिश की है उन्होंने अपने आजीवन के संघर्ष, को शताब्दियों से दलित जाति के लोगों की पीड़ा उजागर किया :

“सूरज का बेटा हूँ

¹ रुबाली, केशव दत्त . दलित साहित्य . पृ. सं.- 06

मिटटी का जाया
सदियों से
अँधेरे की तानाशाही के खिलाफ
लड़ता हूँ आया।”¹

लेकिन ये मिट्टी के जाँ सदियों से जिनकी भूख ही बपौती रही है - परम्पराओं के मारे हुऐ हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि दलित व्यक्तियों की पीड़ा मानवीय धरातल पर बिराजमान है। क्योंकि जिस पीड़ा की अनुभूति दलित जन महसूस करते हैं शायद वैसी पीड़ा की अनुभूति सवर्ण समाज का व्यक्ति नहीं कर सकता है। इसलिए दलित कवियों ने अपनी इस पीड़ा को मानवीय धरातल पर उजागर करने की कोशिश की है। इस कोशिश में दलित ने अपने वर्ग का यथार्थ चित्र को उभारने की कोशिश की है, जिसे उन्होंने महसूस किया है। उसी को कविता का रूप दे दिया है।

¹ रुबाली, केशव दत्त . दलित साहित्य . पृ. सं.- 09

6.3. आदिवासियों पर प्रभाव

आदिवासी शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'आदिम निवासी'। यानी किसी भी भू- प्रदेश में जो आदिम समय से ही रहता आया हो उन्हें ही आदिवासी कहा जाना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो भू-प्रदेश यानी ज़मीन का सच्चा मालिक तो वही है। बहुत सारे ऐतिहासिक सांस्कृतिक कारणों से आदिवासी समाज प्राकृतिक संपदाओं को इकट्ठा कर अपनी ज़िन्दगी को खुशहाल करने से वंचित रहे हैं। आदिवासी शब्द के समकालीन सामाजिक अर्थ संदर्भ से यही व्यक्त होता है कि आदिवासी जंगली, बर्बर और असभ्य समाज है जिन्हें प्राकृत जीवन बिताना ही पसंद है। आदिम निवासी का अर्थ बर्बर समाज में बदलने के पीछे मुख्यधारा समाज की वर्चस्ववादी नज़रिए को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। **रमणिका गुप्ता** अपनी पुस्तक '**आदिवासी अस्मिता का संकट**' में यू. एन. ओ. द्वारा परिभाषित आदिवासी राष्ट्र का संदर्भ यों देती है : "आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से है, जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत अथवा अन्य किसी तरह से वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में ढकेल दिए जाने के पहले से ही वहाँ रह रहे थे।"¹

आदिवासी समाज अपनी ज़मीन से बहुत गहरी रूप से जुड़ा हुआ है। वैसे तो हर मनुष्य के पूर्वजों ने हज़ारों साल जंगल में गुज़ारा किया है। हमारे डी. एन.ए. में हुए बहुत सारे उत्परिवर्तन भी जंगल में रहने के दौरान ही संपन्न हुआ है। पच्चीस लाख साल तक फैले पूरे मानव इतिहास में मनुष्य का जंगल से बाहर आकर कोई दस हज़ार साल भी पूरा नहीं हुआ है। ऐसे में जो लोग जंगल और अपनी संस्कृति से गहरी रूप से जुड़े थे उन्हें अपनी सदियों पुरानी संस्कृति को तिलांजली देना सहज नहीं लगा था। जिन लोग ने जंगल से बाहर आकर अपने को सभ्य और आदिवासियों को असभ्य घोषित किये हैं उन्हें समझना चाहिए कि मानवीय संबंधों की सामूहिता का सहज रूप आज आदिवासियों में ही शेष है। सभ्य कहलाने वाले समाज की सामूहिकता के भाव जहाँ लगातार कृत्रिम और अमानवीय होता गया वहाँ आदिवासी समाज आज भी अपनी जड़ों से नहीं कटे हैं। अपने को सभ्य कहलाने वाला समाज आदिवासियों के संदर्भ में बहुत सारे पूर्वाग्रहों से युक्त है। इन पूर्वाग्रहों को प्रश्नांकित करना आदिवासी अस्मिता के लिए बेहद ज़रूरी भी है। समकालीन आदिवासी साहित्य आज यही काम कर रहा है। **महादेव टोप्पो** पूछते हैं :

"संविधान की भाषा में हम

अनुसूचित जाति या

¹ गुप्ता, रमणिका . आदिवासी अस्मिता का संकट . पृ. सं.- 52

अनुसूचित जनजाति हैं
मनु की भाषा में शूद्र
कम्यूनियेटों की भाषा में शोषित
भाजपाइयों की भाषा में पिछड़े हिन्दु
मैं पूछता हूँ तुम सबसे
आखिर इस देश में इस प्रजातंत्र में
हम क्या हैं हम क्या हैं ?"¹

समकालीन समय में आदिवासी समाज का हाशिए में दम घुट रहा है। उन्हें लगातर अपनी ज़मीन से विस्थापित होने के लिए मजबूर किया जा रहा है। समकालीन शासन प्रणाली की किसी भी स्तर को उनकी यथार्थ स्थिति का सही अंदाज़ा नहीं है। आदिवासियों से संबन्धित इन सारी स्थितियों को समकालीन आदिवासी कवि बेहद संवेदनात्मक धरातल पर उजागर कर के उनकी वास्तविक समस्याओं से हमें रूबरू करा रहे हैं। समकालीन आदिवासी कवियों में उल्लेखनीय है **हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, अनुज लुगुन, निर्मला पुतुल, तेजी ग़ोवर, सरिता सिंह बडाईक, जसिंता केरकेट्टा** आदि।

साहित्य को दुनिया भर के पर्यावरणीय आंदोलनों ने प्रभावित किया है। भूमंडलीकरण के पश्चात् अवनयित होते गए पर्यावरण और पारिस्थितिकी के हास ने इस विषय को वैमर्शिक आधार प्रदान किया। साहित्य के पर्यावरणवादी पाठ ने आलोचना का एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसे पारिस्थितिक आलोचना-अथवा **'इकोक्रिटिसिज्म'** के रूप में जाना गया। साहित्य की सभी विधाओं, सिनेमा, मीडिया और अन्य अनुशासनों में इनके पारिस्थितिकीय पाठ और आलोचना के सिद्धांत प्रस्तुत हुए।

आदिवासी कविता को सामान्यतः शोषण के प्रतिरोध और अस्मिता के संघर्ष के रूप में देखा जाता है। यह तर्कसंगत भी है क्योंकि आदिवासियों के सम्मुख अस्मिता और अस्तित्व का बड़ा संकट है। कविता सौंदर्यबोध के साथ अपने वर्ग की अनुभूत जटिलताओं और संवेदनाओं का स्वर अपने भीतर लेकर चलती है। **हरिराम मीणा** ठीक टिप्पणी करते हैं कि, **"इस दृष्टि से आदिवासी कविताओं का विश्लेषण किया जाएगा तो कविता के लिए आदिवासी जीवन का गहन अनुभव, विषयानुरूप भाषा का मुहावरा, संप्रेषणीयता और प्रकृति तथा मानवता के दुःख-सुख में शामिल होने की प्रेरणा आदि की बातें भी**

¹ टोप्पो, महादेव . मैं पूछता हूँ . पृ. सं.- 49

सामने आयेंगी।”¹ आदिवासी प्रकृति के साहचर्य में निवास करते रहे हैं। उनका प्रकृति-प्रेम कथित मुख्यधारा के सभ्य समाज से भिन्न और नितांत नैसर्गिक है। उनकी लड़ाई जल-जंगल और ज़मीन के साथ पर्यावरण की भी लड़ाई है। प्रकृति के साथ बेरहम छेड़खानी केवल आदिवासियों के अस्तित्व का संकट नहीं है बल्कि सम्पूर्ण मानवता व मानवेतर प्राणी जगत के लिए खतरा है। पर्यावरण प्रेमियों के साथ आदिवासी कविता भी सुर मिलाती है।

आदिवासी कविता के पास प्रतिरोध के स्वर के साथ एक पारिस्थितिक सौंदर्यबोध है। जो इस भूमंडलीकृत दुनिया में मनुष्य के प्रकृति से हुए अलगाव को अभिव्यक्त करती है। समकालीन आदिवासी कविता अपने पर्यावरण, अपने प्राकृतिक वातावरण और निवास के प्रति सजग है। वह अपनी जल-जंगल और ज़मीन की लड़ाई में मनुष्य और प्रकृति के सहयोगी साहचर्य का सार्वभौमिक संदेश धारण किए हुए है। **अनुज लुगुन** की पंक्तियाँ हैं :

“हमने चाहा कि

पंडुकों की नींद गिलहरियों की धमाचौकड़ी से भी टूट जाए

तो उनके सपने न टूटें

हमने चाहा कि

फसलों की नस्ल बची रहे

खेतों के आसमान के साथ

हमने चाहा कि जंगल बचा रहे

अपने कुल-गोत्र के साथ

पृथ्वी को हम पृथ्वी की तरह ही देखें

पेड़ की जगह पेड़ ही देखें

नदी की जगह नदी

¹ मीणा, हरिराम (सं.), समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, 2013 संस्करण, पृष्ठ- 8

समुद्र की जगह समुद्र और

पहाड़ की जगह पहाड़”¹

समकालीन हिंदी कविता आदिवासी समाज के यथार्थ को चित्रित करने में महत्वपूर्ण साबित हुई है। इसमें समकालीन कवियों द्वारा आदिवासी समाज की समस्याओं, अस्तित्व, अस्मिता, अधिकारों, सामाजिक सरोकार तथा जल-जंगल-जमीन के संघर्ष के बारे में गहन चिंतन-मनन किया गया है। इस कविता के मूल स्वर में आदिवासी कवयित्री 'निर्मला पतल' का भोगा हुआ यथार्थ है। इन्होंने व्यवस्था से जल जंगल और जमीन के सवाल को मुखरता से उठाया है। साथ ही अपने इलाके की भयंकर समस्याओं को भी रेखांकित किया है। जैसे सूखे, अकाल, भूख, बिमारी आदि समस्याएं प्रमुख हैं। इस सन्दर्भ में कविता की ये पंक्तियाँ सोचने पर मजबूर करती हैं :

"मैं अपने इलाके के सूखे और / अकाल की चर्चा करना चाहती हूँ आपसे

भूख बिमारी से लड़ते-मरते मंगरू, बुधवा और

इलाज के लिए राशन कार्ड गिरवी रखने वाले समरू पहाड़िया की

बात करना चाहती हूँ / जड़ खाकर ज़िंदा संतालों

और चूहे पकाकर खा रहे भूखे नंगे-पहाड़ियों की / बात करना चाहती हूँ”²

हिन्दी कविता के व्यापक परिदृश्य पर दृष्टिपात करने पर आदिवासियों के जीवन संघर्ष पर केन्द्रित कविताओं का अकाल सा दिखाई पड़ता है। यह नीरसता यहाँ तक परिलक्षित होती है कि आदिवासी समुदाय को जानने या समझने के लिए कविता के रास्ते से होकर गुजरना चाहे तो निराशा हाथ लगती है। किन्तु आदिवासियों द्वारा आदिवासी जीवन संघर्षों को लेकर लिखी कविताएँ नया रास्ता दिखाती हैं। आदिवासी कविताओं में मूल स्वर पहचान के संकट को लेकर जद्दोजहद है। वैश्विक परिदृश्य में यह सांस्कृतिक संकट के रूप में सुरसा की तरह मुँह बाँँ खड़ा है। सब कुछ निगल जाना चाहता है। आधुनिकता के बघनखे में नुचते समुदाय के सामने विकास का दानव आदिवासी जीवन के मुख्य आधार जल, जंगल, जमीन और जोरू को निगल जाना चाहता है। महादेव टोप्पो की कलम प्रतिरोध के साधन गढ़ती है। आदिवासी समुदाय की

¹ लुगुन, अनुज, हमारी अर्थी शाही नहीं हो सकती, समकालीन आदिवासी कविता, मीणा हरिराम (.सं), अलख प्रकाशन, 2013 संस्करण, पृष्ठ 15 - , 16

² यादव, राजेन्द्र सं. . हंस, अंक-मई-2005, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.30

सामुदायिकता ही उसकी पहचान है अब पहचान का संकट है तो इस संकट से उबरने का रास्ता भी सामुदायिक शक्ति से निकलेगा :

"यह है सबसे बड़ा खतरा कि हम अपनी पहचान

खो रहे हैं, खो रहे हैं कि हम अपने स्वाभाविक

स्वर न मिमिया रहे न गरज रहे हैं इसी

कारण ऊंची अट्टालिकाओं में पंखों के नीचे

हमारी असमर्थता पर मुस्करा रहे हैं

इसलिए मित्र आओ हम पहले अपने कंठों

में गरजती हुई आवाज भरे।"¹

'सबसे बड़ा खतरा' कविता में कवि महादेव टोप्पो आदिवासी समुदाय को संगठित और शिक्षित करने का आवाहन करते हैं। आदिवासियों को अन्याय, अत्याचारों के विरुद्ध उसे स्वयं लड़ाई लड़नी होगी तभी उनके जीवन में उपेक्षित बदलाव या परिवर्तन संभव हो पायेगा। आदिवासी संस्कृति और समाज, आदिम जातियाँ या आदिम समाज नहीं है, उससे भिन्न सभ्यता और संस्कृति का समाज है। "जिस साहित्य में प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुसरण नहीं हो, संपूर्ण जीव जगत की अवहेलना हो, जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार नहीं करे, जहाँ सहानुभूति, स्वानुभूति के बजाय सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वर-संगीत हो और जो मूल आदिवासी भाषाओं में नहीं रचा गया हो वह आदिवासी साहित्य नहीं है।"² ग्रेस कुजूर के शब्दों में "आदिवासी समाज न अपनी औरतों का अपमान करता है और न ही उनके साथ हिंसा से पेश आता है। वह दुनिया में सहअस्तित्व और सहजीविता का सबसे बड़ा पैरोकार है। लेकिन हिंसा और गैर बराबरी के खिलाफ डटकर खड़े इस आदिवासी समाज को ही खत्म करने की कोशिश हो रही है। इस आदिवासी दर्शन को विस्थापित करके दुनिया को बचाया नहीं जा सकता है।"³ आदिवासी कथा साहित्य में जल, जंगल, जमीन और जोरू का सवाल ऐसे ही नहीं उठता अपितु वह पूरी तरह से आदिवासी संस्कृति को आत्मसात कर रहा होता है।

¹ टोप्पो, महादेव . सबसे बड़ा खतरा . आदिवासी स्वर और शताब्दी . पृ. सं.- 21

² <https://www.setumag.com/2018/06/Shukla-Hindi-Poetry-Tribal.html?m=1>

³ <https://www.setumag.com/2018/06/Shukla-Hindi-Poetry-Tribal.html?m=1>

आदिवासी कवियों में महादेव टोप्पो, निर्मला पुतुल, हरिराम मीणा, वाहरु सोनवणे, केशव मेश्राम, अनुज लुगुन, रामदयाल मुंडा, सरिता बड़ाइक, डॉ.मंजु ज्योत्स्ना, दीनानाथ मनोहर आदि ने आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं, सामाजिक विद्रोह, नारी का जीवन संघर्ष, सामाजिक संघर्ष, आदिवासी न्याय व्यवस्था, विस्थापन, अस्तित्व की समस्या और अशिक्षा, व्यवस्था के शोषण-दमन को शब्दबद्ध किया है। आदिवासी कविता जीवन की भट्टी में जलते समुदाय की त्रासद जीवन यात्रा की बानगी मात्र नहीं यह आदिवासी समुदाय के जीवन संघर्ष का दस्तावेजीकरण है :

“हम मंच पर गए ही नहीं

और हमें बुलाया भी नहीं

उंगली के इशारे से

हमें अपनी जगह दिखाई गई

हम वही बैठे रहे

हमें शाबासी मिली

वे मंच पर खड़े होकर

हमारा दुःख हमसे ही कहते रहे

हमारा दुख हमारा ही रहा कभी उनका नहीं हो पाया

हमने अपनी शंका फुसफुसाई

वे कान खड़े कर सुनते रहे

फी ठंडी साँस भारी

और हमारे ही कान पकड़ कर हमें डाँटा

माँफी माँगों वरना..”¹

¹ गुप्ता, रमणिका . आदिवासी स्वर और शताब्दी . पृ. सं.- 101

आदिवासी चिंतन आदिवासियों का तथाकथित सभ्य समाज के प्रति मुखर विरोध का स्वर है। जिसके मूल में विसंगतियों के प्रति प्रतिरोध का भाव है। आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। इसमें आदिवासियों की परंपरा, रूढ़ियां, संस्कृति, अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण सभी कुछ बयान हो रहा है। लोककला, संगीत, नृत्य, संस्कृति, भाषा, बोली, लिपि आदि विभिन्न धरातलों पर आदिवासी लेखन एक व्यापक विमर्श का हिस्सा बन रहा है। साहित्य और कला, साहित्य और जीवन के बीच जो दीवारें समाज में खड़ी हैं, उन दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याओं को बदलना जरूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई प्रथाएं लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएं विद्यमान हैं जिसे शब्दबद्ध नहीं किया गया है। हजारों वर्षों से चली आ रही परंपराएं कभी थमी नहीं।

वे परम्पराएं आज भी मौलिक रूप में आदिवासी जीवन का अभिन्न अंग रही हैं। फिर इसे साहित्य कैसे नहीं कहेंगे। ऐसी दलीलें इस बात की आवश्यकता जता रही हैं कि आदिवासी साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। आदिवासी विमर्शकार डॉ. विनायक तुकाराम के अनुसार, "आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। आदिवासी साहित्य उन वन जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है जिनके आक्रोश पर मुख्यधारा की समाज व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं धरे। यह गिरि, कंदराओं में रहने वाले अन्याय ग्रस्तों का क्रांति साहित्य है। सदियों से जारी क्रूर और कठोर न्याय व्यवस्था ने जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह की मुक्ति का साहित्य है- आदिवासी साहित्य।"¹ आदिवासी साहित्य प्रकृति से जुड़े, सतत जीवन के अभ्यासी जंगलों में रहने वाली आदिम जातियों का साहित्य है। जिनका मूलस्वरूप अभी तक आधुनिक सभ्यता के कुहासे से दूर है। इसका कारण जीवन से जद्दोजहद समुदाय की ताकत है तो अपनी सभ्यता और संस्कृति को बचाए रखने की धुन इनकी पहचान है।

निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री के जीवन संघर्ष और चेतना के साथ प्रति एकाग्रचित भाव से खड़ी है। उनके संस्कारों में संधाली आदिवासी समुदाय के लगभग 5000 वर्षों की थाती है। उनके शब्द जीवन के श्वास-प्रश्वास का शब्दांकन है। अनुभव का अथाह संसार है। शहरी संस्कृति के संपर्क में आने के बाद भी अपने मूल की थाती को संजोकर चलने की जिद है। यही जिद निर्मला पुतुल को निर्मला पुतुल बनाती है। जिसमें जीवन के जद्दोजहद की निर्झरनी सतत कलकल प्रवाहित है। आदिवासी स्त्रियों की आत्मा को भावनात्मक श्रम के साथ उनके उपेक्षित हृदयों को और उसमें सुलगते प्रश्नों को शब्दों के माध्यम से वाणी देने का प्रयत्न किया है। आदिवासी पारिवारिक संरचना के बीच केन्द्रीय धूरी के रूप में उपस्थित आदिवासी

¹ <https://www.setumag.com/2018/06/Shukla-Hindi-Poetry-Tribal.html?m=1>

स्त्री। परिवार के लिए हाड़तोड़ मेहनत कर अपना घर-परिवार चलाती है। आदिवासी स्त्री अपने हक की बात नहीं कर सकती क्योंकि हक जताना सिर्फ पुरुषों का अधिकार है :

"हक की बात न करो मेरी बहन

मत माँगो पिता की सम्पत्ति पर अधिकार

ज़िन्नत मत करो पत्थरों और जंगलों की अवैध कटाई का

सूदखोरों और ग्रामीण डॉक्टरों के लूट की चर्चा न करो बहन

भरी पंचायत में डायन करार कर दण्डित की जाओगी।"¹

आदिवासी जीवन संघर्षों को शब्दबद्ध करती हुई रमणिका गुप्ता लिखती है, "जंगल माफ़िया कीमती पेड़ उससे सस्ते दामों पर खरीदकर, ऊँचे दामों पर बेचता है और करोड़पति बन जाता है। पेड़ काटने के आरोप में आदिवासी दंड भरता है या जेल जाता है। सरकार की ऐसी ही नीतियों के कारण आदिवासी ज़मीन के मालिक बनने के बजाए पहले मज़दूर बने फिर बंधुआ मज़दूर।"²

आदिवासी स्त्री का जीवन लोहे के काँटों पर चलने सरीखा है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आदिवासी समुदाय के हित संरक्षण के लिए काम करने वाली सामाजिक संस्थाएँ जो आदिवासी समाज के हित में कार्य करती हैं उनकी नियत में भी खोट होता है। समाज सेवा करने निकले समाजसेवी कुछ ग्रामीण भागों में कार्य करने वाले अफ़सर, ठेकेदार, बिचौलिये आदिवासी श्रम एवं स्त्री का शोषण करने से नहीं चूकते। इन्हें प्रायः अशिक्षा, भय तथा भोलेपन का शिकार होना पड़ता है। कभी जंगल के अधिकारी, लेखापाल, सिपाही तो कभी राजनेता एवं ठेकेदार का शिकार होना पड़ता है। शिकार होना तो जैसे उनकी नियति है। वस्तु से भी बदतर स्थिति है कहीं भी किसी के द्वारा कुछ भी घृणास्पद, अमानवीय, त्रासद :

"एक ऐसी चीज़

जिसे घाट में, बाट में

जहाँ मिले थाम लो

जब जी चाहे अंग लगा लो

¹ पुतुल, निर्मला . नगाड़े की तरह बजते शब्द . पृ. सं.- 24

² गुप्ता, रमणिका . आदिवासी विकास से विस्थापन . पृ. सं.- 12

पूरी हवस तो त्याग दो

न चीख न पुकार।"

आदिवासी कविताओं का वितान विषय के वैविध्य से अटा पड़ा है। श्रुति-स्मृति की जबरदस्त व्यवस्था रही है। आदिवासी साहित्यकारों के लिए यह कथ्य-वस्तु का कोष है। जहाँ से जितना चाहो, सामर्थ्य भर सिक्त हुआ जा सकता है। मौखिक साहित्य की समृद्ध परंपरा का लाभ आदिवासी रचनाकारों को मिला है। आदिवासी साहित्य की उस तरह कोई केंद्रीय विधा नहीं है, जिस तरह स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की आत्मकथात्मक लेखन है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक-सभी प्रमुख विधाओं में आदिवासी और गैर-आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी जीवन समाज की प्रस्तुति की है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। 13 जनवरी 2013 की घटना जारवा आदिवासी महिलाओं को विदेशी पर्यटकों के सम्मुख नाचने के लिए मजबूर किया गया तथा उनकी अर्धनग्न तस्वीरें इंटरनेट पर अपलोड की गईं। व्यापारी आदिवासी लड़कियों को बहला फुसलाकर भगा ले जाते हैं और उन्हें देह व्यापार हेतु झोंक दिया जाता है।

आमतौर पर नाबालिग तथा गरीब परिवारों की लड़कियों को अपना शिकार बनाकर तस्कर सम्पन्न राज्यों में बेच देते हैं। झारखंड, असम, पश्चिम बंगाल जैसे पिछड़े राज्यों की गरीब लड़कियाँ गाय-बैल से भी कम कीमत पर बिक जाती है। "सरकारी और गैर-सरकारी सूत्रों के मुताबिक हरियाणा और पंजाब जैसे राज्यों में गरीब ख़ासकर आदिवासी लड़कियों की कीमत ५ हज़ार से १५ हज़ार रुपये तक है।"¹

वस्तु का व्यापार बात समझ में आती है पर मनुष्य का व्यापार, खरीद-फरोख्त अंतरात्मा विद्रोह कर उठती है। निर्मला पुतुल ऐसे आदमखोरों के खिलाफ जबरदस्त प्रहार करती हैं। उनके शब्द के शब्द दरांती बन हिंसक जानवरों, मानवता के दुश्मनों पर प्रहार करती है। निर्मला पुतुल अपने शोषकों अत्याचारियों एवं तथाकथित संरक्षकों की बखिया उधेड़कर रख देती है जबरदस्त खबर लेती है :

"ये वे लोग है जो दिन के उजाले में

मिलने से कतराते

और रात के अँधेरे में

मिलने का माँगते है आमन्त्रण

¹ श्रीवास्तव, संतोष . मुझे जन्म दो माँ . पृ. सं.- 101

ये वे लोग हैं
जो हमारे बिस्तर पर करते हैं
हमारी बस्ती का बलात्कार
और हमारी ही ज़मीन पर खड़े हो
पूछते हैं हमसे हमारी औकात।"¹

आदिवासी जीवन में स्त्री की सामाजिक स्थिति के साथ-साथ आर्थिक स्थिति का सजीव वर्णन भी आदिवासी कविताओं के माध्यम से हमें देखने को मिलता है। रोटी इन आदिवासियों के लिए शायद पहला और आखिरी प्रश्न है और हमारे देश में तो भूखे लोगों को दिल्ली से यह कह कर दिलासा दिया जाता है - 'भूख है तो सब्र कर, रोटी नहीं तो क्या हुआ'। आज पुरुषों की तुलना में स्त्री को कम मज़दूरी दी जाती है। हल जोतने से फ़सल काटने तक का कार्य आदिवासी स्त्री करती है। पत्तल बनाना, झाड़ू बनाना, चटाई बुनना, तेंदुपत्ता, महुआ चुनना उनका जीवन रोटी की खोज में भागता नज़र आता है। इसीलिए ग्रेस कुजूर 'क़लम को तीर होने दो' कविता में लिखती हैं :

"ईंटों के भट्टों में / सीझ गई ज़िंदगी
रोटी की खोज में कहाँ नहीं भागी।"²

गाँवों का देश भारत आज अपने मूल उत्स से षड्यंत्र के तहत उजाड़ा जा रहा है। जहाँ उसका मूल स्वरूप, भाषा-वाणी, रहन-सहन खानपान तो बाद में गायब होगा उसके पहले कुछ साधन या डर दिखाकर अस्मत् लूट ली जा रही है। वन संरक्षण के नाम पर हम जंगल के मूल निवासी आदिवासियों के मालिकाना हक़ समाप्त करने पर तुले हैं। गैट समझौता, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति, पेटेंट जैसे क़ानूनी अधिकार इस भूमंडलीकरण के युग में आदिवासियों को गुलाम बनाने का कार्य कर रहे हैं। "अब तक अमेरिका और जापान द्वारा नीम के आठ उत्पादों पर पेटेंट का अधिकार प्राप्त कर लिया गया है। यदि भविष्य में अन्य औषधीय पौधों जिनके प्रयोग एवं इलाज पर अब तक आदिवासियों का नियंत्रण समाप्त हो जाएगा।" ³

¹ पुतुल, निर्मला . नगाड़े की तरह बजते शब्द . पृ.सं. - 54

² गुप्ता, रमणिका (सं.) . आदिवासी स्वर और शताब्दी - पृ. सं. - 26

³ गुप्ता, रमणिका (सं.) . आदिवासी स्वर और शताब्दी - पृ. सं. - 57

तथाकथित आधुनिक विकास के देवता ने आदिवासियों के शोषण, भ्रष्टाचार, विस्थापन, पलायन और बेरोज़गार करने में अपनी तरफ से कोई कोर-कसर नहीं छोड़ा है। आदिवासी महिलाएँ पलाश के पत्तों से पत्तलें, झाड़ू बनाकर अपना जीवन निर्वाह करती थी। आज तो प्लास्टिक युग है। हम उनका यह रोज़गार भी छीन रहे हैं। आकर्षक दिखने वाली प्लास्टिक की झाड़ू, दोने तथा थरमाकोल की पत्तलें हमारे सम्मुख हैं। इसीलिए निर्मला पुतुल 'बहामुनी' कविता में आदिवासी स्त्री की भूख और आर्थिक विवशता का चित्रण करते हुए लिखती हैं :

"तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते है पेट हज़ारों

पर हज़ारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट

कैसी विडम्बना है कि

ज़मीन पर बैठ बुनती हो चटाइयाँ

और पंखा बनाते टपकता है

तुम्हारे करियारे देह से टप... टप... पसीना।"¹

आज भी हिन्दुस्तान के अन्दर पूर्ण लोकतंत्र नहीं है। आदिवासी जब अपनी समस्याओं को लेकर लोकसभा तथा विधानसभा तक पहुँचते हैं तो उनके साथ बर्बरता का व्यवहार किया जाता है। नागपुर के आदिवासी समुदाय ने अपनी मांगों को लेकर 2002 में मोर्चा निकाला। इस शांति से निकाले जाने वाले मोर्चे पर लाठी प्रहार किया गया। भीड़ तितर-बितर हो गई। मीडिया को बाद में मोर्चे वाले स्थान पर सूखी रोटी, हरी मिर्च, टूटे चप्पल, फटे कपड़े के टुकड़े मिले जिनसे सरकार को खतरा था। डॉ. भगवान गव्हाड़े की 'आदिवासी मोर्चा' कविता :

"संसद भवन के प्रांगण में,

जब पहुँच गया मोर्चा।

बरस पड़ी पुलिस कर्मियों की अनगिनत लाठियाँ,

जैसे झेली थी सीने में पूर्वजों ने अंग्रेज़ों की गोलियाँ

तितर-बितर हो गई भीड़

¹ पुतुल, निर्मला . नगाड़े की तरह बजते शब्द . पृ. सं.- 12

भागने लगी हमारी बहूँ-बेटियाँ

जैसे भगाई जाती हैं जंगल से मुर्गी, भेड़, बकरियाँ।¹

आदिवासी लेखन जीवन का लेखन है यह कल्पना और मनोरंजन का क्रिस्ता नहीं है और न ही आदिवासी औरतें नुमाइश की वस्तु है। वे दर्द सहने की आदी हैं उनका जीवन कठोर संघर्ष की गाथा कहता है किन्तु मुक्ति की बैचेनी तो उनमें भी है :

“मेरी सोच के भीतर

अचानक बज उठा है राष्ट्रगान

और मैं खड़ा हूँ

राष्ट्रद्रोही कहलाने के डर से

सावधान की मुद्रा में।

ठीक इसी समय दीमकों का झुंड

घुस आया है मेरे भीतर

मेरी देह को मिट्टी का टीला समझ

खोखला करता हुआ मुझे

और मैं चीखने में असमर्थ

खड़ा हूँ सावधान की मुद्रा में।।”²

मुगलों एवं अंग्रेज हुकूमत के खिलाफ आदिवासी समुदाय ने निजता की रक्षा के लिए समय-समय पर अपने विरोध के स्वर मुखर किए हैं। अस्तित्व और अस्मिता का संकट आदिवासी समुदाय का सबसे बड़ा संकट है। आदिवासियों ने अपने-अपने भू-भाग में अपने हकों, अधिकारों और अस्तित्व की लड़ाई के लिए विभिन्न विद्रोह किए। अंग्रेजों, साहुकारों, महाजनों, जमीनदारों और सुदूखोरों के अन्याय और अत्याचार के खिलाफ आंदोलन किए। झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र में पहचान का आंदोलन भी शुरू हुआ

¹ थोरात, विमल (सं.) . दलित अस्मिता . पृ. सं.-24

² केरकेट्टा, जसिता . राष्ट्रगान बज रहा है . पृ. सं.- 67

था। जिनमें संधाल हुल विद्रोह, उलगुलान, बस्तर की लड़ाई, पूर्वोत्तर का पहचान का आंदोलन जैसे विभिन्न आंदोलन हैं। आज अधिकतर आदिवासी साहित्य के प्रेरणा स्रोत बिरसा मुंडा, सिद्धो-कानू, तिलका माँझी, टंट्या भिल, कालिबाई, झलकारी बाई जैसे तमाम क्रांतिकारी हैं। आदिवासी निगाहें अब उन लोगों को पहचानने लगी हैं जो आदिवासी स्त्रियों को वस्तु मानते आए हैं और आदिवासी समाज को सस्ता मज़दूर बनाकर उनकी संस्कृति, भाषा, जल, जंगल, ज़मीन एवं जोरू को हथिया कर उन्हें उनके मूल से नेस्तनाबूत करने पर तुले हैं।

6.4. अल्पसंख्यकों पर प्रभाव

समकालीन हिंदी कविता की मुख्य विशेषता रही है कि समाज के सभी वर्गों के आंतरिक एवं बाह्य रूपों को प्रस्तुत करती है। इसी क्रम में अल्पसंख्यक समुदाय की गतिविधियों, समस्याओं तथा पहचान पर मंडरा रहे संकट को समकालीन हिंदी कविता में ज़िक्र हुआ है। 'अल्पसंख्यक' को समझने के लिए दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर चर्चा करना आवश्यक है। एक है- भाषाई आधार और दूसरा-धार्मिक आधार। वर्तमान समय में अल्पसंख्यक समाज अनेक चुनौतियों एवं समस्याओं से जूझ रहा है। जिनमें मुख्य रूप से आर्थिक पिछड़ापन, असुरक्षा की भावना, आधुनिकीकरण एवं शिक्षा का अभाव, मोब लिंगिंग, अस्मिता का संकट, साम्प्रदायिक दंगे, आदि हैं। 11 सितम्बर 2001 के बाद अल्पसंख्यक समाज का एक बड़ा तबका 'मुस्लिम' राष्ट्रीय स्तर से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक शक के दायरे में आया है। इस समाज का व्यक्ति अपनी अस्मिता, पहचान व आत्मसम्मान को लेकर बड़ा चिंतित है। दरअसल समाज की निगाह में एक आरोपी की छवि को लेकर जीवन बिताने के लिए विवश है। इसकी पीड़ा और अस्मिता के संकट को समकालीन हिंदी कविता में चर्चा की गई है। समकालीन कवयित्री 'अनामिका' की कविता 'दंगे और कर्मकांड' इसका प्रमाण है। एक आम मुसलमान की पीड़ा को व्यक्त करती हुई कविता की ये पंक्तियाँ मार्मिक हैं :

"मैं इन दिनों काफी परेशान हूँ-

शक करते हैं मुझ पर मेरे ही हाथ

जब ये दुआ में उठते हैं।

ठन्न ठमक जाता है माथा

जब बंदगी में ये झुकता है।"¹

वैश्वीकरण एक महत्वपूर्ण कारक है जो वैश्विक स्तर पर लोगों के सांस्कृतिक मूल्यों को एकीकृत करता है। इस प्रक्रिया के कारण बदलते दुनियाभर में वैश्वीकरण का सांस्कृतिक, सामाजिक, मौद्रिक, राजनीतिक और देशों के सांप्रदायिक जीवन पर व्यापक प्रभाव होता है। वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक समुदायों पर भी इसका प्रभाव होता है। वैश्विक परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक विकास-यात्रा को देखें तो समकालीन साहित्यिक-लेखन का झुकाव जन-समुदाय केन्द्रित हुआ है। यह परिपाटी अमेरिका से चली है जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर अधिक बल दिया जाता है। सर्वप्रथम हमारे लिए यह जानना

¹ अनामिका, खुरदरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2005, पृ.123

आवश्यक है कि 'अल्पसंख्यक कौन ?' 'अल्पसंख्यक' की अवधारणा में 'संख्या' पर बल दिया गया है। जिसमें बहुसंख्यक की अपेक्षा, जिनकी आबादी कम हो। अल्पसंख्यक की अवधारणा का दूसरा छोर- 'भाषाई एवं सांस्कृतिक' भी होता है। इस अवधारणा को भी सिद्धांत के रूप में मान्यता सर्वप्रथम यूरोप में मिली। बहरहाल जो भी हो 'अल्पसंख्यक-विमर्श' एक नया विमर्श है जो अल्पसंख्यक वर्ग की ज्वलंत समस्या को लेकर उभरता है।

अनवर सुहैल के अनुसार "अल्पसंख्यक एक अपूर्ण या भ्रमित करने वाला शब्द है...समग्र में कुछ की संख्या को अल्पसंख्यक मानना मेरे हिसाब में गलत है। जिस प्रदेश में या जिस नगर में आप बहुतायत में हों और समग्रता के आधार पर की गयी गणना के अनुसार खुद को अल्पसंख्यक मानें तो ये गलत प्रतीत होता है। जैसे कश्मीर के मुसलमान खुद को अल्पसंख्यक कहें या फिर पुराने हैदराबाद के मुसलमान या पुरानी दिल्ली के मुसलमान खुद को अल्पसंख्यक कहें तो मुझे ये स्वीकार नहीं है...ये मुसलमान तो अपनी परिवेशगत आबादी के पचास प्रतिशत से ज्यादा के लोग हैं इन्हें अल्पसंख्यक का दर्जा कैसे दिया जा सकता है ?"¹ अतः अनवर सुहैल अल्पसंख्यक का निर्माण समग्र देश के आधार पर नहीं बल्कि राज्य के आधार पर करने के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि देश के उपेक्षित लोगों पर गयी जिनकी वह वकालत करते हैं।

राही मासूम रज़ा, बदिउज्जमाँ, अब्दुल बिस्मिल्लाह, मंजूर ऐहतशाम, असगर वजाहत, नासिरा शर्मा और मेहरुन्निसा परवेज आदि बहुत बड़े अल्पसंख्यक रचनाकार हैं, जिन्होंने मुस्लिम परिवेश को आधार बना कर लिखा है। जैसे-राही मासूम रज़ा ने विभाजन के पश्चात की त्रासदी, सांप्रदायिक दंगे, मुस्लिम-संस्कृति और हिन्दू-मुस्लिम के संबंधों को आधार बनाकर साहित्य-लेखन किया है। बदिउज्जमाँ भी देश-विभाजन को गलत बताते हैं। उनका मानना है कि-पाकिस्तान का बनना न बनना कोई महत्व नहीं रखता। अंग्रेजों की कुटिल राजनीति का पर्दाफाश करते हुए विभाजन के मूल में अंग्रेजों की भूमिका को स्वीकारते हैं (छाकों की वापसी, सभा पर्व)। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने हिन्दुस्तान-पाकिस्तान युद्ध, इंदिरागाँधी के समय में कांग्रेस का विभाजन, बांग्लादेशका उदय, नक्सलवाद आदि को अपने लेखन का आधार बनाया है। मंजूर ऐहतेशाम ने साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर सुलझी हुई प्रगतिशील दृष्टि से विचार किया है। धार्मिक कट्टरता, पाकिस्तान का प्रश्न, अंग्रेजों की कुटिल राजनीति और उनके चलते हिन्दू-मुसलमानों में बढ़ती दूरी, समाज के पिछड़ेपन के कारणों को देश-विभाजन के मूल में माना है। असगर वजाहत ने मुस्लिम समाज के अपने अन्तर्विरोध और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को केंद्र में रख कर अपनी रचनाएँ की हैं। नासिरा शर्मा ने ईरान की कथा, मध्यवर्गीय मुस्लिम शिक्षित स्त्री का संघर्ष, विभाजन की त्रासदी, धर्म और सम्प्रदाय की

¹ https://www.apnimaati.com/2018/02/blog-post_73.html

राजनीति को आधार बनाया है। मेहरुत्रिसा परवेज का केन्द्रीय विषय मध्यवर्गीय नारी-जीवन की त्रासदी है। वे प्रेम, विवाह, तलाक़, अवैध सम्बन्ध, परित्यक्ता नारी का अकेलापन, नारी जीवन की विवशता का मार्मिक चित्र साहित्य में उपस्थित करती हैं।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक विकास-यात्रा को देखें तो समकालीन साहित्यिक-लेखन का झुकाव जन-समुदाय केन्द्रित हुआ है। यह परिपाटी अमेरिका से चली है जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर अधिक बल दिया जाता है। सर्वप्रथम हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि 'अल्पसंख्यक कौन?' 'अल्पसंख्यक' की अवधारणा में 'संख्या' पर बल दिया गया है। जिसमें बहुसंख्यक की अपेक्षा, जिनकी आबादी कम हो। अल्पसंख्यक की अवधारणा का दूसरा छोर-'भाषाई एवं सांस्कृतिक' भी होता है। इस अवधारणा को भी सिद्धांत के रूप में मान्यता सर्वप्रथम यूरोप में मिली। बहरहाल जो भी हो 'अल्पसंख्यक-विमर्श' एक नया विमर्श है जो अल्पसंख्यक वर्ग की ज्वलंत समस्या को लेकर उभरता है। पश्चिम में इस विमर्श की शुरुआत स्पेन से होती है और धीरे-धीरे पूरे विश्व में स्थापित हो जाती है। कार्ल-मार्क्स ने 'जेविश-क्वेशन'(1844) को सर्वप्रथम सिद्धांत: उठाया था। उसका विकास पश्चिम में भिन्न-भिन्न विचारकों ने किया था। जैसे - गीलेसदेल्गूजे और फेलिक्सगुअत्तरी।

भारत में अल्पसंख्यक सम्बन्धी दो प्रावधान भारतीय संविधान में निर्दिष्ट किये गए हैं : (1) भाषाई, (2) धार्मिक। भाषाई-स्तर पर अनेक जन-समुदाय अल्पसंख्यक हैं। धार्मिक-स्तर पर मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध, पारसी एवं जैन को मानने वाले समाहित किये गए हैं। अल्पसंख्यक-विमर्श ऐतिहासिक अनिवार्यता से जुड़ा हुआ पहलू है। वास्तव में अल्पसंख्यक को जानने, समझने और परिभाषित करने की प्रक्रिया का नाम 'अल्पसंख्यक-विमर्श' है। अल्पसंख्यक हैं कौन; उनका सम्बन्ध किस देश-प्रदेश से है; उनकी भाषा-बोली क्या है; देश के साथ उनके धर्म, मजहब का क्या ताल्लुक है; उनके आचार-विचार, तीज-त्यौहार क्या होते हैं; खुद अल्पसंख्यक लेखक, कलाकार, चिन्तक अल्पसंख्यकों के बारे में क्या सोचते हैं; गैर-अल्पसंख्यक रचनाकार की अल्पसंख्यक के प्रति दृष्टि क्या है, इन सबको परिभाषित करता है- 'अल्पसंख्यक-विमर्श'।

हिंदी साहित्य में 'अल्पसंख्यक-वर्ग' की भी एक वैचारिक भूमिका अवश्य है। पर 'अल्पसंख्यक' वैचारिकी का कैसे और किस तरह विकास हुआ? यह एक बहुत उलझा हुआ प्रश्न है, यह समस्या हमारे सामने तब उभरती है जब 'अल्पसंख्यक' वर्ग का चुनाव कर उसकी परंपरा या वैचारिकी के विकास को तलाशना होता है। क्योंकि कुछ 'अल्पसंख्यक' वर्ग जैसे -जैन, बौद्ध, सिख हैं, जो कभी बहुसंख्यक हिन्दू-वर्ग का हिस्सा हुआ करते थे, वे अभी उनसे अलग हो चुके हैं और उन्हें भी अब 'अल्पसंख्यक-वर्ग' का दर्जा दिया जाता है। बहरहाल जो भी हो आदि काल से ही 'अल्पसंख्यक' वर्ग के साहित्य का प्रस्थान बिंदु देखने को मिलता है चाहे वह बौद्ध-साहित्य हो, जैन-साहित्य हो, सिख-साहित्य या मुस्लिम-साहित्य। हिंदी साहित्य के

इतिहास में भी 'अल्पसंख्यक- विमर्श' की शुरुआत हो चुकी है। अगर 'अल्पसंख्यक' की वैचारिक परंपरा की नींव तलाश की जाएगी तो यह परंपरा आदि काल से सरहपा, शबरपा, गोरखनाथ, शालिभद्र सूरी, अमीर खुसरो, से होते हुए भक्ति काल में कबीर, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, गुरु गोविन्द सिंह, से होते हुए आधुनिक काल में बदीउज्जमा, राही मासूम रज़ा से होते हुए नासिरा शर्मा, अनवर सुहैल तक फैली हुई है। 'वागर्थ' पत्रिका के अंक में समीक्षक **भारत भारद्वाज** लिखते हैं, **"प्रसिद्ध चित्रकार लियोनार्दोदाविंची की रहस्यमयी कृति मोनालिजा की तरह आज भी अमीर खुसरो की ये पंक्तियाँ – 'गौरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केश, चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देश' का पाठ और व्याख्या आलोचकों को उलझाती है। इसी तरह जायसी की 'पद्मावत' न केवल हिंदी साहित्य की एक अनमोल विरासत है बल्कि बहुमूल्य धरोहर भी...कबीर को हम कैसे भूल सकते हैं! वे तो लोकमानस में गहरे पैठे हुए हैं उसी तरह रहीम भी।"**¹

प्रो.गोपाल राय आधुनिक काल में राधाकृष्ण दास के उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' से मुस्लिम समाज का साहित्य में प्रवेश को स्वीकार करते हैं। प्रेमचन्द भी 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' आदि उपन्यासों में हिन्दू-मुसलमान संबंधों पर बात करते हैं। पर यदि आधुनिक अल्पसंख्यक लेखकों पर गौर करें तो सबसे पहले बदीउज्जमा के उपन्यास 'एक चूहे की मौत' और 'सभापर्व' आते हैं। उसी तरह "राही मासूम रज़ा का उपन्यास 'आधा गाँव' यदि एक तरफ देश की विभाजन की त्रासदी का हिस्सा है तो दूसरी तरफ उस आधे गाँव का किस्सा भी है, जो हिन्दू-मुसलमानों में बंटा हुआ है।" यही परंपरा शानी से होते हुए अब्दुल बिस्मिल्लाह, असगरवजाहत, मंजूर एहतेशाम, इसराइल, नईम, जाबिर हुसैन, आबिदसुरती, हसन जमाल, हबीब कैफी, आलम शाह, नासिरा शर्मा, मेहरुन्निसा परवेज से होते हुए अनवर सुहैल तक पहुंची है। अतः देखा जाय तो आधुनिक काल में एक बड़ा फ़लक मिल रहा है मुस्लिम रचनाकार को जो कि 'अल्पसंख्यक' समुदाय का सबसे ज्यादा पीड़ित वर्ग है। 'अल्पसंख्यक' वर्ग के और भी समुदाय हैं जो कि मुस्लिम 'अल्पसंख्यक' की तरह जर्जरित अवस्था में नहीं हैं। इस विमर्श की पहल तो मुस्लिम रचनाकारों ने की है पर धीरे-धीरे 'अल्पसंख्यक' वर्ग के अन्य रचनाकार भी इस विमर्श को आगे बढ़ाने में सहयोग कर रहे हैं। अतः कुछ समय बाद जरूर 'अल्पसंख्यक' वर्ग का एक मुकम्मल चित्र हमारे सामने उपस्थित होगा।

राही मासूम रज़ा, बदीउज्जमा, अब्दुल बिस्मिल्लाह, मंजूर ऐहतेशाम, असगर वजाहत, नासिरा शर्मा और मेहरुन्निसा परवेज आदि बहुत बड़े अल्पसंख्यक रचनाकार हैं, जिन्होंने मुस्लिम परिवेश को आधार बना कर लिखा है। जैसे-राही मासूम रज़ा ने विभाजन के पश्चात की त्रासदी, सांप्रदायिक दंगे, मुस्लिम-संस्कृति और हिन्दू-मुस्लिम के संबंधों को आधार बनाकर साहित्य-लेखन किया है। बदीउज्जमा भी देश-विभाजन को

¹ वाक् . (नये विमर्शों का त्रैमासिक 2007, अंक 3) पत्रिका . पृ.सं.-225

गलत बताते हैं। उनका मानना है कि, पाकिस्तान का बनना न बनना कोई महत्व नहीं रखता। अंग्रेजों की कुटिल राजनीति का पर्दाफाश करते हुए विभाजन के मूल में अंग्रेजों की भूमिका को स्वीकारते हैं (छाकों की वापसी, सभा पर्व)। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने हिन्दुस्तान-पाकिस्तान युद्ध, इंदिरा गाँधी के समय में कांग्रेस का विभाजन, बांग्लादेश का उदय, नक्सलवाद आदि को अपने लेखन का आधार बनाया है। मंजूर एहतेशाम ने साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर सुलझी हुई प्रगतिशील दृष्टि से विचार किया है। धार्मिक कट्टरता, पाकिस्तान का प्रश्न, अंग्रेजों की कुटिल राजनीति और उनके चलते हिन्दू-मुसलमानों में बढ़ती दूरी, समाज के पिछड़ेपन के कारणों को देश-विभाजन के मूल में माना है। असगर वजाहत ने मुस्लिम समाज के अपने अन्तर्विरोध और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को केंद्र में रख कर अपनी रचनाएँ की हैं। नासिरा शर्मा ने ईरान की कथा, मध्यवर्गीय मुस्लिम शिक्षित स्त्री का संघर्ष, विभाजन की त्रासदी, धर्म और सम्प्रदाय की राजनीति को आधार बनाया है। मेहरुत्रिसा परवेज का केन्द्रीय विषय मध्यवर्गीय नारी-जीवन की त्रासदी है। वे प्रेम, विवाह, तलाक़, अवैध सम्बन्ध, परित्यक्ता नारी का अकेलापन, नारी जीवन की विवशता का मार्मिक चित्र साहित्य में उपस्थित करती हैं।

अनवर सुहैल कहते हैं, “अल्पसंख्यक एक अपूर्ण या भ्रमित करने वाला शब्द है...समग्र में कुछ की संख्या को अल्पसंख्यक मानना मेरे हिसाब में गलत है। जिस प्रदेश में या जिस नगर में आप बहुतायत में हों और समग्रता के आधार पर की गयी गणना के अनुसार खुद को अल्पसंख्यक मानें तो ये गलत प्रतीत होता है। जैसे कश्मीर के मुसलमान खुद को अल्पसंख्यक कहें या फिर पुराने हैदराबाद के मुसलमान या पुरानी दिल्ली के मुसलमान खुद को अल्पसंख्यक कहें तो मुझे ये स्वीकार नहीं है...ये मुसलमान तो अपनी परिवेशगत आबादी के पचास प्रतिशत से ज्यादा के लोग हैं इन्हें अल्पसंख्यक का दर्जा कैसे दिया जा सकता है ?”¹ अतः अनवर सुहैल अल्पसंख्यक का निर्माण समग्र देश के आधार पर नहीं बल्कि राज्य के आधार पर करने के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि देश के उपेक्षित लोगों पर गयी जिनकी वह वकालत करते हैं।

भारत में अल्पसंख्यक-वर्ग के समक्ष निम्नांकित चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं जिनकी अभिव्यक्ति अनवर-सुहैल अभिव्यक्त करते हैं :

1. असुरक्षा की भावना
2. पहचान का संकट
3. फिरकों में बंटा इस्लाम

¹ https://www.apnimaati.com/2018/02/blog-post_73.html

4. सामाजिक संरचना में जाति-गत भेदभाव (i)अशराफ (ii)अजलाफ़ (iii)अरजाल या पसमांदा
5. संस्कृति के विलय का डर
6. मुस्लिम स्त्री के लिए दोहरे मापदंड
7. मीडिया की नज़र में अल्पसंख्यक
8. राष्ट्रीयता पर संदेह
9. भूमंडलीकरण और अल्पसंख्यक
10. आतंकवाद और अल्पसंख्यक
11. आर्थिक और शैक्षिक बदहाली।

स्वातंत्र्योत्तर काल में स्त्री विमर्श तथा दलित विमर्श के बाद हिंदी साहित्य में अल्पसंख्यक विमर्श एक नयी संकल्पना धीमी गति से क्यों न हो आकार ले रही है। इस विषय पर प्रकाश डालने वाली साहित्य सामग्री की कमी तो महसूस की जा रही है लेकिन इस विषय पर विचारमंथन की प्रक्रिया अभी अभी प्रारंभ होने के कारण निकट भविष्य में पुस्तकों की संख्या बढ़ सकती है।

प्रो. टी. वी. कट्टीमनी ने भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक बहुलता पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि भारत में धार्मिक आधार पर सांप्रदायिक पहचान को रेखांकित करना अत्यंत कठिन है। इस संदर्भ में उन्होंने कहा कि विभिन्न प्रदेशों के मुस्लिम समाज की भाषा धार्मिक आधार पर नहीं अपितु वहाँ के स्थानीय (क्षेत्रीय) आधार पर तय होती है। प्रो. कट्टीमनी ने कहा कि हम जिस इतिहास को परंपरागत पाठ्यक्रम के रूप में पढ़ते-पढ़ाते हैं वह हमारे समाज का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करना। साथ ही हमारा इतिहास लेखन भी वस्तुनिष्ठ नहीं है। कट्टीमनी ने तथ्यों के साथ इस ऐतिहासिक मिथक को खारिज किया कि हिंदू मंदिरों को लूटने वाले सिर्फ मुसलमान थे। उन्होंने बताया कि हिंदू मंदिरों को हिंदू राजाओं ने भी लूटा।

प्रसिद्ध मुस्लिम कवियों और लेखकों की रचनाओं पर यदि बारीकी से नजर डालें तो ऐसा लगता है कि उनके लेखन में वही दर्द और छटपटाहट है जो अन्य धर्म या जाति से आने वाले रचनाकारों के यहां मौजूद है। सभी ने अपने अपने समाज की समस्याओं, उसकी विसंगतियों पर पर्दा उठाने की कोशिश की है। किसी का संबंध जागीरदाराना समाज से है तो उसने अपने समाज की उन ही समस्याओं पर कलम उठाया है। किसी का संबंध निम्न वर्ग से है तो उसने उस पर लिखा है। मगर उन पात्रों के नाम यदि हटा दिए जाएं

और उसे कोई तटस्थ सा नाम दे दिया जाए तो फिर यह फर्क करना मुश्किल हो जाएगा कि यह समस्याएं हिंदू समाज की हैं या मुस्लिम समाज की हैं।

हिंदू और मुसलमान इस देश में सदियों से एक साथ रहते आए हैं और अधिकांश मुसलमानों का तअल्लुक इसी धरती से रहा है और है। उनके बाप दादा यहीं पैदा हुए और यहीं मरे। उनकी भाषा एवं संस्कृति भी एक जैसी है। जो चीज उनमें फर्क करती है वह भी केवल किसी हद तक, वह है उनकी धार्मिक पहचान और रीति रिवाज और खान पान एवं पहनावा। बाकी संवेदनाएं एक, सोच एक, समस्याएं एक। गरीबी और बेरोजगारी ही बुनियादी तौर पर उन्हें परेशान करती दिखाई देती हैं। स्त्रियों एवं दलितों का शोषण तो प्रत्येक वर्ग के रचनाकारों को परेशान करता रहा है। चाहे वह प्रेमचंद हों, कमलेश्वर हों, उपेंद्रनाथ अशक हों या अन्य प्रसिद्ध लेखक एवं कवि हों, उन सभी ने मुस्लिम समाज और उनके भीतर की समस्याओं पर भी बड़ी बारीकी से कलम उठाया है।

मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मंझन, मलिक मोहम्मद जायसी आदि की रचनाओं से हिन्दी के लगभग सभी अध्येता भली-भांति परिचित हैं। इन कवियों का तटस्थ एवं न्यायसंगत मूल्यांकन होना है। इनके प्रेमाख्यानक काव्यों में विभिन्न आलोचकों ने रुचि अवश्य ली है किन्तु उनकी दृष्टि कथानक के भारतीय या अभारतीय होने, हिन्दू या मुस्लिम संस्कारों की अभिव्यक्ति का जायजा लेने और इन्हें शृंगार परक सिद्ध करने में सीमित रही है। साहित्यिक उद्देश्य का मूल्यांकन नहीं किया गया। स्वाधीनता के पश्चात भारतीय समाज में कई तरह के बदलाव दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ एक तरफ समाज विभाजन की त्रासदी से गुजर रहा था वहीं साथ ही मोहभंग और शहरीकरण की समस्या से भी गुजर रहा था। एक तरफ शहर में एकल परिवार से निर्मित समस्या थी तो वहाँ दूसरी तरफ ग्रामीण इलाकों में गरीबी और जातिगत समस्या अपने विकराल रूप में दिखाई दे रही थी।

मुस्लिम साहित्यकार तटस्थ हो कर विभाजन की त्रासदी पर लेखनी चला रहे थे तो वहाँ गरीबी तथा जातिगत समस्याओं पर भी मुखर हो कर लिख रहे थे। मुस्लिम साहित्यकार अपने सामाजिक भागीदारी को नजरअंदाज न करते हुए समाज को एक नई दिशा देने का कार्य कर रहे थे। हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने में मुस्लिम रचनाकारों के योगदान को कमतर नहीं आँका जा सकता है। हिन्दी साहित्य के सभी काल-खंडों में इन्होंने अपनी शानदार उपस्थिति दर्ज कराई है। आदिकाल में जहाँ दो महत्वपूर्ण रचनाकार अब्दुर्रहमान और अमीर खुसरो अपनी कृति का कारण कालजयी बने हुए हैं तो वहीं मध्यकाल में कबीर, जायसी, रहीम, रसखान भक्ति और सूफी मत के आलोक में अपने ज्ञान को आमजन के बीच बिखेरते रहे हैं।

आधुनिक काल में राही मासूम रजा, शानी, महरुत्रिसा परवेज, शकील सिद्दीकी, असगर वजाहत, अब्दुल बिस्मिल्लाह, मंजूर एहतेराम जैसे रचनाकारों से कौन साहित्य प्रेमी परिचित नहीं है। साहित्य में अल्पसंख्यक

विमर्श की मजबूत नींव, बहस और भारत की गंगा-जमुनी तहजीब को सामने लाना है। यह इस बात का संकेत है कि भारत अपनी एकता और अखंडता के लिए जाना जाता है। भाषा सभी की है और हमें साहित्य के माध्यम से एकता की आवाज भी है।

आधुनिकता और मुस्लिम जीवन को जानने के लिए विभाजन की थोड़ी बहुत पृष्ठभूमि को भी समझना जरूरी है। अंग्रेजी षडयंत्रों के चलते अगस्त 1947 ई. में धर्म के आधार पर हुआ भारत का विभाजन इतिहास की सबसे विध्वंसकारी घटनाओं में से एक था। भारत देश का विभाजन इतिहास की उन कालजयी घटनाओं में से है, जिसका दंश मानव आज तक झेल रहा है। राजनीतिक और साम्प्रदायिक षडयंत्रों के चलते भारत देश का विभाजन ही नहीं हुआ अपितु दो दिलों का विभाजन हो गया। विभाजन की घटना ने वर्षों से साथ रह रहे दो विभिन्न धर्मों को मानने वाले मानव जीवन एवं संस्कृति को छिन्न-भिन्न करके रख दिया, न जाने कितने ही लोगों के घर उजड़ गये और न जाने कितने ही लोग मृत्यु को प्राप्त हो गये। इस त्रासदी के परिणामों के बारे में कोई ठोस आँकड़े तो प्राप्त नहीं हुये परंतु इतना जरूर कह सकते हैं कि इस दौरान हुई हिंसा, लूटपाट और स्त्रियों के साथ हुये बलात्कार से कम से कम पन्द्रह लाख लोग मारे गये। विभाजन के पश्चात् स्थितियाँ इतनी भयावह, कठिन और बेकाबू हो गयी कि मानवता कराहने लगी। सर्वत्र अशांति, हिंसा तथा तनाव का माहौल कायम हो चुका था। भारत विभाजन और उसके परिणामों को लेकर **अरविन्द मोहन** लिखते हैं कि :

“इतिहास में राजनीतिक रूप से बिखरे रह कर भी सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक रूप से एक रहे हिन्दुस्तान का यह विभाजन एकदम ही अजीब चीज़ को आधार मान पर किया गया। मज़हब के आधार पर देश नहीं बंटते हैं। अपने यहाँ यही हुआ। लोग कटे मरे अपनी जमीन से उखड़े। राज्य बदलने या बटने से आबादी का इतने बड़े पैमाने पर सिर्फ एक आधार(मज़हब) पर स्थानान्तरण कभी नहीं हुआ था।”¹

अंग्रेजी सत्ता की अगर कोई नीति हमेशा कायम रही तो वह यह थी कि हिंदुओं और मुसलमानों को विभाजित रखा जाए। वे जानते थे कि दोनों समुदायों में भेद उत्पन्न किये बिना वे अपनी सत्ता को चिरस्थायी नहीं बना पाएंगे। अंग्रेजों ने हिंदू-मुसलमानों के बीच ईर्ष्या, द्वेष, दुराव, वैमनस्य, नफरत और कटुता के बीज बोने की हर संभव कोशिश की तथा सैकड़ों वर्षों से साथ रह रही भारत की गंगा-जमुनी सांस्कृतिक एकता को चकनाचूर करके रख दिया। भारत देश का विभाजन एक ऐसी घटना है जिसने सम्पूर्ण मानव जाति को प्रभावित किया। भारतीय समन्वित संस्कृति जिसे बनने में वर्षों लगे थे विभाजन ने इस समन्वय को छिन्न-भिन्न करके रख दिया। भारत देश में विभाजन के पश्चात् बहुत से ऐसे मुसलमान थे जो भारत को ही अपना घर

¹ राजकिशोर (सं.) . भारतीय मुसलमान मिथक और यथार्थ . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली . पृ. सं. - 89

मानते थे और जन्मभूमि के मोह का परित्याग नहीं कर सके तथा यहीं ठहर गये। परंतु देश के लोगों को यह नागवार गुजरा उनका मानना था कि जब मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र बन चुका है तो वह यहाँ क्यों रह रहे हैं और इस प्रकार से भारत में रह रहे मुस्लिम समुदाय का विविध प्रकार से शोषण किया गया, स्त्रियों के साथ हुए अत्याचारों ने अमानवीयता की सारी हदें पार कर दी। भारत देश जब स्वतंत्र हुआ और संविधान बनाया गया तो मुस्लिमों को अल्पसंख्यकों का दर्जा देकर उनकी रक्षा, शिक्षा का प्रावधान किया गया परंतु आज भी अपने तुच्छ स्वार्थहितों की पूर्ति के लिए राजनेता मुस्लिम समुदाय को लेकर जाने क्या-क्या मुद्दे उछालता है तथा दंगे भी वही करवाता है। राम मंदिर, बाबरी मंदिर की घटना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

विभाजन की इस घटना से संवेदनशील मानव मन जिस तरह से प्रभावित हुआ उसका यथार्थ चित्रण साहित्य में उस ढंग से नहीं मिलता जितना होना चाहिए। वरिष्ठ पत्रकार कुलदीप कुमार ने **रश्खांदा जलील** के हवाले से हिंदी और उर्दू साहित्य में अभिव्यक्त विभाजन के प्रभावों का जिक्र करते हुए कहा है कि :

“विभाजन के प्रति हिंदी और उर्दू लेखकों की प्रतिक्रिया लगभग एक जैसी थी। हिंदी के कथाकारों ने विभाजन पर जितनी कहानियाँ और उपन्यास लिखे, उसकी तुलना में कवियों ने बहुत कम लिखा। जलील बताती हैं कि उर्दू में भी कमोबेश यही स्थिति है। जहाँ विभाजन ने नये उर्दू कहानीकारों को जन्म दिया और उस पर अनेक उच्चस्तरीय उपन्यास लिखे गए, वहीं उर्दू के कवियों की कलम मानों गूगी सी हो गई। हिंदी के मुकाबले तो फिर भी उर्दू में विभाजन से प्रेरित होकर अधिक कविता लिखी गई, लेकिन उर्दू के कथा साहित्य की तुलना में उसका आकार नगण्य ही है।”¹

विभाजन और उसके प्रभावों का जितना अधिक वर्णन गद्य साहित्य में परिलक्षित होता है उतना काव्य विधा में नहीं होता और यह स्थिति हिंदी और उर्दू साहित्य दोनों में सामान रूप से दिखाई देती है। अज्ञेय द्वारा लिखी गई लम्बी काव्य श्रंखला ‘शरणार्थी’ जिसमें विभाजन के पश्चात फैली भीषण साम्प्रदायिकता एवं मार-काट का बेहद सजीव वर्णन किया गया है, इसके बाद कोई ऐसी कविता नहीं मिलती जिसमें विभाजन के बाद देश में हो रही प्रतिक्रियाओं का इतना सजीव वर्णन कहीं प्राप्त हुआ हो। वस्तुतः काव्य जैसी विधा जिसमें प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से भावों की सघन अभिव्यक्ति होती है बड़े पैमाने पर मुस्लिम जीवन का चित्रण कर पाना इतना आसान नहीं है शायद यही कारण है की मुस्लिम जीवन गद्य साहित्य विशेषकर उपन्यासों में अधिक उभरकर अभिव्यक्त होता है।

1947 ई. के बाद में मुस्लिम पात्र या समाज हमें कई साहित्यकारों के यहाँ दिखलाई देते हैं परन्तु इन सभी के यहाँ जो मुसलमान पात्र हैं वह देश विभाजन की पीड़ा का भुक्त भोगी मुसलमान है। वृहद पैमाने

¹ कुमार, कुलदीप . भारत विभाजन के आयाम . www.outlookhindi.com

पर मुस्लिम समाज, परिवेश, रीति-रिवाज आदि का गहन चित्रण करने वाले मुसलमान अब भी नहीं दिखाई देते हैं। सर्वप्रथम आधुनिक युग में गुलशेर खां शानी और राही मासूम रजा ही हिंदी खेमे के संभवतः ऐसे साहित्यकार रहे हैं जिनके यहाँ हमें मुस्लिम समाज का प्रामाणिक या विस्तृत चित्रण प्राप्त होता है। शानी ने अपने 'काला जल' उपन्यास तथा राही साहब ने 'आधा गाँव' उपन्यास में मुस्लिम जीवन को गहराई में जाकर झाँका है। गुलशेर खाँ शानी का 'काला जल' उपन्यास मुस्लिम समुदाय के जीवन का प्रामाणिक और कई मायनों में महत्वपूर्ण दस्तावेज है।

इस प्रकार से भारत ऐसा देश है जहाँ अनेक संस्कृतियाँ तथा धर्म पनपे। मुस्लिम भी भारत की इस पत्नी-बढ़ी संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। बावजूद इसके हम देखते हैं की आधुनिक हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में मुस्लिम जीवन या समाज की उपस्थिति न के बराबर रही है। भारतेंदु जैसे बड़े लेखक भी केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करके स्थिर रह जाते हैं अतः इस पर विचार किया जाना चाहिए। अंग्रेजी नीति और भारतीय राजनेताओं की ढिलाई से सन् 1947 में भारत देश का धर्म के नाम पर विभाजन हो जाता है। विभाजन के बाद मुसलमानों को लेकर देश का माहौल एकदम बदल जाता है और इससे हिंदी साहित्य भी अछूता नहीं रहा है। वास्तव में मुस्लिम जीवन और समाज देश विभाजन के बाद के हिंदी साहित्य में तब जाकर दिखाई देता है जब मुसलमानों के उपर आरोप-प्रत्यारोप प्रश्न लगने शुरू होते हैं।

उपरोक्त विवरण के बाद निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है की स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य एवम कविताओं में भारतीय मुस्लिम समाज की सामाजिक मनोदशा का वर्णन पढ़ने को मिल रहा है। अंग्रेजों की फुट और लुट की राजनीती लोगों की समझ में आ गई है। शांततापूर्ण सहअस्तित्व हिन्दू और मुस्लिम धर्म की बुनियादी सोच रही है। कुरआन भी "तुम्हारे लिए तुम्हारा धर्म और हमारे लिए हमारा धर्म" का सन्देश देता है। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता पुरे विश्व में प्रसिद्ध है। भारत के बहुसंख्य मुस्लिम दलित या बहुजन समाज के घटक रहे हैं। धर्मान्तर के बावजूद उनके रीती-रिवाजों में ज्यादा फर्क नहीं है। इंटरनेट और दूसरे मिडिया संसाधनों की उपलब्धता के कारण मुस्लिम समाज की समस्याओं के बारे में जानकारी मिलने के कारण तथा मुस्लिम समाज के बारे में फैलाई गई गलतफहमियों के बारे में वस्तुस्थिति की जानकारी मिलने के कारण शंका निरसन हो रहा है जिस के नतीजे में लोगों के दृष्टिकोण में फर्क पड़ रहा है।

हिंदी के लगभग सभी साहित्य प्रकार में मुस्लिम विमर्श इस विषय पर राज्य, राष्ट्र एवम विश्वस्तरीय संगोष्ठियों का, धीमी गति से ही क्यों न हो, आयोजन किया जा रहा है। उस विषय पर प्रकाश डालने वाले लेख, आलेख तथा पुस्तक भी प्रकाशित हो रहे हैं। अल्पसंख्यक समाज से जुड़ी समस्याओं की तरफ पूर्वग्रह के कारण जो अनदेखी हुई उसका एहसास जिन्दा हो रहा है। एक मानव और स्वतंत्र भारत का स्वतंत्र नागरिक की हैसियत से समानता के तत्व के अनुरूप अल्पसंख्यक नागरिक को भी इस देश में बराबरी का

हक हासिल है इस बात को विचारवंत भलीभांति जानते हैं। इसलिए केवल मुस्लिम ही नहीं बल्कि गैर मुस्लिम लेखक, समीक्षक, कवि एवम संशोधक भी मुस्लिम विमर्श इस विषय में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। भारत की सामाजिक बुनावट ही विविधता में एकात्मता के धागे से बनी होने के कारण कभी न कभी कृत्रिमता से निर्माण की गई कटुता समाप्त होगी और देश में फिर 1857 से पूर्व देखी गई भारतीय साझा संस्कृति का प्रदर्शन होगा ऐसी आशा है।

उपसंहार

कविता कालयात्री भी कही जाती है। काल के साथ चलने की कविता की इसी क्षमता ही उसकी जीवंतता का नियामक तत्व है, पर समकालीन समय इतना जटिल बन गया है कि समय को 'लोकेट' करने की सारी प्रविधियाँ लगातार निर्मूल हो रही हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के विस्फोट के समकालीन युग में कविताएँ भी सूचनाओं से पार्थक्य नहीं रख सकती हैं। लगातार कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं साथ ही कविता के लिए सोशल मीडिया का नया मंच भी उपलब्ध हुआ है। पर सवाल यह उठता है कि लगातार निकल रही इन कविताओं में कितनी कवितायें समय को सही ढंग से पकड़ पाती हैं? यानि वर्चुअल दुनिया के वर्चस्व के बाहर कविता मूल मानवीय संवेदनाओं के विकल्प को समय से लड़कर प्रतिस्थापित करने की क्षमता कहाँ तक रख सकती है? वैसे तो इन सवालों का जवाब हाँ या ना में देना नहीं बल्कि वह गंभीरता मांगती है। प्रस्तुत शोध कार्य में मैंने अपनी क्षमता के अनुसार इन्हीं सवालों का जवाब पाने का प्रयत्न किया है।

मानवीय संबन्धों का मूल आधार तो मिथकीय है। जैविक उद्विकास क्रम में मनुष्य ने अपने संबन्धों के सामाजिक स्वरूप को जैविक ज़रूरतों से बढ़कर इन्हीं मिथकों के आधार पर रूपायित किया था। समय के साथ वह लगातार कृत्रिम होता गया। आज मानवीय संबन्ध इस कदर पेचीदा हो गया है कि उसके भीतर सक्रिय वर्चस्व के बृहत्तर मुहिमों को पहचानना लगभग नामुमकिन सा होता चला जा रहा है। अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि मानवीय संबन्धों का जटिल रूप धारण करने के पीछे मनुष्य मस्तिष्क की अहम भूमिका रही है। एक तरफ मनुष्य में खोपड़ी के आकार ने प्रसव प्रक्रिया को संकीर्ण बनाया वहीं दूसरी तरफ अन्य जीव जन्तुओं की अपेक्षा विशाल मस्तिष्क ने आपसी संबन्ध को प्रगाढ़ बनाकर प्रसव प्रक्रिया की संकीर्णता को प्यार और आपसी रिश्तों के बलबूते पर मानव राशि के लिए सह्य और सहज बना दिया। उद्विकास क्रम में मनुष्य मस्तिष्क लगातार अद्वितीय क्षमतायें अर्जित करता रहा। साथ ही मैंने पाया कि मानवीय संबन्ध किसी सुनिश्चित नैसर्गिक चारित्रिक विशेषता तक सीमित नहीं है, यानि उन्हें मूल रूप से क्रूर या करुणार्द्र कह पाना मुश्किल है। मानव मस्तिष्क का यह लचीलापन और सामाजीकृत होकर किसी मिथकीय आधार पर व्यवस्थित होने की प्राणाली ही सांस्कृतिक विविधताओं का मूल आधार है।

समकालीन मानवीय संबन्ध आज जटिलताओं का एक पुलिंदा बन गया है। लगातार उभर रहे वर्चस्ववाद को पहचानने तथा प्रतिरोध जताने का हर उपक्रम प्रायोजित बृहत्तर मानव विरोधी बाज़ारू मुहिम के आगे बेअसर हो रहे हैं, पर लाख काहिली के बावजूद भी समकालीन कविता बुनियादी मानवीय संबन्धों की ऊष्मा को बरकरार रखने की ज़िद लिए बैठी है। समकालीन कविता के इस जीवट को सत्तर के बाद की कविताओं के संदर्भ में पहचानकर बृहत्तर मानव विरोधी मुहिम के बरअक्स वह

किस प्रकार अपना प्रतिवर्चस्व जाहिर कर रही है और मानवीय संबंधों की ऊष्मा को किस प्रकार बरकरार रख रही है। इसे समझने का प्रयास प्रस्तुत शोध कार्य में हुआ है।

समकालीनता को प्रायः आधुनिकता की अगली कड़ी के रूप में अभिहित किया जाता है पर यह समझना ज़रूरी है कि समकालीनता आधुनिकता से रैखिक विकास क्रम के रूप में नहीं उपजी है। आधुनिकता से बहुत कुछ आत्मसात करते हुए भी उसके केन्द्रीकृत वर्चस्व को तोड़कर ही समकालीन कविता ने अपनी समकालीनता अर्जित की है। सत्तर में समकालीन कविता की भूमिका तैयार होती है और नब्बे के आसपास तब तक नगण्य रही विभिन्न अस्मिताओं को आवाज़ मुहय्या करा कर वह प्रतिवर्चस्व के विशाल परिदृश्य को सामने रख रही है। समकालीन कविता में लगभग चार पीढ़ियाँ सक्रिय हैं। प्रारंभिक पीढ़ी के कवियों में स्मृति बोध से सघन केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूडी, चन्द्रकान्त देवताले, भगवत रावत, अरुण कमल, विनोद कुमार शुक्ल आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्मृतिहीनता के समकालीन दौर में इन कवियों ने स्मृति की सघनता से कविता को जड़हीनता से बचाया है। नब्बे के बाद बहुत सारे युवा कवि समकालीन कविता के परिदृश्य में आये। सत्तर व अस्सी के दशक में जनपक्षधरता और लोक से जो जुड़ाव कविता में उदय पा चुका था वह इन कवियों के माध्यम से समकालीन कविता में और अधिक सशक्त हुआ। साथ ही कविता के सामने ऐसी चुनौतियाँ उभरकर आयीं जिसकी कल्पना भी नहीं की गयी थी।

नब्बे के बाद समकालीन कविता के तेवर में आमूल-चूल परिवर्तन घटित होता नज़र आता है। उदारीकरण का दौर शुरू हुआ और कविता के स्वायत्त क्षेत्र को भी बाज़ार ने लील लिया। बृहत् वित्त प्रणालियाँ, प्रौद्योगिकी क्रान्ति, कापरेट प्रबन्धन का महा अभियान और जनता का पैसीव भीड़ में तब्दील हो जाने की नियति ने मिलकर जो 'कोलार्ज' तैयार किया है, उसके सामने कविता निरुपाय-सी प्रतीत होने लगी।

कवि कर्म के सामने उपस्थित हो रही इन उद्विग्नताओं और बेचैनियों से बच जाना कवि के लिए आसान नहीं है, जो कवि सच्चे अर्थ में समकालीन है वे लाख काहिली के बावजूद भी प्रतिवर्चस्व के स्वर को बुलंद करते हैं। वर्चस्ववाद के अनुकूलन और आत्मविसर्जन से बचते हुए जो कवि समकालीन परिदृश्य में रचनारत है उनसे काफी उम्मीद किया जा सकता है। राजेश जोशी, कुमार अंबुज, ज्ञानेन्द्रपति, वीरेन डंगवाल, मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश, एकान्त श्रीवास्तव, विष्णु नागर, बद्री नारायण, पवन करण, ओमप्रकाश वाल्मीकि, अनामिका, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन आदि ऐसे नाम हैं जो समकालीन विकट परिस्थिति में भी मानवीयता की ऊष्मा को बरकरार रखते हैं।

उदारीकरण के समकालीन दौर में सब कुछ मुनाफे की नज़र से तोला जा रहा है। सामाजिक जीवन का कोई भी स्तर आज बाज़ार से मुक्त नहीं है। इस अर्थ व्यवस्था से आम लोग इस कदर आक्रान्त हैं कि वह सही गलत का निर्णय कर पाने में लगातार असमर्थ होते जा रहे हैं। बाज़ार के बृहत्

चंगुल और ज्ञानात्मक प्रपंच की छवियों के बाहर मानवीयता कहीं रूपाकार ग्रहण करता हुआ नहीं दिख रही है। ऐसे में समकालीन कविता भू-मंडी का पोल खोल कर उसके व्यापक मानव विरोधी मुहिम से हमें आगाह कर रही हैं। ज्ञानेन्द्रपति की 'आज़ादी उर्फ गुलामी', 'शीत युद्ध की समाप्ति पर', पंकज राग की 'यह भूमंडल की रात है', वंदना देवेन्द्र की 'बीच के लोग', भगवत रावत की 'मानो न मानो' राहुल राजेश की 'झूठा सच', लीलाधर मंडलोई की 'बोध', कुमार अंबुज की 'अतिक्रमण', रंजना जायसवाल की 'आर्यावर्त में स्त्री-विमर्श', ए अरविंदाक्षन की 'पेरियार का पानी', आदि ऐसी ही कवितायें हैं जो बाज़ार के बृहत्तर मानव विरोधी मुहिम का प्रतिरोध जद्दोजहद से करती हैं।

समकालीन मनुष्य का सांस्कृतिक संदर्भ छवियों और बिंबों के बृहद संसार में फँसा हुआ है। सांस्कृतिक वजूद अर्जित करने के बदले बाज़ार उसे आज रेडिमेड रूप से मुहय्या करा रहा है। इसीलिए समकालीन मनुष्य के सामने सांस्कृतिक संकट किसी भी युग से बढकर है। समकालीन कविता इन जटिल परिस्थितियों का कोई तयशुदा समाधान पेश नहीं करती। वह लगातार उलझ रहे सामाजिक संदर्भों में से कुछ ऐसी मोहलतों को देती हैं जो मानवीयता से बेदखल हो रहे समाज को कुछ पल ठहरकर अपनी मानवीयता के बारे में सोचने के लिए बाध्य कराती है। भगवत रावत की 'सभ्यता और संस्कृति', ज्ञानेन्द्रपति की 'मशरूम वल्द कुकुरमुत्ता', संजय कुंदन की 'कालकथा', बद्री नारायण की 'सुभाषनगर', 'चूहे, लीलाधर मंडलोई की 'गुरुदक्षिणा', 'मनमोहन की विस्मृति' आदि ऐसी सशक्त कविताएँ हैं जो बदले हुए सांस्कृतिक संदर्भ को बारीकी से अभिव्यक्त करती हुई हमें संस्कृति के असली वजूद से रूब रु कराती हैं।

समकालीन कविता की बहुस्वरता केन्द्रीकरण की हर मुहिम का ज़बरदस्त प्रतिरोध करती हुई हाशिए की आवाज़ को बुलंद कर रही है। इसी कारण सदियों से हाशिए में रह रहे विभिन्न लिंगभाव समकालीन कविता में अभिव्यक्ति पा रहा है। लिंगभाव दरअसल एक सामाजिक निर्मिति है। मनुष्य अपनी मिथकीय सामाजिक संरचना के तहत जैविक लिंग की अवस्था को सांस्कृतिक निर्मिति में बदल देता है। लिंगभाव की सांस्कृतिक निर्मिति स्त्री और पुरुष के दो लिंगों को ही मान्यता देती है और पुरुष को वरेण्यता प्रदान करते हुए सामाजिक संरचना के अनुक्रम में उसे सबसे ऊपर का स्थान प्रदान करती है। इसी कारण ही आधी आबादी को सदियों से शोषण का शिकार होना पड़ा था। समकालीन कविता हर स्तर पर व्याप्त इस पुरुष वर्चस्ववाद का सशक्त प्रतिरोध कर रही है। हरीश चन्द्र पाण्डे की 'प्रतिभाएँ', इन्दु जैन की 'युद्ध में औरत', वन्दना देवेन्द्र की 'बेझड़', मोहन कुमार डहेरिया की 'स्त्री देह', पवन करण की 'स्त्री मेरे भीतर', अनामिका की 'पूरे चाँद की रात', कात्यायनी की 'देह न होना', प्रदीप मिश्र की 'रैम्प पर चलनेवाली लड़कियाँ' आदि कविताएँ सशक्त रूप से वर्चस्व की हर छवियों को तोड़कर स्त्री के वजूद को पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति दे रही हैं। ग्लैमरस दुनिया की वर्चस्व छवियों के बीच में यथार्थ और अयथार्थ की सही पहचान करती हुई ये कविताएँ समझदारी के साथ अपना प्रतिवर्चस्व रूपायित कर रही हैं।

समकालीन कविता में बदले हुए परिवेश के आधार पर घर की हर इकाई गहरी अभिव्यक्ति पाई है। उन सभी इकाइयों का विश्लेषण अध्ययन के इस छोटे कलेवर में कभी समा नहीं सकते। इसलिए परिवार की सबसे अहम इकाइयों को ही अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शोध कार्य में शामिल की है। इस दृष्टि से लड़की/स्त्री परिवार की महत्वपूर्ण इकाई है। संवेदनाओं का पुंज होकर भी वह सदियों से वर्जनाओं के बीच पलती आई है। समकालीन हिन्दी कविता भारतीय पारिवारिक संदर्भ में लड़की की महत्वपूर्ण उपस्थिति को विभिन्न धरातलों पर गहरी संवेदनात्मकता के साथ अभिव्यक्ति दे रही है। एक तरफ संवेदना के पुंज के रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी तरफ सदियों से चली आ रही जकड़नों को तोड़ने की तीव्र अभिलाषा भी अभिव्यक्ति पाई है।

राजेश जोशी की 'बेटी की विदाई', पवन करण की 'एक खूबसूरत बेटी का पिता', नीलेश रघुवंशी की 'सत्रह साल की लड़की', विमल कुमार की 'ताला', निर्मला पुतुल की 'बिटिया मुर्मु के लिए-3', सविता सिंह की 'नमन करूँ छोटी बेटियों को', आदि ऐसी कविताएँ हैं जो समकालीन पारिवारिक संदर्भ में संवेदना के पुंज लड़की की सशक्त उपस्थिति को शिद्दत से दर्ज करती हैं। बेटी के साथ समकालीन कविता में भाई-बहन संबन्ध ने भी सशक्त अभिव्यक्ति पायी है। नीलेश रघुवंशी की 'ढाबा आठ कविताएं' में से चौथी कविता भाई-बहन संबन्ध की प्रगाढ़ता को बहुत गहराई से संवेदित कराती है।

समकालीन कविता स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को विभिन्न धरातलों पर उभर कर मानवीय संबन्धों में सबसे अनुपम प्रेम संबन्ध का नया लोकतांत्रिक सौंदर्यशास्त्र ही निर्मित कर रही है। हेमन्त कुकरेती की 'थोड़ा-सा वक्त', 'वह खोलती है दरवाज़ा, जितेन्द्र श्रीवास्तव की स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को अनामिका की 'लेडीज संगीत, अशोक वाजपेयी की अलग-साथ समय, केदारनाथ सिंह की नमक, एम. षण्मुखन की 'पति-पत्नी आदि ऐसी कविताएँ हैं जो बदली हुई समकालीन परिवेश में पति-पत्नी संबन्धों को गहराई से संवेदित कराती हैं। साथ ही समकालीन कविता पति- पत्नी संबन्धों के बीच थोपी हुई नैतिकता का पोल भी खोलती है। स्त्री की यौन शुचिता के आधार पर रूपायित हर सांस्कृतिक, सामाजिक निर्मिति को समकालीन कविता ज़बरदस्त ढंग से तोड़ रही है। समकालीन कविता में जायज़ और नाजायज़ संबन्ध की यही परिभाषा है-जिस संबन्ध में प्यार है वह जायज़ है और जिस संबन्ध में प्यार नहीं है वह नाजायज़ है।

समकालीन सामाजिक संबन्ध जटिलताओं से इस कदर लैस है कि उसे सही ढंग से विश्लेषित करना भी लगातार दुसाध्य होता जा रहा है। वर्चस्ववाद की अनगिनत छवियाँ समकालीन सामाजिक जीवन में बदस्तूर हैं। प्रतीक एवं चिह्न व्यवथाओं से भरपूर समकालीन वर्चस्ववादी अमानवीय मुहिम आज संस्कृति, कला एवं साहित्य को अपने चंगुल में फँसा रही है। समकालीन जीवन से प्रतिरोध एवं प्रतिवर्चस्व का आधार लगातार निशेष होता जा रहा है। ऐसे में समकालीन हिन्दी कविता वर्चस्व के हर बहुरूपिए से लगातार सतर्कता बरत रही है। हर पल बदल रहे समकालीन राजनीतिक, आर्थिक और

सांस्कृतिक संदर्भों की गहरी पडताल करती हुई वह वर्चस्ववादी बृहत्तर मुहिम में अकेले पड़ते जा रहे जन साधारण के पक्ष में खड़ी होती दिख रही है।

राजनीति का संदर्भ आज किसी प्रकार की शासन प्रणाली तक ही सीमित नहीं है। सामाजिक जीवन के हर स्तर आज राजनीतिक है। समकालीन कविता बेहद सजगता से बदले इस राजनीतिक संदर्भ को उजागर कर रही है। राजेश जोशी की 'एक शैतान से मुलाकात', 'इत्यादि', मंगलेश डबराल की 'नये युग में शत्रु', उमाशंकर चौधरी की 'रामदास 2', मदन कश्यप की 'भयावह समय', 'नीम रोशनी में', 'तमाशा', हरे प्रकाश उपाध्याय की 'राजनीति', 'बद्रिनारायण की अपेक्षाएँ', 'मोर नाच', नरेश सक्सेना की 'नक्शे', कुमार अंबुज की 'एक राजनीतिक प्रलाप', अरुण कमल की 'कुछ परिभाषायें', विमल कुमार की 'सर्वानुमति', रवीश कुमार की 'कांठ की कुर्सी', 'काठ की लाठी' आदि ऐसी कविताएँ हैं जो बदले हुए राजनीतिक परिदृश्य में लगातार इत्यादि में बदलने के लिए अभिशप्त मनुष्य के पक्ष में खड़ी होती हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कविता मानवता का चिरंतन साथी रही है। मनुष्य के मनोविकारों को जितनी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति कविता में मिलती है शायद उतनी अन्य किसी विधा से नहीं मिली होगी। मानवीय संबंधों का हर स्तर कविता में संवेदनाओं की पूरी बारीकी के साथ सदियों से अभिव्यक्त होता आ रहा है। समकालीन हिन्दी कविता को भी मानवीय संबंधों की यह बारीक पकड़ विरासत के रूप में मिली है। पर सूचना प्रौद्योगिकी से समकालीन समय में बुनियादी मानवीय संवेदनाएँ लगातार कुंद पड़ती जा रही हैं। हर स्तर पर वर्चस्ववाद की अनगिनत छवियाँ समकालीन जीवन में उभर रही हैं। इस छवि संसार में तटस्थ रह कर मूल मानवीय संवेदनाओं को उस के तह में जाकर प्रतिवर्चस्व के ताप को उभारने के कविता के सभी साधन लगातार निर्मूल भी होते जा रहे हैं। आभासी यथार्थ कविकर्म को लगातार शौक और स्टेटस के नये वर्चस्ववादी फंदे में फंसाता भी जा रहा है। पर लाख काहिली के बावजूद भी कविता मूल मानवीय संवेदनाओं से निशेष नहीं हुई है। मानवीय संबंधों की ऊष्मा संजोकर हमें अपनी मानवीयता का अहसास दिलाती हुई जो कवितायें निकल रही हैं वह अपनी समकालीनता स्वयं सिद्ध कर रही हैं। राजेश जोशी ने ठीक ही कहा था कि बाज़ार और हिंसा हमारे समय की आखिरी आवाज़ के रूप में शेष कविता को अभी तक मलिन या गुमराह नहीं कर सकी है। अपनी जीवंतता सिद्ध करती इन कविताओं से काफी आशा बाँधी जा सकती है।

समकालीन कविता का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि, समकालीन कविता में व्यवस्था के यथार्थ का ज्ञान, उसका विरोध एवं सामान्यजन के प्रति प्रतिबद्धता है। साथ ही मानवीय रिश्तों का सहज संवेदनात्मक बोध, रचनात्मक ईमानदारी, स्पष्टता आदि समकालीन कविता की सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं। समकालीन कवियों की जनवादी सक्रियता के समक्ष संघर्ष की कठोर चुनौतियाँ पैदा हुईं। वे दमन चक्र में पिसती जनता के कष्टों को अपनी आँखों से देख रहे थे। कवियों ने विभिन्न कविताओं में प्रतीकात्मक ढंग से जनसामान्य को जाग्रत करने में विशेष भूमिका को निर्वाह किया। व्यवस्थाजन्य

आतंक को कहीं मौन तो कहीं मुखर तो कहीं बिम्बों में अभिव्यक्त किया गया जिसमें कहीं विरोध का भाव था तो कहीं विरोध और करूणा का।

वर्तमान भारतीय समाज जिन चुनौतियों से गुजर रहा है, उनका सामना साहित्यकार भी करता है। समाज और साहित्य दोनों की समस्याओं को चुनौतियों की तरह स्वीकार कर और उनमें सामन्जस्य स्थापित कर साहित्य रचना करना साहित्यकार का दायित्व है। समकालीन कविता की सबसे बड़ी चुनौती व्यवस्था के यथार्थ को उजागर करना है, साथ ही संघर्षशील जनता को उसके अधिकारों के प्रति जागरूक और उन्हें प्राप्त करने में सहायता प्रदान करना भी है।

समकालीन कवियों के आत्मसंघर्ष उनके विशिष्ट अनुभव जगत विषयवस्तु भिन्न-भिन्न आदर्शों, शैलियों, मुहावरों, प्रतीकों और बिम्बों का प्रयोग इस प्रकार से हुआ है कि, कविता सामान्य जन की पीड़ा व संघर्षों के अधिक निकट पहुँचा है। समकालीन कवि कविताओं की उन संभावनाओं के प्रति सजग है जो कि कविता को जनचरित्र कालयात्री बनाते हैं नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल आदि इसी परम्परा के कवि हैं। इस पीढ़ी को आगे बढ़ाने वाले नये कवि देवी प्रसाद, बद्रीनारायण, विजेन्द्र, अनिल स्वप्निल आदि अनेक कवि ऐसी रचनाएँ कर रहे हैं और उस परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं।

समकालीन कविता की विशेषता यह है कि कविता जिसके लिए लिखी गयी है, उस तक पहुँच रही है अर्थात् यह सहज संप्रेषणीय है जिससे पाठक कवि कविता का त्रिकोण पूरा होता है। और इनके मध्य अवरोध जैसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती है तथा कवि जनता के संघर्षों तथा रचनात्मकता में सतुलन के साथ सहभागिता कर पाता है। समकालीन कविता में व्यवस्था के यथार्थ एवं चरित्र का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि व्यवस्था द्वारा किया जाने वाला व्यवहार उसके क्रियाकलाप, आमजनता के प्रति उसकी नीतियाँ आदि व्यवस्था के यथार्थ को स्पष्ट करती हैं। व्यवस्था का स्वरूप उसके नियम निर्धारक व्यक्तियों के विचारों पर निर्भर करता है।

समकालीन कवि जनवादी चेतना से स्वयं को जोड़े हुए रखते हैं और अन्तर्विरोधों के प्रति प्रतिक्रिया देकर जनता के मनोबल को उठाये हुए रखते हैं। ये कवि सिद्धान्तों को कलात्मकता से जोड़ने का प्रयास करते हैं। विचारधारा में मतभेद के बावजूद समकालीन कविता के रचनाकारों में चिन्तन के स्तर पर समानता का भाव दिखाई देता है। ये कवि समकालीन समस्याओं चुनौतियों व स्पर्धाओं से लड़ने टकराने और उनका सामना करने से पीछे नहीं हटते बल्कि जनता के साथ एकजुट होकर संघर्ष करने में विश्वास रखते हैं और यही समकालीनता की अवधारणा है।

समकालीन कविता में कुछ विवाद व सीमाएँ भी हैं। समकालीन कविता में व्यवस्था का विरोध तो किया गया है। लेकिन व्यवस्था के विकल्प के रूप में जो प्रस्ताव दिये गये हैं। वे सटीक नहीं हैं। कुछ तो इनमें आत्मघाती भी कहें जा सकते हैं। कुछ समकालीन कवि अतिशय क्रांतिकारी रोमानियत से ग्रस्त हैं, इसलिए पूरे देश को ही नक्सलवादी की संज्ञा दे देते हैं। कवि अपने जीवन संघर्ष से इस कदर ऊबे

हुए है कि वह जनता के अन्तर्विराधों के खिलाफ लड़ते लड़ते हताशा व नैराश्य की भावना से भर जाते हैं। यह प्रवृत्ति कवि और कविता दोनों के लिए घातक कही जा सकती है।

यद्यपि समकालीन कविता कुछ विवादों से घिरी है (जैसे समय निर्धारण की समस्या, एक केन्द्रीय विषय का न होना, कविता की गद्यमयता, बाज़ार और अर्थ का दबाव, समाज के सामूहिक स्वप्न का हास) और उसकी कुछ सीमायें हैं परन्तु कविता का यह दौर यथार्थ का उद्घाटन करते समय एकजुट और एकमत हो जाता है। क्योंकि व्यवस्था वह चट्टान है जो बदलाव की हवाओं की राह में पूरी मजबूती के साथ खड़ी हो जाती है और ऐसी व्यवस्था का सामना करने के लिए कवि को जनसंघर्ष की गहराई से स्वयं को जोड़ना होता है। तभी समकालीन कविता उद्देश्यों में सफल हो सकती है।

समकालीन कविता भाषिक संरचना की दृष्टि से सम्पन्न कविता है शुद्ध संस्कृत निष्ठ हिन्दी के अलावा सहज क्षेत्रीय बोलियों व देशी भाषा का प्रयोग भाषा को समृद्धि प्रदान करता है। रोजमर्रा के जीवन को बनावट रहित भाषा में प्रस्तुत करना समकालीन कविता को अधिक संप्रेषणीय बनाता है। ब्रज भोजपुरी, मैथिली आदि ग्रामीण अंचलों की भाषा, मुहावरों का प्रयोग कविता को अधिक असरदार व सहज बनाता है। भाषा में प्रयुक्त हुए बिम्ब प्रतीक और मुहावरे जीवंतता लिये हुए हैं। 'पारे सी आँख, जेठ की दुपहरसी आँखें, सिक्कों जैसी रात', आदि बिम्ब तथा नदी, सुअर, भेड़िया, पहाड़, सूर्य आदि प्रतीक भाषा को सजीवता प्रदान करता है। समकालीन कविता अपने शिल्पगत वैशिष्ट्य से भी समृद्ध है। कवि जनसंघर्ष और जनचेतना से गहरी संवेदना रखता है। इसलिए वह अपने शिल्प के प्रति भी जागरूक है और यथार्थ के चित्रण के लिए ऐसी शैली का आविष्कार करता है, जो न केवल जनआकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दे वरन उसे संघर्ष के लिए प्रेरित भी करे।

समकालीन कवियों ने इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोकशैली, अतिथार्थवादी शैली, व्यंग्यात्मक शैली, हास्य-व्यंग्य शैली, मिथकीय शैली, रेटरिक शैली और फैन्टेसी शैली का प्रयोग अपनी कविताओं में किया तथा इनके द्वारा जनभावों और यथार्थ को बिना रूप परिवर्तन किये अभिव्यक्ति मिली वास्तव में समकालीनता की अवधारणा ही अपने समय के यथार्थ और परिस्थितियों के बोध और उन परिस्थितियों और अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरना है जिनसे होकर आम आदमी गुजरता है। इसलिये समकालीन कविता कथ्य और शिल्प के स्तर पर गंभीर होकर जनचेतना और जनसंवेदना से जुड़ी रही।

समकालीन कवियों के व्यंग्य तीखे व असरकारी हैं, वे कुरीतियों - कुव्यवस्थाओं पर करारी चोट करते हैं, व्यवस्था के विद्रोहों के प्रति अपने विरोध को कवि व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। समकालीन कवि आत्मालोचना व आत्मव्यंग्य से भी पीछे नहीं हटता है और सपाटबयानी के द्वारा व्यवस्था की कुरीतियों को उखाड़कर दूर करता है।

समकालीन हिन्दी कविता का दौर आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में सबसे लम्बा चलने वाला काव्य-युग साबित हुआ है। अपनी गरिमा और अर्थवत्ता में छायावाद, प्रगतिवाद और नयी कविता के समतुल्य न सही, परन्तु इन तीन आन्दोलनों के बाद महना में यदि कोई चौथा नाम आएगा, तो वह समकालीन कविता होगी। प्रसाद, निराला, नागार्जुन और मुक्तिबोध के समानान्तर किसी प्रतिमान-सर्जक को न दे पाना, समकालीन कविता को सबसे बड़ी सीमा है और इसी कारण से अपनी लम्बी उम्र के बावजूद समकालीन कविता अग्रगण्य काव्यान्दोलन नहीं बन पायी है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस दौर ने अर्थवान कवियों को पैदा नहीं किया। सच ता ये है कि अपनी सृजन धर्मिता और समय से कदम ताल मिला-मिलाकर चलने को मूलभूत प्रवृत्ति के चामते समकालीन कविता के वरिष्ठ कवियों ने कविता की जरूरत को आधुनिक ढंग से परिभाषित किया है।

समकालीन कविता के अनेक रूप हैं। सन् 1960-70 के दशक से आरम्भ हुई इस कविता में अनेक शेड्स विद्यमान हैं। इन विविध रूपों को व्यक्त करने में समकालीन शब्द कितना समर्थ है, यह भी मूल्यांकन की समस्या है। सन् 1990 के पश्चात जहाँ बाज़ार ने पाँव पसारे, वहीं विमर्शों ने भी अपना स्थान बनाना शुरू किया। स्त्री अस्मिता और विभिन्न अस्मिताओं की चर्चा केन्द्र में आ गई। इससे स्वरो का वैविध्य ही नहीं बढ़ा, बल्कि प्रतिनिधित्व के स्तर पर केन्द्रीयता भी खत्म हो गई।

इस दृष्टि से कविता के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हो सकते हैं : भारतीयता की पहचान, हाशिए के समाज की उपस्थिति, बाल मन की पहचान का प्रश्न, लोक समाज की उपस्थिति, ग्रामीण समाज और ग्राम के विविध चित्र, विश्व बोध और भूमण्डलीय समाज की उपस्थिति, बाज़ार का प्रभाव, और मानवीय संवेदनशीलता। आज की कविता अनेक रूपों और रंगों की कविता है। एक ओर उसमें विमर्शों की झलक है तो दूसरी ओर प्रेम की नई छुअन। इस शोध कार्य के अध्ययन के दौरान यह ज्ञात हुआ है कि इस कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं : विध्वंस और मृत्यु के खिलाफ संघर्ष, दलित और स्त्री विमर्श की अभिव्यक्ति, आत्मीय पलों को स्वर देने की इच्छा, विरोध और विद्रोह का स्वर, अनुभव के क्षणों का मूर्त रूप, सामाजिक असन्तोष को स्वर, आत्मसंघर्ष और मानवीयता को मूल्य के रूप में स्थापित करने की जद्दोजहद।

यह तथ्य है कि कविता के वर्तमान दौर का नाम समकालीन कविता हो इस आधार पर पड़ा कि वह अपने समय के साथ, उसके ठीक समानान्तर, उस पर सर्वाधिक नजरें गड़ाए हुए विकसित हो रही है, आगे बढ़ रही है। समकाल को अत्यन्त वृहद् परिप्रेक्ष्य में, सम्पूर्णता में लेने के कारण समकालीन कविता का विषय-क्षेत्र असाधारण ढंग से विस्तृत हुआ है। एक तो करीब चालीस वर्षों का दायरा, दूसरे दिन-प्रतिदिन नये-नये कवियों की उमड़ती हुई बाढ़, दानों कारणों ने समकालीन कविता को आधुनिक हिन्दी साहित्य को अति विस्तृत विधा के रूप में तब्दील कर दिया है। इसमें एक ओर बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, भूमण्डलीकरण, सूचनातन्त्र, फैशनवाद, साम्प्रदायिकता, आतंकवाद जैसे नवीन विषय

केन्द्र में है, तो ठीक दूसरी ओर चरित्रहीनता, मूल्यों का पतन, पारिवारिक विघटन, अविश्वास का विस्तार, अवसरवादिता, प्रदर्शनप्रियता को भी इस कविता ने अपने तेवर और आक्रोश का निशाना बनाया है।

भूमंडलीकरण ने समकालीन हिंदी कविता पर गहरा प्रभाव डाला है। 1990 के दशक में भारत में आर्थिक सुधारों के साथ नवउदारवाद का दौर शुरू हुआ, जिसने समाज और जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित किया। इस समय के दौरान, बाजार और तकनीक का हस्तक्षेप बढ़ा, जिससे समाज के पारंपरिक मूल्य बदल गए। समकालीन हिंदी कविता ने इन परिवर्तनों को संवेदनशीलता से अभिव्यक्त किया है। इस दौर की कविताओं में पहचान आधारित अस्मिताएँ जैसे स्त्री, दलित, और आदिवासी मुद्दे प्रमुखता से उभरे। कवियों ने भूमंडलीकरण के प्रभावों को अपने काव्य में शामिल कर, सामाजिक और आर्थिक बदलावों को दर्शाया है।

भूमंडलीकरण का समकालीन हिंदी कविता पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव कई स्तरों पर देखा जा सकता है :

विषयवस्तु में परिवर्तन: भूमंडलीकरण के कारण हिंदी कविता में नए विषयों का समावेश हुआ है। कविताओं में अब वैश्विक मुद्दों, पर्यावरण, मानवाधिकार, और सामाजिक न्याय जैसे विषयों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

भाषा और शैली में बदलाव: भूमंडलीकरण ने हिंदी कविता की भाषा और शैली को भी प्रभावित किया है। अब कविताओं में अधिक सरल और संप्रेषणीय भाषा का प्रयोग हो रहा है, जिससे वे व्यापक पाठक वर्ग तक पहुँच सकें।

संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति: समकालीन हिंदी कविता में भूमंडलीकरण के कारण समाज में हो रहे बदलावों को बहुत संवेदनशीलता से अभिव्यक्त किया जा रहा है। यह कविताएँ समाज के विभिन्न वर्गों की आवाज़ बनकर उभर रही हैं।

तकनीकी और सांस्कृतिक प्रभाव: तकनीक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने भी हिंदी कविता को प्रभावित किया है। इंटरनेट और सोशल मीडिया के माध्यम से कविताएँ अब वैश्विक मंच पर पहुँच रही हैं, जिससे कवियों को नई प्रेरणा और दृष्टिकोण मिल रहे हैं।

किसी वाद, सिद्धान्त और एकल विचारधारा से लगभग मुक्त यह सृजनधारा प्रगतिशीलता का अभिनव उत्थान नजर आती है, जो मार्क्सवादी प्रगतिशीलता से कहीं आगे 21वीं सदी के काबिल उत्तर-प्रगतिशीलता के रूप में रेखांकित की जा सकती है। आज समकालीन कविता के दायरे में दलित विमर्श, स्त्री विमर्श के साथ-साथ आदिवासी या जनजातीय विमर्श व अल्पसंख्यक विमर्श भी शामिल हो चुका है। उल्लेखनीय तथ्य यह कि यह कविता चौखटों के बाहर निकल चुकी है, सीमाओं को अपर्याप्त घोषित कर चुकी है, नये से नये वैचारिक सिद्धान्त या वाद की वह अनुगामिनी या मोहताज नहीं रह गयी।

समकालीन कविता का वैचारिक और चेतनागत फलक अप्रत्याशित ढंग से विस्तृत हुआ है। उसमें आधुनिक विश्व के लगभग सभी महत्वपूर्ण दर्शनों का निखरा हुआ स्वर एक साथ सुना जा सकता है। आज मार्क्सवाद का हिमायती कवि विवेकानंद और गांधी की वैचारिक मेधा का सम्मान कर रहा है, वह एक तरफ उपनिषद् के चिन्तन में रुचि ले रहा है, तो दूसरी ओर एडवर्ड सईद के नवीनतम निष्कर्षों की भी परीक्षा कर रहा है। तात्पर्य यह कि आज के कवि को अंतर्विरोधी विचारधाराओं से परहेज नहीं है। उसके चिन्तन पर किसी एक वाद का एकाधिकार नहीं रह गया है, न ही वह किसी एक चिंतक के महती प्रभाव से संचालित हो रहा है, बल्कि आज का कवि अपने विचारवान मस्तिष्क का कुशल संचालक स्वयं है।

समकालीन कविता का समग्र महत्व इस तथ्य में निहित है कि उसने समय की कलात्मक पुनर्रचना को हुबहु उसी अर्थवत्ता, विद्रूपता, जटिलता के साथ प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि समकालीन कविता अपनी विधा के चरमोत्कर्ष को न छू सकी, परन्तु यह तो है कि अपने समय के प्रति उचित जिम्मेदारी निभाने के सम्मान को हासिल करने में सफल जरूर रही। समकालीन कविता ने, कविता को, भाषा को असीमित सम्भावनाओं से परिपूर्ण किया है, शिल्प शैली और संरचना के नये से नये रूपों को जन्म दिया है और कविता का सामान्य पाठक के करीब आने वाली उनके दैनिक जीवन में शरीक होने वाली विधा बनाया है। समग्रता में देखा जाय तो समकालीन हिन्दी कविता एक राह दिखाती है, कला के शिखर को पाने की भूख जगाती है, और एक दूरदर्शी सपना देती है कि निरन्तर भाव-साधना करते हुए कैसे आकांक्षा को यथार्थ का रूप दिया जाय। समकालीन कविता की यात्रा अपने लम्बे कारवाँ के बावजूद बहुत दूर तक बाकी है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि **‘भूमंडलीकरण और समकालीन हिंदी कविता’** विषय पर शोध कार्य के द्वारा इस बात का प्रयास किया गया है कि विभिन्न अध्यायों व उप-अध्यायों के माध्यम से विषय की व्यापकता को प्रकट करने का उद्देश्य पूर्ण हो और अपेक्षित तथा प्रमाणित विषय वस्तु का प्रयोग हो ताकि शोध प्रबन्ध को उपयोगी व सार्थक बनाया जा सके जिससे शोध कार्य का महत्व स्पष्ट हो और शोध कार्य के उद्देश्यों को पूर्ण किया जा सके।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

आधार-ग्रन्थ सूची

- अनामिका . 1998 . अनुष्टुप . किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली
- अरविन्दाक्षन, ए. . 1998 . घोड़ा . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
- उपाध्याय, राजेन्द्र . 1997 . लोग जानते हैं . वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
- कमल, अरुण . 1982 . सबूत . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- कमल, अरुण . 1996 . नये इलाके में . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- कमल, अरुण . 1999 . अपनी केवल धार . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- कात्यायनी . 1999 . इस पौरुषपूर्ण समय में . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- कुकरेती, हेमंत . 1996 . चलने से पहले . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- कुमार, दुष्यन्त . 1999 . जलते हुए वन का वसन्त . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- गर्ग, निर्मला . 2000 . कबाड़ी का तराजू . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
- गिल, गगन . अंधेरे में बुद्ध . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- गुप्ता, रमणिका . 2008 . प्रतिनिधि कविताएँ . अक्षर शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली
- गुप्ता, रमणिका . 2002 . भीड़ सतर में चलने लगी है . रमणिका फाउंडेशन, झारखंड
- गोस्वामी . 1995 . केवल उसकी माँ . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- चतुर्वेदी, जगदीश . 1988 . नये मसीहा का जन्म . पल्लवी प्रकाशन, नई दिल्ली
- जगूड़ी, लीलाधर . 1999 . ईश्वर की अध्यक्षता में . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- जगूड़ी, लीलाधर . 2003 . अनुभव के आकाश में चाँद . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- जेरथ, सुभाष . 1994 . गोली लगने से पहले . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
- जैन, नेमीचन्द्र . 1999 . अचानक हम फिर . भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

जोशी, राजेश . 2000 . दो पंक्तियों के बीच, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

जोशी, राजेश . 2002 . धूपघड़ी . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

जोशी, श्रीकान्त . 1995 . शब्द वे लौटेंगे निश्चय . भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

झाल्टे, दंगल . 1999 . कौओं की पाठशाला . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

डबराल, मंगलेश . 1988 . घर का रास्ता . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

डबराल, मंगलेश . 1995 . हम जो देखते हैं . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

डबराल, मंगलेश . पहाड़ पर लालटेन . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

डागा, सावित्री . 1999 . शताब्दी की सरहद पर . पंचशील प्रकाशन, जयपुर

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद . 1999 . आखर अनन्त . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

त्रिपाठी, प्रभात . 1994 . आवाज़ . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

त्रिलोचन . 1983 . ताप के तापे हुए दिन . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

त्रिलोचन . 1984 . तुम्हें सौंपता हूँ . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

त्रिलोचन . 2002 . संचयिता . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

दास, विनोद . 1986 . खिलाफ़ हवा से गुज़रते हुए . भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

देवताले, चंद्रकांत . 1982 . भूखण्ड तप रहा है . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

देवताले, चंद्रकांत . 1996 . पत्थर की बेंच . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

देवताले, चन्द्रकान्त 1997 . उसके सपने . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

नागार्जुन . 1983 . पुरानी जूतियों का कोरस . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

नागार्जुन . 1995 . पका है यह कटहल . राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली

नागार्जुन . 1997 . अपने खेत में . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

नागार्जुन . 1999 . भूल जाओ पुराने सपने . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

नागार्जुन . ऐसे भी हम क्या ऐसे भी तुम क्या! . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

पाण्डेय, कृष्णावतार . 1996 . इतने दिनों बाद . राका प्रकाशन, इलाहाबाद

प्रसाद सिंह, महेन्द्र . 1994 . अश्वत्थ . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

प्रसाद, गोविन्द . 1996 . कोई ऐसा शब्द दो . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

बहादुर सिंह, शमशेर . 1990 . टूटी हुई बिखरी हुई . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

भारती, धर्मवीर . 1993 . सपना अभी भी . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

भारती, रवीन्द्र . 1999 . यह मेरा ही अंश है . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

मिश्र, भवानी प्रसाद . 2003 . संचयिता . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

मिश्र, रामदरश . 2000 . बारिश में भीगते बच्चे . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

मिश्र, रामदरश . ऐसे में जब कभी . नमन प्रकाशन, नई दिल्ली

मोहन, नरेन्द्र . 1996 . दासत्व से उबारो . किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली

रंजन सिंह, सुधीर . 1996 . और कुछ नहीं तो . आधार प्रकाशन, हरियाणा

रावत, भगवत . 1996 . सच पूछो तो . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

रावत, भगवत . 2014 . प्रतिनिधि कविताएँ . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

ललित, शबाब . 1996 . तैरते पाषाण . शाश्वत प्रकाशन, नई दिल्ली

वंशी, बलदेव . 1998 . अंधेरे के बावजूद . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

वर्मा, अर्चना . 1993 . लौटा है विजेता . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

वर्मा, श्रीकान्त . 1995 . मगध . राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

वाजपेयी, कैलाश . 1996 . भविष्य घट रहा है . भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

वाल्मीकि, ओम प्रकाश . 1997 . बस्स! बहुत हो चुका . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

शरण गुप्त, मैथिली . 1989 . साकेत . मानस मुद्रण, झांसी

शर्मा, अमिता . 1998 . आंखों में उलझी धूप . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

शील . 1992 . लाल पंखोंवाली चिड़िया . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

शुक्ल, प्रयाग . 1992 . बोते कितने बरस . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

शुक्ल, प्रयाग . 1993 . कविता . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

सिंह, केदारनाथ . 1983 . यहाँ से देखो . राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

सिंह, शमशेर बहादुर . 1988 . काल, तुझसे होड़ है मेरी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

सिन्हा, अलका . 1997 . काल की कोख से . वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

सूद . केवल कुछ और सोचने दो . पल्लवी प्रकाशन, नई दिल्ली

सहायक ग्रन्थ

‘नदीम’, नरेश(अनुवाद और सम्पादन) . (2005) . साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था- ब्लादिमीर इ. लेनिन . नयी दिल्ली; प्रकाशन संस्थान . प्रथम संस्करण

Jogdanand(Editor) . (2003) .Globalisation and Social Movements: Struggle for a Human Society . New Delhi; Rawat Publications

Nayyar, BaldeoRaj . (2001) .Globalisation and Nationalism . New Delhi; Sage Publication

Sethi, Raj Mohini(Editor) . (1999) .Globalisation, Culture, and Women’s Development . New Delhi; Rawat Publications

अग्रवाल, चन्द्रमोहन . (1994) . भारतीय नारी: विविध आयाम . देहरादून: अल्मोड़ा बुक डीपो

अनामिका . (2005) . खुरदुरी हथेलियाँ . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन . प्रथम संस्करण

अनुराधा . (2006) . आधुनिक हिंदी कविता के वैचारिक एवं शिल्पगत आयाम . जयपुर; पंचशील प्रकाशन

अम्बुज, कुमार . (1996) . क्रूरताएँ . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन .

अम्बुज, कुमार . (1998) . अनंतिम . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन . प्रथम संस्करण

अम्बुज, कुमार . (2007) . अतिक्रमण . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन

अम्बुज, कुमार . (2007) . क्रूरता (भूमिका से) .दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन . दूसरा संस्करण

अरविंदाक्षन, ए. . (1998) . समकालीन हिंदी कविता . नयी दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन . प्रथम संस्करण

उपाध्याय, रमेश(सं.) . (2006) . संस्कृति और व्यावसायिकता . दिल्ली; शब्द संसाधन प्रकाशन . प्रथम संस्करण

उपाध्याय, राजेंद्र . (1997) . लोग जानते हैं . बीकानेर; वाग्देवी प्रकाशन

उपाध्याय, विश्वम्भर . (2016) . समकालीन कविता की अंतर्गता . दिल्ली; गौरी पब्लिकेशंस

कमल, अरुण . (2012) . अपनी केवल धार . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . तीसरा संस्करण

करण, पवन . (2004) . स्त्री मेरे भीतर . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन . प्रथम संस्करण

कात्यायनी . (1999) . इस पौरुषपूर्ण समय में . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

काबरा, कमल नयन . (2005) . भूमंडलीकरण के भँवर में भारत . नई दिल्ली; प्रकाशन संस्थान

काबरा, कमल नयन . (2005) . भूमण्डलीकरण: विचार, नीतियाँ और विकल्प . नयी दिल्ली; प्रकाशन संस्थान . प्रथम संस्करण

काबरा, कमल नयन . (2011) . समकालीन भारत, सवाल और सरोकार . नई दिल्ली; प्रकाशन संस्थान

कालिया, ममता . (2002) . खांटी घरेलु औरत . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

कुमार 'शशि', शशिभूषण . (2013) . भूमण्डलीकरण: साहित्य, समाज और संस्कृति . दिल्ली; एक्सिस बुक्स प्रा. लिमिटेड . प्रथम संस्करण

कुमार, आशुतोष . (2010) . समकालीन कविता और मार्क्सवाद . नई दिल्ली; शिल्पायन संस्थान

कुमार, कृष्ण . (2004) . समकालीन कविता का बीजगणित . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

कुमार, नलिन. एवं यादव, जयवीर सिंह . (2010) . प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक . नवराज प्रकाशन

कुमार, लोकेन्द्र . (2023) . समकालीन हिंदी कविता में युगबोध . दिल्ली; साहित्यासागर . प्रथम संस्करण

कुमार, विजय . (1986) . समकालीन हिंदी कविता : परिवर्तित दिशाएं . नई दिल्ली; प्रकाशन संस्थान

केवल, गोस्वामी . (1995) . उसकी माँ . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

कोठारी, रजनी . (2003) . राजनीति की किताब . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

गिल, गगन . (1996) . अँधेरे में बुद्ध . नयी दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

गुप्ता, रमणिका . (2002) . भीड़ सतर में चलने लगी है . झारखंड; रमणिका फाउंडेशन

घोरपड़े, पद्मजा . (2006) . जख्मों के हाशिये . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

चंद, कल्याण . (1996) . समकालीन कवि और काव्य . कानपुर; चिंतन प्रकाशन . प्रथम प्रकाशन

चतुर्वेदी, रामस्वरूप . (2000) . नयी कविता- सैद्धांतिक पक्ष . इलाहाबाद; लोकभारती प्रकाशन . प्रथम संस्करण

चन्द्र, कल्याण . (1996) . समकालीन कवि और काव्य . कानपुर; चिंतन प्रकाशन

चन्द्र, बिपिन . (2005) . आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद . नई दिल्ली; अनामिका पब्लिशर्स

चन्द्र, बिपिन . (2011) . आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति . नई दिल्ली; अनामिका पब्लिशर्स

चमनलाल(सं.) . (2009) . भारतीय साहित्य में दलित एवं स्त्री . दिल्ली; सारांश प्रकाशन . प्रथम संस्करण

चव्हाण, पंजाब . (2012) . भारतीय राजनीतिक व्यवस्था . कानपुर; विकास प्रकाशन

चौहान, सूरजपाल . (2004) . क्यों विश्वास करूँ . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

चौहान, सूरजपाल . (2021) . समकालीन हिंदी दलित साहित्य: एक विचार विमर्श . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . दूसरा संस्करण

जगूड़ी, लीलाधर . (1991) . भय भी शक्ति देता है . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

जगूड़ी, लीलाधर . (1991) . भय भी शक्ति देता है . नई दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

जाधव, अलका जी . (2017) . समकालीन हिंदी कविता: विविध विमर्श . इलाहाबाद; विकास प्रकाशन

जैन, अरविन्द . (1994) . औरत होने की सजा . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

जैरथ, सुभाष . (1994) . गोली लगने से पहले . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

जोसफ, बाबू(सं.) . (2013) . भूमण्डलीकरण और हिंदी कविता . कानपुर; अमन प्रकाशन . प्रथम संस्करण . ISBN- 978-93-82432-15-9

ज्ञानेंद्रपति . (2004) . संशयात्मा . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन

टेटे, वंदना . (2015) . कोंजोगा . झारखण्ड; प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन . प्रथम संस्करण

टॉलस्टॉय . (2016) . हमारे जमाने की गुलामी . दिल्ली; सस्ता साहित्य मंडल . तीसरा संस्करण

डंगवाल, वीरेन्द्र . (2002) . दुष्चक्र में स्रष्टा . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

डबराल, मंगलेश . (1997) . पहाड़ पर लालटेन . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन . द्वितीय संस्करण

डबराल, मंगलेश . (2000) . आवाज़ भी एक जगह है . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

डागा, सावित्री . (1999) . शताब्दी की सरहद पर . जयपुर; पंचशील प्रकाशन

तिवारी, अजय . (2003) . समकालीन कविता और कुलीनतावाद . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन

तिवारी, विश्वनाथ . (2010) . समकालीन हिंदी कविता . दिल्ली; लोकभारती प्रकाशन

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (सं.) . (1982) . आठवें दशक की हिंदी कविता . गोरखपुर; कीर्ति प्रकाशन . प्रथम संस्करण

त्रिपाठी, प्रभात . (1994) . आवाज़ . नई दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन

त्रिपाठी, व्यास मणि . (2023) . कविता की समकालीन संवेदना . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

दास, विनोद . (1983) . खिलाफ़ हवा से गुज़रते हुए हुए . नई दिल्ली; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

दुबे, अंजलि कुमार . (1997) . समकालीन कविता के विविध आयाम . दिल्ली; पूर्वांचल प्रकाशन . प्रथम संस्करण

दुबे, अभय कुमार(सं.) . (2003) . भारत का भूमण्डलीकरण . नयी दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

देवताले, चंद्रकांत . (1973) . हड्डियों में छिपा ज्वर . दिल्ली; पहचान सीरीज . प्रथम संस्करण

देवताले, चंद्रकांत . (1975) . दीवारों पर खून से . नई दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन . प्रथम संस्करण

देवताले, चंद्रकांत . (1980) . लकड़बग्घा हँस रहा है . हापुड़; संभावना प्रकाशन . प्रथम संस्करण

देवताले, चंद्रकांत . (1982) . भूखंड तप रहा है . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

देवताले, चंद्रकांत . (2003) . उजाड़ में संग्राहलय . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

धन्वा, आलोक . (2006) . दुनिया रोज़ बनती है . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन . प्रथम संस्करण

नसरीन, तसलीमा . (2005) . औरत के हक़ में . दिल्ली; वाणी प्रकाशन

पचौरी, सुधीश . (2000) . उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

पटनायक, किशन . (2006) . भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि : गतिरोध, संभावना, चुनौतियाँ . नई दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

पणिक्कर, के. एन. (1995) . संस्कृति, चेतना, विचारधारा . नयी दिल्ली; नेशनल बुक ट्रस्ट

पाण्डेय, गणेश . (2016) . नयी सदी की कविता . नयी दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण . ISBN-978-93-5229-505-0

पाण्डेय, दीपक कुमार . (2021) . दलित यथार्थ और हिंदी कविता . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन . प्रथम संस्करण

पाण्डेय, रतन कुमार . (1994) . साठोत्तरी हिंदी कविता . इलाहाबाद; अनिल प्रकाशन . प्रथम संस्करण

पाण्डेय, रत्न कुमार . (2002) . समकालीन कविता दृष्टि और बोध . दिल्ली; अनंग प्रकाशन

पाल, हुकुमचंद्र . (2004) . समकालीन कविता: चर्चित परिचित चेहरे . दिल्ली; सहयोग प्रकाशन . प्रथम संस्करण

पालीवाल, सूरज . (2008) . हिंदी में भूमण्डलीकरण का प्रभाव और प्रतिरोध . दिल्ली; शिल्पायन प्रकाशन . प्रथम संस्करण

प्रकाश, उदय . (2001) . सुनो कारीगर . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

प्रखर, देवचन्द्र भारती . (2020) . समकालीन हिंदी कविता (भाग-I) . प्रयागराज; रश्मि प्रकाशन . प्रथम संस्करण

प्रियंवद . (2014) . ग्लोबल समय में कविता . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

बद्रीनारायण . (1993) . सच सुने कई दिन हुए . दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन . प्रथम संस्करण

बाल्मीकि, ओम प्रकाश . (1997) . बस्स! बहुत हो चुका . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

भारती, धर्मवीर . (2000) . अंधा युग . दिल्ली; किताबघर प्रकाशन . द्वितीय संस्करण

भारद्वाज, शैलजा . (2012) . इक्कीसवीं सदी की कविता : संवेदना के नए स्वर . इलाहाबाद; चिन्तन प्रकाशन

मिश्र, देवी प्रसाद . (1986) . प्रार्थना के शिल्प में नहीं . दिल्ली; लोकभारती प्रकाशन

मिश्र, सरजू प्रसाद . (2011) . समकालीन हिंदी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर . कानपुर; अमन प्रकाशन . प्रथम संस्करण . ISBN- 978-93-80417-33-2

मोहन . (2005) . समकालीन कविता की भूमिका . दिल्ली; अनंग प्रकाशन . प्रथम संस्करण

मोहन, नरेन्द्र . (2008) . विभाजन की त्रासदी भारतीय कथादृष्टि . नई दिल्ली; भारतीय ज्ञानपीठ

मोहन, नरेन्द्र . (1996) . दासत्व से उबारो . नई दिल्ली; किताबघर प्रकाशन

रजनी, कोठारी . (2010) . भारत की राजनीति कल और आज . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

रणजीत(सं.) . (1998) . समकालीन कविता के बदलते सरोकार . कानपुर; अमन प्रकाशन . प्रथम संस्करण

रवि, रंजन . (1995) . प्रगतिशील कविता में वास्तु और रूप . दिल्ली; मिलिंद प्रकाशन

राजकिशोर (सं.) . (1994) . भारत की राजनीतिक संकट . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन

राजपाल, हुकुमचंद . (1997) . समकालीन कविता : चर्चित-परिचित चेहरे . नई दिल्ली; नालंदा प्रकाशन

रावत, भगवत . (2004) . ऐसी कैसी नींद . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण

रावत, भगवत . (2014) . प्रतिनिधि कवितायें . नई दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

रेवती रमण . (2012) . कविता में समकाल . विदिशा; रामकृष्ण प्रकाशन . प्रथम संस्करण

- रोहितावाश्वर . (1996) . समकालीन कविता और सौंदर्य बोध . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- वंशी, बलदेव . (1988) . अँधेरे के बावजूद . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- वाजपेयी, कैलाश . (1999) . भविष्य घट रहा है . नई दिल्ली; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
- विकल, कुमार . (1982) . रंग खतरे में है . इलाहाबाद; चित्रलेखा प्रकाशन
- विकल, कुमार . (1982) . रंग खतरे में है . इलाहाबाद; चित्रलेखा प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- वी, विजी . (2021) . समकालीन हिंदी आदिवासी साहित्य . दिल्ली; अनुज्ञा बुक्स . प्रथम संस्करण
- शर्मा, क्षमा . (2002) . स्त्रीत्व का मानचित्र: समाज और साहित्य . नयी दिल्ली; राजकमल प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- शर्मा, नासिरा . (2003) . औरत के लिए औरत . दिल्ली; सामयिक प्रकाशन
- शर्मा, ब्रह्मदेव . (2000) . गरीबी का मकड़जाल . दिल्ली; प्रकाशन संस्थान
- शर्मा, रंजना . (2006) . जो सपने नहीं है . गाज़ियाबाद; अनुभव प्रकाशन
- शर्मा, रामकिशोर व 'मानव', विश्वम्भर . (2016) . आधुनिक कवि . इलाहाबाद; लोकभारती प्रकाशन . प्रथम संस्करण . ISBN- 978-93-5221-090-9
- शर्मा, श्यामबाबू . (2014) . भूमण्डलीकरण और समकालीन हिंदी कविता . कानपुर; विकास प्रकाशन . प्रथम संस्करण . ISBN- 978-93-81279-02-1
- शर्मा, श्यामबाबू . (2017) . दलित हिंदी कविता का वैचारिक पक्ष . दिल्ली; अनुज्ञा बुक्स . प्रथम संस्करण
- शुक्ल, प्रयाग . (1995) . यह लिखता हूँ . दिल्ली; वाणी प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- शुक्ल, विनोद कुमार . (2000) . अतिरिक्त नहीं . दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- शैलप्रिया . (2003) . घर की तलाश में यात्रा . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- श्रीनिवास, एम. एन . (1987) . आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध . भोपाल; मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी
- श्रीवास्तव, एकांत . (1994) . अन्न हैं मेरे शब्द . हरियाणा; आधार प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- श्रीवास्तव, परमानन्द . (2014) . समकालीन कविता : नए प्रस्थान . दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- श्रीवास्तव, परमानन्द(सं.) . (समकालीन हिंदी कविता) . दिल्ली; साहित्य अकादमी
- श्रीवास्तव, स्वप्निल . (2004) . मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए . दिल्ली; मेधा बुक्स . प्रथम संस्करण

- सक्सेना, नरेश . (2001) . समुद्र पर हो रही है बारिश . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- सत्यवति, वी. . (2004) . समकालीन हिंदी कविता में व्यक्त सामाजिक, राजनैतिक व्यंग्य का अध्ययन . दिल्ली; जवाहर पुस्तकालय
- सराफ, रामकली . (1997) . समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ . वाराणसी; विश्वविद्यालय प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- सराफ, रामकली . (1997) . समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ . वाराणसी; विश्वविद्यालय प्रकाशन
- सराफ, रामकली . (2019) . समकालीन कविता : संवेदना और विकास . वाराणसी; विश्वविद्यालय प्रकाशन . परवर्धित संस्करण
- सिंह, अशोक . (1990) . समकालीन कविता एक विश्लेषण . इलाहाबाद; लोकभारती प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- सिंह, केदारनाथ . (2003) . अकाल में सारस . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन . तृतीय संस्करण
- सिन्हा, अलका . (1997) . काल की कोख से . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- सिन्हा, सच्चिदानंद . (2003) . भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- सिन्हा, सच्चिदानंद . (2005) . भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन . द्वितीय संस्करण
- सोनकर, मनोज . (1994) . साठोत्तरी हिंदी कविता . दिल्ली; प्रकाशन संतान . प्रथम संस्करण
- हसन, मुशीरुल . (2008) . भारत में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राजनीति . नई दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- गुप्ता, रमणिका . (2004) . स्त्री विमर्श . दिल्ली; शिल्पायन
- यादव, राजेंद्र . (2001) . आदमी की निगाह में औरत . नई दिल्ली; राजकमल प्रकाशन
- अग्रवाल, पुरुषोत्तम . (1995) . संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध . नई दिल्ली; राधाकृष्ण प्रकाशन
- खेतान, प्रभा . (2004) . बाज़ार के बीच : बाज़ार के खिलाफ . दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- वर्मा, ब्रह्मदेव . (1980) . आदिवासी विकास . भोपाल; मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी
- राजकिशोर(सं.) . (2000) . जाति का ज़हर . दिल्ली; वाणी प्रकाशन
- रमण, रेवती . (1994) . समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य . इलाहाबाद; नवनीत प्रकाशन . प्रथम संस्करण
- नवल, नंदकिशोर . (2000) . राजनीति और समकालीन हिंदी कविता . वाराणसी; विश्वविद्यालय प्रकाशन
- वंशी, बलदेव . (1990) . समकालीन कविता : वैचारिक आयाम . वाराणसी; विश्वविद्यालय प्रकाशन

सक्सेना, द्वारिका प्रसाद . (1990) . हिंदी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि . आगरा; विनोद पुस्तक भंडार

श्रीवास्तव, परमानन्द . (2000) . कविता का उत्तर जीवन . दिल्ली; राजकमल प्रकाशन

कुंदन, संजय . (2020) . कोरोना में कवि . नई दिल्ली; लेफ्टवर्ड बुक्स

पत्र-पत्रिकाएं

अखिलेश(सं.) . जुलाई 2007 . तद्भव

अहमद, एजाज . (जुलाई-सितम्बर, 2001) . संस्कृति और भूमण्डलीकरण . आलोचना . सहस्राब्दी
अंक-6

आलोचना . जुलाई-सितम्बर, 2007

कालिया(सं.), रविन्द्र . नवम्बर 2006 . नया ज्ञानोदय

कालिया, रविन्द्र(सं.) . जनवरी 2007 . नया ज्ञानोदय

किशोर, कृष्ण(सं.) . अप्रैल-जून 2007 . अन्यथा

कुमार, अशोक(सं.) . साहित्य वार्षिकी- 2000 . इंडिया टुडे

गगनांचल . अंक-2 . अप्रैल-जून 2004

गुप्ता, देवेन्द्र(सं.) . जुलाई-सितम्बर 2007 . सेतु

गुप्ता, देवेन्द्र(सं.) . सेतु पत्रिका . जुलाई-दिसम्बर, 2016 . ISBN- 2249-2860

चारुमित्र, द्वारिका प्रसाद(सं.) . अप्रैल-जून 2006 . अनभै साँचा

जनविकल्प . जनवरी 2015 . तृश्शुर

जोशी, रामशरण . हंस पत्रिका . जुलाई 1993

ज्ञानरंजन(सं.) . फ़रवरी 2007. पहल- 85

तद्भव . अंक-16 . जुलाई 2007

तादले, प्रमोद प्रसाद(सं.) . भूमण्डलीकरण और हिंदी साहित्य . आयुषी इंटरनेशनल इंटरडीसीप्लिनरी
रिसर्च जर्नल . वॉल्यूम- 5, स्पेशल इशू नंबर- 22 . ISSN- 2349-638

दीक्षित, सूर्य प्रसाद(सं.) . दिसम्बर 2000 . चाणक्य विचार

नया ज्ञानोदय . अंक-29 . जून 2005

नया पथ(पत्रिका) . अंक- 24-25 . जुलाई-सितम्बर 1997

पंचशील शोध समीक्षा . अप्रैल-जून . 2013

पाठक, सत्यानन्द(सं.) . 20 जनवरी 2008 . दैनिक पूर्वोदय

प्रसाद, कमला(सं.) . अप्रैल-जून 2005 . प्रगतिशील वसुधा

प्रसाद, विश्वनाथ . समकालीन भारतीय साहित्य . सितम्बर-अक्टूबर 2006

प्रसाद, विश्वनाथ . समकालीन भारतीय साहित्य . सितम्बर-अक्टूबर 2008

बिष्ट, पंकज(सं.) . जून 2005 . समयांतर

मातृभूमि . अक्टूबर . 2015 . कोट्टयम

मिश्र, वंदना . दस्तावेज़ . अप्रैल-जून 2003

यादव, राजेन्द्र(सं.) . सितम्बर 2007 . हंस

वर्तमान साहित्य कविता (विशेषांक) . अप्रैल-मई 1992

वसुधा . अंक- 59/60 . 'स्त्री-मुक्ति का सपना'

वसुधा अंक – 50 . जनवरी-जून . 2001

श्रीमाल, राकेश(सं.) . जुलाई-अगस्त 2003 . पुस्तक वार्ता

श्रीवास्तव, एकांत(सं.) . मई 2007 . वागर्थ

श्रीवास्तव, परमानन्द(सं.) . आलोचना(त्रैमासिक) . जुलाई-सितम्बर 2001

साक्षात्कार . अप्रैल-जून . 1989

साक्षात्कार . नवम्बर . 2003

सामयिक वार्ता . अक्टूबर 2004

हंस . अगस्त-अक्टूबर 2004 . (स्त्री विमर्श)

हंस . सितम्बर 2002

हरिनारायण(सं.) . नवम्बर 2003 . कथादेश

शब्दकोश

अमरनाथ . 2012 . हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली . राजकमल प्रकाशन प्र.लि दरियागंज,
नई दिल्ली

दुबे, अभय कुमार (सं.) . 2016 . समाज विज्ञान विश्वकोश (6 खंड) . राजकमल प्रकाशन प्र.लि दरियागंज,
नई दिल्ली

बाहरी, हरदेव . 2014 . अंग्रेज़ी-हिन्दी पारिभाषिक शब्दकोश . राजपाल एंड संस, दिल्ली

वर्मा, धीरेन्द्र(सं.) . 1985 . हिंदी साहित्य कोश(भाग-1 एवं भाग-2) . वाराणसी; ज्ञानमंडल लिमिटेड

वर्मा, रामचंद्र . 1958 . कोश ग्रन्थ माला . काशी; नागरी प्रचारिणी सभा . प्रथम संस्करण

वर्मा. रामचंद्र(सं.) . 2015 . हिंदी शब्द सागर . काशी; नागरी प्रचारिणी सभा . प्रथम संस्करण

सिंह, गुरचरण . (2015) . समकालीन हिंदी कविता कोश(दोनों भाग) . कानपुर; साहित्य रत्नाकर . प्रथम
संस्करण . ISBN- 978-93-83682-11-9

ओपेक/इंटरनेट सामग्री

<http://baratdiscovery.org/india>

<http://beechbahasmeinkavita.blogspot.com/2016/08/blog-post.html?m=1>

http://gadyaकोsh.org/gk/समकालीनरंजन_रवि / समाजशास्त्र का कविता

<http://madhavhada.blogspot.com/2008/03/blog-post.html?m=1>

<http://radicalanthropologygroup.org>

http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/3832/8/08_chapter%202.pdf

http://www.apnimaati.com/2014/03/blog-post_236.html?m=1

http://www.en.cas.uni-muenchen.de/research_focus/finished/glob_arts/index.html

<http://www.hindisamay.com/content/10360/1/लेखक-शोध-की-दुबे-अंजना-भूमण्डलीकरण-गीत-समकालीन-और-चिंता-कीcspix>

<http://www.hindisamay.com/content/3382/8/अरुण-होता-ARUN-HOTA-आलोचना-प्राक्कथन-संदर्भ-युगीन-कविता-हिंदी-आधुनिकcspix>

<http://www.hindisamay.com/content/7856/1/जयप्रकाश-हिंदी-समकालीन-विमर्श-कर्म-चेतना-दलित-और-कविताcspix>

<http://www.simplepsychology.org/attachment>

https://samvedan-sparsh.blogspot.com/2017/08/blog-post_18.html?m=1

https://www.press.jhu.edu/journals/new_literary_history/

https://www.rachanakar.org/2018/07/blog-post_58.html?m=1

<https://www.sahapedia.org/दलितपरिदृश्य-समकालीन-का-साहित्य-dalit-sahitya-ka-samkaleen-paridrishya>

<https://www.youtube.com/watch?v=MNVKoX40ZAo>

<https://www.youtube.com/watch?v=nSllsTvLlpo>

[भूमण्डलीकरण और साहित्य का इतिहास – साहित्य का इतिहास दर्शन \)inflibnet.ac.in\)](http://www.inflibnet.ac.in/)



हिंदी विभाग, नागालैंड विश्वविद्यालय, कोहिमा परिसर

एवं

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित

दो-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी

विषय: पूर्वोत्तर भारत में हिंदी शिक्षण की दशा-दिशा: सन्दर्भ- नागालैंड

दिनांक: 05-06 अक्टूबर 2023

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रो./डॉ./श्री/श्रीमती/कुमारी आशीष कुमार शोधार्थी, हि. वि. ना. वि. वि.
"समकालीन हिंदी कविता और पूर्वोत्तर-भारत"

ने दिनांक 05-06 अक्टूबर 2023 को आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में सत्राध्यक्ष/ बीज वक्ता/ वक्ता/ संयोजक/ सह-संयोजक/ प्रपत्र वाचक/ प्रतिभागी के रूप में भाग लिया।

Prakash Kumar
6/10/2023

डॉ. बृजेश कुमार
संयोजक

संयोजक
डॉ. चंद्रशेखर चौबे
सह-संयोजक

डॉ. सुन्नी चौधरी
विभागाध्यक्ष

06/10/23
पो. जी. टी. थोंग
सम- कुलपति

HIN/2020/0010

CITY COLLEGE

Affiliated to the University of Calcutta
102/1, Raja Rammohan Sarani, Kolkata- 9, West Bengal, India



Certificate of Participation

This is to certify that

ASHISH KUMAR

of

NAGALAND UNIVERSITY, KOHIMA

has attended One Day National Webinar organised Jointly by Department of Hindi & IQAC, City College on the topic 'Corona Epidemic, Crisis of Identity and Contemporary Hindi Poetry (कोरोना महामारी का दौर, अस्मिता के सवाल और समकालीन हिंदी कविता)' held on 25.06.2020 at 11.00 a.m.

Stay Home, Stay Healthy, Keep Learning and Virtually Connected.

Patron

Principal
City College,
Kolkata, West Bengal

Jt. Convener

Co-Ordinator
I.Q.A.C.,
City College

Convener

Research, Development and
Seminar Organization Committee,
City College

Organising Secretary

Head of Department,
Department of Hindi,
City College



The Report is Generated by DrillBit Plagiarism Detection Software

Selected Language

Hindi

Submission Information

Author Name	Ashish Kumar
Title	भूमंडलीकरण और समकालीन हिंदी कविता
Paper/Submission ID	2255928
Submitted by	anuj@nagalanduniversity.ac.in
Submission Date	2024-08-23 19:47:26
Document type	Thesis

Result Information

Similarity	6%

A Unique QR Code use to View/Download/Share Pdf File



DrillBit Similarity Report

6	14	A	A-Satisfactory (0-10%) B-Upgrade (11-40%) C-Poor (41-60%) D-Unacceptable (61-100%)
SIMILARITY %	MATCHED SOURCES	GRADE	

LOCATION	MATCHED DOMAIN	%	SOURCE TYPE
1	www.rachanakar.org	3	Internet Data
2	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	2	Publication
3	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	<1	Publication
4	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	<1	Publication
5	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	<1	Publication
6	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	<1	Publication
7	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	<1	Publication
8	Paper Submitted to Dr. Rammanohar Lohia Avadh University, Ayodhya	<1	Student Paper
9	Paper Submitted to Dr. Rammanohar Lohia Avadh University, Ayodhya	<1	Student Paper
10	Paper Submitted to Awadesh Pratap Singh University, Rewa	<1	Student Paper
11	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	<1	Publication
12	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in	<1	Publication
13	Paper Submitted to Hemchand Yadav Vishwavidyalaya, Durg	<1	Student Paper
14	gandhismriti.gov.in	<1	Publication